श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला पुष्प ४२.

श्रीविद्यानंद-स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिकालंकारः

(भाषाटीकासमन्वितः)

[द्वितीय खंड]

—= टीकाकार =—

श्रीतर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि

श्री पं. माणिकचंदजी कौंदेय न्यायाचार्य.

—× संपादक व प्रकाशक ×—

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति-न्यायकाव्यतीर्थ)

ऑ. मंत्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

All Rights are Reserved by the Society.

—+ मुद्रक +—

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सोलापुर.

वीर सं. २४७७] सन् १९५१ मे [मूल्य १२ रुपये.

संपादकीय वक्तव्य

श्रीतत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारका यह दूसरा खंड पाठकोंके हाथ प्रथम खंडके प्रकाशनके बाद करीब एक वर्षमें दे रहे हैं। हम जानते हैं कि इस ग्रंथके स्वाध्यायकी विद्वत्संसारमें बडी उत्कंठा है। हमारे कार्यालयमें दूसरे खंडके संबंधमें, तथा आगेके खंडोंके संबंधमें पूछताछ करते हुए अनेक पत्र आते रहते हैं। इस ग्रंथके प्रकाशनसे न्यायविषयके वेत्ता विद्वानोंका महान् उपकार हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

श्री महर्षि विद्यानंद स्वामी जैनश्रुतपरंपराके प्रभावक आचार्य हैं। उनकी विषयविवेचन-शैली और तत्वनिर्णयव्यवस्था अत्यंत सुंदर व सुसंबद्ध है। परवादियोंकी शंकाकुशंकावोंको विविध-रूपसे उठाकर उनको इरतरहसे समाधान करनेकी अपूर्व पद्धतिको आचार्य महोदयने अपने ग्रंथोंमें अपनाया है। आपकी शैली निराळी है।

श्री उमास्वामिकृत तत्वार्थसूत्र एक सूत्र ग्रंथ होनेपर भी उन सूत्रोंमें कितना विस्तृत, व्यापक और गूढार्थ भरा हुआ है, इस बातकी प्रतीति आचार्य महोदयकी कृतिसे अच्छीतरह हो सकती है। आचार्य महोदयके द्वारा विरचित अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा और श्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथ सचमुचमें रत्नत्रय हैं। इन कृतियोंके द्वारा श्रुतपरंपराका मार्ग बहुत ही उज्वल हुआ है। सैद्धांतिक विषयोंको न्यायशास्त्रकी युक्ति प्रयुक्तियोंकी कसोटीसे कसकर, पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके न्यायसम्मत मार्गसे परीक्षा कर लोकके सामने रखनेसे तत्वज्ञानकी निर्दोषता सिद्ध होती है। निर्दोष तत्वज्ञानके आश्रयसे ही विश्व-कल्याण होता है। इसीलिये विश्वबंधुताको धारण करनेवाले आचार्यपुंगव ऐसे प्रयत्न में ही अपना समय लगाते रहते हैं। मूलग्रंथ जितना महत्वपूर्ण है उसकी टीका भी उसके अनुरूप ही हुई है।

श्रीमान् तर्करत्न सिद्धांतमहोदधि पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य महोदयने प्रकृत ग्रंथके प्रमेयको सुलभ शैलीसे समझानेमें कोई कमी नहीं की है। अतः जिज्ञासु विद्वानोंके लिए प्रकृत विषयको समझनेके लिए बडी सहायता हुई है। इसीलिए आगेके खंडोंके प्रकाशनके प्रति विद्वत्संसारमें बडी उत्कंठा लगी हुई है। इस संबंधमें हमारे पास अभी हाल लंडनसे आये हुए एक पत्रके कुछ अंशोंको उपस्थित करते हैं, जिससे ज्ञात हो जायगा कि प्रकृत ग्रंथके संबंधमें विद्वानोंके हृदयमें कितना आदर है।

लंडनसे आक्सफार्ड विश्वविद्यालयके रिसर्च स्कालर **श्री. पद्मराजय्या एम्. ए.** उक्त पत्रमें लिखते हैं कि:—

"मेरे लिखनेका मुख्य प्रयोजन जैन न्यायके महान् ग्रंथ–**तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारसे** है, जो कि आपके द्वारा बडी योग्यतासे संपादित होकर श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालासे प्रकाशित हुआ है। उसका पहिला खंड (नं. ४१) मुझे किसीने हिंदुस्तानमें दिया है। मैंने अत्यंत (आसक्तिसे) सूक्ष्मताके साथ उसके विषयोंका अध्ययन किया एवं अनुभव किया कि दूसरे खंडके लिए आपको शीघ्र पत्र लिखना चाहिये जो कि अबतक प्रकाशित हुआ होगा, जैसा कि आपने पहिले खंडमें आपके संपादकीय वक्तव्यमें (पे. नं. २) वचन दिया है। दुर्भाग्यसे मेरा यहां रहनेका समय समाप्त होता आरहा है। मुझे आगामी आगस्ट या सितंबरतक हिंदुस्तान लौटना चाहिये। **यदि दूसरा खंड तैयार हो तो कृपया उसे सेकेंडरी हवाई डाकसे मुझे मेरे लंडनके पतेसे भेजनेकी व्यवस्था करें। कृपया उसे यथाशक्य जल्दीसे जल्दी भेजें। यदि बांईडिंग न हुआ तो भी चिंता नहीं। आपकी कृपाके लिए मैं कृतज्ञ रहूंगा।** आप विदित कर सकेंगे कि दूसरे खंडसे मेरा खास संबंध है। क्योंकि मैं इस ग्रंथके 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्रकी व्याख्याको (विवरण) देखना चाहता हूं, जिससे मेरे विषयका अत्यंत निकट संबंध है।

दूसरी बात यदि किसी तरह तीसरे और आगेके खंड भी प्रकाशित हुए हों तो उनको भी साथमें भेजनेकी कृपा करें। **इस ग्रंथके प्रत्येक खंडसे मुझे अत्यधिक (प्राणपूर्ण) अभिरुचि है"।** इत्यादि।

इस प्रकार इस महान् ग्रंथके दर्शनकी तीव्र अपेक्षा व्यक्त करनेवाले पत्र हमारे पास अनेक आये हैं। परंतु हमें यह कहनेमें संकोच बिलकुल नहीं होता है कि हम हमारे स्वाध्यायप्रेमियोंकी इच्छापूर्ति सकालमें नहीं कर सके। कारण कि हमारी बलवती इच्छा यह है कि जिस प्रकार यह ग्रंथ महत्वशाली है उसी प्रकार उसका संपादन और संशोधन भी बहुत ही सुंदरतासे हो। उसमें कुछ विलंब लगना स्वाभाविक है। फिर भी आगामी खंडोंके प्रकाशनमें कुछ द्रुतगतिका ध्यान रक्खा जायगा, इतना ही हम पाठकोंको आश्वासन दे सकते हैं।

प्रथम खंडका संपादन और प्रकाशन कैसा हुआ है, इस संबंधका निर्णय हम विद्वत्संसारके ऊपर ही छोड चुके हैं। क्योंकि 'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्'। इस संबंधमें जैन समाजके माने हुए तार्किकविद्वान् परमपूज्यसंत **न्यायाचार्य पं. गणेशप्रसादजी वर्णी** और भारतवर्षीय दि. जैन महासभाके मुखपत्र जैनगजटके सुयोग्य संपादक और प्रखर वक्ता **श्री. विद्यालंकार पं. इंद्रलालजी शास्त्री** जयपुर क्या कहते हैं, यह जाननेके बाद इस विषयकी लोकप्रियता अविलंब समझमें आ जायगी। उनके वक्तव्यको हम यहां दे रहे हैं।

आधुनिक महान् संत न्यायाचार्य पं. गणेशप्रसादजी वर्णीका अभिमत.

श्रीयुत न्यायाचार्य पं. माणिकचंदजीको समाजमें कौन नहीं जानता। आप जैसे प्रखर विद्वान् हैं, वैसे निर्भीक वक्ता भी हैं। आपने श्री श्लोकवार्तिक ग्रंथके ऊपर भाषामें अनुपम रचना की है। वर्तमानमें इस ग्रंथका वही अध्ययन करनेका पात्र है जिसने न्याय, सांख्य, बौद्ध और वेदान्त दर्शनका अभ्यास किया हो तथा जैनदर्शनको भी विद्वानोंके द्वारा अध्ययन किया हो। ऐसे महान् ग्रन्थके भावको आपने अपनी लेखनी द्वारा इतना स्पष्ट और विशद लिखा है, जिन्होंने भाषामें परीक्षा मुख न्यायदीपिकाका अभ्यास किया है वे भी इसमें परिश्रम करें तब समझ सकते हैं तथा संस्कृतमें जिन्होंने मध्यमातक न्यायशास्त्रका अध्ययन किया है वे भी इसके पढनेके पात्र हैं तथा जो आचार्य परीक्षामें पढ रहे हैं उन्हें भी इससे सहायता मिल सकती है। पंडितजीका हम लोगोंको महान् आभार मानना चाहिये जो उन्होंने बीस वर्ष महान् परिश्रम कर इस अभूतपूर्व कार्यको संपादन किया; और चिरंजीवी रहें; यही हमारी कामना है।

—गणेश वर्णी इटावा

श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार—मूल ग्रन्थकर्ता—भगवान श्रीउमास्वामी, संस्कृत टीकाकार पूज्यपाद महर्षि आचार्यवर्य श्री विद्यानन्द स्वामी—हिंदी टीकाकार तर्करत्न सिद्धान्तमहोदधि पंडित श्री माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य। संपादक तथा प्रकाशक, पंडित वर्धमानजी शास्त्री विद्यावाचस्पति न्यायतीर्थ, मंत्री श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर। मूल्य १२) रुपये।

पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय आचार्यवर्य श्रीमहर्षि विद्यानन्द स्वामी महोदयके विश्रुत और परोपकारी नामको कौन नहीं जानता? उक्त आचार्यवर्यने जो अनेक महाग्रंथोंकी रचना कर जनताका अनुपम कल्याण किया है, वह अलौकिक और अनिर्वचीय है। उक्त आचार्यवर्यने भगवान उमास्वामीप्रणीत श्रीतत्त्वार्थसूत्रपर श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक बडी भारी टीका लिखी है, जो शास्त्रभांडागारके मूर्धन्यस्थान पर है। तार्किकशिरोमणि आचार्यवर्यने इस महाग्रंथमें तर्क प्रणालीसे जैनसिद्धान्तको प्रमाणित किया है, जिसकी तुलना होना कठिन है। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार बडा दुर्बोध और कठिन न्यायग्रंथ है, उसके मर्मज्ञाता विरले ही विद्वान् हैं। उक्त ग्रंथके क्लिष्टत्व और संस्कृतभाषामें होनेके कारण उस रचनासे बहुत ही थोडे लोगोंको लाभ पहुंच सकता था। इसी कमीको पूरी करनेके लिए जैन समाजके प्रकांड और उद्भट विद्वान् वर्तमानमें प्रायः प्रसिद्ध नैयायिक जैनविद्वानोंके गुरु प्रसिद्ध-तार्किकरत्न वयोवृद्ध पंडित माणिकचंद्रजी न्यायाचार्यने वर्षोंतक घोर परिश्रम कर उक्त ग्रंथका हिंदी भाषामें अनुवाद किया। तार्किकतामें उक्त पंडितजी जैसा आज दूसरा विद्वान् नहीं है। जो भी नैयायिक विद्वान् यत्र तत्र दि० जैन समाजमें दीखते हैं वे सभी प्रायः उक्त न्यायाचार्य महोदयके शिष्य ही हैं। पंडितजीमें तार्किक विद्वत्ताके अतिरिक्त सैद्धान्तिक, दार्शनिक और वैयाकरण योग्यता भी उसी कोटिकी है। आपने वर्षोंतक घोर परिश्रम कर तथा शास्त्रसमुद्रका मथन कर इस ग्रंथराजकी टीका की है। उक्त पंडितजीकी इस रचनासे

ख्याति और प्रतिष्ठाके साथ विद्वत् समाजपर छाप बैठी है। जहांतक मैं समझता हूं, पंडित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य इस समय बहुत ही ऊंची कोटिके विद्वान् और तत्वमर्मज्ञ हैं।

जिस ग्रंथमालासे इस महाग्रंथका प्रकाशन हुआ है, उसके अध्यक्ष दि० जैन समाजके धार्मिक यशस्वी नेता सर सेठ भागचन्दजी सोनी हैं। आपने उक्त ग्रंथ परमपूज्य आचार्यवर्य श्री १०८ श्री शांतिसागरजी महाराजको समर्पित किया है। यह ग्रंथ श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाका ४१ वां पुष्प हैं। ग्रंथकी आदिमें संपादकीय वक्तव्य भी पढने योग्य है। इस प्रथम खण्डमें पहले अध्यायका पहला आह्निक मात्र है, जो बडे आकारके अर्थात् २०×३०=८के ६१२ पृष्ठोंमें पूर्ण हुआ है। ग्रंथका मुद्रण भी सुन्दर और अच्छी देखरेखमें हुआ है। विद्वानोंके लिए तो यह ग्रंथ हीरकहार–स्वरूप है ही, किन्तु प्रत्येक मन्दिर और सरस्वतीभवनमें भी सुरक्षणीय है।

पंडित माणिकचन्दजी न्यायाचार्य महोदयने इस महा ग्रन्थराजका अनुवाद हिंदीमें करके अनुपम लोकोपकार किया है, वह कृतज्ञजनता द्वारा भुलाया नहीं जासकता। इसी प्रकार उक्त ग्रंथमालाका भी, जिसने कि इसका प्रकाशन भार उठाया है। —इंद्रलाल शास्त्री.

इससे हमारे स्वाध्याय प्रेमी बंधु अच्छी तरह समझ सकेंगे कि इस ग्रंथके संबंधमें विद्वानोंके हृदयमें कितने आदरका स्थान है, और वे किस उन्नत दृष्टिसे इसे देखते हैं।

प्रकृत ग्रंथका विषय.

ग्रंथके प्रथम खंडमें मोक्षके उपायके संबंधमें अत्यंत तर्कशुद्ध-पद्धतिसे विचार किया गया है। विषयका स्पष्टीकरण इतना विस्तृत और सुलझशैलीसे किया गया है कि करीब ६५० पृष्ठोंके प्रथम खंडमें केवल प्रथमसूत्रका ही व्याख्यान आ सका है। इसीसे इस ग्रंथराजकी महत्ता स्पष्ट है। मोक्षप्राप्तिके लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही प्रधान कारण हैं। इनके अतिरिक्त किसी भी एकांतसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस विषयको युक्ति, आगम और अनुभवके बलसे श्रीमहर्षि विद्यानंदस्वामीने प्रथमसूत्रके व्याख्यानमें अच्छीतरह सिद्ध किया है। इस प्रकरणके स्वाध्यायसे स्वाध्यायप्रेमियोंको रत्नत्रयरूपी समुद्रमें प्रवेश कर आलोढन करनेका आनंद आ जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इस दूसरे खंडमें पुनश्च ग्रंथकारने सम्यग्दर्शनका स्वरूप, भेद, अधिगमोपाय, तत्वोंका स्वरूप और भेद, निक्षेपोंका कथन, निर्देशादि पदार्थविज्ञानोंका विस्तार, सत्संख्या क्षेत्रादिक तत्वज्ञानके साधन आदिपर यथेष्ट प्रकाश डालते हुए द्वितीयआन्हिकपर्यंत ग्रंथके विषयोंका विवेचन किया है। इस प्रकरणमें सम्यग्दर्शनके संबंधमें बहुत विस्तारके साथ कथन है। इतना व्यापक विचार अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। फिर भी विद्यानंदस्वामीकी दृष्टिसे यह संक्षेप कथन है। न मालुम विस्तार होता तो क्या होता। काश! उनकी अगाधविद्वत्ता किस प्रकारकी होगी! विद्वत्संसारके प्रति उन्होंने अपनी तपश्चर्याके बहुमूल्य समयोंको बचाकर जो उपकार किया है वह न भूतो न भविष्यति है।

इस खंडके करीब ६५० पृष्ठोंमें द्वितीय आन्हिक प्रकरणपर्यंतका विषय अर्थात् आठ सूत्रोंका व्याख्यान आचुका है। इसमें जैनदर्शनके रहस्यको ग्रंथकारने कूट कूटकर भर रखा है। आगामी खंडमें सम्यग्ज्ञानका प्रकरण प्रारंभ हो जायगा।

इस खंडके परिशिष्टमें हमने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत श्लोकोंकी सूची अकारानुक्रमणिकाके क्रमसे दी है। प्रथमखंडमें आये हुए श्लोकोंकी सूची देकर बादमें द्वितीय खंडके श्लोकोंकी सूची दी है। इससे श्लोकोंके अन्वेषणमें विद्वानोंको सहायता मिलेगी ऐसी आशा है।

टीकाकारके प्रति कृतज्ञता

श्रीतर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य महोदयके प्रति हम इस अवसरमें भी कृतज्ञता व्यक्त किये विना नहीं रह सकते जिनके लगातार बीसों वर्षोंके परिश्रमके फलस्वरूप यह जटिल ग्रंथ सबके लिए सुगम और सरल बन गया है। आपने स्थान स्थानपर तात्विक गुत्थियोंको बहुत ही हृदयंगमरूपसे सुलझाया है। कई स्थानोंपर सुंदर उदाहरणोंको देते हुए विषयको स्पष्ट किया है। कितने ही स्थानोंमें विषयको विशद करके समझाया है। कहीं कहीं न्यायप्रिय विद्वान् न्यायाचार्यजीकी कथनकलासे आनंदतुंदिल हुए विना नहीं रह सकते हैं। इस प्रकार माननीय पंडितजीने इस ग्रंथराजकी सुबोधिनी टीका लिखकर जैनदर्शनके प्रसारमें बडी सहायता की है, जिसे चिरकालतक तत्वजिज्ञासु पाठक विस्मृत नहीं कर सकते हैं। उनकी प्रबल इच्छा है कि समग्र ग्रंथ शीघ्र ज्ञानपिपासुवोंके सन्मुख उपस्थित होकर वे इसका आस्वादन लेवें। उनकी पुण्यमय भावनाके प्रति हम उनको धन्यवाद–प्रदानके सिवाय क्या कर सकते हैं!

अध्यक्ष–महोदयका उत्साह

प्रथमखंडमें ही हम निवेदन कर चुके हैं कि इस ग्रंथराजके प्रकाशनका बहुभाग श्रेय श्रीआचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाके सुयोग्य अध्यक्ष और जैनसमाजके प्रधान कर्णधार **श्रीमाननीय धर्मवीर रा. ब. केप्टन सर सेठ भागचंदजी सोनी ओ. बी. ई.** को है। क्योंकि उन्हींकी प्रधान सहायता और प्रेरणासे इस ग्रंथका प्रकाशन हो रहा है। श्री सरसेठ साहबके इस साहित्यप्रेमकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोडी है। उनकी प्रबल कामना है कि यह ग्रंथराज यथाशीघ्र प्रकाशित होकर जैनदर्शनका रहस्य सर्वसाधारणके सामने आजावे और जैनन्यायवादकी महत्ता विद्वत्संसारको अवगत हो जावे। श्री धर्मवीरजीकी धारणा है कि धर्मकी यथार्थप्रभावना धार्मिकोंके निर्माणमें है। सिद्धांतके तत्वोंको जितने अंशमें हम निर्दोष सिद्ध कर लोकके सामने रखेंगे उतने ही प्रमाणमें लोकमें धर्मश्रद्धाकी वृद्धि होगी। निर्दोष तत्वपर यथार्थ श्रद्धान करनेसे ही आत्मसाधनाका मार्ग मिलता है। वही इस संसारमें विजयी होता है। इस ग्रंथराजका प्रमुख प्रमेय यही है। इसलिए श्री सरसेठ साहबकी प्रबल कामना है कि ग्रंथराज जल्दीसे जल्दी प्रकाशित होकर विश्वके लिए तत्वबोध करानेमें सहायक हो। आपकी पुण्यमयप्रेरणा,

उपयोगी परामर्श, बहुमूल्य सलाह, एवं सबसे अधिक प्रकाशन कार्यमें विशेष दिलचस्पीके कारण ही हम इस कार्यमें आगे बढ रहे हैं, यह लिखनेमें संकोच नहीं होता है।

इस खंडका समर्पण

प्रकृत खंड जैनसमाजके सर्वोपरि नेता, **दानवीर, रायबहादुर, राज्यभूषण, रावराजा, रईसुद्दौला, जैनदिवाकर, श्रीमंत सर सेठ हुकुमचंदजीके** करकमलोंमें ग्रंथमालाके अध्यक्षजीके द्वारा समर्पित है। इसमें औचित्य है। श्रीमाननीय सरसेठ साहब ग्रंथमालाके संरक्षक हैं। उनकी संरक्षकतामें ही ग्रंथमालाने ऐसे महान् ग्रंथराजके प्रकाशनसदृश गुरुतरकार्यको करनेका साहस किया है। इसलिए उनको अपने कार्यको देखकर संतोष होगा। संतोषके स्थानमें ही समर्पण स्थान पाता है।

दूसरी बात आज श्रीमंत सरसेठ साहबका समाजमें सर्वोपरि प्रभाव है। उन्होंने आजतक धर्म व समाजकी सेवा जो की है एवं इस वयोवृद्ध अवस्थामें भी जो कर रहे हैं, वह महत्व पूर्ण और अनुपम है। तीर्थक्षेत्रोंपर आये हुए संकट, जंगमतीर्थ साधुसंतोंके प्रति आये हुए उपसर्ग, श्री सरसेठ साहबके द्वारा तत्परताके साथ किये गये प्रयत्नों द्वारा समय समयपर दूर हुए हैं। आपकी तीर्थभक्ति श्लाघनीय है। परमपूज्य **आचार्य कुंथुसागर महाराजके** चरणोंमें आपकी विशेष भक्ति थी। आपके द्वारा केवल समाज ही प्रभावित नहीं, राष्ट्र भी आप सदृश विभूतिको पाकर अपना गौरव समझता है। ब्रिटिश शासनकालमें भी आप राजसम्मानित थे। ग्वालियर, इंदौर, उदयपुर आदि देशी रियासतोंमें आपको सम्मानपूर्ण स्थान था। अखिल भारतवर्षीय दि. जैन महासभाके आप संरक्षक हैं। महासभा और अखिल समाज आपकी धर्मप्रियतासे अत्यधिक प्रभावित हैं। आपकी व्यापारकुशलताका प्रभाव भारतमें ही नहीं, विदेशमें भी पर्याप्तरूपसे है। आपका अभ्युदय और वैभव दर्शनीय हैं। राजप्रासादतुल्य शीशमहल, देवभवनतुल्य इंद्रभवन, विचित्रवैभवसंपन्न रंगमहल, एवं सबसे अधिक पुण्यप्रभावको व्यक्त करनेवाले देवाधिदेव जिनेंद्रदेवका सुंदर मंदिर, आपके सातिशय पुण्यके प्रभावको व्यक्त करते हैं। आपने अभीतक करोडों रुपयोंकी संपत्तिका दान कर अपरिग्रहवादका आदर्श उपस्थित किया है। पूजन, स्वाध्याय, सत्पात्रदान, शास्त्रप्रवचन, तत्वचिंतन आदि पावन कार्योंमें आप नियमितरूपसे दत्तचित्त रहते हैं। विशेष महत्वका विषय यह है कि संसारके अतुल भोगको भी पुण्यकर्मोदयजनित फल होनेके कारण आपने असार समझकर शेष जीवनको केवल आत्मसाधनामें लगानेका निश्चय किया है। यह आपकी आसन्नभव्यताको सूचित करता है। आप अब अपना जीवन मुख्यतः आत्महितके कार्यमें ही उपयोग कर रहे हैं। सदा शास्त्रस्वाध्याय, तत्वचर्चा, आत्मचिंतन एवं वैराग्यपरिणति ही आज आपके दैनिक कार्यक्रम हैं। ऐसी अवस्थामें आपने निश्चित ही दुर्लभ मनुष्यजीवनको सफल बनाया है। ऐसे भव्य पुरुष सचमुचमें धन्य हैं। ऐसे धन्य करकमलोंमें आज प्रकृत ग्रंथराजको समर्पण करनेका भाग्य संस्थाको मिल रहा है, इसका हमें हर्ष है।

आचार्यश्रीकी आदर्शभावना

श्री परमपूज्य,प्रातःस्मरणीय, विश्ववंद्य **आचार्य कुंथुसागर महाराजने** अपने जीवनमें, अपनी अगाधविद्वत्ता, आदर्शचारित्रके द्वारा विश्वका अपूर्व कल्याण किया है। उनकी प्रबल भावना थी कि जैन धर्मके लोकोपकारी तत्वोंको समस्त विश्व अपनावे। और यह विश्वधर्म सिद्ध होकर विश्वका हित हो। उसी ध्येयको सामने रखकर परमपूज्य आचार्यश्रीने सर्वसाधारणोपयोगी,अत्यंतसरल अपितु महत्वपूर्ण करीब ४० कृतियोंकी रचना की, जो कि संस्थाके द्वारा प्रकाशित हुए हैं। पूज्य आचार्य महोदयकी भावनाके अनुरूप ही प्राचीन आचार्योंके महत्वपूर्ण ग्रंथका प्रकाशन भी संस्थाके द्वारा हो रहा है। इस प्रकाशनके संबंधमें समाजके धर्मबंधुवोंने आनंदको व्यक्त किया है। विद्वानोंने हर्ष प्रकट किया है। साधुसंतोंने आशिर्वाद दिया है। इन्ही पुण्यरेणुवोंके बलसे यह कार्य निर्बाध रूपसे सुसंपन्न होगा, ऐसी पूर्ण श्रद्धा है।

हमारी अपेक्षा

संस्थाने अल्पशक्तिके होनेपर भी महत्कार्यके भारको उठाया है। उसमें भी ग्रंथमालाके स्थायी सदस्योंको नियमानुसार यह बृहद्ग्रंथ विनामूल्य ही भेट दिया जा रहा है। करीब ४०० स्थायी सदस्योंको ग्रंथ भेटके रूपमें जानेके बाद मूल्यसे खरीदनेवालोंकी संख्या बहुत थोडी मिलेगी। ऐसी अवस्थामें हम हमारे स्थायी सदस्योंसे एवं अन्य श्रुतभक्तोंसे प्रार्थना करना चाहते हैं कि वे हमें अधिकसे अधिक सहायता इस कार्यमें प्रदान कर संस्थाके दार्ढ्यमें मदत करें जिससे वह जिन-वाणीकी इतोप्यधिक सेवा कर सके।

अंतमें श्रीमानोंकी सहायतासे, धीमानोंकी सद्भावनासे, गुरुजनोंके शुभाशिर्वादसे, साधुसंतोंकी शुभकामनासे एवं सबसे अधिक श्री परमपूज्य आचार्य कुंथुसागर महाराजकी परोक्ष प्रबल–प्रसादसे यह कार्य उत्तरोत्तर उत्कर्षशील हो, यह आंतरिक भावना है। इति.

विनीत—

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

ऑ. मंत्री–आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

सोलापुर
५–५–१९५१

श्रीविद्यानंदस्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

तत्त्वार्थचिंतामणिटीकासहितः

(द्वितीयखंडः)

अथ सम्यग्दर्शनविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाह—

अब इसके अनन्तर आदिके सूत्रमें कहे गये पहिले सम्यग्दर्शन गुणके लक्षणमें पडे हुए अनेक विवादोंकी निवृत्ति करनेके लिये सूत्रकार श्रीउमास्वामी महाराज दूसरा सूत्र कहते हैं—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

तत्त्वरूपसे निर्णीत किये गये वास्तविक अर्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

ननु सम्यग्दर्शनशब्दनिर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूपनिर्णयादशेषतद्विप्रतिपत्तिनिवृत्तेः सिद्धत्वात्तदर्थं तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति कस्यचिदारेका, तामपाकरोति—

यहां शंका है कि सम्यक् और दर्शन शब्दोंकी निरुक्तिकी सामर्थ्यसे ही सम्यग्दर्शन गुणके स्वरूपका निर्णय करना हो जावेगा और उसमें नाना प्रतिवादियोंके पडे हुए विवादोंका भी उसी निरुक्तिसे निवारण हो जाना सिद्ध है, फिर उसके लिए उमास्वामी महाराजका सम्यग्दर्शनके लक्षणको कहनेवाला सूत्र बोलना युक्त नहीं है। ज्ञान और चारित्रका लक्षण भी लक्षणसूत्रोंके बनाये विना ही केवल निरुक्तिसे ही आप जैन इष्ट कर लेते हैं, फिर सम्यग्दर्शनमें ही ऐसी कौनसी विशेषता है कि जिसके लिए एक स्वतंत्र सूत्र बनाया जा रहा है?। अत्यंत आवश्यकता पडनेपर अधिक उदात्त अर्थको थोडे शब्दोंमें कहनेवाला नवीन सूत्र रचा जाता है। वैयाकरण तो आधी मात्राके ही लाघव हो जानेसे पुत्रजन्मके समान उत्सव मानते हैं। इस प्रकार किसीका अनुनयसहित आक्षेप है। उसका पूज्य-चरण श्रीविद्यानंदस्वामी निराकरण करते हैं।

सम्यक्शब्दे प्रशंसार्थे दृशावालोचनस्थितौ।
न सम्यग्दर्शनं लभ्यमिष्टमित्याह लक्षणम् ॥ १ ॥

सूत्रकारोऽत्र तत्त्वार्थश्रद्धानमिति दर्शनम् ।
धात्वनेकार्थवृत्तित्वाद् दृशेः श्रद्धार्थतागतेः ॥ २ ॥

सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्चु धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर सम्को समि आदेश करके सम्यक्शब्द व्युत्पादित होता है। उसका अर्थ प्रशंसा है और दृशिर्प्रेक्षणे धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर दर्शन शब्द निष्पन्न होता है, इसका अर्थ आलोचन (सामान्य देखना) है। ऐसा स्थित होनेपर हमारा अभीष्ट पारिभाषिक सम्यग्दर्शनका अर्थ लब्ध नहीं हो पाता है। निरुक्तिसे तो अच्छा देखना रूप दर्शनोपयोग अर्थ निकलता है, जो कि एकेंद्रिय अभव्य जीवोंके भी ज्ञानके पहिले नियमसे होता है। या निरुक्तिसे चाक्षुषप्रत्यक्ष अर्थ किया जा सकता है। इस कारण उस अनादि पारिभाषिक अर्थका निर्णय करनेके लिए सूत्र बनानेवाले श्रीउमास्वामी महाराजने इस प्रकार सम्यग्दर्शनका लक्षण सूत्र यहां कहा है कि तत्त्व करके निर्णीत माने गये अर्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। धातुओंकी अनेक अर्थोंमें वृत्ति है, इस कारण दृशि धातुका अर्थ श्रद्धान करना जान लिया जाता है। धातुओंसे तिप्, तस्, झि और युट्, अच् आदि प्रत्यय आते हैं, किंतु अनुकरण कर कर्त्ता, कर्म आदिकी विवक्षा होनेपर सु आदि प्रत्यय भी उतरते हैं। सु, औ, जस् आदि विभक्तियोंके लानेके पहिले इक् और स्तिप् निर्देश कर लिए जाते हैं। यहां दृश् धातुसे इक् निर्देश करके दृशि नाम बना लिया गया है। उसका षष्ठीके एक वचनमें दृशेः बन जाता है।

सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्त्यन्तो वेति वचनात् प्रशंसार्थोऽयं सम्यक् शब्दः सिद्धः, प्रशस्तनिःश्रेयसाभ्युदयहेतुत्वाद्दर्शनस्य प्रशस्तत्वोपपत्तेर्ज्ञानचारित्रवत् ।

सम्यक् इस प्रकारका अनादिकालसे लक्षणसूत्रोंके विना ही बनाया निपात शब्द है, जिसका कि अर्थ प्रशंसा होता है। अथवा सम् पूर्वक अञ्चु धातुसे अन्तमें " क्ति " प्रत्यय करके व्युत्पत्तिके द्वारा व्याकरणके लक्षणसूत्रोंसे व्युत्पादित कराया गया सम्यक् कृदन्त शब्द है। इसका अर्थ भी प्रशंसा है। अव्युत्पन्न पक्षमें शब्दोंको अनादिसे वैसा ही सिद्ध हो रहा मानकर अपरिमित अर्थ उनपर लदा हुआ कहना यही मुख्य सिद्धान्त अच्छा है, तभी तो मंत्रके शब्दोंमें और बीजाक्षरोंमें अनन्त-शक्ति है। किन्तु प्रकृति प्रत्यय लाकर शब्दोंका पेट चीरकर खण्ड करनेसे परिमित अर्थ निकालना, गौण व्युत्पन्न पक्ष है। खनिको एक बार ही तोड़ मरोड़ डालनेसे उतना धन नहीं मिलता है, जितना कि उसे वैसा ही अक्षुण्ण रहने देनेसे अमित अर्थ प्राप्त होता रहता है। खेदको नहीं प्राप्त कराई गई मुर्गी अनेक अंडोंकी जननी है। इस प्रकार प्राचीन ऋषियोंकी आम्नायके वचनसे यह सम्यक् शब्द प्रशंसा अर्थको कहता हुआ सिद्ध हो रहा है। प्रशंसनीय हो रहे मोक्ष और स्वर्गका हेतु हो जानेके कारण दर्शनको प्रशंसनीयपना युक्तियोंसे सिद्ध है, जैसे कि सामान्य ज्ञान और सामान्य चारित्र तो मोक्ष तथा विशेष स्वर्ग अनुदिश आदिके कारण नहीं हैं, किंतु जो ज्ञान, चारित्र प्रशंसनीय होकर सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र हो गये हैं, वे अवश्य मोक्ष और विशिष्ट स्वर्ग, विजय आदि विमानके कारण बन जाते हैं।

दृशेश्चालोचने स्थितिः प्रसिद्धा, दृशिन् प्रेक्षणे इति वचनात्। तत्र सम्यक् पश्यत्यनेनेत्यादिकरणसाधनत्वादिव्यवस्थायां दर्शनशब्दनिरुक्तेरिष्टलक्षणं सम्यग्दर्शनं न लभ्यत एव ततः प्रशस्तालोचनमात्रस्य लब्धेः। न च तदेवेष्टमतिव्याप्तित्वादभव्यस्य मिथ्यादृष्टेः प्रशस्तालोचनस्य सम्यग्दर्शनप्रसङ्गात्। ततः सूत्रकारोऽत्र "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इति तल्लक्षणं ब्रवीति, तद्वचनमन्तरेणातिव्याप्तेः परिहर्तुमशक्तेः।

दृश् धातुकी सामान्यसे देखना रूप आलोचन अर्थमें स्थिति होना बाल गोपालोंतकमें प्रसिद्ध है। व्याकरणशास्त्रमें भी इसी प्रकार दृशिन् धातु देखने अर्थमें कही गयी है। वहां सम्यग्दर्शन शब्दकी करणमें युट् प्रत्यय करके सिद्ध करनेकी व्यवस्था होनेपर "समीचीन देखता है जिस करके" ऐसा निर्वचन करनेपर स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार सम्यग्दर्शनका अभीष्ट लक्षण प्राप्त नहीं होपाता है। और भले प्रकार जो देखता है या भले प्रकार जो देखा जाता है, अथवा भले प्रकार देखना, ऐसी कर्त्ता, कर्म और भाव आदि अर्थोंको साधनेवाली निरुक्तियोंसे भी व्यवस्थिति करनेपर शब्दकी सामर्थ्य करके सांकेतिक अर्थ कैसे भी नहीं निकलता है। उस युट् प्रत्ययान्त शब्दसे तो केवल प्रशंसनीय देखना ही अर्थ लब्ध होता है। यदि कोई यों कहे कि शब्दकी निरुक्तिसे जो अर्थ निकलता है, उसको ही आप स्याद्वादी लोग इष्ट कर लेवें, ऐसा करनेपर लक्षण सूत्र न बनाना पडनेसे लाघव भी हो जावेगा। और प्रसिद्ध अर्थकी रक्षा भी हो जावेगी। इस पर आचार्य कहते हैं कि सो ऐसा हम इष्ट नहीं कर सकते हैं। क्यों कि इसमें अतिव्याप्ति दोष होगा। मिथ्यादृष्टि अभव्यके प्रशस्त देखना होनेके कारण सम्यग्दर्शन होजानेका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् सर्व ही दार्शनिकोंने अनेक शब्द पारिभाषिक माने हैं। ऐसा माने विना किसी भी विचारशील पुरुषका कार्य नहीं चल सकता है। व्याघ्र शब्दका निरुक्तिसे अर्थ विशेषरूप करके चारों ओरसे सूंघनेवाला है। वि-विशेषेण आसमन्तात् जिघ्रतीति व्याघ्रः। गौ शब्दका अर्थ गमन करनेवाला है, गच्छति इति गौः। इन अर्थोंसे धोखा खाकर कतिपय हृदयशून्य वैयाकरण अनेक क्लेशोंको पा चुके हैं। कुशल शब्दका अर्थ घास काटनेवाला है। किंतु ऐसे अर्थ करनेसे पण्डिताईको भारी धक्का पहुंचता है। दूसरी बात यह है कि जब प्रयोजन ही नहीं बना तो ऐसी दशामें लाघव करना केवल तुच्छता है। सेर भर अन्न खानेवाले पुरुषको एक ग्रास (कौर) खानेसे लाघव तो हो जाता है किंतु हृदयको तृप्ति नहीं होती है। इस कारण इस ग्रंथमें सूत्र बनानेवाले श्रीउमास्वामी महाराज तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इस प्रकार उसके लक्षण सूत्रको कह रहे हैं। उस सूत्रके कहे विना कोरी निरुक्तिसे होनेवाले अतिव्याप्ति दोषका परिहार करना अशक्य है, न्यायवेत्ता विद्वानोंका लक्ष्य अर्थकी ओर रहता है। कोरे शब्द आडम्बरपर नहीं। तभी तो संख्यात शब्दोंसे अनंत अर्थ निकल पडता है।

शब्दार्थातिक्रमः श्रद्धानार्थत्वाभावाद् दृशेरिति चेत्, अनेकार्थत्वाद्धातूनां दृशेः श्रद्धानार्थत्वगतेः। कथमनेकस्मिन्नर्थे सम्भवत्यपि श्रद्धानार्थस्यैव गति रितिचेत्, प्रकरणविशेषात्। मोक्षकारणत्वं हि प्रकृतं तत्त्वार्थश्रद्धानस्य युज्यते नालोचनादेरर्थान्तरस्य।

यहां कोई कहता है कि दृशि धातुका श्रद्धानरूपी अर्थ कैसे भी नहीं होता है। फिर आप श्रद्धान अर्थ कर रहे हैं, यह आपका स्वाभाविक शद्वशक्तिसे प्राप्त अर्थका उल्लंघन करना है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। क्योंकि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं। सम्यक् शब्दके उपपद लग जानेसे दृशि धातुका श्रद्धान करना अर्थ जाना जाता है। भावार्थ—जैसे कि "हृञ्हरणे" धातुसे घञ् प्रत्यय करनेपर हार शब्द बनता है। किन्तु वि, आङ्, सम्, प्र, परि, उत् और अप् उपसर्गोंके लग जानेपर भिन्न भिन्न विहार, आहार, संहार, प्रहार, परिहार, उद्धार और अपहार अर्थ हो जाते हैं। श्रत् उपपदके पहिले होनेपर धारण, पोषण अर्थवाले "धा" धातुसे युट् करनेपर श्रद्धान शद्वका विश्वास करना अर्थ होजाता है। सरस्विता सम्पुको कहते हैं। घोष शद्वके साथमें रहनेवाले गंगा शद्वका लक्षणावृत्तिसे गंगाका किनारा अर्थ हो जाता है।

दृश् धातुके अनेक अर्थोंके सम्भव होनेपर भी श्रद्धानरूप अर्थकी ही प्राप्ति क्यों होती है? अन्य अर्थकी क्यों नहीं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि विशेष प्रकरण होनेसे श्रद्धान अर्थ ही लिया गया है। जैसे ककडी खाते समय सैन्धवका अर्थ लवण किया जाता है, घोडा नहीं। चूंकि मोक्षका कारणपना प्रकरणमें पडा हुआ है। अतः तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना अर्थ ही युक्त होगा। दृश् धातुके दूसरे आलोचन, दर्शन, आदि अर्थ करना युक्त नहीं है। केवल दो हजार धातुओंसे अरबों, खरबों, संखों, शब्द बन गये हैं। उन संख्यात शद्वोंसे ही असंख्यात प्रमेय वाच्य होजाता है और परम्परासे असंख्यातका अविनाभावी अनंत अर्थ भी जानलिया जाता है। आसत्ति, योग्यता, प्रकरण, यौगिक, रूढि, अभिधा, लक्षणा, संकेतग्रहण आदिकी प्रक्रियासे एक शद्व अनेक अर्थोंको कह देता है।

भगवदर्हदाद्यालोचनस्य मोक्षकारणत्वोपपत्तेस्तत्प्रकरणादपि न तन्निवृत्तिरिति चेत्, तत्त्वार्थश्रद्धानेन रहितस्य मोक्षकारणत्वेऽतिप्रसंगात्। तेन सहितस्य तु तत्कारणत्वे तदेव मोक्षस्य कारणं तदालोचनाभावेऽपि श्रद्धानस्य तद्भावाविरोधात्।

यहां कोई यों कहें कि भगवान् अर्हंत परमेष्ठी, साधु, तीर्थ, आदिका चक्षुःके द्वारा दर्शन करनेको भी मोक्षकारणपना सिद्ध है। अतः उस मोक्षमार्गके प्रकरणसे भी देखना रूपी अर्थ युक्त हो जाता है। फिर उस प्रसिद्ध अर्थ कहे गये देखनेकी निवृत्ति क्यों करते हो? प्रतिमाजीके दर्शनसे भी मोक्षमार्गकी पुष्टि होती है। अतः आलोचन अर्थ भी सुरक्षित रहने दो। अब ग्रंथकार समझा रहे हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम स्याद्वादी पूंछते हैं कि तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे रहित होरहे अर्हंतदर्शनको

मोक्षका कारण मानोगे ? या तत्त्वार्थश्रद्धानसे सहित होते हुए अर्हंत, साधु, तीर्थ, आदिके भक्तिसहित देखनेको मोक्षका कारण मानते हो ? बताओ। यदि तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित कोरे देखनेको मोक्षमार्ग कहोगे तब तो अतिप्रसंग हो जावेगा अर्थात् अभव्योंके भी मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो जावेगी। वे भी प्रतिमाजी, तीर्थ, आचार्य, मुनि आदिका दर्शन करते हैं। कतिपय स्तोत्रोंमें जिनेंद्रदेवके दर्शनका अनेक बार होना बतलाया है। " आकर्णितोपि महितोपि निरीक्षितोपि " इत्यादि। किंतु भावशून्य होनेके कारण सम्यग्दर्शनका बीज नहीं हो सका है। द्रव्यलिङ्गी, अभव्य समवसरणके श्रीमण्डपमें साक्षात् अर्हंत देवका दर्शन नहीं कर पाते हैं। किंतु अन्य स्थलोंपर प्रतिमाजी, मुनि, तीर्थ आदिका दर्शन करते हैं। यदि दूसरे पक्षके अनुसार उस तत्त्वार्थश्रद्धानसे सहित होरहे चाक्षुष प्रत्यक्षको उस मोक्षका कारण मानोगे तो वह तत्त्वार्थ–श्रद्धान ही मोक्षका कारण सिद्ध हुआ। उस तीर्थ आदिके दर्शन विना भी यदि तत्त्वार्थश्रद्धान विद्यमान है तो उसे मोक्षमार्गपना होनेमें कोई विरोध नहीं है। तत्त्वार्थ–श्रद्धान रूप कारणके साथ मोक्षरूप कार्यका अन्वय व्यतिरेकसे कार्यकारणभाव है और चाक्षुषप्रत्यक्षके साथ मोक्षमार्गपनेका कार्यकारणभाव करनेमें अन्वयव्यभिचार, व्यतिरेकव्यभिचार दोनों दोष आते हैं। भले ही पूज्य पंचपरमेष्ठीका ही नेत्रोंसे दर्शन क्यों न हो।

अर्थग्रहणतोऽनर्थश्रद्धानं विनिवारितम्।
कल्पितार्थव्यवच्छेदोऽर्थस्य तत्त्वविशेषणात् ॥ ३ ॥
लक्षणस्य ततो नातिव्याप्तिर्दृग्मोहवर्जितम् ॥
पुंरूपं तदिति ध्वस्ता तस्याव्याप्तिरपि स्फुटम् ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शनके लक्षण सूत्रमें अर्थपदका ग्रहण करनेसे अवस्तुभूत अनर्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बननेका विशेषरूप करके निवारण कर दिया गया है। और अर्थका विशेषण तत्त्व लगा देनेसे कल्पित अर्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन हो जानेकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। यद्यपि काव्यों या प्रशंसावाक्योंमें स्वरूप कथन करनेवाले भी विशेषण देदिये जाते हैं। जैसे कि वह राजा दानी है, कुलीन है, विद्वान है। इन पदोंसे भले ही कुछ साधारण पुरुषोंसे राजाकी व्यावृत्ति हो जावें। किन्तु वे अमुक राजाके असाधारण धर्म नहीं है। अन्य राजाओं और सेठोंमें भी पाये जाते हैं। किन्तु लक्षणको कहनेवाले वाक्यमें जो विशेषण दिये जाते हैं वे व्यर्थ नहीं होते हैं। अलक्ष्योंसे लक्ष्यकी व्यावृत्ति करदेना उन विशेषणोंके देनेका फल है। तिस कारण सम्यग्दर्शनके लक्षणको अतिव्याप्ति दोष नहीं लगा। वह सम्यग्दर्शन गुण तो दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रहित हुए आत्माका स्वाभाविक स्वरूप है। इस कारण तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें लक्षणके चले जानेसे उस लक्षणका अव्याप्ति दोष भी स्पष्टरूपसे नष्ट हो जाता है।

श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युच्यमानेऽनर्थश्रद्धानमपि तत्स्यादित्यतिव्याप्तिर्लक्षणस्य माभूत् अर्थग्रहणात्। न चार्थानर्थविभागो दुर्घटः। प्रमाणोपदर्शितस्यार्थत्वसिद्धेरितरस्यानर्थत्वव्यवस्थानात्।

श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है यदि इस प्रकार ही लक्षण कहा जावेगा तो मिथ्याज्ञानोंसे ग्रहण किये गये अनर्थोंका श्रद्धान करना भी वह सम्यग्दर्शन बन बैठेगा, इसलिये लक्षणकी अतिव्याप्ति न होवे, अतः अर्थग्रहण किया है, अर्थात् अर्थके ग्रहण करनेसे उस अतिव्याप्तिका वारण हो जाता है। यदि यहां कोई यों कहे कि संसारमें कौन अर्थ है, और कौनसा अनर्थ है ? ऐसा विभाग करना ही अत्यन्त दुस्साध्य कार्य है। एकके लिए जो अर्थ है, वही दूसरेके लिए अनर्थ हो जाता। ऊंटको नीमके पत्ते अच्छे लगते हैं। आम्रवृक्षके नहीं। पित्तप्रकृतिवाले मनुष्यको दही अच्छा लगता है, वातप्रकृतिवालेको नहीं। लालचीको धन अच्छा लगता है, साधुको नहीं। अतः अर्थ और अनर्थ का विभाग करना घटित नहीं हो पाता है। आचार्य कहते हैं कि सो नहीं समझना। क्यों कि प्रमाण के द्वारा निर्णीत किये गये पदार्थको अर्थपना प्रसिद्ध है। और शेष अन्य पदार्थोंको अनर्थपना व्यवस्थित हो रहा है। जो कि प्रमाणोंद्वारा नहीं प्रदर्शित किये गये हैं।

सर्वो वाग्विकल्पगोचरोऽर्थ एव प्रमाणोपदर्शितत्वादन्यथा तदनुपपत्तेः, प्रमाणोपदर्शितत्वं तु सर्वस्य विकल्पवाग्गोचरत्वान्यथानुपपत्तेः ततो नानर्थः कश्चिदित्यन्ये।

यहां कोई दूसरे कहरहे हैं कि शद्वके द्वारा कहेजाने योग्य और विकल्पज्ञानोंके द्वारा जाने गये विषय, ये सभी अर्थ ही हैं। क्योंकि प्रमाणोंके द्वारा दिखलाये गये हैं। अन्यथा अर्थात् शद्व और ज्ञानके विषय न होते तो वे प्रमाणोंके द्वारा दिखलाये गये नहीं बन सकते थे। सभी पदार्थोंको प्रमाणोंसे जाना गयापन तो यों सिद्ध हो जाता है कि वे विकल्पज्ञानके ज्ञेय और शद्वके वाच्य हो रहे हैं। यदि वे प्रमाणोंके द्वारा निर्णीत किये हुए नहीं होते तो ज्ञान और शब्दके विषय नहीं हो सकते थे। तिस कारण संसारमें कोई भी पदार्थ अनर्थ कहलाने योग्य ही नहीं है और हम किसी पदार्थको अनर्थरूपसे जान भी नहीं सकते हैं। जो जाना और कहा जावेगा, वह अर्थ अवश्य हो जायगा। जो अर्थ नहीं, वह कहा और जाना नहीं जावेगा। प्रमाणोपदर्शितत्व और वाग्विकल्पगोचरत्व इन हेतु और साध्यमें समव्याप्ति है। जिसको एकका ज्ञान है, वही अज्ञात होरहे दूसरेका अनुमान करलेता है। जिसको दोनोंका ज्ञान नहीं है, उसको तीसरे उपायसे अर्थपनेका निर्णय करा दिया जावेगा। सरल उपाय यह है कि विकल्पवाग्गोचरपनेसे प्रमाणोपदर्शितको जानलो और प्रमाणोपदर्शितपनेसे अर्थपनेका ज्ञान कर लो। यहांतक अन्योंका कहना है। अब आचार्य समझाते हैं कि—

तेऽप्येवं प्रष्टव्याः। सर्वोनर्थ एवेति पक्षोऽर्थे स्याद्वा न वा ? स्याच्चेत्सर्वस्यार्थत्वव्याघातो दुर्निवारः, न स्याच्चेत्तेन व्यभिचारी हेतुर्वाग्विकल्पगोचरत्वेन प्रमाणोपदर्शितत्वस्या-

र्थत्वमन्तरेणापि भावात्। यदि पुनः प्रमाणोपदर्शित एव न भवति तदा विकल्पवाग्गोचरत्वं तेनानैकान्तिकं साध्याभावेऽपि भावात्। यदि पुनः सर्वोनर्थ एवेति पक्षो विकल्पवाग्गोचरो न भवतीति ब्रुवते तदा स्ववचनविरोधः।

अनर्थोंको नहीं माननेवाले उन प्रतिवादियोंसे भी हमको इस प्रकार पूंछना है कि किसीने एक प्रतिज्ञावाक्य यह बोला या ज्ञान उत्पन्न किया कि "सर्व अनर्थ ही हैं" इस प्रकारका पक्ष ग्रहण करना वास्तविक वाच्य अर्थके होनेपर होगा? अथवा न होनेपर भी हो सकेगा? बताओ। यदि अर्थके होनेपर मानोगे तब तो सबको अर्थपना माननेका व्याघात हुआ अर्थात् सब अनर्थ ही हैं इसका वाच्यार्थ सबको अनर्थपना सिद्ध करना है और आपने पहिलेसे ही सबको अर्थपनेका एकांत पकड रखा है। अतः पूर्वापर विरुद्ध हो जानेके कारण इस व्याघातदोषका वारण करना आपको अतीव कष्टसाध्य हुआ। यदि द्वितीय पक्षके अनुसार आप यों मानेंगे कि "सब अनर्थ ही हैं," ऐसा कहना और जानना कुछ भी अर्थको नहीं रखता है, तब तो आपका शब्द और विकल्प ज्ञानका विषयपना हेतु तिस करके व्यभिचारी हुआ अर्थात् सब अनर्थ ही हैं, इस पक्षमें शब्द, विकल्पके विषयपने करके प्रमाणसे जाना गयापन रूप हेतु अर्थपने साध्यके विना भी विद्यमान रहता हैं, साध्यके न रहनेपर हेतुका रहना ही व्यभिचार दोष है। यदि फिर आप यों कहेंगे कि "सब अनर्थ ही हैं" यह पक्ष तो प्रमाणोंसे जाना गया ही नहीं है। तब तो आपका प्रमाणसे जाने गयेपन रूप साध्यके लिए दिया विकल्पज्ञान और शब्दका विषयपना हेतु उसी पक्ष करके व्यभिचारी हुआ। क्योंकि साध्यके विना भी वहां रह जाता है। आपने विकल्पवाग्गोचरत्व हेतुसे प्रमाणोपदर्शितपनेकी सिद्धी की थी और प्रमाणोपदर्शितपनेसे सबको अर्थपनेकी सिद्धी की थी। यदि फिर आप यों कहें कि सब अनर्थ ही हैं, इस प्रकारका पक्ष लेना विकल्पज्ञान और वाणीका विषय ही नहीं होता है। तब दोनों व्यभिचारोंका वारण तो अवश्य हो जावेगा। क्योंकि अर्थपनेका व्याप्य प्रमाणोपदर्शितपना है और प्रमाणोपदर्शितपनेका व्याप्य विकल्प, शब्द, गोचरपना है। जहां जिसके व्याप्यका व्याप्य ही नहीं है, वहां वह अर्थपना भला कैसे रह सकता है? यानी नहीं। यों ठीक है, किंतु आपको अपने वचनोंसे ही विरोध होना यह बडा भारी दोष हुआ। जब कि सब अनर्थ हैं, यह शब्द भी बोला जा रहा है। और विकल्पज्ञान भी किया जा रहा है। फिर यह कहना कि वह विकल्प और शब्दका विषय नहीं है ऐसा स्ववचनबाधित कहना कैसे भी युक्त नहीं हैं।

कुतश्चिदविद्याविशेषात् सर्वोनर्थ इति व्यवहारो न तात्त्विक इति चेत्, स तर्ह्यविद्याविशेषोऽर्थोऽनर्थो वा? यद्यर्थस्तदा कथमेतन्निबन्धनो व्यवहारोऽतात्त्विकः स्यात्सर्वोर्थ एवोति व्यवहारवत्। सोऽनर्थश्चेत्, कथं सर्वोर्थ एवेत्येकान्तः सिध्येत्?

वे ही पुनः कहरहे यैं कि "सब अनर्थ हैं" इस प्रकारका व्यवहार किसी विशिष्ट अविद्यासे हो रहा है, किन्तु वह वास्तविक नहीं है। ऐसा कहोगे, तब तो हम जैन पूंछते हैं कि वह विशिष्ट

अविद्या क्या वस्तुभूत अर्थ है ? अथवा क्या अवस्तुरूप अनर्थ है ? बतलाइये। यदि अविद्याको वास्तविक अर्थ मानोगे, तब इस अविद्याको कारण मानकर होनेवाला व्यवहार भला अवास्तविक कैसे हो जावेगा ? जैसे कि "सब अर्थरूप ही हैं", इस प्रकार आपके एकान्तका व्यवहार वस्तुस्पर्शी है, वैसे ही वस्तुभूत अविद्यासे उत्पन्न हुआ सब अनर्थ ही हैं, यह व्यवहार भी परमार्थभूत होगा। यदि आप दूसरे पक्षअनुसार उस अविद्याविशेषको अनर्थरूप मानोगे तो सब अर्थ ही हैं, इस प्रकारका एकान्त कैसे सिद्ध होगा ? कहिये, क्योंकि इसी समय आप अविद्याको अनर्थरूप कह चुके हैं। इस प्रकार बडी दक्षताके साथ आचार्य महाराजने अनर्थको न मानकर सबको अर्थ माननेवाले एकांतवादीका मंतव्य खण्डन कर दिया है।

सर्वोनर्थ एवेत्येकांतोपि न साधीयान्, तद्व्यवस्थापकस्यानर्थत्वे ततस्तत्सिध्ययोगादर्थत्वे सर्वानर्थतैकांतहानेः।

उक्त एकान्तसे सर्वथा विपरीत किसीका यह एकान्त है कि सर्व ही पदार्थ संसारमें अनर्थरूप हैं। किसीसे भी किसीका स्वार्थ नहीं सावता है। विचार करनेपर अन्तमें सब झूंठे पडते हैं। फिर किस का श्रद्धान करोगे ? आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकारका एकान्त भी अच्छा नहीं है ! क्योंकि सब अनर्थ ही हैं। इसकी व्यवस्था करनेवाले उस प्रमाणको या वाक्यको भी अनर्थरूप मानोगे तो निरर्थक उस प्रमाण या वाक्यसे उस अनर्थपनेके एकांतकी सिध्दि न हो सकेगी। और यदि उस अनर्थपनेकी व्यवस्था करनेवाले प्रमाणको परमार्थस्वरूप मानोगे तब तो सबको अनर्थपना माननेके एकांतकी हानि होती है। क्योंकि अभी आपने उसके व्यवस्थापकको अर्थ मान लिया है। "इतो व्याघ्र इतस्तटी" एक ओरसे व्याघ्र आ रहा है और दूसरी ओर गहरी नदी है, इस नीतिके अनुसार आपका स्वपक्षमें स्थिर रहना असम्भव है।

संविन्मात्रमर्थानर्थविभागरहितमित्यपि न श्रेयः, संविन्मात्रस्यैवार्थत्वात्ततोन्यस्यानर्थत्वसिद्धेः। सर्वस्याप्यर्थानर्थविभागसिद्धेरवश्यंभावाद्युक्तमर्थग्रहणमनर्थश्रद्धाननिवृत्त्यर्थम्।

शुद्धज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि संसारमें न कोई अर्थ है और न कोई अनर्थ है। केवल शुद्ध संवेदन (विज्ञान) ही है। वह अर्थ और अनर्थके विभागसे रहित है अर्थात् उसको अर्थरूप या अनर्थरूप कुछ भी नहीं कह सकते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार कहना भी कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि यों तो आपका माना हुआ केवल संवेदन ही अर्थ हो जाता है और उससे अन्य घट, पट आदि द्वैतोंको अनर्थपना सिद्ध हो जावेगा। इस कारण सभी पदार्थोंको विवक्षासे अर्थपने और अनर्थपनेका विभाग करना अवश्य ही सिद्ध हो जाता है, अथवा सर्व ही वादियों करके अभीष्ट पदार्थको अर्थपनेकी ओर अनिष्ट पदार्थोंके अनर्थपनेकी व्यवस्था मानी जाती है। अतः मूलसूत्रकारने मिथ्याज्ञानोंसे जाने गये अनर्थोंके श्रद्धानकी निवृत्तिके लिये सम्यग्दर्शनके निर्दोष लक्षणमें अर्थका

ग्रहण किया है यह युक्तिपूर्ण है। भावार्थ—प्रमाणोंके द्वारा जाने गये अर्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अनर्थोंका श्रद्धान करते बैठना सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु मिथ्यादर्शन है।

कल्पितार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमेवं स्यात्ततः सैवातिव्याप्तिरिति चेत् न, तत्त्वविशेषणात्।

इस प्रकार तो कल्पना किये गये पदार्थोंका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन ही होजावेगा। अर्थ कहनेसे कल्पित अर्थ भी पकडे जासकते हैं। इस कारण फिर भी वही अतिव्याप्ति दोष बना रहा। ऐसा तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि लक्षणमें अर्थका विशेषण " तत्त्व " दे रखा है अर्थात् वास्तविक रूपपनेसे तत्त्व निर्णीत हैं, उनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। कल्पना किये गये अतत्त्वरूप अर्थोंका श्रद्धान करना तो मिथ्यादर्शन है।

नन्वर्थग्रहणादेव कल्पितार्थनिवृत्तेस्तस्यानर्थत्वाद्व्यर्थं तत्त्वविशेषणमिति चेत् न, धनप्रयोजनाभिधेयविशेषाभावानामर्थशब्दवाच्यानां ग्रहणप्रसङ्गात्, न च तेषां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनस्य लक्षणं युक्तं, धर्मादर्थो धनमिति श्रद्दधानस्याभव्यादेरपि सम्यग्दर्शनप्रसक्तेः।

यह आक्षेप सहित शंका है कि जब अकेले अर्थके ग्रहण करनेसे ही कल्पित अर्थोंका निवारण होजाता है। क्योंकि वह कल्पित अर्थ वास्तविक अर्थ नहीं है। किंतु अनर्थ है, तो फिर उसके निवारण करनेके लिये अर्थका तत्त्व विशेषण देना व्यर्थ ही है। सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अर्थ शब्दके वस्तुके सिवाय धन, प्रयोजन, वाच्य, विशेष, अभाव (निवृत्ति) भी कई वाच्यार्थ होजाते हैं। यदि अर्थका विशेषण तत्त्व न लगाया जावेगा तो केवल अर्थशब्दसे धन आदिकके ग्रहण करनेका भी प्रसंग हो जावेगा और उन धन आदिका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका लक्षण बनाना युक्त नहीं है। क्योंकि धर्मसे अर्थ यानी धन प्राप्त होता है, इस प्रकार नीति वाक्य द्वारा धनका श्रद्धान करते हुए अभव्य, दूर भव्य अथवा मिथ्यादृष्टिओंके या सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यङ्मिथ्यादृष्टि इन भव्योंके भी सम्यग्दर्शन हो जानेका प्रसंग होगा।

" कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिक " इति प्रयोजनवाचिनोऽर्थशब्दात् प्रयोजनं श्रद्दधतोऽपि सद्दृष्टित्वापत्तेः।

नीतिपुस्तकमें लिखा हुआ है कि ऐसे उत्पन्न हुए पुत्रसे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? जो कि विद्वान् नहीं है और धार्मिक भी नहीं है। यहां प्रयोजनको कहनेवाले अर्थ शब्दसे प्रयोजनरूप अर्थका श्रद्धान करनेवाले जीवको भी सम्यग्दृष्टिपना प्राप्त हो जावेगा। जो कि वह आपत्ति इष्ट नहीं है। हां ! रत्नत्रयको या संयमको आत्मसंबन्धी धन माननेका अथवा केवलज्ञान या मोक्षको अपना प्रयोजन माननेका श्रद्धान करता तो कुछ सम्यग्दृष्टिपनमें सहायता भी प्राप्त हो सकती थी। किंतु रागद्वेषवर्धक पदार्थोंमें धन, प्रयोजनका विश्वास करना तो मिथ्यादर्शन है, ऐसा सभी मानते हैं।

धनप्रयोजनयोरर्थाभिप्रायो मोहोदयादवास्तव एव प्रक्षीणमोहानामुदासीनानामिव ममेदं स्वं धनं प्रयोजनं चेति संप्रत्ययानुपपत्तेः। सुवर्णादेर्देशकालनरान्तरापेक्षायां धनप्रयोजनत्वाप्रतीतेर्वस्तुधर्मस्य तदयोगात्सुवर्णत्वादिवदिति केचित् ॥

यहां कोई कह रहे हैं कि धन और प्रयोजनमें अर्थ समझ लेनेका अभिप्राय रखना मोहनीय कर्मके उदयसे होता है। अतः वास्तविक ही नहीं है। उदासीन साधु मुनियोंके जैसे यह मेरा अपना धन है, यह मेरा प्रयोजन है, इस प्रकार ज्ञान होना नहीं बनता है, तैसे ही जिनका दर्शनमोहनीय कर्म उपशम या क्षयोपशम रूपसे नष्ट हो गया है ऐसे चौथे पांचवे आदि गुणस्थान-वाले जीवोंके भी यह मेरा धन और मेरा प्रयोजन, ऐसे ज्ञानोंका बनना भले प्रकार युक्तिसिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि किसी किसी देशमें सुवर्ण, चांदी आदि द्रव्योंको धनपना और प्रयोजनपना नहीं प्रतीत किया जाता है अर्थात् दरिद्र देशोंमें पुण्यहीन व्यक्तियोंकी अपेक्षासे सुवर्णको धन माना गया है। भोगभूमियोंमें या सुदर्शन मेरुपर जानेवाले जीवोंकी तथा देवोंकी दृष्टिमें सुवर्णका विशेष मूल्य नहीं है। मरुस्थलमें दुष्काल पडनेपर कई अवसरोंमें चांदी, सोना सुलभ हो गया था। किंतु दुर्लभ हो रहे अन्न—जलके विना सहस्रो मनुष्य मृत्युमुखमें प्राप्त हो गये थे। कई धनके स्थलोंपर या भूमिमें चींटा चींटी धनके ऊपर चलते बैठते हैं। वे उन रुपयों, भूषणों, फांसोंको धन ही नहीं समझते हैं। हां, संचित अन्नकणोंको पूर्ण धन मानते हैं। तथा किन्हीं दूसरे समयोंमें यानी सुषमसुषम, सुषम, सुषमदुःषम इन भोगभूमि कालोंमें यहां भी सुवर्ण धन नहीं माना जाता था। एवं अब भी यहां अतीव पुण्यशाली पुरुष या दुसरे न्यारे वीतराग साधु आत्माओंकी अपेक्षासे सुवर्णको धनपना और प्रयोजनपना प्रतीत नहीं होता है। अब भी अनेक पदार्थ ऐसे हैं, जो कि कूडेके समान फेंक दिये जाते हैं। किंतु दूसरे देश, काल और व्यक्तियोंकी अपेक्षासे वे अधिक मूल्यके हैं। वनमें रहनेवाली भीलनी गज-मुक्ताओंका तिरस्कार कर गोंगचियोंसे अपने आभूषण बनाती हैं। जिन हजारों आमकी गुठलियोंको हम यों ही कूडेमें फेंक देते हैं, किसी समय दस रुपया व्यय करनेपर भी वह प्राप्त नहीं होती है। नीमके पत्ते यहांपर बहुत मिलते हैं, किंतु देशान्तरोंमें वे मूल्यसे पुडियोंमें बेचे जाते हैं। जंगलमें सैकडों जडी, बूटियां खडी हुई हैं जिनको कि पशु पक्षी भी भक्षण नहीं करते हैं, वे ही न जाने किन किन रोगोंको दूर करनेकी शक्तियां रखती हैं। सुवर्ण आदि रसायन बनानेमें भी उनका उपयोग हो सकता है। यदि वे सहस्रों रुपये तौले बिकें तो भी उनका मूल्य न्यून ही है। जो खेतकी मिट्टी, गेहूं, चना, जौ, फल, फूल, खाण्ड आदिको पैदा कर सकती है और जो जलवायु योंही इधर उधर बिखर रहे हैं, वे रसायन शास्त्रकी दृष्टिसे सुवर्ण, हीरा, माणिक, पन्नासे भी अधिक मूल्यके हैं। सुवर्णसे भूख दूर नहीं होती, प्यास नहीं बुझती, प्राण-वायु नहीं बनती है, अन्न भी नहीं उपजता है। अतः वस्तुके धर्मोंकी अपेक्षासे विचारा जावे तो धन और प्रयोजनपना उस वस्तुका स्वभाव नहीं है, जैसे कि सुवर्णका सुवर्णपना या रस, गन्ध

आदि स्वभाव हैं, वैसे धनपना उसका स्वभाव नहीं है। कतिपय धनाढ्य सुवर्णके विद्यमान होनेसे ही डांकुओंके द्वारा मार दिये जाते हैं, जिसके कि वे चोरोंको पहिचानकर दण्ड न दिला सकें। यदि वे निर्धन होते तो वनमें भी उनको किसी प्रकारका भय न था। अनेक निरपेक्षजीव सुवर्णको अपना प्रयोजन [स्वार्थ] भी नहीं समझते हैं। जहां भूमिमें लक्षोंका धन गढा हुआ है वहां चूहे, चींटे, योंही डोलते रहते हैं। उन्हें तो अन्न या खांड चाहिये, रुपया म्होरोंकी आकांक्षा नहीं है। फिर आप जैन बलात्कारसे अर्थ शब्दका वाच्य अर्थ धन और प्रयोजन कहकर अतिव्याप्तिका वारण करनेके लिए अर्थका तत्त्व विशेषण क्यों लगाते हैं? सूत्रका व्यर्थ बोझ बढानेसे क्या लाभ है? भावार्थः—धन और प्रयोजनको वास्तविक अर्थपना नहीं है। अतः तत्त्वपदके विना केवल अर्थ-पदसे ही अतिव्याप्तिका वारण हो जावेगा। इस प्रकार कोई पंडित कह रहे हैं। अब आचार्य महाराज इसका उत्तर देते हैं कि—

तेषां क्रोधादयोऽप्यात्मनः पारमार्थिका न स्युर्मोहोदयनिबन्धनत्वाद्धनप्रयोजनयोरर्थाभिप्रायवत् तेषामौदयिकत्वेन वास्तवत्वमिति चेद्, अन्यत्र समानम्।

उनके यहां क्रोध, अभिमान, लोभ आदि भी आत्माके वस्तुभूत स्वभाव नहीं हो सकेंगे। क्योंकि मोहके उदयको कारण मानकर क्रोध आदिक उत्पन्न होते हैं। जैसे कि धन और प्रयोजनमें अर्थ समझनेका अभिप्राय करना मोहके उदयसे जन्य होनेके कारण वस्तुधर्म नहीं है, ऐसा होनेपर क्रोधको आत्माका भाव समझनेवाला पुरुष सम्यग्दृष्टि न बन सकेगा। किंतु क्रोध आदि तो नौवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं, अतः चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले भाव भी आत्माके स्वतत्त्व रूप पारमार्थिक भाव हैं। शुद्ध आत्मद्रव्यके क्रोध आदिक भाव नहीं हैं। एतावता सांसारिक अशुद्ध आत्मद्रव्यके भी क्रोध आदिक वस्तुभूत परिणाम नहीं हैं, यह नहीं कह बैठना चाहिये। केवल समयसारजीका अपेक्षा लगाये विना स्वाध्याय करनेसे निश्चयकी ओर (तरफ) झुक जानेवाले पुरुषको प्रमाणके विषयभूत वस्तुके परनिमित्तसे होनेवाले वास्तविक परिणामोंको नहीं भूल जाना चाहिये। तभी तो जैनसिद्धान्तमें औपशमिक आदि पांचों भाव आत्माके स्वकीय तत्त्व माने गये हैं। यदि कोई यों कहें कि क्रोध आदिक तो कर्मोंका उदय होनेपर उत्पन्न हो जानेवाले आत्माके भाव हैं। क्रोध, मान, रति आदि भावोंके निमित्तकारण कर्म हैं और आत्मा उनका उपादानकारण है। अतः वे वस्तुभूत हैं, यों उनका जानना तो पारमार्थिक अर्थोंका जानना ही है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि ऐसा वास्तविकपना तो दूसरे स्थानोंमें भी समानरूपसे लागू हो जाता है अर्थात् सुवर्ण मेरा धन है, सुवर्ण प्राप्त करना मेरा प्रयोजन है। ऐसे प्रत्यय होना भी चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे जन्य भाव हैं। अतः ये भी आत्माके वस्तुभूत परिणाम हैं। शुद्धजीवद्रव्यका क्रोध परिणाम नहीं है। यह एकदेशीय निश्चय नयका विषय है। किंतु वस्तु तो द्रव्य और पर्यायोंका समुदाय है। वह प्रमाणका ही विषय है। कर्म और नोकर्मसे बन्धको प्राप्त हुए जीवकी क्रोध कर्मके उदय होनेपर

क्रोधरूप परिणति हो जाती है। वह क्रोध आत्माके चारित्रगुणका विभाव परिणाम है। आत्माका क्रोधपर्यायके साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। द्रव्य और पर्याय इन दोनोंके पिण्डरूप वस्तुको मुख्यरूपसे जाननेवाले प्रमाण करके आत्मा क्रोधी जाना जा रहा है। भले ही किसी देश तथा अन्य कालमें और वीतराग व्यक्तिको सुवर्णमें धनपने और प्रयोजनपनेका ज्ञान न हो, किंतु जिस मोही जीवको बडे हुए रागके कारण सुवर्णमें ममत्व हो रहा है, वह रागभाव तो आत्मासे दूर नहीं किया जासकता है। परनिमित्तसे होनेवाले भाव किसी संसारी जीवके दूसरे प्रकारसे उत्पन्न होते हैं। अन्य मुक्तोंके विभाव भाव होते ही नहीं हैं। तीसरे संसारीजीवोंके तीसरे प्रकारके ही भाव होते हैं अर्थात् गजमुक्ताको छोडकर गोंगचीमें धनपनेके भाव हो जाते हैं। अखण्ड ब्रह्मचर्य महाव्रत होनेके कारण वारिषेण मुनि महाराजके स्वकीय सुन्दरस्त्रियोंमें भी पुंवेद जन्य भाव नहीं हुए और पुष्पडालके कुरूप एकाक्षिणी स्त्रीके निमित्तसे पुंवेदका तीव्र उदय होनेपर रागभाव हो गये थे। इस प्रकार निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध अचिन्त्य हैं। किंतु जो भी कुछ राग, क्रोध भाव होते हैं, वे आत्माके वास्तविक परिणाम तो अवश्य ही कहे जावेंगे। स्वाभाविक न सही, आत्माके अतिरिक्त उनका उपादानकारण अन्य कोई नहीं है।

वस्तुस्वरूपं धनं प्रयोजनं वा न भवतीति चेत्, सत्यं, वैश्रसिकत्वापेक्षया तस्य वस्तुरूपत्वव्यवस्थानासम्भवात्, परोन्नाधिकृतत्वेन तु तस्य [illegible] नार्थत्वं, येनार्थग्रहणादेव तन्निवर्तनं सिध्येत् ॥

यदि वे कोई यों कहें कि जीवोंकी रागद्वेषसे सुवर्णमें धनपने और प्रयोजनपनेकी बुद्धि भले ही हो जावे और तदनुसार रागद्वेष परिणाम भी आत्माके तदात्मक उत्पन्न हो जावें, किन्तु सुवर्ण द्रव्य तो वास्तविक स्वरूपसे धन और प्रयोजनरूप नहीं हो जाता है। सुवर्ण तो सुवर्ण है, रसवान् है, गन्धवान् है, पौद्गलिक है, यदि सुवर्णका धनपना वस्तुभूत अंग होता तो वीतराग भी उसको धन समझ लेते। अन्यथा उनके मिथ्याज्ञान होनेका प्रसंग आता। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि इस प्रकार कहोगे तो आपका कहना बहुत ठीक है। सुवर्णको केवल सुवर्णके ही वस्तुपनेसे विचारा जावे तो स्वाभाविक परिणामकी अपेक्षासे उस सुवर्णके धनपने और प्रयोजनपनेको वस्तुरूपताकी व्यवस्था होना असम्भव है। हां! दूसरे निमित्तोंसे किये गये परिणामोंकी अपेक्षासे तो उस सुवर्णके प्रयोजनपने और धनपनेकी वास्तविकताका निषेध नहीं है। दूसरे निमित्तोंसे जल उष्ण हो जाता है, वह उष्णता जलका अर्थ है। जलके स्पर्शगुणका परिणाम है। अतः जलकी गृहीय गांठकी सम्पत्ति है। ऐसे ही दूसरे निमित्तोंसे होनेवाले भाव भी तद्रूप हैं। शरीरभेद हो जानेसे ही स्त्रीकी आत्मा भिन्न है और पुरुषकी आत्मा भिन्न है। स्त्रीको मोक्षका अधिकार नहीं, पुरुषको है। इस रीतिसे एक ही आत्माकी पहिले पीछेकी स्त्री, पुरुष, पर्यायोंमें महान् अन्तर है। दरिद्रके भाव धनवान्से निराले हैं।

एक ही आत्माके निर्धन अवस्थासे धनिक बन जानेपर भावोंमें बडा परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार वह धनपना और प्रयोजनपना अनर्थ नहीं है, किंतु अर्थरूप ही है जिससे कि केवल अर्थके ग्रहण करनेसे ही उस धन और प्रयोजनरूप अर्थकी निवृत्ति हो जाना सिद्ध हो जाता। भावार्थ—धन और प्रयोजन अर्थ हैं। इनका श्रद्धान करनेवाला भी सम्यग्दृष्टि बन जावेगा। इस अतिव्याप्तिके वारण करनेके लिये अर्थपदका विशेषण तत्त्व देना चाहिये। अब हम भी कहते हैं कि वे अर्थ तो हैं, किंतु मोक्षोपयोगी और तात्त्विकनेसे वे धन आदिक तत्त्वार्थ नहीं हैं।

तथाभिधेये विशेषे अभावे चार्थे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनस्य लक्षणमव्याप्ति प्रसज्यते, सर्वस्याभिधेयत्वाभावाद्व्यञ्जनपर्यायाणामेवाभिधेयतया व्यवस्थापितत्वादर्थपर्यायाणामाख्यातुमशक्तेरननुगमनात् सङ्केतस्य तत्र वैयर्थ्याद् व्यवहारासिद्धेर्नाभिधेयस्यार्थस्य श्रद्धानं तल्लक्षणं युक्तम्।

तैसे ही अर्थ शब्दके वाच्य यदि अभिधेय (कहने योग्य) या विशेष अथवा अभाव ये अर्थ किये जावेंगे और इन अर्थोंमें श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा जावेगा तो अव्याप्ति दोष हो जानेका प्रसंग होगा। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव जब शब्दसे न कहने योग्य अर्थपर्यायोंका श्रद्धान कर रहा है, उस समय वह सम्यग्दृष्टि न कहा जावेगा। क्योंकि वह शब्दसे कहने योग्य अभिधेय पदार्थोंका श्रद्धान नहीं कर रहा है। संसारके सभी पदार्थ शब्दोंके द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं। अनन्तानन्त पदार्थोंमेंसे अनन्तवें भाग पदार्थ शब्दोंसे कहे जाते हैं। व्यञ्जनरूप मोटी मोटी पर्यायोंका ही शब्दोंसे निरूपण होना व्यवस्थित किया गया है। सूक्ष्म अर्थपर्यायोंको कहनेके लिये शब्दोंकी शक्ति नहीं है। कारण कि अनुगम नहीं हो पाता है अर्थात् " वृत्तिर्वाचामपरसदृशी " अन्य पदार्थोंके सादृश्यको लेकर शब्दोंकी प्रवृत्ति हुआ करती है। जैसे कि बालकके सन्मुख किसी वृद्ध पुरुषने दूसरे व्यक्तिको यों कहा कि घडेको ले जाओ और गौको ले आओ ! इस शब्दको सुनकर ले जाना और ले आना रूप क्रियाओंसे युक्त द्रव्योंका परामर्श कर वह बालक घट शब्दकी वाचक शक्तिको बडा पेट और छोटी ग्रीवावाले मिट्टीके पात्रमें ग्रहण कर लेता है तथा गौ शब्दकी सींग, सास्ना (गल कम्बल चर्म) वाले पशुमें वाचकशक्तिको ग्रहण कर लेता है। वही बालक दूसरे स्थानोंपर भी उस गौके सदृश अन्य गौओंमें भी गो शब्दका प्रयोग कर लेता है। शब्द बोलनेका फल भी दूसरे सदृश व्यक्तियोंके जाननेमें उपयोगी है, जैसे कि रसोई घरमें देखे गये अग्निके साथ व्याप्तिको रखते हुए धूमका ग्रहण कर लेना, पर्वत आदि स्थानोंमें वह्निज्ञान करानेमें उपयोगी है। रसोई घरमें तो वह्नि और धूम दोनोंका प्रत्यक्ष हो ही रहा है। तैसे ही संकेतकालमें ग्रहण किया हुआ वाच्यवाचकसम्बन्ध भी भविष्यमें व्यवहारके समय उन सदृश व्यक्तियों या उसीकी स्थूल व्यञ्जनपर्यायोंके शाब्दबोध करानेमें उपयोगी है। संकेतकालमें तो पदार्थोंका प्रत्यक्ष ही हो रहा है। इस उक्त कथनसे सिद्ध होता है कि शब्दोंकी प्रवृत्ति सदृशपर्यायोंमें और पहिले जाने हुए वाच्यकी स्थूल पर्यायोंमें चलती है। जिन सूक्ष्म अर्थपर्या-

योंका प्रतिक्षण विलक्षण ही परिणमन होता है तथा संकेतकालमें जिन सूक्ष्मपर्यायोंका हमको प्रत्यक्ष ही नहीं है, उनमें शद्वकी योजनाका ग्रहण हम कैसे कर सकते हैं ?। एक काली गौमें गो शद्वका सङ्केत कर धौली, पीली, चितकबरी, कपिल, खण्ड, मुण्ड, शाबलेय आदि गौ व्यक्तियोंमें भी यह गौ है, यह भी गौ है, और यह भी गौ ही है, इस प्रकार गौ शद्वोंकी प्रवृत्तिरूप अनुगम हो रहा है। किन्तु अनन्तसुख, सम्यग्दर्शन, चारित्र, अविभागप्रतिच्छेद, अधःकरण, एकत्ववितर्क आदि अर्थ-पर्यायोंका उन्हींमें या उनके सदृश दूसरी पर्यायोंमें ठीक अर्थको कहनेवाले शद्वोंका अन्वय रूपसे अनुगम करना नहीं होता है। उन अर्थपर्यायोंमें "इस शद्वसे यह अर्थ समझ लेना चाहिये" ऐसा संकेतग्रहण करना भी व्यर्थ पडेगा। जैसे कि कोई बाल्य अवस्था या युवावस्थाके सुखोंका शद्वके द्वारा ठीक ठीक (न न्यून न अधिक) निरूपण करना चाहे तो बडा पोथा बनाकर भी उसका प्रयत्न व्यर्थ जावेगा। सामायिक करते समय साधु महाराजको कैसा आनन्द प्राप्त होता है, वह शद्वोंसे नहीं कहा जाता है। तीर्थ यात्रा करके, पात्रदान करके, अध्ययन करके जो अनिर्वचनीय सुख मिला है, कञ्जूस या मूर्खके सन्मुख उस सुखका निरूपण सहस्रजिह्वावाला भी नहीं कर सकता है। उसका कारण यही है कि उन अर्थ पर्यायोंके वाचक शद्व ही संसारमें नहीं हैं। यदि बलात्कारसे कोई संकेतग्रहण करेगा तो उन वाच्य अर्थोंकी तली तक नहीं पहुंच सकता है। एक चार वर्षकी बालिका अपनी युवती बहिनसे पूछ रही है कि तुमको पतिगृहमें क्या विशेष आनन्द प्राप्त होता है ? इसका उत्तर केवल चुप हो जाना ही है या "तू स्वयं समय पर अनुभव कर लेगी" यह हो सकता है। एवं सन्निपात रोगवाला अपने शारीरिक परम दुःखका किसी भी प्रकार शद्वोंसे निरूपण नहीं कर सकता है। तभी तो शरीरप्रकृति उसकी वचनशक्तिको मानो रोक देती है। अतः निर्णीत हुआ कि शद्वके द्वारा मुख्य रूपसे कहे जाने योग्य संख्यात अर्थ और गौणरूपसे कहे जाने योग्य असंख्यात अर्थोंसे अतिरिक्त अनन्तानन्त प्रमेयोंमें वाच्यवाचक व्यवहार होना सिद्ध नहीं है। इस कारण अभिधेयरूप अर्थके श्रद्धानको उस सम्यग्दर्शनका लक्षण करना युक्त नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जिस समय अपने आत्माका अनुभव करता है या अवाच्य अर्थपर्यायोंका विचार कर रहा है, उस समय उक्त लक्षण न घटनेसे अव्याप्ति दोष हो जावेगा।

नापि विशेषस्य सामान्यश्रद्धानस्य दर्शनत्वाभावप्रसंगात्।

तथा अर्थ शद्वका विशेषण यदि तत्त्व न दिया जावेगा तो विशेषरूप अर्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन होगा। ऐसी दशामें सामान्य अर्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शनपनेके अभावका प्रसंग होजायगा। यहां भी अव्याप्ति दोष हुआ। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव विशेषधर्मोंके समान सामान्य अर्थोंका भी श्रद्धान करता है। कारण कि सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तुके तदात्मक अंश हैं।

तथैवाभावस्यार्थस्य श्रद्धानं न तल्लक्षणं भावश्रद्धानस्यासंग्रहादव्याप्तिप्रसक्तेः।

उसी प्रकार अभावरूप अर्थका श्रद्धान करना भी उस सम्यग्दर्शनका निर्दोष लक्षण नहीं है। क्योंकि यों तो भावोंके श्रद्धान करनेका संग्रह न हो सकेगा। वस्तुस्वरूप अभाव और भाव-पदार्थोंका भी सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धान करता है। इस भावके श्रद्धानमें लक्षण न जानेसे अव्याप्ति दोष होनेका प्रसंग होगा।

नन्वेवमर्थग्रहणादिवत्तत्त्ववचनादपि कथमभिधेयविशेषाभावानां निवृत्तिस्तेषां कल्पितत्त्वाभावादिति चेत् न, अभिधेयस्य शद्धनयोपकल्पितत्वाद्विशेषस्य ऋजुसूत्रोपकल्पितत्वादभावस्य च धनप्रयोजनवत्कल्पितत्वसिद्धेस्तावन्मात्रस्य सकलवस्तुत्वाभावाद्वस्त्वेकदेशतया स्थितत्वात्।

यहां कटाक्ष सहित यह शंका है कि इस प्रकार अकेले अर्थ ग्रहण करनेसे जैसे अभिधेय, विशेष और अभावोंका निवारण नहीं हो सकता है, उसी प्रकार अर्थका "तत्त्व" ऐसा विशेषण देनेसे भी अभिधेय आदिका निराकरण कैसे हो जावेगा? क्योंकि अभिधेय आदि भी तो वास्तविक तत्त्व हैं। वे कल्पित पदार्थ नहीं है। इस कारण तत्त्व शद्धके कहनेपर भी अव्याप्ति दोष बना रहता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे सो ठीक नहीं। क्योंकि शद्धका वाच्यरूप अभिधेय तो शद्धनयके द्वारा अपेक्षापूर्वक कल्पना किया गया है और सामान्य द्रव्यसे रहित माना गया कोरा विशेष भी ऋजुसूत्रनयसे कल्पित किया गया है तथा अभाव भी परचतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तित्व धर्मरूप कल्पित भंग है। सप्तभंगीके विषय होरहे धर्म कल्पित होते हैं। प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें विरोधरहित अनेक धर्मोंकी कल्पनाको सप्तभङ्गी कहते हैं। अतः धन और प्रयोजनरूप अर्थोंको जैसे कल्पितपना है अर्थात् किसी गृहमें गुप्तधन गढा हुआ है, उसमें रहनेवाले निर्धन मनुष्योंकी सुवर्ण, रूपये, आदिमें अतीव धनतृष्णा लगी हुयी है। किन्तु उस रखे हुए धनके पास दिनरात घूमनेवाले चूहे, चींटोंको मौहर आदिमें अणुमात्र भी धनबुद्धि नहीं है। प्रत्युत उनके स्वतन्त्र भ्रमण करनेमें वे धनके भरे हुए हण्डे, विघ्नरूप होरहे हैं और प्रयोजनमें भी ऐसा ही विपरीतपना देखा जाता है। पूर्वकी ओरसे आनेवाली रेलगाडीमें बैठे हुए आतुर मनुष्य पश्चिमकी ओरसे आयी हुयी रेलगाडीमें आनेवाले मनुष्योंको अच्छा समझते हैं और पश्चिमसे आनेवाले आततायी मनुष्य पूर्वदिशासे आनेवालोंको अच्छा समझते हैं कि इन्हींके समान उस देशमें हम भी होते तो हम आने जानेके क्लेशको क्यों उठाते? हमारा प्रयोजन बहुत समय पहिले ही सिद्ध हो चुका होता। वैसे ही अभिधेय, विशेष, और अभावको भी कल्पितपना सिद्ध है। यहां कल्पनासे अवस्तु पकडी जाती होय सो नहीं समझना। जैन सिद्धान्तमें समीचीन कल्पनाओंको वस्तुके अंशोंका स्पर्श करनेवाली माना है। हां! केवल उतना ही संपूर्ण वस्तुतत्त्व नहीं है। किन्तु अर्थोंमें अभिधेयपना वस्तुका एकदेश है। क्योंकि उससे अनन्तगुणा अनाभिधेयतत्त्व पदार्थोंमे पडा हुआ है और विशेष भी वस्तुका एकदेश है। अभाव अंश भी वस्तुका एकदेश होकर प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हो रहा है। अतः

अर्थका तत्त्व विशेषण लगानेसे अभिधेय आदिका निवारण होते हुए अव्याप्ति दोष दूर हो जाता है। क्योंकि वे पूर्णमुख्यत्व होते हुए अर्थ नहीं हैं। तत्त्व शब्दसे समभिव्याहार करनेपर अर्थ शब्दद्वारा जीव आदिक तत्त्व ही ग्रहण किये जाते हैं।

तत्त्वश्रद्धानमित्यस्तु लघुत्वादतिव्याप्त्यव्याप्त्योरसम्भवादित्यपरः। सोऽपि न परानुग्रहबुद्धिस्तत्त्वशब्दार्थे सन्देहात्। तत्त्वमिति श्रद्धानं, तत्त्वस्य वा तत्त्वे वा, तत्त्वेन वेत्यादिपक्षः संभवेत्, क्वचिन्निर्णयानुपपत्तेः। न हि तत्त्वमिति श्रद्धानं तत्त्वश्रद्धानमित्ययं पक्षः श्रेयान् " पुरुष एवेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन " इति सर्वैकत्वस्य तत्त्वस्य, ज्ञानाद्वैतादेर्वा श्रद्धानप्रसंगात्।

यहां किसी अन्यका कहना है कि तत्त्व शब्दसे यदि धन आदि अर्थोंका निवारण हुआ है तो तत्त्वोंका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन होजाओ। अर्थ शब्द लगाना व्यर्थ है। ऐसा कहनेसे सूत्रमें एक दो मात्राओंका लाघव भी है तथा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, दोषोंके होनेकी सम्भावना भी नहीं है। आचार्य कहते हैं कि जो भी ऐसा कोई दूसरा कह रहा है वह भी लाघव और दोषोंका अभाव दिखलाता हुआ अपनेको परोपकारी कहलानेका बिना विचारे साहस करता है। वस्तुतः उसकी बुद्धि दूसरोंका उपकार करनेमें नहीं प्रवर्त रही है। जहां अनेक संशयोंके उत्पन्न होनेका अवसर मिल जावें, ऐसे लाघव करनेसे क्या लाभ ?। यदि अकेला तत्त्व शब्द ही बोला जावेगा तो तत्त्व शब्दके अर्थमें अनेक प्रतिवादियोंको संशय उत्पन्न हो जावेगा। देखिये, " तत्त्व हैं " इस प्रकार श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है या " तत्त्वका श्रद्धान करना " अथवा " तत्त्वमें श्रद्धान करना " किंवा तत्त्व करके श्रद्धान करना " सम्यग्दर्शन है, इत्यादिक कई पक्ष सम्भवते हैं। किसी एक ही अर्थमें निर्णय करना कैसे भी नहीं बन सकता है। पहिले पक्षके अनुसार यदि तत्त्वश्रद्धानका अर्थ " तत्त्व है " इस प्रकार श्रद्धान करना माना जावेगा तो यह पक्ष कल्याणकारी श्रेष्ट नहीं है। क्योंकि ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्मरूप ही है। यहां नाना (अनेक) पदार्थ कोई भी नहीं हैं। देशभेद, कालभेद, आकारभेद और व्यक्तिभेद आदि सब झूंठे हैं। इस प्रकार सबका एकपना ही वस्तुभूत तत्त्व पदार्थ है। बौद्ध लोग कहते हैं कि क्षणिक ज्ञानपरमाणुरूप ज्ञानाद्वैत ही अकेला तत्त्व है। इसके अतिरिक्त घट, पट आदिक कोई भी तत्त्व नहीं हैं और शब्दाद्वैतवादी पण्डित तो शब्दको ही अकेला तत्त्व मानते हैं। इत्यादिक अनेक प्रकारोंसे अपने अभीष्ट तत्के भावको तत्त्व मान रहे हैं। उन तत्त्वोंके श्रद्धान करनेको भी सम्यग्दर्शन हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। सो अतिव्याप्ति दोष होगा।

नापि तत्त्वस्य, तत्त्वे, तत्त्वेन, वा श्रद्धानमिति पक्षाः सङ्गच्छन्ते कस्य कस्मिन् वेति प्रश्नाविनिवृत्तेः। तत्त्वविशेषणे त्वर्थे श्रद्धानस्य न किञ्चिदवद्यं दर्शनमोहरहितस्य पुरुषस्वरूपस्य वा तत्त्वार्थश्रद्धानशब्देनाभिधानात् सरागवीतरागसम्यग्दर्शनयोस्तस्य सद्भावादव्याप्तेः स्फुटं विध्वंसनात्।

तथा अर्थ पदके न देनेसे तत्त्वश्रद्धानके षष्ठी तत्पुरुष सप्तमी ष " या भा ष " करनेपर तत्त्वोंका श्रद्धान, तत्त्वमें श्रद्धान, और तत्त्वकरके श्रद्धान ये दूसरे, तीसरे, चौथे, पक्ष भी भले प्रकार घटित नहीं होते हैं। क्योंकि किस तत्त्वका और किस तत्त्वमें तथा किस तत्त्वकरके इस प्रकारके प्रश्नोंकी विशेषरूपसे निवृत्ति नहीं होने पाती है। किन्तु अर्थके कह देनेपर और उस अर्थका तत्त्व विशेषण लगानेसे तत्त्वकरके निर्णीत अर्थका श्रद्धान करना यदि सम्यग्दर्शनका लक्षण सूत्रकारने कह दिया है, तब कोई भी दोष नहीं है। दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रहित हो रहे आत्माके स्वाभाविक स्वरूपको तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना इस शब्दसे कहा गया है। यह निर्दोष लक्षण सभी सम्यग्दर्शनोंमें घटित हो जाता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन गुणोंसे प्रकट होने योग्य सराग सम्यग्दर्शनमें तत्त्वार्थश्रद्धान है और केवल स्वानुभूतिके साथ रहनेवाले आत्मविशुद्धिरूप वीतरागसम्यग्दर्शनमें भी वह तत्त्वार्थ-श्रद्धान विद्यमान है। अतः स्पष्टरूपसे अव्याप्ति दोषका सर्वथा नाश हो जाता है और अतिव्याप्तिका वारण हम पूर्वमें कर ही चुके हैं। इस प्रकार सूत्रकारने निर्दोष स्वरूपसे सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है। व्यर्थके आक्षेप उठाना न्यायोचित नहीं है।

कथं तर्हि तत्त्वेनार्थो विशेष्यते ? इत्युच्यते—

यहां कोई विनीत शिष्य प्रश्न करता है, तो आप बतलाइये कि तत्त्वरूप विशेषण करके अर्थ किस प्रकारसे विशिष्ट हो जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं—

यत्त्वेनावस्थितो भावस्तत्त्वेनैवार्यमाणकः।
तत्त्वार्थः सकलोन्यस्तु मिथ्यार्थ इति गम्यते ॥ ५ ॥

जिस जिस स्वभाव करके जीव आदिक भाव व्यवस्थित हो रहे हैं उस ही स्वभाव करके गम्यमान या ज्ञायमान होते हुए वे सभी तत्त्वार्थ हैं। अन्य असत् और कल्पित स्वभावों करके जाने गये अर्थ तो झूंठे अर्थ हैं। यह तात्पर्यसे जान लिया जाता है। सूत्रकारके शब्द अत्यन्त गम्भीर हैं। एक एक पदमें लाखों मन अर्थ भरा हुआ है। विद्वान् अनेक टीका ग्रंथोंको उसी छोटे सूत्रमेंसे निकाल लेते हैं। फिर भी बहुतसा अर्थ सूत्रमें अवशेष रह जाता है। प्रकृत सूत्रमें पड़े हुए तत् शब्दका अर्थ अतीव उदात्त है। यत् और तत्का नित्य सम्बन्ध है। तत्के भावसे ही निर्णीत किया गया अर्थ तत्त्वार्थ है।

तदिति सामान्याभिधायिनी प्रकृतिः सर्वनामत्वात्। तदपेक्षत्वात्प्रत्ययार्थस्य भावसामान्यसम्प्रत्ययस्तत्त्ववचनात्, तस्य भावस्तत्त्वमिति, न तु गुणादिसंप्रत्ययस्तदनपेक्षत्वात् प्रत्ययार्थस्य।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिस धातु या नामसे सुप्, तिङ्, ङी, टाप्, अण्, युट् आदि प्रत्यय आते हैं, उसको प्रकृति कहते हैं और धातु या मूलसे जो विधान किया जाता है, वह प्रत्यय है। तत्त्व शब्दमें तत् ऐसी सामान्य रूपसे सब पदार्थोंको कहनेवाली प्रकृति है। क्योंकि तत् शब्द विचारा सर्व आदि गणमें पडा हुआ है और सर्व आदि शब्द तो जगत्के सभी पदार्थोंमें प्रवृत्त होते हैं। उस प्रकृतिकी अपेक्षासे प्रत्यय अपना अर्थ प्रगट कर देता है। तद्धित वृत्ति करके तत् शब्दसे भावमें त्व प्रत्यय हुआ है। अतः तत्त्व इस पदके कहनेसे सामान्यरूप करके भावका भले प्रकार ज्ञान हो जाता है। तत् यानी उस विवक्षित पदार्थका जो भाव अर्थात् परिणाम है, वह तत्त्व है। यों तत्त्व शब्दसे सामान्य भावोंका ज्ञान होता है। किंतु गुण, अर्थपर्याय, व्यञ्जन पर्याय आदि विशेषोंका ज्ञान नहीं हो पाता है। क्योंकि प्रत्ययके भावरूप अर्थको सर्वनामवाची सामान्य तत् शब्दकी अपेक्षा है। विशेषको कहनेवाले गुण व्यतिरेक आदिकी अपेक्षा नहीं है। अर्थात् भलें ही भविष्यमें सामान्यसे विशेषोंका ज्ञान हो जावे, क्योंकि विशेषोंको छोडकर सामान्य रहता नहीं है। अतः परिशेषसे विशेषोंका ज्ञान हो जावेगा। किंतु महासत्ताके समान तत्त्व शब्द बडे पेटवाला है।

तत्र तत्त्वेनार्थमाणस्तत्त्वार्थ इत्युक्ते सामर्थ्याद्गम्यते यत्त्वेनावस्थित इति, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। तेनैतदुक्तं भवति, यत्त्वेन जीवादित्वेनावस्थितः प्रमाणनयैर्भावस्तत्त्वेनैवार्थमाणस्तत्त्वार्थः सकलो जीवादिर्न पुनस्तदंशमात्रमुपकल्पितं, कुतश्चिदिति।

वहां तत्त्वार्थ शब्दकी वृत्ति करनेके प्रकरणमें तत्पने करके जो गमन करे या गम्य होवे अथवा जाना जावे, वह तत्त्वार्थ है ऐसा कहचुकनेपर विना कहे हुए अर्थापत्तिके बलसे ही यह समझ लिया जाता है कि जिसपनेसे जो पदार्थ स्थित हो रहा है उसपनेसे गम्य होवे। क्योंकि इस प्रकार यत् शब्द और तत् शब्दका सदा ही सम्बन्ध रहता है। जो कहनेसे सो का आक्षेप हो जाता है और सो कह देनेसे जो का अन्वय हो जाता है। इस कारणसे पूरे वाक्यका अर्थ यह कहा गया हो जाता है कि जिन जीव आदि स्वभावों करके पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो रहे हैं उन्हीं स्वभावोंसे प्रमाण नयोंके द्वारा जाना गया जो भाव है वह तत्त्वार्थ है। अतः सभी जीव अजीव, आस्रव आदि पदार्थोंका संपूर्ण वास्तविक शरीर तत्त्वार्थ माना गया है। किन्तु फिर उनका कल्पना किया गया केवल अनित्यपन आदि एक एक अंश किसी भी प्रकारसे तत्त्वार्थ नहीं हैं। यहांतक यह बात सिद्ध हुई।

ततोऽन्यस्तु सर्वथैकान्तवादिभिरभिमन्यमानो मिथ्यार्थस्तस्य प्रमाणनयैस्तथार्थमाणत्वाभावादिति स्वयं प्रेक्षावद्भिर्गम्यते किं नश्चिन्तया।

उन अपने अङ्ग उपाङ्गोंसे परिपूर्ण हो रहे जीव आदिक तत्त्वार्थोंसे भिन्न जो पदार्थ सर्वथा एकान्तवादी पुरुषोंके द्वारा अभिमानपूर्वक माने गये हैं, वे तो सब झूंठे अर्थ हैं। क्योंकि उन अर्थोंको

तैसी वस्तुस्थितिके अनुसार प्रमाणनयोंके द्वारा ज्ञायमानपना नहीं है, इस बातको विचारशाली विद्वान् अपने आप जान लेते हैं। व्यर्थमें हम इस विषयके लिये चिन्ता क्यों करें। भावार्थ—जो थोडी भी विचार बुद्धि रखते हैं वे तत्त्वोंकी परीक्षा सुलभतासे कर लेते हैं कि वस्तुके वास्तविक स्वभाव ये हैं, अन्यवादियोंके द्वारा कल्पित किये गये धर्म वास्तविक नहीं है, सर्वथा क्षणिकपना, सर्वथा नित्यपना सभी प्रकारोंसे एकपना आदि वास्तविक तत्त्व नहीं हैं। इस बातको आचार्य महाराजने पहिले ग्रंथमें भले प्रकार स्पष्ट कर दिया है। जिस वस्तुभूत अनेकान्तको हम हथेलीपर रक्खे हुए आंवलेके समान वस्तुभूत सिद्धकर चुके हैं विचारशाली पुरुष उसको सर्वत्र देख रहे हैं, यों हम निश्चिन्त हैं।

मोहारेकाविपर्यासविच्छेदात्तत्र दर्शनम्।
सम्यगित्यभिधानात्तु ज्ञानमप्येवमीरितम् ॥ ६ ॥

मोह, संशय, विपर्यास इन तीनों मिथ्यादर्शनोंके व्यवच्छेदसे जो उन तत्त्वार्थोंमें दर्शन हुआ है, वही सम्यग्दर्शन है, जैसे कि बुरे आचार और मूर्खताको दूर करके जो ज्ञान हुआ है, वही अच्छी पण्डिताई है। यह समीचीनपना तो " सम्यक् " इस शब्दसे कहा जाता है। इसी प्रकार ज्ञानमें भी सम्यक् शब्द लगादेनेसे संशय विपर्यय और अज्ञानका व्यवच्छेद करना कहा गया समझलेना चाहिये।

तत्र तत्त्वार्थे कस्यचिदव्युत्पत्तिर्मोहोऽध्यवसायापाय इति यावत्। चलिता प्रतिपत्तिरारेका, किमयं जीवादिः किमित्थमिति वा धर्मिणि धर्मे वा क्वचिदवस्थानाभावात्। अतस्मिंस्तदध्यवसायो विपर्यासः। इति संक्षेपतस्त्रिविधमिथ्यादर्शनव्यवच्छेदादुपजायमानं सम्यगिति विज्ञापयते।

उस तत्त्वार्थमें किसी किसी जीवके तीन प्रकारके मिथ्यादर्शन हो सकते हैं। पहिला अविवेक नामका मिथ्यादर्शन है। यह जीवका मोहनीय कर्मके उदय होनेपर मोहरूप भाव है। अव्युत्पन्न जीवको हित अहित नहीं सूझता है। इसका फलितार्थ यह हुवा कि तत्त्वोंके निर्णीत विश्वास करनेका नाश हो जाना। दूसरा मिथ्यादर्शन आरेका यानी संशय है। एक विषयमें दृढ ज्ञान न होकर चलायमान कई अवान्तर प्रतियोंके होनेको संशय कहते हैं जैसे कि यह जीव है ? या अजीव अथवा ठूंठ है या पुरुष ? इत्यादि प्रकारसे धर्मीमें संशय करके किसी भी एक कोटिमें अवस्थित (दृढ) हो न रहना अथवा क्या जीव नित्य है ? अथवा अनित्य ? और इस ढंगसे व्यापक है या अव्यापक ? इस प्रकार संशय करते हुए किसी भी एक धर्ममें निश्चित रूपसे अवस्थित न होना संशय है। तीसरा मिथ्यादर्शन अतत्में तत्रूपसे विपरीत निर्णय करना है, उसको विपर्यास कहते हैं। भावार्थ—सीपमें चांदीका ज्ञान कर लेना। इस प्रकार संक्षेपसे तीन प्रकारके मिथ्यादर्शनोंका व्यवच्छेद हो जानेपर उत्पन्न हुआ श्रद्धान समीचीन है, ऐसा सम्यक् पदसे जाना जाता है। अर्थात् तत्त्वार्थोंके श्रद्धान करने

में भी दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे तीन प्रकारके मिथ्यादर्शन हो जाते हैं, उनका निवारण सम्यक् पदसे हो जाता है। कहीं कहीं सहज और अधिगमज भेदसे दो प्रकारका मिथ्यादर्शन माना है तथा अन्यत्र एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ऐसे पांच प्रकारका माना है। विस्तार करनेपर मिथ्यात्वके संख्यात और असंख्यात तथा व्यक्तिभेदसे अनन्त भेद भी हो जाते हैं। इन सबका सम्यक् शब्दसे व्यवच्छेद हो जाता है। सम्यक्पद इसी बातको समझाता है।

ज्ञानमप्येवमेव सम्यगिति निवेदितं, तस्य मोहादिव्यवच्छेदेन तत्त्वार्थाध्यवसायस्य व्यवस्थापनात्। तर्हि सूत्रकारेण सम्यग्ज्ञानस्य लक्षणं कस्माद्भेदेन नोक्तम् ?—

इसी प्रकार ज्ञान भी सम्यक् इस विशेषणसे विशिष्ट है, ऐसा निरूपण कर दिया गया है। क्योंकि मोह, संशय, विपर्यासके व्यवच्छेद करके तत्त्वार्थोंका अध्यवसाय करनेवाले उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञानपना व्यवस्थित है। ज्ञानके मोह आदि दोष न्यारे हैं और श्रद्धानके मोह आदि दोष भिन्न हैं। यहां नाम एक होनेसे अर्थ एक नहीं है। हां, निरूपण करनेकी प्रक्रिया एकसी होजाती है।

तब तो बतलाइये कि सम्यग्दर्शनके लक्षणके समान सम्यग्ज्ञानका लक्षण भी सूत्र बनानेवाले श्रीउमास्वामी महाराजने भिन्न रूपसे क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर श्रीविद्यानन्द आचार्य देते हैं—

सामर्थ्यादादिसूत्रे तल्लिङ्गस्य लक्षितं यतः।
चारित्रवत्ततो नोक्तं ज्ञानादेर्लक्षणं पृथक् ॥ ७ ॥
यथा पावकशब्दस्योच्चारणात् सम्प्रतीयते।
तद्वर्थलक्षणं तद्वज्ज्ञानचारित्रशब्दनात् ॥ ८ ॥
ज्ञानादिलक्षणं तस्य सिद्धेर्यद्वान्तरं वृथा।
शब्दार्थाव्यभिचारेण न पृथग्लक्षणं क्वचित् ॥ ९ ॥

जिस कारणसे कि उस यथार्थनामा चारित्र शब्दकी निरुक्तिसे ही बहिरंग और अंतरंग क्रियाओंकी निवृत्तिरूप चारित्रका लक्षण कर दिया गया है, उस ही के समान अन्वर्थसंज्ञावाले ज्ञान शब्दकी सामर्थ्यसे ही आदि सूत्रमें कहे गये सम्यग्ज्ञानका भी लक्षण कर दिया गया है। इस ही कारणसे ज्ञान, चारित्र, जीव, अजीव आदिका लक्षण सूत्रकारने पृथक् रूपसे नहीं कहा है। जैसे कि पावक शब्दके उच्चारण करनेसे ही लोकमें पवित्र करानेवाली अग्निका सुलभतासे ज्ञान हो जाता है। क्योंकि उस शब्दका धातु प्रकृति प्रत्ययसे जो अर्थ निकलता है। वही पावकका पवित्र कराना अर्थ है और वही उसका लक्षण है। उसीके समान ज्ञान और चारित्र शब्दकी निरुक्तिके कथनसे ही इनका लक्षण ध्वनित हो जाता है। ज्ञान और चारित्र इन दोनोंका जैसा नाम है, वैसा ही गुण

है। अतः स्वपरको जानना और परके त्यागपूर्वक स्वांशोंमें निष्ठा (स्थिरता) करना ये दोनों ही ज्ञान और चारित्रके लक्षण हैं। जब उपदेश मात्रसे ही लक्षण करना सिद्ध हो जावे तो पुनः लम्बे चौडे सूत्रके बनानेका दूसरा प्रयत्न करना व्यर्थ है। जहां अपने वाचक शद्वके अर्थसे स्वका व्यभिचार होता है, वहां नामकथनके अतिरिक्त लक्षण बनाया जाता है। जैसे कि घट शद्वका अर्थ चेष्टा करना है और हितको ग्रहण करना, अहितको छोडनेकी क्रिया करनेको चेष्टा कहते हैं। यह अर्थ जडस्वरूप घटमें घटता नहीं है। इस कारण कम्बुग्रीवा यानी शंखके समान ग्रीववाला बडे पेटवाला आदि घडेका लक्षण किया जाता है। किंतु जहां अपनेको कहनेवाले वाचक शद्वके अर्थके साथ व्यभिचार नहीं है, वहां इस कारण कहीं भी लक्षण सूत्र पृथक् नहीं कहा जाता है। जैसे पाचक, पाठक, दुग्ध आदि यौगिक शद्वोंका अर्थ व्यभिचार नहीं है।

नन्वेवं मत्यादीनां पृथग्लक्षणसूत्रं वक्तव्यं शद्वार्थव्यभिचारादिति न चोद्यं, कारणादिविशेषसूत्रैस्तदर्थव्यभिचारस्य परिहृतत्वात्।

यहां विक्षेपपूर्वक शङ्का है कि यों जिन शद्वोंका अपने वाच्यार्थके साथ व्यभिचार होरहा है, उनके लक्षण करनेका पृथक् सूत्र बनाया जाता है। ऐसा कहनेपर तो मति, अवधि, अवग्रह आदिका भी लक्षण बनाकर कहना चाहिये। क्योंकि यहां भी अपने वाचक शद्वके अर्थका व्यभिचार होरहा है। जिससे विचार किया जावे, उसको मति कहते हैं। यह यौगिक लक्षण इन्द्रियप्रत्यक्षोंमें नहीं जाता है। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान विचार करनेवाला नहीं है। मर्यादा करनेको अवधि कहते हैं, वृष्टिके विघातको अवग्रह कहते हैं या चारों ओरसे ग्रहण करनेको अवग्रह कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकारका कुतर्क नहीं करना चाहिये। क्योंकि उनके कारण, भेद, अधिकरण आदि विशेषताओंको कहनेवाले सूत्रों करके उन वाच्यार्थोंके व्यभिचारका परिहार करदिया जाता है। अर्थात् मतिज्ञानके कारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय बतलाये हैं, अवग्रह आदि भेद किये हैं। इससे सिद्ध है कि वह विचार करना ही मति नहीं है, किन्तु इन्द्रिय, मनसे होनेवाला ज्ञान मति है, जो कि विचाररूप व्याप्तिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान आदिसे अभिन्न है और नहीं विचार करनेवाले रासनप्रत्यक्ष, चाक्षुषप्रत्यक्ष आदिरूप भी है। ऐसे ही भवप्रत्यय, अनुगामी, विशुद्धि, स्वामि, आदिके निरूपणसे अवधि शब्दका अर्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको लिये हुए प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान होता है। तथा अर्थ और व्यञ्जनके बहु आदि भेदोंको विषय करनेवाले अवग्रहका भी अर्थ यह होता है कि इन्द्रिय और अर्थके योग्य देशमें स्थित होनेपर पैदा हुए सत्ताका आलोचन करनेवाले दर्शनके पीछे अवान्तरसत्ता—विशिष्ट वस्तुके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको अवग्रह कहते हैं।

सम्यग्दर्शनस्य लक्षणसूत्रमनर्थकमेवं स्यात् कारणविशेषसूत्रादेव तच्छब्दार्थस्य व्यभिचारपरिहरणादिति चेन्न, निसर्गाधिगमकारणविशेषस्य प्रशस्तालोचनेऽपि भावाद्य-

भिचारस्य तदवस्थानात् । न हि परोपदेशनिरपेक्षं निसर्गजं प्रशस्तालोचनं न सम्भवति परोपदेशापेक्षं वाधिगमजं प्रशस्तालोचनवदिति युक्तं सम्यग्दर्शनस्य पृथग्लक्षणवचनं शब्दार्थव्यभिचारात्, तद्व्यभिचारे तद्वन्नान्यस्य मत्यादेर्ज्ञानचारित्रवदेव ।

चोदकको उठानेवाला कहरहा है कि इस प्रकार तो सम्यग्दर्शनका लक्षण कहनेवाला सूत्र भी व्यर्थ हो जावेगा । क्योंकि सम्यक्त्वके निसर्ग और अधिगमरूप दो विशेष कारणोंको बतलानेवाले अग्रिमसूत्रसे ही या द्वितीय अध्यायमें कहे गये सम्यक्त्वके उपशम, क्षयोपशम आदि भेद तथा छठे अध्यायमें वैमानिक देवोंकी आयुष्यबन्धके कारण आदि प्रकरणोंसे सम्यग्दर्शन शब्दके उस समीचीन प्रकारसे देखनारूप अर्थका व्यभिचार दूर हो जाता है । अतः ज्ञान और चारित्रके लक्षणसूत्र जैसे नहीं कहे हैं वैसे ही सम्यग्दर्शनका लक्षणसूत्र भी नहीं कहना चाहिये । आचार्य कहते हैं कि शंकाकारका यह कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि सम्यग्दर्शनके निसर्ग और अधिगमरूप विशेष कारणोंके कहदेनेसे सम्यग्दर्शनका लक्षण नहीं हो सकता था । क्योंकि भले प्रकार देखनेमें भी परोपदेशसे होनापन और परोपदेशके विना होनापन विद्यमान है । अतः शब्दके अर्थका व्यभिचार दोष होना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा । क्या दूसरोंके उपदेशकी नहीं अपेक्षा करके स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ बढिया चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं संभव है ? अर्थात् अवश्य होता है । जैसे कि दूसरोंके उपदेशसे पर्वत, नदी, प्रासाद आदिको प्रशंसनीयपनेसे लोग देखते हैं, अनेक प्रेमी पुरुष दूसरोंके कहनेसे मनोहर भव्य दृश्योंको भले प्रकार देखा करते हैं, ऐसे ही परोपदेशकी अपेक्षा करके अधिगमजन्य चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । तथा विना उपदेशके हुए चाक्षुष प्रत्यक्षमें भी उदयाभावी क्षय, सदवस्थारूप उपशम एवं क्षयोपशमरूप परिणति देखी जाती है । पूज्य तीर्थोंका, श्रीअर्हन्तदेवके प्रतिबिंबका और मुनि महाराजोंका चाक्षुषप्रत्यक्ष (समीचीन देखना) भी देवायुके आस्रवका कारण है । सम्यग्दर्शनके समान चाक्षुषप्रत्यक्षका स्वामी भी वही आत्मा है । बढिया आलोचन माने गये चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शनमें भी उक्त कथन समानरूपसे लागू हो जाता है । अतः सम्यक्त्वका लक्षण किये विना कारण, स्वामी, आदिके प्रकरणोंसे ही अभीष्ट अर्थ नहीं निकलता है । इस कारण वाचक शब्दके वाच्य अर्थका व्यभिचार हो जानेसे सम्यग्दर्शनका लक्षण पृथक् रूपसे कहना युक्त है । और जहां उस अपने वाच्य अर्थके साथ व्यभिचार नहीं होता है वहां उस सम्यग्दर्शनके लक्षण निरूपणके सदृश (व्यतिरेक दृष्टांत) अन्य मति, अवधि आदिका लक्षण सूत्र नहीं कहा जाता है । जैसे कि ज्ञान और चारित्रके न्यारे लक्षणसूत्र कहे ही नहीं गये हैं (अन्वय दृष्टांत) । जिन अर्थोंके संज्ञा वाचक शब्द ही अपने अर्थको बढिया प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं, उसके लिये लक्षण बनाना व्यर्थ है । " अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् " यदि उदररोगको दूर करनेके लिये अकौआमेंसे ही पुष्परस प्राप्त हो जावे तो पर्वतपर जानेका कष्ट क्यों उठाया जावे ? ।

इच्छा श्रद्धानमित्येके तदयुक्तममोहिनः ।
श्रद्धानविरहासक्तेर्ज्ञानचारित्रहानितः ॥ १० ॥

एक प्रकारकी भली इच्छाको श्रद्धान कहते हैं। इस प्रकार कोई एक कह रहे हैं, वह उनका कहना तो युक्तियोंसे रहित है। क्यों कि यदि श्रद्धानका अर्थ इच्छा करना होगा तो मोहरहित साधुओंके श्रद्धानसे रहितपनेका प्रसङ्ग होगा। इच्छा तो मोहकी पर्याय है। जिन वीतरागोंके मोहका उदय नहीं है, उनके इच्छारूप श्रद्धानके भी नहीं होनेका प्रसङ्ग होता है। जब सम्यग्दर्शन ही नहीं रहा तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी भी हानि हो जावेगी। तथा च रत्नत्रयके विना उनकी मोक्ष भी कैसे होगी? वे ऐसी दशामें इच्छावाले मोही जीवोंसे अच्छे मोक्ष—मार्गमें लगे हुए नहीं कहे जायेंगे।

न ह्यमोहानामिच्छास्ति तस्या मोहकार्यत्वादन्यथा मुक्तात्मनामपि तद्भावप्रसङ्गात्।

जिन महाशयोंके मोह नहीं है उनके इच्छा भी नहीं है। क्योंकि वह इच्छा होना मोहका कार्य है। अन्यथा यानी इच्छाको मोहका कार्य न मानकर आत्माका स्वभाव मानोगे तो मुक्त आत्माओंके भी उस इच्छाके सद्भावका प्रसंग होगा।

हेयोपादेययोर्जिहासोपादित्सा च विशिष्टा श्रद्धा वीतमोहस्यापि सम्भवति तस्या मनःकार्यत्वादिति चेन्न, तस्या मनस्कार्यत्वे सर्वमनस्विनां तद्भावानुषङ्गात्।

त्याग करने योग्य पदार्थोंके छोडनेकी इच्छा ऐसी विशिष्ट इच्छाको हम श्रद्धान कहते हैं। वह श्रद्धा तो मोहरहित साधुओंके भी सम्भवती है। क्योंकि वह विशिष्ट प्रकारकी इच्छा मोहका कार्य नहीं है, किंतु वह तो विचार करनेवाले मनका कार्य है। यदि आप कोई ऐसा कहेंगे, सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि यदि उस इच्छाको मनका कार्य माना जावेगा तो साधुओंके समान मनवाले सभी जीवोंके छोडने योग्य व्यभिचार, असत्य, अभक्ष्यभक्षण, मद्य, मांस आदिके छोडनेकी वह इच्छा होनी चाहिये और ग्रहण करने योग्य ब्रह्मचर्य, सत्य, शुद्ध भोजन, संयम आदिके ग्रहण करनेकी इच्छाके सद्भावका प्रसंग होगा, किंतु ऐसा देखा नहीं जाता है। कोई विरल, उदासीन विचारशाली भव्यजीव ही हेय उपादेयमें हान, उपादानकी इच्छा रखते हैं। शेष जीवोंकी तो अनर्गल प्रवृत्ति हो रही है।

ज्ञानापेक्षं मनः कारणमिच्छाया इति चेन्न, केषांचिन्मिथ्याज्ञानभावेप्युदासीनदशायां हेयेषूपादित्सानवलोकनात् उपादेयेषु च जिहासानुभावात्, परेषां सम्यग्ज्ञानसद्भावेऽपि हेयोपादेयजिहासोपादित्साविरहात्।

सर्व ही मनस्वी जीवोंके मनका कार्य इच्छा नहीं है किन्तु सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाले मनरूप कारणका कार्य विशिष्ट श्रद्धा करना है। अतः सभी मनस्वियोंके हेय उपादेयकी इच्छा होनेका प्रसंग नहीं है। ऐसा कहोगे सो भी ठीक नहीं है। क्यों कि किन्हीं किन्ही मिथ्यादृष्टी जीवोंके मिथ्याज्ञानके होते हुए भी उदासीन अवस्था हो जानेपर हेय पदार्थोंमें ग्रहण करनेकी अभिलाषा नहीं देखी जाती है और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंमें छोडनेकी इच्छा नहीं जानी जा रही है अर्थात् मिथ्याज्ञानके होते हुए भी वे उदासीन अन्य लोग झूंठ, चोरी, व्यभिचार आदि छोडने योग्य भावोंमें छोडनेकी इच्छा रखते हैं और ग्रहण करने योग्य ब्रह्मचर्य, सत्संगति, उपेक्षा आदि भावोंमें ग्रहण करनेकी इच्छा रखते हैं। अतः सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाले मनके साथ इच्छाका कार्य कारण भाव बनानेमें व्यतिरेक व्यभिचार आता है। तथा दूसरे सम्यग्दृष्टी धनी कुटुम्बी श्रावकोंके सम्यग्ज्ञान के होनेपर भी रागद्वेषकी तीव्रता होनेपर छोडने योग्य कुटुम्ब, धन और आरम्भसे हुई हिंसा तथा सूक्ष्म झूंठ, आदिमें त्यागनेकी इच्छा नहीं है और ग्रहण करने योग्य दीक्षा लेना, अखण्ड ब्रह्मचर्य, अचौर्य महाव्रत, शुक्लध्यान आदिमें ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं देखी जाती है। इसलिए कारणके होनेपर भी कार्यके न होनेसे इच्छा और ज्ञानापेक्ष मनके कार्यकारण भावमें अन्वय व्यभिचार भी हुआ।

विषयविशेषापेक्षान्मनसस्तदिच्छाप्रभव इत्यपि न युक्तं, तदभावेऽपि कस्याचिदिच्छोत्पत्तेस्तद्भावेऽपि चेच्छानुद्भवात्।

यहां कोई यों कहे कि विशेष विषयोंकी अपेक्षा रखनेवाले मनसे उस इच्छाकी उत्पत्ति होती है अर्थात् संसारसे वैराग्य करानेवाले विलक्षण विषयोंका सहकारी रखते हुए मनःसे वह श्रद्धानरूप इच्छा उत्पन्न हो जाती है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह भी कहना युक्तियोंसे रहित है। क्यों कि किसीके उस कारणके न होते हुए भी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और कारणके होनेपर भी अन्य किसी जीवके वह इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। यहां भी अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार दोष विद्यमान हैं। सांसारिक विषयोंमें उपेक्षा [उदासीन] रखनेवाले मनसे इच्छाकी उत्पत्ति मानने पर भी उक्त दोनों व्यभिचार दोष हो जाते हैं। कभी कभी किसी पुण्यशाली राजा, महाराजाको वैराग्य हो जाने पर भी धर्मकी, राज्यकी और कुटुंबकी तथा धर्मायतनोंकी व्यवस्था करनेके लिए गृहस्थ-अवस्थामें रुका रहना पडता है। इनका ठीक प्रबन्ध हो जानेपर वे जिनदीक्षा को धारण करते हैं। राज्य आदिका सञ्चालन करते हुए भी पांचवां गुणस्थान बना रहता है। किन्तु मुनि अवस्थामें तीव्र शल्यके हो जानेपर छटवां सातवां तो दूर रहा, पांचवां चौथा गुणस्थान भी नहीं रक्षित रहता है। तथा बाहुबलिस्वामीके संपूर्ण साम्राज्यका विजय करनेपर भोगोपभोग हो जानेसे एकदम इतना वैराग्य होगया कि पुत्रको राज्य देना आदि व्यवस्थाके लिए भी इच्छा न हुई और तत्क्षण महाव्रती बन गये।

कालादयोऽनेनैवेच्छाहेतवो विध्वस्ताः, तेषां सर्वकार्यसाधारणकारणत्वाच्च नेच्छाविशेषकारणत्वनियमः ।

विशिष्ट समय, विलक्षण क्षेत्र, आकाश आदि पदार्थ भी इच्छाके सहकारी कारण हो जाते हैं, यह बात भी इस व्यभिचार दोष हो जानेके कारण ही खण्डित कर दी गयी है। क्योंकि वे काल आदिक तो सम्पूर्ण कार्योंके प्रति साधारण कारण हैं। अतः उनके साथ हेय, उपादेयकी विशिष्ट इच्छाके कारणपनेका नियम नहीं हो सकता है। जो सभी कार्योंके साधारण कारण हैं वे विशिष्ट कार्यके होनेमें नियामक नहीं हो सकते हैं।

स्वोत्पत्तावदृष्टविशेषादिच्छाविशेष इति चेत्, भावादृष्टविशेषाद् द्रव्यादृष्टविशेषाद्वा ? प्रथमकल्पनायां न तावत् साक्षात् भावादृष्टस्यात्मपरिणामस्येच्छाव्यभिचारित्वात्। परम्परया चेत्तर्हि द्रव्यादृष्टादेव साक्षादिच्छोत्पत्तिस्तच्च द्रव्यादृष्टं मोहनीयाख्यं कर्म पौद्गलिकमात्मपारतन्त्र्यहेतुत्वादुन्मत्तकरसादिवदिति मोहकार्यमिच्छा कथममोहानामुद्भवेत् ? यतस्तल्लक्षणं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तेषां स्यात्। तदभावे न सम्यग्ज्ञानं तत्पूर्वकं वा सम्यक्चारित्रमिति क्षीणमोहानां रत्नत्रयापायान्मुक्त्यपायः प्रसज्येत। ततस्तेषां तद्व्यवस्थामिच्छता नेच्छा श्रद्धानं वक्तव्यम्।

पूर्वपक्षवाले कहते हैं कि अपनी उत्पत्तिमें विशेष पुण्य, पापसे विशिष्ट इच्छाके उत्पन्न होनेका नियम कर लिया जावेगा। जैसे कि विशिष्ट ज्ञानके होनेका नियामक विशिष्ट क्षयोपशम है। या रोगी नीरोग, धनी निर्धन, मूर्ख पण्डित, आदिकी व्यवस्था करनेवाला अन्तरंग पुण्य पाप कर्म माना जाता है। संसारके सभी विशेष कार्योंमें अदृष्ट नियामक है। ग्रंथकार बोलते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम पूंछते हैं कि कर्मोंके उदयसे होनेवाले अज्ञान, लोभ, असाता, सुभगता, साता रूप सुख, राग, आदि जो कि आत्माके विभाव परिणाम माने गये हैं, ऐसे भावकर्म विशेषसे इच्छाकी उत्पत्ति मानोगे या पौद्गलिक द्रव्यकर्मविशेषसे इच्छा होनेकी व्यवस्था करोगे ? बताओ। तिनमें पहिली कल्पना करनेपर तो भाव कर्मोंका और इच्छाका अव्यवहितरूपसे कार्यकारणभाव होना ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि भावकर्म आत्माका परिणाम है, वह इच्छाके साथ व्यभिचारी है अर्थात् आत्मामें कर्मका फल होनेपर अव्यवहित उत्तरकालमें कभी कभी इच्छा उत्पन्न होती हुयी नहीं देखी जाती है और कभी कभी इच्छाके अनुकूल कर्मका उदय स्थूलरूपसे न होनेपर भी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इच्छा स्वयं भाव है। वह द्रव्य कर्मोदयका साक्षात् कार्य है। भावकर्म का परम्परासे कार्य औदायिक भाव हो सकता है। साक्षात् कार्य नहीं। भावकर्मसे पौद्गलिक द्रव्यकर्मका बंध होगा। उसके उदय कालमें इच्छा उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः विचारा जाय तो इच्छाकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण आत्माका पुरुषार्थ माना गया है। दैव गौण कारण है। यदि अव्यवहितरूपसे कार्यकारण भाव न मानकर भावका इच्छाके साथ परम्परासे कार्यकारणभाव मानोगे तब तो द्रव्यकर्मसे ही अव्य-

बहितकालमें इच्छाकी उत्पत्ति हुयी ! यह द्वितीयपक्षका ग्रहण किया ! अस्तु, वह इच्छाकर्म तो मोहनीय नामक कर्म है, आत्माका गुण नहीं हैं। जैसा कि वैशेषिक वादी अदृष्टको आत्माका गुण मानते हैं, आत्माका गुण स्वयं आत्माको पराधीन करनेका हेतु नहीं हो सकता है। अतः अनुमान करते हैं कि वह आत्मासे बंधा हुआ मोहनीय कर्म पुद्गल द्रव्यका बना हुआ है। क्योंकि आत्माको पराधीन करनेका कारण है जैसे कि उन्माद करानेवाले धतूरेका रस, अहि-फेन, मद्य, भंग आदि पौद्गलिक हैं। इस कारण इच्छा करना मोहनीय कर्मका ही कार्य सिद्ध हुआ। ऐसी इच्छा उन मोहरहित साधुओंके भला कैसे उत्पन्न हो सकेगी ? भला तुम ही विचारो, जिससे कि इच्छास्वरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका लक्षण हो सके, और वह वीतरागोंके पाया जा सके। अर्थात् ग्यारहवें बारहवें या तेरहवें गुणस्थानोंमें इच्छारूप सम्यग्दर्शन नहीं पाया जा सकेगा, और जब सम्यग्दर्शन ही न होगा तो उसको पूर्ववर्त्ती कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रगुण भी वहां नहीं पाये जावेंगे। इस प्रकार मोहको क्षय करनेवाले बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनि महाराजोंके रत्नत्रय न होनेके कारण मुक्तिके अभाव होनेका प्रसंग हो जावेगा। जिनके रत्नत्रयरूप कारण नहीं है उनके मोक्षरूपी कार्य भला कैसे हो सकता है ? तिस कारण उन मोहरहित जीवोंके उस रत्नत्रयकी व्यवस्थाको चाहनेवाले विद्वानोंकरके इच्छाको श्रद्धान नहीं कहना चाहिये। किन्तु श्रद्धान करना आत्माका विशेष गुण है। प्रतिपक्षी कर्मोंके दूर होजानेपर विभाव परिणाम हटते हुये आत्मामें स्वभावरूपसे स्वयं उत्पन्न हो जाता है। अतः सूत्रकारको सम्यग्दर्शनका पारिभाषिक लक्षण करना न्याय्य मार्ग है। यही धर्म है।

निर्देशाल्पबहुत्वादिचिन्तनस्याविरोधतः।
श्रद्धाने जीवरूपेऽस्मिन्न दोषः कश्चिदीक्ष्यते ॥ ११ ॥

तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना आत्माका स्वभाविक स्वरूप है। ऐसा माननेपर भविष्यमें कहे जानेवाले निर्देश स्वामित्व, सत्संख्या आदि सूत्रोंके अनुसार नामकथन करना, थोडा बहुतपन बतलाना, साधन, स्वामी, अधिकरण आदिके विचार करनेका कोई विरोध नहीं पडता है। और सम्यग्दर्शनके इस लक्षणमें अव्याप्ति आदि कोई लक्षणका दोष भी नहीं दीखता है तथा लक्षणवाक्यको ज्ञापकहेतु बनानेपर हेतुके व्यभिचार आदि दोषोंकी भी सम्भावना नहीं है।

न हि निर्देशादयो दर्शनमोहरहितजीवस्वरूपे श्रद्धाने विरुध्यन्ते तथैव निर्देशादिसूत्रे विवरणात्, नाप्यल्पबहुत्वसंख्याभेदान्तरभावाः पुरुषपरिणामस्य नानात्वसिद्धेः।

सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षी होरहे दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रहित जीवका स्वाभाविकरूप श्रद्धानको माननेपर निर्देश, स्थिति, भाव, अन्तर आदि द्वारा श्रद्धानका निरूपण करना विरुद्ध नहीं होता है। क्योंकि इस प्रकारसे ही भविष्यके निर्देश, स्वामित्व, और सत्संख्या आदि सूत्रोंमें श्रद्धानका

स्पष्टीकरण किया है। तथा थोडापन और बहुतपना संख्यात असंख्यातरूप संख्याओंके भेद अथवा विवक्षित गुणको छोडकर पुनः उसकी प्राप्ति करनेतकका विरहकालरूप अन्तर या औपशमिक क्षायिक आदि भाव ये भी विरुद्ध नहीं पडते हैं। क्योंकि आत्माके श्रद्धानस्वरूप परिणामोंको नानापन, अल्पपन, कर्मोंके उपशमसे होनापन आदि अनेक धर्म सहितपना सिद्ध है। भावार्थ—भविष्यके सूत्रोंकी घटना श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन माननेसे ठीक बनजाती है तथा भविष्यसूत्रोंके अनुसार भी सम्यग्दर्शनका श्रद्धान लक्षण करना अनुकूल पडता है।

पुरुषरूपस्यैकत्वात् तत्र तद्विरोध एवेति चेन्न, दर्शनमोहोपशमादिभेदापेक्षस्य तस्यैकत्वायोगात्। अन्यथा सर्वस्यैकत्वापत्तिः कारणादिभेदस्याभेदकत्वात्। क्वचित्तस्य भेदकत्वे वासिद्धः पुरुषस्य स्वभावभेदः। इति जीवद्रव्याद्भेदेन निर्देशादयस्तत्र साधीयांसोल्पबहुत्वादिवदिति वक्ष्यते।

किसीका कहना है कि सम्यग्दर्शन जब आत्माका स्वभाव मान लिया गया है और आत्माका स्वरूप एक ही है, ऐसी दशामें अल्पपना, बहुपना औपशमिकपना, क्षायिकपना, विरह होना आदि उन भावोंके होनेका उस श्रद्धानमें विरोध ही है। आचार्य समझाते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि हम स्याद्वादी सभी प्रकारोंसे आत्माको एकरूप नहीं मानते हैं। दर्शनमोहनीयके उपशम या क्षय तथा चौथे गुणस्थान, सातवें गुणस्थान, देवपर्यायमें स्थिति, उपशम सम्यक्त्वमें स्थिति, आदि भेदोंकी अपेक्षासे उस आत्माको एकपना सिद्ध नहीं है। अन्यथा यानी भेदकोंके होनेपर भी आत्माको सर्वथा एक मानलिया जावेगा। तब तो सर्व ही आत्मायें या जीव, पुद्गल, आकाश, काल, आदि अनेकद्रव्य भी एक हो जावेंगे, यह आपत्ति हुई। क्योंकि कारणोंका भेद, गुणोंका भेद, व्यक्तिभेद, आकारभेद आदिको तो आपने भेद करनेवाला इष्ट किया ही नहीं है। ऐसी दशामें तो ब्रह्माद्वैतवाद या जडका अद्वैत छा जावेगा। इस दोषका वारण करनेके लिये यदि कहीं उन कारण आदिके भेदोंको पदार्थोंका भेद करनेवाला मानोगे तब तो आत्माके भी औपशमिक आदि स्वभावोंका भेद हो जाना सिद्ध हो जाता है। यों सर्वथा भेद तो जड और चेतनमें भी नहीं है। सत्पनेसे, वस्तुपनेसे और द्रव्यपनेसे तथा संग्रहनयकी अपेक्षासे सभी अभिन्न है। सर्व पदार्थ सत्स्वरूप हैं। आत्मा भेदाभेदरूप है। एकानेक स्वरूप है। इस प्रकार जीव द्रव्यसे श्रद्धान गुणकी भेदविवक्षा करनेपर उसमें निर्देश, स्वामित्व, आदिक बहुत अच्छे प्रकारसे साधु सिद्ध हो जाते हैं। जैसे कि थोडापन, बहुतपना, साधन, अधिकरण आदि धर्म श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनमें बन जाते हैं। इस बातको ग्रन्थकार आगे स्वयं कहेंगे।

कर्मरूपत्वेऽपि श्रद्धानस्य तदविरोध इति चेन्न, तस्य मोक्षकारणत्वाभावात्, स्वपरिणामस्यैव तत्कारणत्वोपपत्तेः। कर्मणोऽपि मुक्तिकारणत्वमविरुद्धं स्वपरनिमित्तत्वान्मोक्षस्येति चेन्न, कर्मणोन्यस्यैव कालादेः परनिमित्तस्य सद्भावात्।

फिर शंकाकारका कहना है कि श्रद्धानको पुद्गलका बना हुआ कर्मरूप भी माना जावे तो भी वे निर्देश, अल्पपना, बहुपना आदि बन सकते हैं, कोई विरोध नहीं है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि कर्मको मोक्षके कारणपनेका अभाव है। आत्माके निज स्वाभाविक परिणामको ही उस स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्षकारणपना सिद्ध है। यदि कोई यों कहे कि पौद्गलिक कर्मको भी मोक्षका कारणपना होनेपें कोई विरोध नहीं दीखता है, क्योंकि मोक्ष स्व यानी आत्मा और पर यानी दूसरे द्रव्योंके निमित्तसे होनेवाला कार्य है। आचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकार नहीं कह सकते हो। क्योंकि मोक्षरूपी कार्यमें आत्मा उपादान कारण है और अन्य निमित्त कारण हैं। यहां पर शब्दसे काल, आकाश, तीर्थस्थान आदि निमित्त कारणोंका ही विद्यमान होना माना गया है। इससे भिन्न होरहे कर्मको मोक्षमें निमित्तपना नहीं है। यथार्थमें पूंछो तो ज्ञानावरण आदि कर्म प्रत्युत संसारके कारण हैं। कर्मोंका नाश करनेके लिये ही तो मुमुक्षुका प्रयत्न है। जिस पदार्थका नाश करना है, वह उस कार्यमें क्या सहायता कर सकता है? घटके ध्वंस करनेमें घटको कारणता इस प्रकार भी इष्ट नहीं है कि घट नहीं होता तो ध्वंस किसका किया जाता? क्योंकि कार्यकालमें एक क्षण पहिलेसे रहते हुए कार्योत्पत्तिमें सहायता करनेवाले अर्थको निमित्त-कारण कहते हैं। घटके ध्वंसमें मुद्गर पाषाण आदिका अभिघात कारण है।

ननु च यथा मोक्षो जीवकर्मणोः परिणामस्तस्य द्विष्ठत्वात् तथा मोक्षकारणश्रद्धानमपि तदुभयविवर्तरूपं भवत्विति चेन्न, मोक्षावस्थायां तदभावप्रसंगात्, स्वपरिणामिनोऽसत्त्वे परिणामस्याघटनात्, पुरुषपरिणामादेव च कर्मसामर्थ्यहननात्तस्य कर्मरूपत्वायोगात्। ततो न कर्मरूपं सम्यग्दर्शनं निःश्रेयसप्रधानकारणत्वादहेयत्वात्सम्यग्ज्ञानवत्। निःश्रेयसस्य प्रधानं कारणं सम्यग्दर्शनमसाधारणस्वधर्मत्वात्तद्वत्। असाधारणः स्वधर्मः सद्दर्शनं मुक्ति-योग्यस्य ततोऽन्यस्यासम्भवात्तद्वत्। इति जीवरूपे श्रद्धाने सद्दर्शनस्य लक्षणे न कश्चिद्दोषोऽसम्भवोऽतिव्याप्तिरव्याप्तिर्वा समीक्ष्यते।

यहां और भी आक्षेपसहित शंका है कि जैसे मोक्षरूपी कार्य जीव और कर्म इन दोनोंमें रहनेवाली पर्याय है, क्यों कि वह मोक्ष यानी दोनोंका छूट जाना दोमें रहनेवाला धर्म है। मुक्त अवस्थामें आत्मा स्वतंत्र हो जाता है। कर्म भी आत्मासे अपना पिण्ड छुडाकर स्वतंत्र हो जाता है। किंतु वह स्कन्ध है। अतः अशुद्ध है तथा जड है, इसलिए प्रशंसा नहीं पाता है। वास्तवमें मोक्षपर्याय दोनोंमें रहती है। जैसे कि संयोग, विभाग, द्वित्व त्रित्व संख्या ये दो आदिमें रहनेवाले धर्म हैं, इस ही प्रकार मोक्षका कारण श्रद्धान गुण भी उन जीव और पुद्गल दोनोंका पर्यायस्वरूप हो जाना चाहिए। कार्यके अनुरूप ही कारण हुआ करते हैं। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि श्रद्धानगुणको भी बन्धके समान यदि जीव और पुद्गल दोनोंका परिणाम माना जावेगा तो मोक्षदशामें उस श्रद्धान

गुणके अभाव हो जानेका प्रसंग होगा। जब कि परिणमन करनेवाला कर्म ही नहीं रहा तो श्रद्धान रूप पर्याय भला मोक्षमें कैसे बन सकेगी ? अपने परिणामोंके न होनेपर परिणामका होना नहीं घटित होता है। तथा आत्माके रत्नत्रयस्वरूप परिणामोंसे ही उस कर्मकी आत्माका विभावपरिणाम करनेवाली शक्तिका नाश कर दिया जाता है। तब ज्ञानावरण आदिमें कर्मरूपपना ही नहीं रहता है, जैसे कि शाणके द्वारा मणिके मलका पृथक्करण कर देनेपर उसका मलपना ही नष्ट हो जाता है। अग्निद्वारा सुवर्णके कीट, कालिमाका मलपना नष्ट कर दिया जाता है। कालान्तरमें दूसरे पदार्थोंके साथ संसर्ग होनेपर भले ही वह मल बन जावे, किंतु वर्तमानमें शुभभावोंके निर्जराको प्राप्त हुए कर्मोंकी कर्मपनारूप पर्याय और कार्माणवर्गणारूप पर्यायका तो ध्वंस कर दिया जाता है। यों पुद्गलद्रव्य किसी न किसी पर्यायकी अवस्थामें तो रहेगा ही, प्रकृतमें जब आपका माना हुआ कर्म-पर्यायी ही न रहा तो सम्यग्दर्शनको उस कर्मकी पर्याय कैसे कहते हो ? समझो तो सही। इस कारण अनुमान बनाकर आचार्य महाराज कहते हैं कि सम्यग्दर्शन गुण (पक्ष) पौद्गलिक कर्मरूप नहीं है (साध्य) मोक्षका प्रधानकारणपना होनेसे (पहिला हेतु) क्योंकि आत्माका स्वाभाविक परिणाम होनेके कारण वह सम्यग्दर्शन गुण त्यागने योग्य नहीं है (दूसरा हेतु), जैसे कि सम्य-ग्ज्ञान (दृष्टान्त) है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके समान सम्यग्दर्शन मोक्षका प्रधान कारण है। आत्मीय भाव ही मोक्षके प्रधान कारण हो सकते हैं। सर्वथा विजातीय परद्रव्य नहीं, तथा ज्ञान, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणोंका पिण्डरूप ही आत्मद्रव्य है। यदि गुणोंको द्रव्य छोड देता होता तो मूलसे ही द्रव्य नष्ट हो चुका होता, किंतु ऐसा नहीं है। अतः तीनों कालोंमें इनको नहीं छोड सकता है। यहां कोई हेतुके असिद्ध हो जानेकी सम्भावना न कर बैठे इसलिये उक्त अनुमानमें दिये गये हेतुको साध्य कोटिमें लाकर सिद्ध कर देते हैं कि सम्यग्दर्शन (पक्ष) मोक्षका प्रधान कारण है (साध्य) आत्माका अन्यमें सर्वथा न पाया जावे ऐसा अपना असाधारण धर्म होनेसे (हेतु) जैसे कि वही सम्यग्ज्ञान (दृष्टान्त) है, इस अनुमानके हेतुको भी साध्य बनाकर पुष्ट करते हैं कि सम्यग्दर्शन गुण (पक्ष) असाधारण होकर आत्माका निजधर्म है (साध्य) क्योंकि मोक्षके सर्वथा योग्य उससे भिन्न कोई दूसरा कारण आत्मामें विद्यमान नहीं है (हेतु) जैसे कि वही सम्यग्ज्ञान (दृष्टान्त)। इस प्रकार यहांतक सम्यग्दर्शनका लक्षण जीवका स्वाभाविक परिणाम श्रद्धान है इसको सिद्ध कर दिया गया है। इस सम्यग्दर्शनके सर्वाङ्ग सुन्दर लक्षणमें कोई भी असम्भव, अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्तिरूप दोष नहीं देखे जाते हैं। अतः सूत्रकारके द्वारा किया गया सम्यग्दर्शनका लक्षण निर्दोष है।

सरागे वीतरागे च तस्य सम्भवतोंजसा।
प्रशमादेरभिव्यक्तिः शुद्धिमात्रा च चेतसः ॥ १२ ॥

जो लक्षण अपने लक्ष्योंमें व्यापकरके घटित हो जाता है वह समीचीन लक्षण है। प्रकृतमें उस सम्यग्दर्शनका निर्दोष लक्षण भी सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्वमें शीघ्र स्पष्ट रूपसे संभवता है। प्रशम आदि यानी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यसे शुभरागसहित जीवोंमें रहनेवाले सराग सम्यग्दर्शनकी प्रकटता हो जाती है और रागरहित जीवोंमें आत्माकी केवल चित्तविशुद्धिसे ही वह वीतरागसम्यग्दर्शन लक्षित हो जाता है।

यथैव हि विशिष्टात्मस्वरूपं श्रद्धानं सरागेषु संभवति तथा वीतरागेष्वपीति तस्याव्याप्तिरपि दोषो न शंकनीयः।

जैसे ही दर्शन मोहनीयके उदयरहित विशिष्ट आत्माका स्वाभाविकस्वरूप श्रद्धान ठीक सराग सम्यग्दृष्टियोंमें सम्भवता है, इसी प्रकार वीतरागजीवोंमें भी स्वाभाविकपरिणामरूप श्रद्धान विद्यमान है। इस कारण उस सम्यग्दर्शनके लक्षणमें अव्याप्ति दोष होनेकी भी शंका नहीं करनी चाहिये। लक्ष्यके पूरे भेद प्रभेदोंमें जो लक्षण व्यापता है वह अव्याप्त नामका लक्षणाभास नहीं है। जिस शंकाकारने अव्याप्तिदोष देनेका ही प्रकरण उठाया है, उसके यहां अतिव्याप्ति और असम्भव दोषकी सम्भावना तो पहिलेसे ही नष्ट हुई समझना चाहिये। अतः यह लक्षण निर्दोष है।

कुतस्तत्र तस्याभिव्यक्तिरिति चेत्, प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्येभ्यः सरागेषु सद्दर्शनस्य वीतरागेष्वात्मविशुद्धिमात्रादित्याचक्षते।

अब आप जैन जन यह बतलाइये कि उन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें उस सम्यग्दर्शनका प्रगटपना कैसे जाना जाता है?, इस प्रकार प्रश्न होनेपर श्रीविद्यानंद आचार्य स्पष्टरूपसे यह कथन करते हैं कि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार स्वभावोंसे रागी जीवोंमें सम्यग्दर्शनकी झप्ति हो जाती है और वीतराग जीवोंमें केवल आत्माकी विशुद्धिसे ही सम्यग्दर्शन व्यक्त हो जाता है।

तत्रानन्तानुबन्धिनां रागादीनां मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः।

उन चार भावोंमेंसे पहिले प्रशमका लक्षण यह है कि अनन्तनुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियोंके उदयसे होनेवाले रागद्वेष स्वरूप अचारित्र आदिकोंका उद्भव न होवे, और मिथ्यात्व तथा सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतियोंका उदय न होवे तथा उदीरणा भी न होवे, ऐसी दशामें होनेवाली आत्माकी उत्कृष्ट शांतिको प्रशम कहते हैं। यह प्रशमका लक्षण चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके सम्यग्दृष्टियोंमें घट जाता है और पहिले, दूसरे, तीसरे गुणस्थानोंमें अतिव्याप्ति भी नहीं हो पाती है। क्योंकि अनंतानुबंधीके उदय एवं उदीरणाका निषेध हो जानेसे दूसरे गुणस्थानके और मिथ्यात्वका उदय रोकदेनेसे पहिलेके तथा सम्यङ्मिथ्यात्वके उदयको रोकदेनेसे तीसरे गुणस्थानके भावोंको प्रशमपनेका निवारण कर दिया गया है, ऐसा प्रशम तो अभव्य, दूरभव्य, और द्रव्यलिङ्गीके नहीं पाया जाता है।

द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनरूपात् संसाराद्भीरुता संवेगः ।

नोकर्मवर्गणा और कार्माणवर्गणाओंका उतनी ही संख्यामें पुनः उन्हींका आत्मासे बन्ध होनेके अन्तरालकालतक संसारमें परिभ्रमण करना एक द्रव्यपरिवर्तन है । भावार्थः—जिनके यहां हजारों रुपयोंका आना जाना बना रहता है उनकी दुकानपर आजके नियत वे. के वे ही रुपये आ जावेंगे । किन्तु लाखों वर्ष लगेंगे, मुद्रापरिवर्तन और मुद्राओंकी पूर्ण संख्या मालुम हो जानेपर गणितके अनुसार लाखों वर्षोंकी ठीक संख्या भी निकाली जा सकती है । तैसे ही अतीन्द्रियदर्शी सर्वज्ञदेवने अनन्त जीव और पुद्गलोंकी ठीक संख्याको जानकर घूमते हुए चक्रमें पुनः उन्हींके दुबारा सन्मुख आनेकी मर्यादा बतला दी है । उतने कालको हम द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं । केवलीको उस कालका हथेलीके समान प्रत्यक्ष है । सुमेरुपर्वतके ठीक बीच जडमें जो आकाशके आठ प्रदेश हैं, वे ही सम्पूर्ण अलोकाकाश या लोकाकाशके ठीक बीचले प्रदेश हैं । वे आत्माकी सबसे छोटी अवगाहना घनाङ्गुलके असंख्यातवें भागरूप असंख्यातप्रदेशवाली है । इससे कम नहीं । अतः उन आठ प्रदेशोंको अपने शरीरके बीचमें देकर घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग सूक्ष्म अवगाहनाके प्रदेशोंकी संख्या बरोबर असंख्यात बार शरीरोंको धारण करता हुआ जन्म लेवें । उसके अनंतर एक एक प्रदेशको अधिक बढाता हुआ सम्पूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र बना लेवें । उतने समय तकके संसारपरिभ्रमणको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । यदि एक प्रदेश भी आगे पीछे जन्म होजावेगा तो वह नहीं संभाला जावेगा, जिस नियत एक प्रदेशकी अधिकतासे जन्म लेनेका यथाक्रम आरहा है उसी क्रमसे जन्म चाहिये । लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, उतनी बार कठिन यथाक्रमको पूरा करना है । अतः घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग बार तक सूक्ष्म अवगाहनासे ही जन्म लिया जावेगा, एक एक यथाक्रमके आनेमें असंख्याते जन्म हो जावेंगे, उनकी लोकरीत्या गणना नहीं की जाती है। उत्सर्पिणीके पहिले समयमें उत्पन्न होकर कोई जीव अपनी आयुको भोगकर मर गया, फिर अनेक भवोंको भोगकर उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ । यदि पहिले और तीसरे समयमें उत्पन्न होगा तो यह यथाक्रम (नम्बर) हाथसे निकल जावेगा । यों ठीक क्रमके अनुसार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सम्पूर्ण समयोंके जन्मकी निरन्तरता और मरणकी निरन्तरतासे निकालते हुए जितने कालतक भवभ्रमण होता है उसको कालपरिवर्तन कहते हैं । एक एक यथाक्रमके मध्यमें हुए असंख्याते इधर उधर समयोंके जन्म मरणोंकी गणना नहीं होती है । क्रमप्राप्त ठीक समयके जन्म मरणोंको संभालकर ही कल्पकालको पूरा करना है । इसमें असंख्याते कल्पकाल बीचमें लग जाते हैं, अनन्त भी लग जाते हैं, किन्तु यह बात अलीक नहीं, सत्य है । अनादिसे अनन्ततक काल बहुत लम्बा है । नरकगतिमें दशसहस्र वर्षकी जघन्य आयुके जितने समय हैं उतनी बार प्रथम नरकमें जघन्य आयुसे जन्म लेवे और क्रमसे एक एक समय बढाता हुआ तेतीस सागरपर्यंत स्थितिको सातों नरकोंमें पूर्ण कर देवे, यथाक्रममें आये हुए से एक समय भी कमती बढती होगा तो वह संभाला

नहीं जावेगा। फिर जब कभी ठीक होगा सो गिना जावेगा। इसी प्रकार तिर्यग्गतिमें श्वासके अठारहवें भागरूप असंख्याते बार क्षुद्रभवोंको ग्रहण करता हुआ क्रमसे उत्तम भोगभूमिके तीन पल्योंकी स्थितिको धारण करे, ऐसे ही मनुष्यगतिमें क्रमसे परिवर्तन करे। तथा देवगतिमें भी नारकियोंके समान परिवर्तन करे, किंतु उत्कृष्ट स्थिति यहांपर इकतीस सागरतककी समझना। क्यों कि नौ अनुदिश और पांच पंचोत्तरके निवासी देवोंका संसार अल्पल्प रह जाता है। वे अनुदिश और अनुत्तर विमानोंसे च्युत होकर कर्मभूमिके मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनमेंसे कोई संयमको प्राप्तकर सौधर्म और ईशान स्वर्गमें उत्पन्न होकर फिर मनुष्य भवको प्राप्त कर लेते हैं, और संयमकी आराधना कर फिर भी विजयादिकोंमें उत्पन्न हो जाते हैं. वहांसे मनुष्य भव लेकर पुनः अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, कोई दूसरे जन्ममें ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। सर्वार्थसिद्धिके देव तो नियमस एक भवतारी हैं, इन चारों गतियोंके उक्त क्रमसे किये गये परिभ्रमणको भवपरिवर्तन कहते हैं। कभी कभी कोरी शंका करनेवालोंकी बुद्धिमें ऐसे तर्क उठते हैं कि भवपरिवर्तनसे कालपरिवर्तनका और कालपरिवर्तनसे क्षेत्र परिवर्तनका समय बढा हुआ है। द्रव्य, क्षेत्र, काल,का क्रम प्रसिद्ध होरहा है। इस कारण ग्रन्थोंमें उसी क्रमसे संसारपरिभ्रमणके लक्षण लिखे हैं। देखिये, भवपरिवर्तनमें चारों गतियोंकी आयुः पूरी करनी पडती है, चारों गतियोंकी आयुःकालके चौसठ सागर और छह पल्यके समयोंसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके बीस कोटाकोटी सागरके समय बहुत अधिक होते हैं। भावार्थ—चौसठ सागर छह पल्यके जितने समय हैं, उतने बार यथाक्रम (ठीक ठीक नम्बर) से भवपरिवर्तनमें जन्म लेने पडते हैं और काल परिवर्तनमें बीस कोटाकोटी सागरके जितने समय हैं, उतने बार ठीक (नम्बर बार) जन्म लेने पडते हैं, अतः भवपरिवर्तनसे कालपरिवर्तन बडा है। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्त गाथाके अनुसार कालपरिवर्तनमें जन्मके समान मरण भी यथाक्रमसे विवक्षित हैं। अतः बीस कोटाकोटीके समयोंकी संख्यावार मरण करना भी गिना जावेगा यों कालपरिवर्तनका समय वैसे ही दूना हो गया। तीसरी बात यह है कि छोटे समुदायका क्रम बडे समुदायक्रमसे अतिशीघ्र आ जाता है। कहां चौसठ सागर छह पल्यका व्यवधान और कहां बीस कोटाकोटी सागरके बाद क्रम आना यह बहुत बडा है। इसी प्रकार काल परिवर्तनसे क्षेत्र परिवर्तनका समय भी अधिक प्रतीत होता है। क्योंकि काल परिवर्तनमें केवल बीस कोटाकोटी सागरके जितने समय हैं, उतने बार जन्म मरण धारण करने पडते हैं, और क्षेत्रपरिवर्तनमें तीनों लोकोंमें जितने प्रदेश हैं उतने बार जन्म लेने पडते हैं। सूच्यंगुलके असंख्यातवे भागमें जितने आकाशके प्रदेश हैं वे असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके समयोंसे कहीं असंख्यात गुणो अधिक हैं। सूच्यंगुलसे असंख्यात गुणा प्रतरांगुल है। तथा प्रतरांगुलसे घनांगुल, श्रेणी, जगत्प्रतर, और लोक ये उत्तरोत्तर असंख्यात असंख्यात गुणे हैं। कहां केवल सूच्यङ्गुलके असंख्यातवे भागरूप बीस कोटाकोटि सागरका व्यवधान और कहां लोकका व्यवधान, बडा भारी अन्तर है। तथा सम्भव है इससे भी द्रव्यपरिवर्तन बडा होवे। क्योंकि

द्रव्यपरिवर्तनमें अनन्तवार अगृहीतोंका ग्रहण कर पुन अनन्तवार मिश्रोंका ग्रहण कर फिर मध्यमें गृहीत पुद्गलोंका अनन्तवार ग्रहण कर पुनः वे के वे ही पुद्गल उस जीवके नोकर्मपनेको प्राप्त होते हैं। असंख्यातसे अनन्तसंख्या बहुत अधिक है। कदाचित् ऐसे पूर्वोक्त प्रकारसे भाव हृदयमें उत्पन्न हो जाते हैं, किंतु श्री गोमट्टसारजीकी टीकामें पांचो परिवर्तनोंको उत्तरोत्तर अनन्तगुणा कालवाला बतलाया है। अतः उक्त शंका करना प्रशस्त मार्ग नहीं है। एक भावपरिवर्तनके समयमें अनन्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं और अनन्तानन्त कालपरिवर्तन हो जाते हैं, तथा उससे अनंतगुणे क्षेत्र परिवर्तन और उससे भी अनंतगुणे द्रव्यपरिवर्तन हो जाते हैं। त्रिकाल त्रिलोकदर्शी सर्वज्ञ केवलज्ञानीके आम्नायानुसार चले आये हुए आगमसे जो निर्णीत हुआ है वही सत्यार्थ है। आगमके अनुसार चलनेवाली युक्तियां सुयुक्तियां है। और आगमके प्रतिकूल युक्तियोंको कुयुक्तियां कहते हैं। द्रव्यपरिवर्तनके अनंतकालसे क्षेत्रपरिवर्तनका काल अधिक है। क्योंकि तीन लोकमें थोडेसे स्थानपर स्थित होकर जन्म मरण करता हुआ भी अनेक द्रव्यपरिवर्तन कर सकता है। किंतु आकाशके प्रदेशोंपर यथाक्रमसे जन्म लेनेमें बहुत अधिक समय लगेगा। तीन लोकमें निगोद शरीरको धारण करता हुआ जन्म लेना सुलभ है, परंतु उत्सर्पिणीके समयोंका व्यवहार रखते हुए जन्म, मरण, करना विलम्बसाध्य कार्य है, तथा लोकाकाशके क्रमानुसार आये हुए प्रदेशोंपर तो दूसरीही आगेकी पर्यायमें जन्म लेना सम्भव है। किंतु कालपरिवर्त्तनमें तो एकबार जन्म ले चुकनेपर बीस कोटा कोटीसागरका अंतर डालना आवश्यक है। तब कहीं अग्रिम समयमें जन्म लेनेका नम्बर आ सकता है, एवं इसकी भी अपेक्षा उत्कृष्ट रूपसे केवल दो सहस्र सागरतक ठहरनेवाली त्रस व्यवहारराशिमें आकर मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यञ्चोंमें निगोद या स्थावरको छोडकर शेष तिर्यञ्चोंके जन्म लेना विलम्बसाध्य है। किसी भी देव, तिर्यंच, आदिकी पर्यायमें जन्म लेकर कल्पकालके समयोंको यथाक्रमसे पूरा किया जा सकता है। किंतु भवपरिवर्तनमें तो विवक्षित एक ही गतिमें उसके योग्य सभी जन्मोंको लेना पडेगा, तब दूसरी गतिका नम्बर प्रारम्भ किया जायगा। धवल आदि सिद्धांतग्रन्थोंके अध्ययनका जिनको अधिकार है वे विद्वान् इसका अधिक युक्तियोंसे निर्णय कर लेवें। हम इससे अधिक और क्या कहें कि आगमप्रमाणसे निर्णीत किये विषयोंमें अधिक युक्तियोंकी आवश्यकता नहीं है। इन सबसे भी बडा भावपरिवर्तन प्रसिद्ध ही है। जिसमें कि श्रेणीके असंख्यातवें भाग योग असंख्यातलोकप्रमाण कषायबंधाध्यवसायस्थान और उससे भी असंख्यातलोकगुणे अधिक अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थानोंपर पूर्वोक्त क्रमसे संज्ञी जीवके अन्तःकोटाकोटी प्रमाण कर्मोंकी स्थितिसे लेकर ज्ञानावरणकी तीस कोटाकोटी सागर तककी स्थिति समयाधिकक्रमसे पूर्ण की जाती है, इसी प्रकार कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त आठमुहूर्त्त आदिसे लेकर उत्कृष्टस्थिति पर्यंतवाली मूलप्रकृति और संपूर्ण एक एक उत्तरप्रकृतियोंका परिवर्तन करना पडता है। अनंतवर्षोंमें पूर्ण होनेवाले इस संपूर्ण संसरणका नाम भावपरिवर्तन है। इसमें भी जघन्य स्थितिके जितने समय हैं उतनी बार जघन्य स्थितिवाले कर्म बांधने पडेंगे, तभी

एक एक स्थितिबंध पूर्ण हो सकेगा। यहां भी सर्व व्यवस्था पूर्वके समान यथाक्रम (नंबर वार) समझ लेना। इस प्रकार पांच परिवर्तनरूप संसारसे डरते रहनेको संवेग कहते हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवके ईति, भीति आदिक कोई भय नहीं होता है, उसको अपनी मृत्युसे भी रंच मात्र भय नहीं है, किंतु पाप कर्मोंसे डरता रहता है। अतः कुत्सितक्रियाओंकी निवृत्तिमें उपयोगी होरहा ऐसा भय सम्यग्दृष्टिके माना है। इसको वैराग्य भी कहा जा सकता है। भय कर्मके उदय या उदीरणासे होनेवाला यह भय नहीं है।

त्रसस्थावरेषु प्राणिषु दयानुकम्पा। जीवादितत्त्वार्थेषु युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धेषु याथात्म्योपगमनमास्तिक्यम्।

कहीं कहीं द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, आत्माओंको प्राणी और वनस्पतिकायिकोंको भूत तथा पञ्चेन्द्रियोंको जीव एवं शेष आत्माओंको सत्त्व शब्दसे कहा है, किंतु ये सब त्रस और स्थावरोंमें गर्भित हैं। अतः त्रस और स्थावर कायके जीवोंमें दयाभाव रखना अनुकम्पा गुण है। तथा समीचीन युक्ति और आगमके द्वारा अविरुद्ध रूपसे निर्णीत किये गये जीव, कर्म, स्वर्ग, मोक्ष, पुण्य, पाप, आदि तत्त्वार्थोंमें वास्तविकपनेको स्वीकार करना आस्तिक्य गुण है। शब्दशास्त्रसे भी आस्तिक्य शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है कि परलोक, पुण्य, पाप, मोक्ष आदि अतीन्द्रिय तत्त्वोंके माननेमें जिसकी श्रद्धा है, उसको आस्तिक कहते हैं " अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः " आस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। आस्तिक पुरुषके भावको आस्तिक्य कहते हैं।

एतानि प्रत्येकं समुदितानि वा स्वस्मिन् स्वसंविदितानि, परत्र कायवाग्व्यवहार विशेषलिंगानुमितानि सरागसम्यग्दर्शनं ज्ञापयन्ति, तदभावे मिथ्यादृष्टित्वसम्भवित्वात्, सम्भवे वा मिथ्यात्वायोगात्।

आत्माका स्वाभाविकगुण सम्यग्दर्शन तो परोक्ष है। सर्वज्ञसे अतिरिक्त जीवोंको उसका अनुमानसे ज्ञान होसकता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य इनमेंसे एक एक गुण या ये चारों ही एकत्रित होकर अपनी आत्मामें स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जाने जारहे हैं, वे ज्ञापक हेतु अपनेमें सम्यग्दर्शनगुणका अनुमान करा देते हैं और अपनेमें साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति ग्रहणकर जानलिये गये विलक्षण शरीरकी चेष्टा, वचनव्यवहार, प्रशान्तक्रिया, आदि विशेष ज्ञापक लिङ्गोंसे दूसरे आत्माओंमे प्रशम आदि गुणोंका अनुमान करलिया जाता है और फिर अनुमानसे जानेगये प्रशम आदि ज्ञापक हेतु दूसरोंकी आत्मामें सरागसम्यक्त्वका अनुमान करादेते हैं। यह अनुमितानुमान है। प्रशम आदि गुणोंकी सम्यग्दर्शन गुणके साथ समव्याप्ति है। व्यस्त और समस्त भी प्रशम आदि गुण ज्ञापक हेतु हैं। परोक्ष सम्यग्दर्शनगुण साध्य है। सम्यग्दर्शनगुण अतीन्द्रिय है। यदि अतीन्द्रिय नहीं होता तो प्रशम आदिक साध्यको सिद्ध करनेके लिये सम्यग्दर्शन भी हेतु होसकता था। क्योंकि समव्याप्तिवाले साध्य और हेतुमेंसे कोई भी ज्ञात होकर दूसरे अज्ञातका ज्ञापक हेतु होसकता है। इसीलिये तो

प्रकरणमें प्रशम आदिसे सम्यग्दर्शनका अनुमान किया है। उस सम्यग्दर्शनगुणके न होनेपर मिथ्यादृष्टि जीवोंमें प्रशम आदि गुणोंका होना असम्भव है। यदि वहां प्रशम आदि गुणोंका सम्भव होना मानोगे तो मिथ्यादृष्टिपना नहीं सम्भवेगा। भावार्थ—जहां प्रशम आदि एक, दो, तीन या चारों हैं, वहां सम्यग्दर्शन अवश्य है। चौथे गुणस्थानसे लेकर उपरिमगुणस्थानोंमें उक्तगुण पाये जाते हैं।

मिथ्यादृशामपि केषाञ्चित्क्रोधाद्यनुद्रेकदर्शनात् प्रशमोऽनैकान्तिक इति चेन्न, तेषामपि सर्वथैकान्तेऽनन्तानुबन्धिनो मानस्योदयात्। स्वात्मनि चानेकान्तात्मनि द्वेषोदयस्यावश्यंभावात् पृथिवीकायिकादिषु प्राणिषु हननदर्शनाच्च।

कोई आक्षेपक दोष उठारहा है कि किन्ही किन्हीं मिथ्यादृष्टियोंके भी क्रोध आदिकका तीव्र उदय नहीं देखा जाता है। इस कारण उनकी आत्मामें शान्ति, क्षमा, उदासीनता आदिरूप प्रशम विद्यमान हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन नहीं हैं। अतः आपका सम्यग्दर्शनको सिद्ध करनेमें दिया गया प्रशम रूपहेतु व्यभिचारी हुआ। अनेक यवन, (मौलवी) ईसाई, (पादरी) त्रिदण्डी आदि पुरुषोंमें भी उत्कृष्ट शान्ति पायी जाती है। देशसेवकलोग मन्दकषायी होते हैं। यहांतक कि उनको मारा पीटा भी जावे तो चूंतक नहीं करते हैं। तभी तो पञ्चाध्यायीकारने प्रशम आदि चारोंको मिथ्यादृष्टि और अभव्योंमें भी स्वीकार किया है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहोगे तो सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि शान्तिका बाना पहिने हुए उन मिथ्यादृष्टियोंके भी अपने माने हुए सर्वथा एकान्त मतोंमें अनन्तानुबन्धी मानका तीव्र उदय होरहा है कि हमारा मत ही संसारमें सबसे बढिया है और वास्तविक स्वरूपसे मानीगयी आत्मामें तथा अनेकान्तस्वरूप वस्तुको माननेवाले स्याद्वादसिद्धान्तमें अवश्य तीव्र द्वेषका उदय होरहा है। यों अनेकान्त आत्मक निजआत्मामें उनको द्वेष उपजरहा है। एवं पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक आदि जीवोंकी हिंसा करना भी उनमें देखा जाता है, अर्थात् ऊपरसे शान्ति प्रकृतिके प्रतीत होते हुए उन भद्रपुरुषोंमेंसे अनेक पुरुष तो पृथिवी, जल, आदिमें ही जीवको नहीं मानते हैं। कोई कोई तो कीट, पतङ्ग, मत्स्य, सिंह, सर्प, आदिकी यहांतक कि सभी पशु, पक्षियोंतककी हिंसाको हिंसा नहीं समझते हैं। जैनसिद्धान्तमें अहिंसाका जितना उच्च आदर्श माना है, उतना और किसी अन्य मतमें नहीं है। मन वचन, कायसे कृत, कारित, अनुमोदनासे दूसरोंको पीडा पहुंचानेकी प्रवृत्ति न करना चाहिये। अपनी आत्मामें राग, द्वेष, परिणामोंका होजाना ही अपने स्वाभाविक अहिंसा, क्षमा आदि गुणोंकी हत्या करना है। मद्य, मांस, मधुमें भी सर्वदा उसी रूप अनेक जीवप्रतिक्षण उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। बालका अग्रभाग भी जीवोंकी उत्पत्तिका योनिस्थान है। चून, मैदा, दूध, मसाला, रोटी आदि पदार्थ मर्यादासे भक्षण करने चाहिये। मर्यादाके बाहिर उनमें जीव उत्पन्न होजाते हैं अतः अभक्ष्य हैं। दो घडी पीछे जलको पुनः छानना चाहिये चित्रकी जीवमूर्तिको भी छिन्न भिन्न करना महादोष है, इत्यादि विचार उन मिथ्यादृष्टियोंके नहीं होसकते हैं। अतः व्यक्त और अव्यक्तरूपसे अनन्तानुबन्धी क्रोध मानरूप

तीव्र राग और तीव्र द्वेषके विद्यमान होनेसे उन मिथ्यादृष्टियोंके प्रशमगुण नहीं है । प्रशमाभास है । अनन्तानुबन्धीके उदय होनेपर भला सम्यग्दर्शनगुण कैसे सम्भव है ? कभी नहीं । अतः हमारा सम्यग्दर्शनके सिद्ध करनेमें दिया गया प्रशम हेतु व्यभिचारी नहीं है । कोई भोले जीव बहिरंग लक्षणमें ही न फंसजावें, एतदर्थ पञ्चाध्यायीकारने ऊपरी दिखाऊ शान्तिको प्रशम कहकर मिथ्यादृष्टिओंमें प्रशमका सम्भव बतलाया है, किंतु स्वानुभूतिके साथ रहनेवाला वस्तुभूत प्रशम तो सम्यग्दृष्टिके ही पाया जासकता है ऐसा स्पष्ट किया है ।

एतेन संवेगानुकम्पयोर्मिथ्यादृष्टिष्वसम्भवकथनादनैकान्तिकता हता । संविग्नस्यानुकम्पावतो वा निःशंकप्राणिघाते प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, सद्दृष्टेरप्यज्ञानात्तत्र तथा प्रवृत्तिरिति चेत्, व्याहतमिदं " सद्दृष्टिश्च जीवतत्त्वानभिज्ञश्चेति " तदज्ञानस्यैव मिथ्यात्वविशेषरूपत्वात् ।

प्रशम हेतुका व्यभिचार दूर करनेवाले इस कथनसे संवेग और अनुकम्पा इन दोनों गुणोंका भी मिथ्यादृष्टियोंमें असम्भव होना कह दिया गया है । जो मिथ्यादृष्टि संसारसे उद्विग्न हो रहे हैं उनको भी परभवसंबंधी भोग, सुख, यश आदिकी आकांक्षायें लग रही हैं । शुद्ध आत्मतत्त्वको वे नहीं जान सके हैं। जीव-समास योनि-स्थानोंको जाने विना पूर्ण दया नहीं पलती है । अतः संवेग और अनुकम्पा हेतुओंमें भी व्यभिचार दोष नष्ट कर दिया गया समझ लेना चाहिये । जो संवेग-गुणधारी संसारसे भयभीत है तथा जो अनुकम्पागुणधारी दया-मूर्ति हो रहा है, उनकी शंका रहित होकर प्राणियोंके घात करनेमें निर्गल प्रवृत्ति होना नहीं बन सकता है । यदि कोई यों कहे कि सम्यग्दृष्टिके भी अज्ञानके वशसे वहां जीवोंको घात करनेमें इस प्रकार शंकारहित प्रवृत्ति होती हुयी देखी जाती है। चौथे गुणस्थानमें त्रस-हिंसा और स्थावर-हिंसाका त्याग नहीं है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि यह कहना ही व्याघातदोषसे युक्त है जो सम्यग्दृष्टि है, वह जीव तत्त्वको अवश्य जानता है । अतः उन जीवोंके ऊपर अवश्य दया करेगा । सम्यग्दृष्टि होते हुए जीवतत्त्वोंको न जाने इस कथनमें वदतोव्याघात दोष है । उद्देश्य दल ठीक है तो विधेयदल ठीक नहीं, और यदि विधेयदल सत्य है तो उद्देश्य दल झूंठा है । वह जीवतत्त्वमें अज्ञान होना ही मिथ्यात्वका एक विशेष स्वरूप है। पांच प्रकारके मिथ्यात्वोंमेंसे अज्ञान नामका मिथ्यात्व भी अधिक बलवान् है । अतः संवेग और अनुकम्पावाले जीवोंके अवश्य सम्यग्दर्शन होगा और वे शंकारहित होकर जीवोंकी निर्गल हिंसा नहीं करते हैं, अतः हमारे हेतुमें व्यभिचार दोष नहीं है ।

परेषामपि स्वाभिमततत्त्वेष्वास्तिक्यस्य भावादनैकान्तिकत्वमिति चेत् न, सर्वथैकान्ततत्त्वानां दृष्टेष्टबाधितत्वेन व्यवस्थानायोगादनेकान्तवादिनां भगवदर्हत्स्याद्वादश्रद्धानविधुराणां नास्तिकत्वनिर्णयात्। तदुक्तं, " त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आत्माभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते " इति ।

इसी प्रकार अस्तिक्य गुण भी सम्यग्दर्शन गुणका निर्दोष ज्ञापक हेतु है। यदि कोई यों कहे कि दूसरे नैयायिक, सांख्य, आर्यसमाज, मोहमदानुयायी, ईशवादी आदि जनोंके भी अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंमें आस्तिकपना विद्यमान है और आपने सम्यग्दर्शन गुण उनमें माना नहीं है। अतः सम्यग्दर्शनको सिद्ध करनेके लिए दिया गया आस्तिक्य हेतु व्यभिचारी हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उनके द्वारा श्रद्धान किये गये सर्वथा एकांतरूप तत्त्वोंकी प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधित हो जानेके कारण व्यवस्था नहीं हो सकती है। अतः भगवान् श्रीअर्हन्त देव और उनके द्वारा उपदिष्ट वस्तुभूत स्याद्वाद सिद्धांत इन दोनोंके श्रद्धानसे परान्मुख होरहे उन एकांतवादियोंके नास्तिकपनेका निर्णय हो चुका है। उसी बातको पूज्य स्वामी श्रीसमंतभद्राचार्यने देवागम स्तोत्रमें इस प्रकार कहा है कि हे! जिनेंद्र देव! तुम्हारे मतरूपी अमृतसे बहिर्भूत हो रहे और सर्वथा एकांतोंको बकनेकी लत रखनेवाले तथा अपनी ढपली और अपना रागके अनुसार मानी हुयी कल्पित आत्माके या स्वकीय तत्त्वोंके अभिमानसे जले हुए पुरुषोंका अपना अभीष्ट पदार्थ प्रत्यक्षप्रमाणसे ही बाधित हो जाता है अथवा मैं ही यथार्थ वक्ता हूं इस आप्तपनेकी अभिमान-अग्निमें जो जले जा रहे हैं उनका इष्टतत्त्व दृष्ट प्रमाणसे बाधित हो जाता है। भावार्थ—जो पुरुष अग्निसे झुलस गया है और उसकी अव्यर्थ औषधि माने गये अमृतका सेवन वह नहीं करता है। उसको अपनी अभीष्ट नीरोगताकी प्राप्ति नहीं हो पाती है। बालगोपाल भी उसकी इस मूर्खतापर उपहास करते हैं, तैसे ही कई एकांतवादी तो आत्माको ही नहीं मानते हैं। कोई आत्माके ज्ञान, सुख आदिको निजका गुण नहीं मानते हैं। कोई मतवाले वादी अन्य मतानुयायियोंको मारनेतकका उपदेश देते हैं, इत्यादि प्रकारसे प्रामाणिक तत्त्वोंका तिरस्कारकर अप्रामाणिक सिद्धान्तोंका बोझ ढोनेवाले एकान्तवादियोंके यहां आत्मा, परलोक, पुण्य, मोक्ष, आदिकी व्यवस्था ठीक नहीं है। अतः इनको आस्तिकपना नहीं है। ठीक आस्तिकपना सम्यग्दृष्टिमें ही पाया जावेगा।

तदनेन प्रशमादिसमुदायस्यानैकान्तिकत्वोद्भावनं प्रतिक्षिप्तम्।

इस कारण इस उक्त कथनके द्वारा प्रशम आदि यानी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चारोंके समुदायरूप हेतुका व्यभिचार दोष उठाना भी खण्डित करादिया गया है। जब अकेले, अकेले प्रशम आदि गुणोंको हेतु बनानेपर व्यभिचारदोष नहीं है उनका समुदाय करनेपर तो कैसे भी अनैकान्तिक दोष नहीं हो सकता है। क्योंकि हेतुके शरीरमें अधिक विशेषण लगा देनेसे उसकी व्याप्यता बढ जाती है। अर्थात् वह हेतु पहिलेसे और भी थोडे स्थलमें पहुंच पाता है। हेतुको अधिक स्थान मिलनेपर व्यभिचार दोषको सहायता भी प्राप्त होवे, किन्तु चारों गुणोंको एकत्रित कर हेतु बनानेसे बडी सुलभतासे दोषोंका वारण हो जाता है। वस्तुके स्वरूपको न समझनेवाले साधारण अजैन जनोंके संवेग, अनुकम्पा आदि गुण यथार्थ नहीं हैं, गुणाभास हैं। कोरे दिखाऊ हैं।

ननु प्रशमादयो यदि स्वस्मिन् स्वसंवेद्याः श्रद्धानमपि तत्त्वार्थानां किन्न स्वसंवेद्यम्? यतस्तेभ्योऽनुमीयते। स्वसंवेद्यत्वाविशेषेऽपि तैस्तदनुमीयते न पुनस्ते तस्मादिति कः श्रद्दधीतान्यत्रापरीक्षकादिति चेत्, नैतत्सारं, दर्शनमोहोपशमादिविशिष्टात्मस्वरूपस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य स्वसंवेद्यत्वानिश्चयात्। स्वसंवेद्यं पुनरास्तिक्यं तदभिव्यञ्जकं प्रशमसंवेगानुकम्पावत् कथंचित्ततो भिन्नं तत्फलत्वात्। तत एव फलनद्वतोरभेदविवक्षायामास्तिक्यमेव तत्त्वार्थश्रद्धानमिति, तस्य सम्यग्दर्शनसिद्धान्तदेशनायामपि न विरुध्यते।

यहां शंका है कि प्रशम आदि चारों गुण अपनी आत्मामें यदि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जाने जाते हैं तो तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना भी क्यों नहीं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जान लिया जावे, जिससे कि आप जैन उन प्रशम आदिकोंसे उस श्रद्धानका अनुमान करते हैं अर्थात् श्रद्धान और प्रशम आदिक दोनों ही आत्माके परिणाम हैं। अतः सीधे ही स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे सम्यग्दर्शनके स्वरूप होरहे श्रद्धानका ज्ञान हो जाना चाहिये। पहिले स्वसंवेदनसे प्रशम आदिकोंको जानें और पुनः प्रशम आदिक हेतुओंसे श्रद्धानका अनुमान करें। व्यर्थ ही यह परम्परापरिश्रम क्यों कराया जाता है। जब कि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जानागयापन दोनोंमें विशेषताओंसे रहित होकर समान है। फिर भी उन प्रशम आदिकोंसे उस श्रद्धानका अनुमान किया जावे, किन्तु फिर उस श्रद्धानसे उन प्रशम आदिकोंका अनुमान न किया जावे इस पक्षपात रखनेवाली बातका परीक्षा नहीं करनेवाले अन्धश्रद्धानीके अतिरिक्त भला कौन विचारशील श्रद्धान कर सकेगा? यानी कोई नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार किसीका यह कहना तो साररहित है। क्योंकि द्रव्योंमें अनेक गुण (भाव) ऐसे होते हैं जिनका कि प्रत्यक्ष हो जाता है और अनेक भावोंका छद्मस्थोंको अनुमान ही होता है। शरीरमें नाडीका स्पार्शन प्रत्यक्ष हो जाता है और नाडीकी गतिसे अविनाभावी रोगोंका अनुमान कर लिया जाता है। घोडे, हाथी, आम, चावल, मनुष्य आदिके शुभ अशुभ लक्षणोंसे उनके गुणोंका अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ आत्माके विशिष्ट स्वरूप माने गये तत्त्वार्थश्रद्धानका स्वसंवेदनसे जानागयापन निश्चित नहीं होता है। क्योंकि तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन वस्तुतः अत्यन्त सूक्ष्मगुण है। वह सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय नहीं है, ऐसी दशामें मतिज्ञानके भेदस्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे वह नहीं जाना जा सकता है। भले ही स्वसंवेदनके द्वारा पुद्गलसे भिन्न आत्माकी अनुभूति हो जावे, किन्तु सम्यग्दर्शनका स्वयं अपनेको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। हां! फिर उस श्रद्धानसे अविनाभाव रखता हुआ और स्वसंवेदनसे जान लिया गया ऐसा आस्तिक्यपरिणाम उस श्रद्धानका प्रगट करनेवाला ज्ञापक हेतु होजाता है, जैसे कि प्रशम, संवेग, और अनुकम्पास्वरूप परिणाम उस श्रद्धानके ज्ञापक हेतु हो जाते हैं। ये प्रशम आदिक चारों ही स्वभाव उस श्रद्धानसे किसी अपेक्षा करके भिन्न हैं। क्योंकि वे चारों गुण उस श्रद्धानके फल हैं। करणसे फल कथञ्चित् भिन्न

होता है, और कथञ्चित् अभिन्न भी होता है। तिस ही कारणसे फल और उस फलवाले करणकी अभेद विवक्षा करनेपर आस्तिक्य गुण ही तत्त्वार्थश्रद्धान कह दिया जाता है। भावार्थ—कहीं आस्तिक्य गुणको ही सम्यग्दर्शनपनेका व्यवहार कर दिया जाता है। इस प्रकार उस आस्तिक्यके समान उस श्रद्धानकी भी स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे सिद्धी हो जाती है। आस्तिक्यका प्रत्यक्ष अधिक विशद है। अतः उस संवेद्य होरहे आस्तिक्यसे श्रद्धानका अनुमान द्वारा जानागयापन भी विरुद्ध नहीं पडता है। जैसे कुछ कुछ प्रत्यक्ष होते हुए भी हिताहितमें प्रवृत्तिनिवृत्ति क्रियारूप सदाचार से सज्जनताका और भी दृढरूपसे अनुमान कर लिया जाता है।

मतान्तरापेक्षया च स्वसंविदितेऽपि तत्त्वार्थश्रद्धाने विप्रतिपत्तिसद्भावात्तन्निराकरणाय तत्र प्रशमादिलिंगादनुमाने दोषाभावः। सम्यग्ज्ञानमेव हि सम्यग्दर्शनमिति केचिद्विप्रवदन्ते, तान् प्रति ज्ञानात् भेदेन दर्शनं प्रशमादिभिः कार्यविशेषैः प्रकाश्यते।

दूसरी बात यों है कि इस वार्तिकमें सम्यग्दर्शनका प्रशम आदिकसे अनुमान किया गया है। उसका प्रयोजन यह है कि स्वयंको तो श्रद्धानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो जाता है। पञ्चाध्यायीकारने श्रद्धानका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हो जाना माना है। किंतु फिर भी अन्यमतोंकी अपेक्षा करके तत्त्वार्थ-श्रद्धानमें अनेक प्रकारके विवाद होना पाया जाता है। उन विवादोंकी निवृत्तिके लिए उस सरागसम्यग्दृष्टिमें प्रशम आदिक हेतुओंसे श्रद्धानका अनुमान करा दिया जाता है, ऐसा माननेपर शंकाकारकी ओरसे उठाया गया कोई दोष नहीं आता है। कोई इस प्रकार विवाद करते हैं कि सम्यग्ज्ञान गुण ही निश्चयसे सम्यग्दर्शन गुण है। श्रद्धान करना ज्ञानरूप ही पडता है, सम्यग्ज्ञानसे अतिरिक्त सम्यग्दर्शन कोई स्वतंत्रगुण नहीं है। उन विवादियोंके प्रति ज्ञान गुणसे भिन्नता करके सम्यग्दर्शनको प्रशम आदिक विशेषफलोंसे प्रकाशित करा दिया जाता है। अर्थात् अतीन्द्रिय माने गये रूप, चेतना, दहनशक्ति, आदि गुणोंका जैसे नीला, पीला, घटज्ञान, पटदर्शन, ईंधन दाह आदि फलस्वरूप क्रियाओंसे अनुमान कर लिया जाता है अथवा सन्मुख ही खडे हुए पेडमें बेल, झाडीके विवादको दूर करनेके लिए शिंशपापन स्वभाव हेतुसे वृक्षपनेका अनुमान करा दिया जाता है, वैसे ही प्रशम आदि फलोंसे स्वतंत्र सम्यग्दर्शन गुणका अनुमान कर लिया जाता है। सम्यग्दृष्टि जीवके विशिष्ट प्रशम आदि कार्य अवश्य होते हैं।

ज्ञानकार्यत्वात्तेषां न तत्प्रकाशकत्वमिति चेन्न, अज्ञाननिवृत्तिफलत्वात् ज्ञानस्य। साक्षादज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानस्य फलं, परम्परया प्रशमादयो हानादिबुद्धिवदिति चेत्, तर्हि हानादिबुद्धिवदेव ज्ञानादुत्तरकालं प्रशमादयोऽनुभूयेरन्, न चैवं ज्ञानसमकालं प्रशमाद्यनुभवनात्।

यदि कोई यों कहे कि वे प्रशम आदि क्रियाविशेष तो सम्यग्ज्ञानके कार्य हैं। अतः वे सम्यग्ज्ञानके ही ज्ञापक होंगे, उस सम्यग्दर्शनका प्रकाशन नहीं कर सकेंगे, सो यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञानका अव्यवहित फल अज्ञानकी निवृत्ति करना है, प्रशम आदि नहीं। एक गुणके

साक्षात् फल दो चार नहीं हुआ करते हैं, किन्तु एक ही फल होता है। तभी तो भिन्न भिन्न कार्योंको भिन्न भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेका नियम है। यदि फिर कोई यह कहे कि ज्ञानका अव्यवहित फल तो अज्ञानकी निवृत्ति होना है। किन्तु ज्ञानके परम्परासे फल प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यभाव होना है. जैसे कि ज्ञानके परम्परासे फल हेयपदार्थमें त्यागबुद्धि करना आदि और उपादेयका ग्रहण करना, तथा उपेक्षणीय तत्त्वकी उपेक्षा करना है। यों एक करणके परम्परासे अनेक भी फल होसकते हैं, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो ज्ञानके ठीक उत्तर कालमें त्याग-बुद्धि, ग्रहण-बुद्धि, और उपेक्षाबुद्धिके समान ही प्रशम आदिक भी अनुभवमें आने चाहिये, किन्तु ऐसा होता हुआ नहीं देखा जाता है। हां! इसके विपरीत ज्ञानके समान कालमें ही प्रशम आदि गुणोंका अनुभव होता है। जो जिसका परम्परासे होनेवाला फल है वह उसके कुछ समय पीछे होता हुआ जाना जासकता है। उसी क्षणमें नहीं। अतः ज्ञानके फल प्रशम आदिक नहीं होसकते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शनके फल हैं।

पूर्वज्ञानफलत्वात्त प्रशमादेः सांप्रतिकज्ञानसमकालतयानुभवनमिति चेत्, तर्हि पूर्वज्ञानसमकालवर्तिनोऽपि प्रशमादेस्तत्पूर्वज्ञानफलत्वेन भवितव्यमित्यनादित्वप्रसक्तिरविशेषात् ज्ञानस्य।

यहां कोई पुनः कहते हैं कि वर्तमानज्ञानके समकालमें जो प्रशम आदिक अनुभूत हो रहे हैं वे उससे पहिले समयोंमें उत्पन्न हो चुके ज्ञानोंके फल हैं, जैसे कि वर्तमानकालमें हम किसी नूतन वस्तुको जान रहे हैं, उस समय हमारी हेय और उपादेय बुद्धि भी हो रही है और छोडना, ग्रहण करना, फल भी हो रहा है। ये सब वर्तमानज्ञानके फल नहीं है। किन्तु पहिले हो चुके ज्ञानोंके फल हैं। पहिली भोगी हुयी खाद्य, पेय, सामग्रीसे आजका शरीर बना है। आजकी सामग्रीसे कलका बनेगा। एवं पूर्वके व्यापारिक लाभसे अब व्यापार करते हैं, इसका फल पुनः प्राप्त होगा। तथा कलके भोज्य, पेय, से आजकी लार और पित्ताग्नि बन गयी। इस लार और पित्ताग्निके बलपर आज खावेंगे। यह धारा आगे भी चलती रहेगी। तैसे ही पहिले ज्ञानोंके फलस्वरूप प्रशम आदिकोंका वर्तमानज्ञानके समकालवृत्तिपने करके अनुभव हो जाता है। आचार्य समझाते हैं कि ऐसा कहोगे तो पूर्वज्ञानके समानकालमें होनेवाले भी प्रशम आदिकोंको उससे भी पहिले कालके ज्ञानोंका फलपना होना चाहिये। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानको अनादिपनेका प्रसंग होता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनके समयमें जीवोंके प्रशम आदिक गुण अवश्य होते हैं। यदि वे प्रशम आदिक गुण सम्यग्ज्ञानके परम्परासे होनेवाले फल माने जावेंगे तो सम्यग्दर्शन गुणके पहिले भी सम्यग्ज्ञानका होना मानना पडेगा। उस सम्यग्ज्ञानके समय भी सम्यग्दर्शन गुण अवश्य होगा। क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान होता नहीं, तब तो उस सम्यग्दर्शनके भी समयमें प्रशम आदिक अवश्य होंगे। उनको भी आप सम्यग्ज्ञानका परम्पराफल कहेंगे। इस प्रकार फिर भी उसके पहिले सम्यग्ज्ञान गुणका सद्भाव मानना

पडेगा और सम्यग्ज्ञान होगा तो सम्यग्दर्शन भी अवश्य होगा, प्रशम आदिक भी अवश्य होवेंगे, उनको फिर पहिले सम्यग्ज्ञानका दूरवर्ती फल माना जावेगा। इस प्रकार कहींपर भी स्थिति न हो सकनेके कारण अवितथ ज्ञान यानी सम्यग्ज्ञानको अनादिपना आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है।

सम्यग्दर्शनसमसमयमनुभूयमानत्वात् प्रशमादेस्तत्फलत्वमपि माभूत् इति चेन्न, तस्य तदभिन्नफलत्वोपगमात्तत्समसमयवृत्तित्वाविरोधात्, ततो दर्शनकार्यत्वाद्दर्शनस्य ज्ञापकाः प्रशमादयः सहचरकार्यत्वात्तु ज्ञानस्येत्यनवद्यम्।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि कारणसे उत्तरकालमें फल हुआ करते हैं, आप जैनोंने प्रशम आदि चारोंको सम्यग्दर्शका फल माना है, जब कि सम्यग्दर्शनके समान कालमें प्रशम आदिकोंका अनुभव हो रहा है। ऐसी दशामें सम्यग्दर्शनके भी फल न हो सकेंगे। भावार्थः—सम्यग्ज्ञानको अनादिपनेके प्रसङ्गके समान आपके सम्यग्दर्शनको भी अनादिपनेका प्रसंग आये विना न रहेगा, क्योंकि सम्यग्दर्शनके समानकालवाले प्रशम आदिकोंको उसके पूर्व समयवर्ती सम्यग्दर्शनका फल मानोगे। किंतु पूर्व सम्यग्दर्शनके समयमें भी प्रशम आदिक होवेंगे उनको उससे भी पहिले समयमें हुए सम्यग्दर्शनका फल मानोगे। इस प्रकार अनादिपनेकी धारा बढ जावेगी। आचार्य शिक्षा देते हैं कि यह कहना तो समुचित नहीं है। क्यों कि हमने उन प्रशम आदिकोंको उस सम्यग्दर्शनका अभिन्न फल होना स्वीकार किया है। जो अभिन्न फल होते हैं वे कारणके समान समयमें भी वर्तते हैं, कोई विरोध नहीं है, जैसे कि अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानके समकालमें होती है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान उत्पन्न हो जावे और उस समय अज्ञान भी बैठा रहे। दीपकके प्रज्वलित होते ही उसका फल अन्धेरेका नाश उसी क्षण हो जाता है। तैसे ही सम्यग्दर्शनके समयमें उसके अभिन्न फल माने गये प्रशम आदिकोंका भी तत्क्षणमें अनुभव हो जाता है, अतः सम्यग्दर्शनके अनादिपनेका प्रसंग दूर हो जाता है। तिस कारणसे अबतक सिद्ध हुआ कि दर्शनके कार्य हो जानेसे प्रशम आदिक हेतु तो सराग सम्यग्दर्शनके ज्ञापक हैं और सम्यग्ज्ञानरूप साध्यके साथ रहने वाले सम्यग्दर्शन गुणके कार्य हो जानेसे तो वे प्रशम आदिक सम्यग्ज्ञानके भी ज्ञापक हेतु हो जाते हैं। सम्यग्दर्शनको साध्य बनानेपर प्रशम आदि कार्यहेतु हैं और सम्यग्ज्ञानको साध्य बनानेपर तो वे सहचरकार्य हेतु हैं। सम्यग्ज्ञानका साथी सम्यग्दर्शनगुण न्यारा है। दस कारणोंके कार्य एक समयमें दस होरहे हैं। प्रत्येकका विवेक करना परीक्षकोंको सुलभ है। इस प्रकार प्रशम आदिकसे सम्यगदर्शनके अनुमान करनेमें कोई दोष नहीं है। प्रशम आदिक हेतु सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव रखते हुए निर्दोष हैं।

परत्र प्रशमादयः संदिग्धासिद्धत्वान्न सदर्शनस्य गमका इति चेन्न, कायवाग्व्यवहारविशेषेभ्यस्तेषां तत्र सद्भावनिर्णयस्योक्तत्वात्, तेषां तद्व्यभिचारान्न तत्सद्भावनिर्णयहेतुत्वमिति चेन्न, सुपरीक्षितानामव्यभिचारात्, सुपरीक्षितं हि कार्यं कारणं गमयति नान्यथा।

कोई पण्डित दोष उठाता है कि आप जैनोंने दूसरी आत्माओंमें भी प्रशम आदिकसे सराग सम्यग्दर्शनका अनुमान कराना बताया है, इसपर हमारा यह कहना है कि अपनी आत्मामें तो प्रशम, संवेग, आदिकका भले प्रकार निर्णय होजाता है, किन्तु दूसरोंमें प्रशम, संवेगका निर्णय नहीं होपाता है। माता पिता और गुरुजन क्रोध अवस्थामें भी प्रशान्त बने रहते हैं। कपटी पुरुष दिखाऊ शान्तिको धारण करता हुआ भी चित्तमें अशान्त है। भरतचक्रवर्ती भोगोंको भोगते हुए भी वैरागी थे। अनेक मोही जीवोंको स्मशानमें थोडी देरके लिये वैराग्य होजाता है आदि संदेहक व्यवहारोंके देखनेसे दूसरी आत्माओंमें प्रशम आदिके सद्भावका संदेह होजाता है। अतः संदिग्धासिद्ध होजानेके कारण प्रशम आदिक गुण दूसरी आत्माओंमें सम्यग्दर्शनके ज्ञापकहेतु नहीं हो सकते हैं। आचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थोंका निर्णय करनेके लिये उपाय हैं। यों तो स्थूल बुद्धिसे धुआं, भाप और गगन–धूलिके भेदको नहीं समझनेवाला पुरुष अग्निको सिद्ध करनेमें धूम हेतुको भी संदिग्धासिद्ध कर देवेगा, हां! विचार किये गये शरीर–चेष्टा और वचनव्यवहार, और मुखाकृति, दया करना, संयम पालना, आदि अविनाभावी विशेषोंसे उन प्रशम आदिकोंके विद्यमान रहनेका दूसरी आत्माओंमें निर्णय होजाता है, ऐसा हम पहिले कह चुके हैं। यदि आप यों कहें कि उन कायचेष्टा आदिकोंका उन प्रशम, संवेग आदिकसे अविनाभाव न होकर व्यभिचार वाली विषयमें कृत्रिमता देखा जाता है, विशेष शान्तपुरुष भी वक–भक्तोंके सदृश प्रतीत होजाते हैं। अधर्म प्रवृत्तिको रोकनेके लिये धर्मके आवेशमें आकर शान्तपुरुष भी क्रोधी होजाते हैं, अतः दूसरोंमें उन प्रशम आदिकोंकी सत्ताका निर्णय करानेवाला कोई बढिया हेतु नहीं है। व्यभिचारी हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा तो नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अच्छी तरह परीक्षा करलिये गये कायचेष्टा आदिकोंका कहीं भी कभी व्यभिचार नहीं होता है। शंकाकार जो यह कहरहे हैं कि शान्त भी जीव क्रोधी सदृश दीखते हैं, रागी पुरुष भी अन्तरङ्गमें विरक्त हैं, ऊपरसे बकभक्त भी अनेक देखेजाते हैं, इससे ही जाना जाता है कि शङ्काकारके पास प्रशम आदिकके निर्णय करनेका उपाय अवश्य है। तभी तो उन्होंने ज्ञातकर उक्त बातोंको कहा है। कहीं निर्णय किये विना दूसरे स्थलपर संशय करना नहीं होसकता है। अतः निश्चय कर भले प्रकार परीक्षा करलिया गया कार्यहेतु अपने कारणरूप साध्यको ज्ञापक होकर समझा देता है। अन्यथा यानी विना परीक्षा किया हुआ कार्य अपने कारण रूप साध्यका ज्ञापक नहीं माना गया है।

यदि पुनरतीन्द्रियत्वात् परमप्रशमादीनां तद्भावे कायादिव्यवहारविशेषसद्भावोऽशक्यो निश्चेतुमिति मतिः, तदा तदभावे तद्भाव इति कथं निश्चीयते ?।

यदि फिर आप आक्षेपकार यों कहें कि दूसरे आत्माओंके प्रशम आदि गुण अतीन्द्रिय हैं, किसी इन्द्रियसे उनका ज्ञान होता नहीं है, अतः उन गुणोंके होनेपर अविनाभाव रूपसे होनेवाले

कायचेष्टा, वचनव्याहार, मुखाकृति, इनकी विशेषताओंके विद्यमान रहनेका भी निर्णय नहीं किया जा सकता है, अर्थात् ऐसी कोई विशेषचेष्टा या विशेष वचननिर्णीत नहीं किया जा सकता है, जो कि प्रशांत और संवेगी जीवोंके ही पाये जावें। नृत्यशालामें अनेक पात्र नाना ढंगोंके रूपक दिखलाते हैं और दर्शकोंको वे अभिनय सत्यार्थ मुख्यराजा आदिकोंके सदृश प्रतीत भी होते हैं। किंतु विचारनेपर वे सब दृश्य दिखाऊ ही हैं। अतः वेश, आसन, बहिरंगशरीर, वचनकी प्रवृत्ति और व्यापारोंसे अन्य जीवोंमें पाये जारहे संवेग, आस्तिक्य, शांति, और दयाभावोंका निर्णय करना अशक्य है। आपका ऐसा मन्तव्य होनेपर तब तो हम जैन आपसे यह पूंछते हैं कि उन प्रशम आदि गुणोंके न होनेपर भी वह शरीर आदिका वैसा विशेष व्यवहार विद्यमान रहता है, यह भी आप कैसे निर्णीत कर लेते हैं ? बताओ। अर्थात् जो मनुष्य प्रशम आदिकोंके होनेपर होनेवाले शरीर आदिके व्यवहारका निश्चय नहीं कर सकता है, वह प्रशम आदिके न होनेपर उन व्यवहारोंकी सत्ताका भी निर्णय नहीं कर सकता है, तो फिर व्यभिचार देना कैसा ?। यानी जब तुमको उन विशेषताओंका ज्ञान ही नहीं है तब प्रशम आदिकोंके न होनेपर भी विशिष्ट कायचेष्टाका हो जाना रूप व्यभिचार दोष भी नहीं उठा सकोगे।

तत एव संशयोऽस्त्विति चेन्न, तस्य क्वचित्कदाचिन्निर्णयमन्तरेणानुपपत्तेः स्थाणुपुरुषसंशयवत्। स्वसंताने निर्णयोऽस्तीति चेत्, तर्हि यादृशाः प्रशमादिषु सत्सु कायादिव्यवहारविशेषाः स्वस्मिन्निर्णीतास्तादृशाः परत्रापि तेषु सत्स्वेवेति निर्णीयताम्। यादृशास्तु तेष्वसत्सु प्रतीतास्तादृशाः तदभावस्य गमकाः कथं न स्युः ? संशयितस्वभावास्तु तत्संशयहेतव इति युक्तं वक्तुम्।

आक्षेपकार कहता है कि इस ही कारणसे संशय हो जाओ, क्योंकि जब हम लोगोंके पास दूसरोंके प्रशम आदिको जाननेके लिए कोई निर्णीत उपाय नहीं है। शरीरकी चेष्टा, वचन बोलना आदि प्रशम आदिके होनेपर भी और न होनेपर भी एकसे होते हुए देखे जाते हैं। अतः "एकांतनिर्णयाद्वरं संशयः" इस नीतिके अनुसार संशय ही बना रहे। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि किसी स्थानपर किसी कालमें उन धर्मोंका निश्चय किये विना उस आक्षेपकको संशय हो जाना भी नहीं बनता है। जैसे कि ठूंठ और पुरुषका संशय उसी जीवको होगा जिसने कि पहिले कभी कहींपर ठूंठ और पुरुषका निर्णय कर लिया होगा। यदि आप बौद्ध यों कहें कि हमने सन्तानस्वरूप अपनी आत्मामें उन प्रशमादिकोंके साथ होनेवाले शरीरचेष्टा आदिकोंका निर्णय कर लिया है, उन धर्मोंके सद्भाव और असद्भावका दूसरी आत्माओंमें संशय कर लेते हैं, ऐसा कहनेपर तो हम स्याद्वाद सिद्धान्तियोंको यही कहना पडेगा कि जैसे जैसे कायव्यवहार, वचनव्यवहार, चेष्टा आदि विशेष ये प्रशम आदि गुणोंके विद्यमान होनेपर अपनी आत्मामें निर्णीत किये गये हैं तिन ही व्यवहारविशेषोंके सदृश दूसरी शरीरचेष्टा आदिकी विशेषतायें

अन्य आत्माओंमें भी उन प्रशम आदिकोंके होते सन्ते ही हो रही हैं, इस बातका भी निर्णय कर लो। और जैसी शरीरव्यवहार आदिकी विशेषतायें तो अपनी आत्मामें उन प्रशम आदिकोंके न होनेपर प्रमाणों द्वारा जान ली गयी हैं तैसी ही विशेषतायें दूसरी आत्माओंमें भी देखी जावेंगी तो वे उन प्रशम आदिकोंके अभावकी समझानेवाली क्यों न हो जावेंगी ?। तथा जो शरीरके व्यवहारोंकी या वचनोंकी विशेषतायें संशय पडे हुए स्वभावोंसे युक्त हैं यानी प्रशान्त या क्रोधी दोनों प्रकारके जीवोंमें पायी जाती हैं, वे भी प्रशम आदिके संशयादि करानेका कारण हो जावेंगी। संदिग्धविशेषताओंसे प्रशम आदिकोंका निर्णीत ज्ञान न हो पायेगा। सर्व ही सम्यग्दृष्टिओंको अवश्य जान लो, यह कोई अनिवार्य कार्य नहीं है। इस प्रकार युक्तियोंसे हम कह सकते हैं। भावार्थ—प्रशम आदिकोंके भाव और अभावको निर्णय करनेका उपाय तथा संशयका उपाय विद्यमान है।

नन्वेवं यथा सरागेषु तत्त्वार्थश्रद्धानं प्रशमादिभिरनुमीयते तथा वीतरागेष्वपि तत्तैः किं नानुमीयते ? इति चेन्न, तस्य स्वस्मिन्नात्मविशुद्धिमात्रत्वात् सकलमोहाभावे समारोपानवतारात् स्वसंवेदनादेव निश्चयोपपत्तेरनुमेयत्वाभावः। परत्र तु प्रशमादीनां तल्लिंगानां सतामपि निश्चयोपायानां कायादिव्यवहारविशेषाणामपि तदुपायानामभावात्।

यहां फिर शंका है कि इस प्रकार तो जैसे रागसहित सम्यग्दृष्टि जीवोंमें प्रशम आदि गुणोंके द्वारा तत्त्वार्थोंके श्रद्धानका अनुमान कर लिया जाता है, तैसे ही वीतरागसम्यग्दृष्टियोंमें भी वह सम्यग्दर्शन उन प्रशम आदिकोंके द्वारा क्यों नहीं अनुमित हो जाता है ? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि वह वीतरागजीवोंका तत्त्वार्थ–श्रद्धान तो अपनेमें केवल आत्म–विशुद्धिरूप है। छद्मस्थ जीवोंको आत्माकी विशुद्धियोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही निर्णय होना बनता है। सम्पूर्ण दर्शनमोहनीय कर्मके अभाव हो जानेपर ही उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनरूप विशुद्धिमें कोई संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, और अज्ञानरूप समारोपोंका अवतार नहीं है। संशय आदि तो मोहके उदय होनेपर हो सकते थे। मोहके अभावमें नहीं। अतः प्रत्यक्ष–गम्य हो जानेके कारण ही वीतराग सम्यक्त्वमें अनुमानसे जानागयापन नहीं है। वीतरागपुरुष अपने वीतराग-सम्यक्त्वको स्वसंवेदनसे जान लेते हैं। दूसरी आत्माओंमें रहनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शनको जाननेका तो हमारे पास कोई उपाय नहीं है। दूसरे वीतराग सम्यग्दृष्टियोंमें भले ही उस सम्यग्दर्शनके ज्ञापक लिंग माने गये प्रशम आदिक उपाय विद्यमान हैं और शरीर, वचन आदिकी चेष्टायें भी विद्यमान हैं, किन्तु फिर भी वे वीतराग सम्यक्त्वको निर्णय करानेवाले उपाय नहीं हैं। विशेषकर वीतराग सम्यक्त्वके होनेपर ही होनेवाली उन काय, वचन आदिकी चेष्टाओं और विशिष्ट प्रशम आदिकोंके भी जाननेका उपाय छद्मस्थ जीवोंके पास नहीं है, जो कि उस वीतराग सम्यक्त्वको जाननेके उपाय मान लिये गये हैं, जिससे कि दृष्टान्तमें व्याप्तिका ग्रहण होसके। अतः वीतराग सम्यक्त्वका स्वयंको

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है या वह केवलज्ञानके द्वारा जाना जाता है। दूसरेके वीतराग सम्यक्त्वका अनुमान नहीं हो सकता है।

कथमिदानीमप्रमत्तादिषु सूक्ष्मसांपरायान्तेषु सद्दर्शनं प्रशमादेरनुमातुं शक्यम्? तन्निर्णयोपायानां कायादिव्यवहारविशेषाणामभावादेव। न हि तेषां कश्चिद्व्यापारोऽस्ति वीतरागवत्, व्यापारे वा तेषामप्रमत्तत्वादिविरोधादिति कश्चित्। सोऽप्यभिहितानभिज्ञः, सर्वेषु सरागेषु सद्दर्शनं प्रशमादिभिरनुमेयं इत्यनभिधानात्। यथासंभवं सरागेषु वीतरागेषु च सद्दर्शनस्य तदनुमेयत्वमात्मविशुद्धिमात्रत्वं चेत्यभिहितत्वात्।

यहां कोई कहता है कि तो बताओ! इस समय सातवेंसे आदि लेकर दशवें सूक्ष्मसांपराय पर्यन्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शनका प्रशम आदिकसे कैसे अनुमान किया जासकता है? सरागसंयमके समान सरागसम्यग्दर्शन भी दशवें गुणस्थानतक पाया जाता है। सातवें सातिशय अप्रमत्तसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोंमें ध्यान अवस्था होजाती है। चलना, बोलना, मुखकी आकृति करना, शरीर चेष्टा करना आदि विशेष व्यवहारोंका वहां सर्वथा अभाव ही है, जो कि उस सम्यक्त्वका निर्णय करानेके उपाय बतलाये गये हैं। अप्रमत्त आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंके शरीर आदिका बहिरङ्गक्रियारूप कोई व्यापार नहीं होता है, जैसे कि ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवाले वीतराग जीवोंके कोई शरीरका व्यापार नहीं होता है। यदि अप्रमत्त आदिमें भी शरीर या वचनका व्यापार मानोगे तो उनको अप्रमत्तपनेसे आदि लेकर सूक्ष्मसांपरायपने पर्यन्तका विरोध हो जावेगा! इस कारण शरीरचेष्टा आदिके न होनेसे वहां प्रशम आदिकोंका अनुमान नहीं हो सकेगा, और प्रशम आदिकोंका अनुमान किये विना अप्रमत्त आदि जीवोंमें सम्यग्दर्शनका अनुमान नहीं किया जासकता है। यहांतक कोई कहरहा है। आचार्य कहते हैं कि वह भी हमारे कहे हुए अभिप्रायको ठीक नहीं समझता है। क्योंकि सम्पूर्ण सरागसम्यग्दृष्टि जीवोंमें सम्यग्दर्शनका प्रशम आदि हेतुओंके द्वारा अनुमान कर ही लिया जाता है, ऐसा नियम हमने नहीं कहा है, जैसे कि धूम हेतुसे सभी अग्नियां नहीं जान ली जाती हैं। किन्तु जहां जैसा सम्यग्दर्शनके जाननेका उपाय सम्भव है, उन सराग जीवोंमें और वीतराग पुरुषोंमें सम्यग्दर्शनका उन प्रशम आदिकोंसे अनुमेयपना और केवल आत्म-विशुद्धि रूपपना है, ऐसा हमने कहा है।

तत एव सयोगकेवलिनो वाग्व्यवहारविशेषदर्शनात् सूक्ष्माद्यर्थविज्ञानानुमानं न विरुध्यते।

इस ही कारणसे यानी यथासम्भवका अनुमान होना माननेपर आठवें, नौवें गुणस्थानके सम्यक्त्वका ज्ञान नहीं होपाता है, किन्तु तेरहवें गुणस्थानके केवलज्ञानका अनुमान हो जाता है। पूर्णज्ञानका अविनाभावी ज्ञापकहेतु होनेसे ही सयोगकेवली भगवान्के विशेष वचनव्यवहार देखनेसे सूक्ष्म, अन्तरित, दूरार्थ आदि और शेष स्थूल अर्थोंका विज्ञान है, ऐसा अनुमान करना भी विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात् सर्वभाषामय अर्धमागधी भाषा या सर्वजीवोंको कल्याण करानेवाले द्वादशांग ज्ञानको कहनेवाले विशिष्ट वचनोंके द्वारा भगवान्की सर्वज्ञताका अनुमान करलिया जाता है।

प्रधानस्य विवर्तोऽयं श्रद्धानाख्य इतीतरे ।
तदसत्पुंसि सम्यक्त्वभावासंगात्ततो परे ॥ १३ ॥

तत्त्वोंका श्रद्धान करना नामका यह भाव सत्त्व गुण, रजोगुण और तमो गुण इन तीन गुणोंकी साम्यअवस्थारूप प्रकृतिका परिणाम है, इस प्रकार अन्य सांख्यमती कह रहे हैं। सो उनका कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर उस प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न माने गये आत्मामें सम्यक्त्वका सद्भाव नहीं हो सकता है, अर्थात् आत्मामें सम्यक्त्वके अभावका प्रसंग हो जावेगा। प्रकृतिका बना हुआ श्रद्धान उससे सर्वथा भिन्न हो रहे आत्मामें सम्यग्दर्शन गुणको व्यवस्थापित नहीं कर सकता है।

न हि प्रधानस्य परिणामः श्रद्धानं ततोऽपरस्मिन् पुरुषे सम्यक्त्वमिति युक्तं लक्ष्यलक्षणयोर्भिन्नाश्रयत्वविरोधादग्न्युष्णत्ववत् ।

सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना है। यहांपर श्रद्धानको नियमसे प्रधानका परिणाम माना जावे और उस प्रधान (प्रकृति) से सर्वथा भिन्न कहे गये दूसरे तत्त्वे आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण माना जावे। इस प्रकारका कहना युक्तियोंसे सहित नहीं है। क्योंकि लक्ष्यवचन और लक्षणवचनोंके वाच्यार्थोंका सामानाधिकरण्य होता है। जैसे कि चेतन और आत्माका। तभी तो न्यायदीपिकामें नैयायिकके द्वारा लक्षणके लक्षणमें असाधारणधर्मके वचनका आग्रह करनेपर ग्रंथकारने सामानाधिकरण्यके न होनेका प्रसंग दिया है। लक्ष्य तो कहना ही है, उद्देश्य दलमें यदि लक्षण धर्म भी कहना आवश्यक पड गया तो लक्ष्य और लक्षणका शब्द सामानाधिकरण्य नहीं बन पायगा। नैयायिक कहते हैं कि असाधारणधर्मको बोलो, तब लक्षण होगा। आत्माका धर्म ज्ञान है और अग्निका उष्णता है। यदि ज्ञान कहेंगे तो " ज्ञानं आत्मा " कहना पडेगा, तब तो ज्ञान रहता है आत्मामें, और आत्मा शरीरमें रहता है, यह लक्ष्य और लक्षणमें व्यधिकरण दोष हुआ। जैनोंके सदृश कथञ्चित् अभेदको नैयायिक मानते नहीं हैं। यदि ज्ञानवान् आत्मा कहते हैं तो शब्दका या अर्थका सामानाधिकरण्य बन गया, किंतु असाधारण धर्मका कथन न हो सका, ज्ञानवान् तो धर्मी है धर्म नहीं। अतः असाधारण धर्मको लक्षण भले ही कहो, किंतु धर्मको बुलवानेका आग्रह न करो। ऐसे ही अग्निकी उष्णतापर भी लगा लेना। यों लक्ष्यधर्मी वचनका लक्षणधर्म कथनके साथ समानाधिकरणपना नहीं बननेसे नैयायिकके यहां असम्भव दोष आता है। लक्षणको कहनेका आग्रह ढीला भी करदिया जाय, तो भी दण्डादि लक्षणोंमें अव्याप्ति और लक्षणाभास माने गये अव्याप्तमें अतिव्याप्ति आ जावेगा। हां ! अनेकांत मतमें तो अभेददृष्टिसे अग्नि और उष्णताका एक ही अधिकरण हो जाता है, अन्य मतोंके अनुसार माना गया लक्ष्य कहींपर रहे और लक्षण कहीं अन्यत्र रहे, इस प्रकार लक्ष्य और लक्षणके भिन्न भिन्न अधिकरण होनेका विरोध है, जैसे कि जहां ही अग्निपना, वहीं उष्णपना है। तभी तो अग्नि उष्ण है ऐसी समानाधिकरणता होनेपर लक्ष्यलक्षणभाव बन जाता

है। श्रद्धानको प्रकृतिकी पर्याय कहना और सम्यग्दर्शनको आत्माका गुण कहनेमें वैयधिकरण्य दोष है। यहां तो वही किंवदन्ती चरितार्थ होती है कि " बाबा सोवें जा घरमें और पांव पसारे बा घर में "। इसलिये श्रद्धानको आत्माका ही गुण मानना चाहिये, प्रकृतिका नहीं।

प्रधानस्यैव सम्यक्त्वाच्चैतन्यं सम्यगिष्यते।
बुध्यध्यवसितार्थस्य पुंसा संचेतनाद्यदि ॥ १४ ॥
तदाहंकारसम्यक्त्वात् बुद्धेः सम्यक्त्वमस्तु ते।
अहंकारास्पदार्थस्य तथाप्यध्यवसानतः ॥ १५ ॥
मनः सम्यक्त्वतः सम्यगहंकारस्तथा न किम्।
मनःसंकल्पितार्थेषु तत्प्रवृत्तिप्रकल्पनात् ॥ १६ ॥
तथैवेन्द्रियसम्यक्त्वान्मनः सम्यगुपेयताम्।
इन्द्रियालोचितार्थेषु मनःसंकल्पनोदयात् ॥ १७ ॥
इन्द्रियाणि च सम्यञ्चि भवन्तु परतस्तव।
स्वाभिव्यञ्जकसम्यक्त्वादिभिः सम्यक्त्वतः किमु ॥ १८ ॥
अर्थस्वव्यञ्जकाधीनं मुख्यं सम्यक्त्वमिष्यते।
इन्द्रियादिषु तद्वत्स्यात् पुंसि तत्परमार्थतः ॥ १९ ॥

यहां कपिल मतानुयायी कहते हैं कि आत्माके वास्तविक स्वरूप शुद्ध चैतन्यमें समीचीनपना और मिथ्यापना कुछ नहीं है, किन्तु संसार अवस्थामें आत्माके साथ प्रकृतिका संसर्ग लगरहा है, अतः प्रकृतिके ही समीचीनपनेसे चैतन्य भी समीचीन मानलिया जाता है। जैसे कि डंक की चमकसे रत्नमें चमक आजाती मानी गयी है। बुद्धिके धर्मोका आत्मामें उपचार करनेका निमित्त यह है कि बुद्धि करके समीचीन रूपसे निश्चित करलिये गये अर्थका आत्माके द्वारा समीचीन चेतन (अनुभव) होजाता है। इस कारण पकृतिरूप बुद्धिकी ओरसे औपाधिक भाव आत्मामें आजाते हैं अर्थात् वैयधिकरण्य दोषके निवारणके लिये श्रद्धानके समान सम्यक्त्वको भी हम प्रधानका परिणाम मानते हैं। आचार्य समझाते हैं कि यदि सांख्य इस प्रकार कहेंगे उसपर हम आपादन करते हैं कि तब तो तुम्हारे मतमें बुद्धिका भी समीचीनपना उसकी गांठका न माना जावे, आपके मतानुसार माना गया बुद्धिके परिणाम अहंकारकी समीचीनतासे महत्तत्त्वरूप बुद्धिको समीचीनपना प्राप्त होजावेगा। क्योंकि जैसे बुद्धिसे समीचीन निर्णीत किये हुए अर्थकी संचेतना कहनेसे पुरुषके चैतन्यको सम्यक्त्व प्राप्त

होगया था, तैसे ही अहंकारके विषयभूत अर्थोंको भी बुद्धिके द्वारा निर्णीत होजानेके कारण बुद्धिको भी समीचीनता प्राप्त होजावेगी। बुद्धिमें गांठकी समीचीनता न मानी जाय। भावार्थ—मैं कर्त्ता हूं, मैं विद्वान् हूं, मैं सुखी हूं, इत्यादि अहङ्कारमें समीचीन रूपसे आरूढ हुए अर्थोंका बुद्धिके द्वारा निर्णय हुआ है, पुत्रने अपनी सम्पत्ति माताको सौंपदी और माताने भोक्ता पुरुषको देदी। तथा इसी प्रकार अहंकारके परिणामस्वरूप मनकी समीचीनतासे ही अहंकारका भी समीचीनपना औपाधिक भाव क्यों न मानलिया जावे, अहंकारकी गांठका समीचीनपना न होवे। क्योंकि मनके द्वारा संकल्प किये गये स्थानभूत अर्थोंमें ही उस अहंकारकी प्रवृत्ति होनेकी सांख्योंने बढिया कल्पना की है। भोजन करनेके लिये मैं मित्रके घरपर जाऊंगा, वहां दही होगा या गुड मिलेगा अथवा मोदक आदि बने होंगे, इस प्रकारका मनके द्वारा सङ्कल्प होनेपर ही मैं [illegible] जाऊंगा, मैं खाऊंगा, ऐसे अहंकारभाव उत्पन्न हुआ करते हैं तथा और भी सुनिये कि मनमें भी अपने घरका समीचीनपना न मानो, किन्तु मनसे अधिष्ठित मानी गयी पांच ज्ञानेन्द्रियोंकी समीचीनतासे मनमें औपाधिक समीचीनताको स्वीकार कर लो, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियोंसे समीचीन आलोचना किये गये पदार्थोंमें ही मनके द्वारा संकल्प होना उत्पन्न होता है। तैसे ही इन्द्रियोंके भी स्वयं अपना गांठका समीचीनपना मत मानो। तुम्हारे मतके अनुसार इन्द्रियोंको भी समीचीनपना दूसरे पदार्थोंसे आया हुआ क्यों न मान लिया जावे? क्योंकि हम कह देंगे कि अपने प्रगट करनेवाले कारणोंकी समीचीनता, निर्मलता, इन्द्रियवृत्ति, अदृष्ट, आदिके द्वारा इन्द्रियोंमें भी समीचीनता बाहरसे औपाधिक आ गयी है। ऐसा ही क्यों न माना जावे? क्योंकि इन्द्रियोंके प्रगट करनेवाले अर्थोंकी अपनी मुख्य समीचीनता आदिसे ही इन्द्रियोंमें समीचीनता आ जावेगी। आप सांख्योंने तो यह मार्ग पकड लिया है कि जबतक ऋण लेनेसे कार्य चले तब लौ घरका पैसा कौन व्यय करे। अपनेको दरिद्र ही पुकारना अच्छा है। इस प्रकार आपके द्वारा मानी हुयी तत्त्व-मालामें समीचीनताका निर्णय करानेवाला कोई उपाय न रहा। यदि आप इन्द्रिय आदि यानी मन, अहंकार, बुद्धि और प्रधान, इनमें अपने व्यञ्जक अर्थोंसे समीचीनताको न लाकर अपनी अपनी गांठकी स्वाधीन मुख्य समीचीनताको मानोगे, अथवा पूर्व पूर्वके प्रकृत तत्त्वोंमें उत्तरवर्ती विकृत तत्त्वोंसे समीचीनपनेको न लाकर स्वयं अपना ही घरका सम्यक्पना मानोगे तो उन ही प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन, ज्ञानेन्द्रियां और अर्थोंके समान आत्मामें भी वास्तविकरूपसे गांठका वह समीचीनपना माना जावे। अतः सिद्ध हुआ कि आत्माका सम्यक्त्व गुण स्वयं निजका है। जड प्रकृतिकी ओरसे आया हुआ नहीं है।

एवं प्रधानसम्यक्त्वाच्चैतन्यसम्यक्त्वेऽभ्युपगम्यमानेऽतिप्रसङ्गनमुक्तम्। तत्त्वतस्तु—

इस प्रकार सांख्योंके विचारानुसार प्रधानके समीचीनपनेसे आत्म-संबंधी चैतन्यको समीचीनपना स्वीकार करनेपर अतिप्रसंग दोष आवेगा। ऐसा हम जैन विद्वान् सांख्योंके प्रति आपादन करना कह चुके हैं। वास्तविक रूपसे देखा जावे तब तो यह बात है कि—

न च प्रधानधर्मत्वं श्रद्धानस्य चिदात्मनः ।
चैतन्यस्यैव संसिध्येदन्यथा स्याद्विपर्ययः ॥ २० ॥

चैतन्य आत्मक (स्वरूप) श्रद्धानको प्रकृतिका परिणामपना सिद्ध नहीं होता है । किंतु चेतन-स्वरूप आत्माका ही परिणाम श्रद्धान है, यह बात भले प्रकार सिद्ध हो जाती है । स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे श्रद्धान करनेको चेतनपना सिद्ध हो रहा है । यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारोंसे प्रमाणविरुद्ध बातोंको मानोगे तो विपर्यय भी क्यों न हो जावे । अर्थात् प्रकृतिका परिणाम चैतन्य हो जावो और आत्माका परिणाम ज्ञान हो जावो । अतः " विनिगमनाविरह " हो जानेके कारण आपका मन्तव्य सिद्ध नहीं होगा, किंतु श्रद्धानको चेतन आत्माका ही स्वभाव कहना प्रमाण-सिद्ध हो चुका है । आत्माका चैतन्य गुण प्रगट है, साकार है, वह संपूर्ण गुणोंमें अन्वितरूपसे रहता है । अतः श्रद्धान गुणपर भी चैतन्यका लेप (चाशनी) चढा हुआ है । आत्माके अभिन्न संपूर्ण गुणोंका एक दूसरेमें प्रतिफलन हो जाता है अर्थात् परस्परमें बाईना बट जाना है । अस्तित्व गुणसे द्रव्यत्व गुणका सद्भाव है और द्रव्यत्वगुण अनुसार अस्तित्व गुणका भी प्रतिक्षण द्रवण होता रहता है ।

चिदात्मकत्वमसिद्धं श्रद्धानस्येति चेन्न, तस्य स्वसंवेदनतः प्रसिद्धेर्ज्ञानवत्, साधितं ज्ञानादीनां चेतनात्मकत्वं पुरस्तात् ।

श्रद्धानको चैतन्य स्वरूपपना असिद्ध है, इस प्रकार कापिलोंका कहना तो ठीक नहीं है । क्यों कि उस श्रद्धानको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे चेतनात्मकपनेकी प्रसिद्धि हो रही है, जैसे कि ज्ञान चेतनस्वरूप है । आत्माके ज्ञान, श्रद्धन, दर्शन, आदिका चेतनस्वरूपपना हम पहिले प्रकरणमें प्रसिद्ध कर चुके हैं । आत्माके संपूर्ण गुणोंमें चैतन्यसे अन्वितपना पाया जाता है । अखण्ड आत्माके गुणोंका परस्परमें तदात्मक एक रस हो रहा है ।

न श्रद्धत्ते प्रधानं वा जडत्वात्कलशादिवत् ।
प्रतीत्याश्रयणे त्वात्मा श्रद्धातास्तु निराकुलम् ॥ २१ ॥

अथवा सांख्य मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य महाराज अनुमान करते हैं कि सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रधान तो [पक्ष] श्रद्धान नहीं करता है [साध्यदल] क्योंकि वह स्वभाव से जड है [हेतु] जैसे कि घट, पट आदिक अर्थात् घट भींत आदिक पदार्थ अज्ञानस्वरूप जड होनेके कारण जीव, अजीव आदिक तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं करते हैं [अन्वय दृष्टान्त] सांख्योंका माना गया प्रधान भी अचेतन होनेके कारण जड है [उपनय] अतः वह पदार्थोंका श्रद्धान नहीं कर सकता है (निगमन) यदि लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंका अवलम्ब लोगे, तब तो जीवात्मा ही

श्रद्धान करनेवाला सिद्ध होगा। अतः आकुलतारहित होकर निर्दोषरूपसे श्रध्दानको आत्माका ही गुण मानलो। यहां वहां व्यर्थ भटकनेसे कोई लाभ नहीं।

न हि श्रद्धाताहमिति प्रतीतिरचेतनस्य प्रधानस्य जातुचित्सम्भाव्यते कलशादिवत्। यतोयमात्मैव श्रद्धाता निराकुलं न स्यात्।

मैं श्रद्धान करनेवाला हूं इस प्रकारकी प्रतीति होना अचेतन प्रधानके कभी भी सम्भावित नहीं है। जैसे कि घट आदिक जड पदार्थोंके श्रद्धान करना नहीं सम्भवता है, जिससे कि यह आत्मा ही श्रद्धान करनेवाला निर्द्वन्दरूपसे सिद्ध न हो सके। भावार्थ—आत्मा ही श्रद्धान करनेवाला है, त्रिगुणात्मक प्रकृति नहीं।

भ्रान्तेयमात्मनि प्रतीतिरिति चेन्न, बाधकाभावात्। नात्मधर्मः श्रद्धानं भङ्गुरत्वाद्घटवदित्यपि न तद्बाधकं ज्ञानेन व्यभिचारित्वात्। न च ज्ञानस्यानात्मधर्मत्वं युक्तमात्मधर्मत्वेन प्रसाधितत्वात्। ततः सूक्तमात्मस्वरूपं दर्शनमोहरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनस्य लक्षणमिति।

आत्मामें श्रद्धान गुणको सिद्ध करानेवाली यह पूर्वोक्तप्रतीति भ्रमरूप है, ऐसा तो नहीं कहना। क्योंकि जिस बुद्धिके उत्तरकालमें बाधक प्रमाण उत्थित हो जाता है वह भ्रांत मानी जाती है। किंतु आत्मामें श्रध्दानको सिद्ध करनेवाली प्रतीतिका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। बाधकोंके असम्भव होनेसे प्रमाणताकी प्रतीति हो जाती है। यहांपर सांख्य अपने मतकी पुष्टि करनेके लिए एक अनुमान बोलते हैं कि श्रद्धान करना (पक्ष) आत्माका धर्म नहीं है (साध्य) क्योंकि तत्त्वोंका श्रद्धान करना नाश होनेवाला भाव है (हेतु) जैसे कि घट उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, अतः आत्माका स्वभाव नहीं है, तैसे ही कूटस्थनित्य माने गये आत्माका स्वभाव नष्ट होनेवाला श्रद्धान नहीं हो सकता है। नित्य वस्तुके स्वभाव भी नित्य ही होते हैं। यों यह सांख्योंका अनुमान भी उस प्रतीतिका बाधक नहीं है, क्योंकि अनुमानमें दिये गये भङ्गुरत्व हेतुका ज्ञान करके व्यभिचार होता है अर्थात् विनाशीकपना ज्ञानमें है, वहां आत्माका धर्म न होना रूप साध्य नहीं है। कारण कि ज्ञान आत्माका स्वाभाविक धर्म है। यदि कापिल यों कहें कि ज्ञान भी आत्मासे भिन्न कही गयी प्रकृतिका धर्म है। आत्माका नहीं, सो यह कहना युक्तियोंसे शून्य है, क्योंकि ज्ञानको आत्माके धर्मपना स्वरूपकरके हम पहिले भले प्रकार सिद्ध कर चुके हैं। इस कारण हमने यह बहुत अच्छा कहा था कि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे रहित हुए आत्माका स्वभाव, तत्त्वार्थोंका श्रध्दान करना है और वह सम्यग्दर्शनका लक्षण है। यहांतक इस प्रकरणको समाप्त कर दिया है।

—=❀०❀=—

द्वितीय सूत्रका सारांश

इस द्वितीय सूत्रका संक्षेपसे विवरण यों है कि निरुक्तिसे सम्यग्दर्शनका अर्थ भले प्रकार देखना होता था, किन्तु वह इष्ट नहीं है। अतः सम्यग्दर्शनके स्वतन्त्र लक्षणको मूल सूत्रकारने कण्ठोक्त कहा, जिससे कि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन होसकता है। यौगिकसे रूढि और रूढिसे पारिभाषिक अर्थ बलवान् होता है। इस श्रद्धानके होते हुए ही भगवान् अर्हन्त देवका दर्शन करना भी मोक्ष-मार्गमें उपयोगी होजाता है। अन्यथा नहीं। सबके अर्थरूप और अनर्थरूपपने इन दो एकान्तोंका खण्डन करते हुए तथा काल्पित अर्थके श्रद्धानका वारण करते हुए अर्थ पदकी सार्थकता दिखलायी है। धन प्रयोजन, निवृत्ति आदिक रूप अर्थोंके श्रद्धान करनेसे सम्यग्दर्शन नहीं होपाता है, वास्तवमें विचारा जाय तो वस्तुरूप, पदार्थ है भी नहीं, गौ भैंस आदि भी धन हैं। किन्तु साधुका धन निर्ग्रन्थता और तपस्या है। इष्ट अनिष्ट व्यवस्था कल्पित है। कल्पित व्यवहारोंसे माने गये वस्तुके सद्भूत अंश उसके एक देश हैं। किन्तु पूर्ण वस्तुरूप तत्त्वको जाननेपर जीव, पुद्गलका भेद-विज्ञान करनेवाला सम्यग्दृष्टि होता है अकेले अर्थ और अकेले तत्त्वका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन नहीं है। जिन वास्तविक स्वभावों करके पदार्थ व्यवस्थित होरहा है उन्हीं स्वभावों करके श्रद्धान किये जानेपर वह तत्त्वार्थ है। एकान्तवादियोंके द्वारा माना गया अर्थ मिथ्या है। सम्यक् पदके कहनेसे मूढश्रद्धान और संदिग्ध तथा विपरीत श्रद्धानोंका वारण करदिया है। श्रद्धान और ज्ञानमें विशेष अन्तर है। ये दोनों स्वतन्त्र गुण हैं। ज्ञान और चारित्रके मूललक्षण सूत्रोंकी आवश्यकता नहीं है, निरुक्ति, कारण, विधान, आदिसे ही उनका लक्षण टपक पडता है। इसके आगे श्रद्धानको विश्वासरूप इच्छा माननेवालोंका खण्डन किया है कि यों तो इच्छारहित निर्ग्रन्थ मुनियों और पूज्य अर्हन्तों तथा सिद्धोंके सम्यग्दर्शनके अभाव होजानेसे मोक्षका भी अभाव होजावेगा, यह प्रसङ्ग इष्ट नहीं है। श्रद्धानको आत्माका धर्म माननेपर अल्प, बहुत्व आदिकी व्यवस्था बन जाती है। सम्यग्दर्शन आत्माका ही गुण है। जीव और कर्म इन दोनों द्रव्योंका एक गुण नहीं होसकता है तथा कर्मोंके गुणसे कर्मोंका नाश भी नहीं होसकता है। जो जिसका गुण होता है वह उसकी रक्षा ही करता है पराधीनताको नहीं।

सम्यग्दर्शनके सराग और वीतराग दो भेद हैं। सरागसम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे दसवें गुणस्थानतक और वीतराग सम्यक्त्व सिद्ध अवस्थातक पाया जाता है। सराग सम्यक्त्वका प्रशम आदि चार गुणोंसे अनुमान करलिया जाता है। प्रशम आदि चार गुण सम्यग्दृष्टियोंके ही हो सकते हैं। श्री पञ्चाध्यायीके अनुसार अभव्योंमें या भव्योंके भी पहिले, दूसरे, तीसरे गुणस्थानोंमें प्रशम

आदि गुणोंको स्वीकार करना आचार्य महाराजको इष्ट नहीं है। इस सिद्धान्तको बहुत अच्छे लक्षणों करके श्रीविद्यानन्द आचार्यने पुष्ट किया है जिसका कि आनन्द ग्रन्थराजके अध्ययनसे प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शनका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे पूर्णतया अनुभव नहीं होपाता है। हां, उसके प्रशम आदि कार्योंका अनुभव होता रहता है। सम्यग्दृष्टि जीवके प्रशम आदिकगुण अवश्य पाये जावेंगे, दोनोंमें समव्याप्ति है। पञ्चाध्यायीकारके अनुसार मानी गयी विषमव्याप्ति नहीं स्वीकार की गयी है। प्रशम आदिकोंके निर्णयका उपाय भी भले प्रकार बतला दिया है। सर्व ही सराग सम्यग्दर्शनोंका अनुमान हो ही जावे यह नियम नहीं है, वीतराग सम्यग्दर्शनका ज्ञान कर लेना तो अतीव दुस्साध्य है। प्रत्यक्षदर्शी उसको जानते हैं। श्रद्धान जड पदार्थोंका गुण नहीं है। किन्तु ज्ञानके समान चेतनात्मक होनेसे आत्माका स्वभाव सम्यग्दर्शन है। आत्मद्रव्य नित्य है, किन्तु उसके सभी परिणाम उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे युक्त हैं। श्रद्धान, सुख, ज्ञान, चारित्र आदि ये सब आत्माके सहभावी और क्रमभावी अंश हैं। कालत्रयवर्ती नित्य गुणोंको सहभावी अंश (पर्याय) कहते हैं और ऊर्ध्वांश कल्पनारूप स्वभावोंको क्रमभावी अंश (पर्याय) कहते हैं। ये दोनों पर्यायार्थिक नयके विषय हैं।

अनन्तभवसन्तानध्वांतनिर्नाशने पटुः।
सम्यग्दर्शनभास्वान्नः पुनीतात्प्रशमोत्करैः॥

अब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कारणोंको कहनेवाले सूत्रका अवतरण उठाते हैं—

न सम्यग्दर्शनं नित्यं नापि तन्नित्यहेतुकम्।
नाहेतुकमिति प्राह द्विधा तज्जन्मकारणम्॥

सम्यग्दर्शन नित्य नहीं है, क्योंकि संसारी जीवोंके किसी किसी विशेष कालमें उत्पन्न होता है। और उस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न करानेवाले कारण भी नित्य नहीं हैं। क्योंकि कभी कभी होनेवाले काललब्धि, उपशम आदि कारणोंसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तथा सम्यग्दर्शन गुण अपने उत्पादक कारणोंसे रहित भी नहीं है। क्योंकि जो सत् हेतुओंसे रहित होता है, वह अनादिसे अनंततक रहनेवाला नित्य हो जाता है, किंतु संसारी जीवोंके विशेष समयमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। तिनमें प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर कुछ कालके पश्चात् नष्ट हो जाते हैं और क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञानी या श्रुतकेवली मुनिके निकट उत्पन्न होकर अनंतकालतक ठहरता है। अतः सम्यग्दर्शन हेतुओंसे रहित नहीं है, किंतु हेतुमान् है। इस सिद्धांतको पुष्ट करनेके लिए ही सूत्रकार उमास्वामी महाराज उस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कारणोंको दो प्रकाररूपसे अग्रिम सूत्र द्वारा अच्छीतरह स्पष्ट कहते हैं—सुनिये।

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

वह प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन तो परोपदेशके विना अन्य अभ्यन्तर और बहिरंग कारणोंका समुदायरूप स्वभावसे अथवा श्रेष्ठ आगमके आश्रित होरहे परोपदेशसे उत्पन्न हुए अधिगमरूप ज्ञानसे उत्पन्न होता है।

उत्पद्यत इति क्रियाध्याहारान्न नित्यं सम्यग्दर्शनं ज्ञायत इति । नोत्पद्यत इति क्रियाध्याहारान्नित्यं तदिति चेत्, द्रव्यतः पर्यायतो वा ? द्रव्यतश्चेत् सिध्दसाध्यता । पर्यायतस्तु तस्य नित्यत्वे सततसंवेदनप्रसङ्गः ।

मूलसूत्रमें पञ्चमी विभक्तिवाले दो पद कहे गये हैं, इस कारण उत्पन्न हो जाता है ऐसी क्रियाका अध्याहार करलिया जाता है। जो पद सूत्रोंमें नहीं होते हैं वे दूसरे सूत्रोंसे भी ले लिये जाते हैं। और अस्ति (है), भवति (होता है), उत्पद्यते (उपजता है) वर्तते (वर्ते है), आदि क्रियायें किसी भी आगे पीछेके सूत्रोंमें नहीं मिलती हैं, उन गम्यमान क्रियाओंका योग्यता और तात्पर्यके बलसे शाब्दबोध करानेके लिये अध्याहार करलिया जाता है। प्रकृतमें उपयोगी होरहे शाब्दबोधके लिये गम्यमान क्रियाओंका और पदोंका बाहिरसे आयोजन करलेना अध्याहार कहलाता है। जब कि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें निसर्ग और अधिगम ये दो कारण बतलाये जारहे हैं, ऐसी दशामें सम्यग्दर्शनका नित्यपना नहीं जाना जासकता है। यहां कोई शंका करता है कि जैसे आपने " उत्पद्यते " क्रियाका अध्याहार किया है, उसीके समान यदि " नोत्पद्यते " यानी सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दोनों कारणोंसे उत्पन्न नहीं होता है, हमारे द्वारा ऐसी क्रियाका अध्याहार करनेपर तो वह सम्यग्दर्शन नित्य हो जावेगा। आपकी " उत्पद्यते " क्रियाका अध्याहार तो किया जावे, और हमारी " नोत्पद्यते " क्रियाका अध्याहार न किया जावे, इसका नियामक आप जैनोंके पास कुछ नहीं है। ऐसा कटाक्ष करनेपर तो सम्यग्दर्शनको नित्य माननेवाले वादीसे हम जैन पूंछते हैं कि आप सम्यग्दर्शनको द्रव्यरूपसे नित्य कहते हो अथवा पर्यायरूपसे ? बताओ। यदि द्रव्यदृष्टिसे सम्यग्दर्शनको नित्य कहोगे तब तो हमको भी इष्ट है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनभाव जिस अखण्ड द्रव्यका अंश है वह आत्मद्रव्य नित्य है। अंशीसे अंश अभिन्न है, इसलिये सम्यग्दर्शन भी नित्य है, ऐसा माननेपर आपके ऊपर सिध्दसाधन दोष है। क्योंकि जिस सिद्धान्तको हम मानरहे हैं उसीको पुष्ट करनेसे या उसीके अनुरूप कटाक्ष करनेसे क्या लाभ ? और दूसरे पक्षके अनुसार यदि पर्यायार्थिक नयसे उस सम्यग्दर्शनको नित्य मानोगे तब तो सदाकाल ही सम्यग्दर्शनके संवेदन होते रहनेका प्रसंग होगा, क्योंकि आपके मतानुसार सम्यग्दर्शन पर्याय सर्वदा विद्यमान है। किन्तु उस सम्यग्दर्शन पर्यायका सर्वदा संवेदन तो होता नहीं है। अतः सम्यग्दर्शनपर्यायको नित्य नहीं मानना चाहिये ।

नित्यं तदनन्तत्वाज्जीवद्रव्यवदिति चेत् न, केवलज्ञानादिभिर्व्यभिचारात्। तेषामपि पक्षीकरणे मोक्षस्य नित्यत्वप्रसक्तेः क संसारानुभवः ?।

फिर भी शंकाकार यदि वह सम्यग्दर्शन (पक्ष) नित्य है (साध्य) क्योंकि अनन्त काल तक विद्यमान रहता है। (हेतु) जैसे कि जीवद्रव्य (अन्वयदृष्टान्त), इस अनुमानसे सम्यग्दर्शनको नित्य सिद्ध करेगा, सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान, अनन्तसुख, सिद्धत्व, आदि स्वभावों करके व्यभिचार हो जावेगा। ये सब उत्पन्न हुए पीछे अनन्तकालतक आत्मामें विद्यमान रहते हैं। किन्तु अनादि कालसे आये हुए नहीं है। अतः नित्य नहीं माने गये हैं। यदि शंकाकार उन केवलज्ञान आदि क्षायिक भावोंको भी पक्षकोटिमें करेंगे अर्थात् उनको भी नित्यपना सिद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे तो मोक्षको भी नित्यपनेका प्रसंग होजावेगा। जो अनादिसे अनन्तकालतक उन्हीं भावोंसे बना रहता है उसको नित्य कहते हैं, जब कि केवलज्ञान आदि भाव जीवके अनादिसे अनन्तकालतक रहेंगे तो ऐसी दशामें राग, द्वेष, अज्ञान, दुःखरूप संसारका अनुभव करना कहां रहा ? सभी अनादिकालसे मुक्त होचुके व बैठेंगे।

न च मोक्षकारणस्य सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकस्यानित्यत्वेऽपि मोक्षस्यानित्यत्वमुपपद्यते, मोक्षस्यानन्तत्वेऽपि च सादित्वे सम्यक्त्वादीनामनन्तत्वेऽपि सादित्वं कथं न भवेत् ? ततो नोत्पद्यत इति क्रियाध्याहारविरोधः।

मोक्षके कारण माने गये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों पर्यायोंके तदात्मक स्वभावको अनित्यपना होते हुए भी मोक्षको अनित्यपना नहीं बनता है। अर्थात् मोक्ष अनंतकाल तक रहेगी। क्योंकि आत्माका परद्रव्यसे सम्बन्ध करानेवाले मिथ्यादर्शन आदि हेतुओंका मूलसहित ध्वंस हो गया है। तथा मोक्षके अनंतकालतक विद्यमान रहते हुए भी मोक्षको सादिपना जैसे अविरुद्ध है वैसे ही सम्यग्दर्शन आदिकोंको क्षायिक होनेके कारण अनंतकालतक ठहरते हुए भी सादिपना कैसे न होगा ?। भावार्थ—सादि होते हुए भी सम्यग्दर्शन और मोक्ष अनंतकालतक विद्यमान रहते हैं। अतः सम्यग्दर्शनको नित्य नहीं मानना चाहिए। किंतु वह अपने कारणोंसे उत्पन्न होता है। इस कारण " नोत्पद्यते " इस क्रियाके अध्याहार करनेका विरोध है। सम्यग्दर्शन, चेतना और चारित्रगुण नित्य हैं। किंतु इनके सम्यक्त्व; केवलज्ञान, यथाख्यातचारित्र ये परिणाम अनित्य हैं। इनका सदृश परिणाम एकसा अनंतकालतक होता रहेगा, यों मोक्ष अवस्था या सिद्धपर्याय भी सादि अनन्त है।

एतेनाहेतुकं सद्दर्शनमिति निरस्तम्। नित्यहेतुकं तदित्यप्ययुक्तं, मिथ्यादर्शनस्यास्वसद्भावप्रसङ्गात् तत्कारणस्य सद्दर्शनकारणे विरोधिनि सर्वदा सति सम्भवादनुपपत्तेः, येन च तन्नित्यं नापि नित्यहेतुकं नाहेतुकम्।

इस पूर्वोक्त कथनसे सम्यग्दर्शनको हेतुरहितनेपका भी खण्डन कर दिया गया, समझ लेना चाहिए। जो वादी सम्यग्दर्शनको नित्य मान रहा था, वह वादी सम्यग्दर्शनको उत्पादक हेतुओंसे रहित मानता है जब कि वैशेषिकोंके माने गये ध्वंसके समान हम मोक्षको और क्षायिक सम्यग्दर्शनको सादि और अनंत मानते हैं, ऐसी दशामें सम्यग्दर्शनको हेतुरहित सत्पदार्थ नहीं मानना चाहिए, जो सत् होकर अकारणवान् होगा, वह नित्य होगा, किंतु जो कारणवान् है वह नित्य नहीं। और उस सम्यग्दर्शनका कारण नित्य ही है यह कहना भी युक्तियोंसे शून्य है। क्योंकि ऐसा माननेपर मिथ्यादर्शनका आत्मामें सद्भाव न रह सकेगा यह अनिष्ट प्रसंग आता है। जब कि उस मिथ्यादर्शनके कारण कहे गये मिथ्यात्व कर्मका विरोधी हो रहे सम्यग्दर्शनके उपशम आदि कारण सर्वदा आत्मामें विद्यमान हैं तो ऐसी दशामें मिथ्यादर्शनके उत्पन्न होनेका अवसर ही नहीं प्राप्त होगा, जैसे कि अग्निके होनेपर शीत-स्पर्शका सम्भव नहीं है। अतः विद्यमान माने गये मिथ्यादर्शनके सद्भावकी सिद्धि न हो सकनेके कारण सम्यग्दर्शन नित्य हेतुवाला नहीं है। जिससे कि वह सम्यग्दर्शन नित्य हो सके, अर्थात् मिथ्यादर्शनका सद्भाव भी संसारी जीवोंमें पाया जाता है। इससे सिद्ध है कि वह सम्यग्दर्शन नित्य नहीं है। और सम्यग्दर्शनके कारण भी नित्य नहीं हैं। तथा कभी कभी हेतुओंसे उत्पन्न हुआ वह सम्यग्दर्शन निर्हेतुक भी नहीं है। तभी तो आचार्य महाराजने निसर्ग और अधिगमसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना बताया है। जिस कारणसे कि सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं है—(इस वाक्यका अन्वय आगेकी कारिकामें जोड लेना)

तेन नानादिता तस्य सर्वदोत्पत्तिरेव वा ।
नित्यं तत्सत्त्वसम्बद्धात्प्रसज्येताविशेषतः ॥ १ ॥

तिस कारणसे उस सम्यग्दर्शनको अनादिपनेका प्रसंग नहीं होता है। क्योंकि एकान्त रूपसे हम सम्यग्दर्शनको अनाद्यनन्तरूप नित्य नहीं मानते हैं। और उस सम्यग्दर्शनकी सब कालोंमें उत्पत्ति ही होते रहनेका भी प्रसंग नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके कारणोंका हम नित्य विद्यमान रहना नहीं मानते हैं, यों सम्यग्दर्शन नित्यहेतुक नहीं है। कारण कि काललब्धि, अधःकरण, प्रतिपक्षी कर्मोंका उपशम, आदि कारणोंके मिलनेपर वह सम्यग्दर्शन कभी कभी उत्पन्न होता है। सर्वदा उत्पन्न नहीं हो पाता है। तथा अनेक कालोंमें संसारी आत्माओंके मिथ्यादर्शनके विद्यमान होनेका सम्बन्ध हो रहा है। अतः सम्यग्दर्शनके नित्यपनेका भी प्रसङ्ग नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनको हम अहेतुक नहीं मानते हैं। अथवा आत्मामें उस सम्यग्दर्शनकी सत्ताका सम्बन्ध सहितपना होनेके कारण सामान्यरूपसे नित्यपनेका प्रसंग दिया जा सकता था। किन्तु सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मामें सर्वदा सम्यग्दर्शन विद्यमान नहीं माना है। जब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होनेके कारण मिलेंगे

तभी सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा, आगे पीछे नहीं। अन्य घट, पट, मिथ्यादर्शन आदि कार्योंसे सम्यग्दर्शनमें कार्यपनेकी कोई विशेषता नहीं है अर्थात् जैसे कि वे घट, पट आदिक नित्य, नित्यहेतुक, या अहेतुक नहीं हैं तैसे ही सम्यग्दर्शन भी ऐसा नहीं है। इस प्रकार नित्यपना, नित्यहेतुकपना और अहेतुकपना न माननेके कारण सम्यग्दर्शनको अनादिता, सर्वदा उत्पत्ति और नित्यसम्बन्धीपनेका प्रसंग नहीं हो सकता है।

ननु च मिथ्यदर्शनस्य नित्यत्वाभावेऽपि नानादित्वव्यवच्छेदो दृष्ट इति चेन्न, तस्यानादिकारणत्वात्। न च तत्कारणस्यानादित्वान्नित्यत्वप्रसक्तिः सन्तानापेक्षयानादित्ववचनात् पर्यायापेक्षया तस्यापि सादित्वात्, तस्यानाद्यनन्तत्वे वा सर्वदा मोक्षस्याभावापत्तेः।

यहां आक्षेपपूर्वक शंका है कि जैसे मिथ्यादर्शनको नित्यपना न होते हुए भी अनादिपनेका निराकरण होना नहीं देखा गया है अर्थात् मिथ्यादर्शन अनादिसे चला आ रहा है और नित्य नहीं है। तैसे ही नित्यपना न होते हुए भी सम्यग्दर्शनकी अनादिताका खण्डन नहीं हो सकता है, फिर आपने कारिकामें सम्यग्दर्शनको नित्यपना न होनेके कारण अनादिता नहीं है, यह कैसे कहा है? बताओ। हम तो कहते हैं कि नित्य न होते हुए भी मिथ्यादर्शनके समान सम्यग्दर्शनको भी अनादि कालसे आया हुआ मान लो। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि व्यक्तिरूपसे मिथ्यादर्शन अनादिकालका नहीं है, किंतु उस मिथ्यादर्शनका कारण मिथ्यात्व कर्म अनादिकालसे प्रवाहित होकर चला आ रहा है। अतः मिथ्यादर्शनको अनादिपना कहना ठीक नहीं है। हां, वह मिथ्यादर्शन धाराप्रवाहरूपसे अनादिकारणवाला है। स्वयं अनादि नहीं। अतः हम मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन दोनोंको भी नित्यपना न होनेके कारण अनादिपनेका निराकरण कर सकते हैं। यदि कोई यों कहे कि जब उस मिथ्यादर्शनका कारण अनादिकालसे चला आ रहा है तब तो मिथ्यादर्शनको नित्यपना प्राप्त हो जावेगा अर्थात् मिथ्यादर्शन अनादिपनेके साथ साथ नित्य भी हो जावेगा, जो कि मिथ्यादर्शनका नित्यपना हम तुम दोनोंको इष्ट नहीं है सो यह प्रसंग देना ठीक नहीं है। क्योंकि संतान (धाराप्रवाह) की अपेक्षासे मिथ्यात्वकर्मको अनादिपना हमने कहा है। पर्यायकी अपेक्षासे तो उन कर्मोंको और कर्मोंसे जनित भावोंको भी हम सादि मानते हैं। जैसे कि भारतवर्षमें अनादिसे अनंतकालतक मनुष्य पाये जाते हैं यह कथन संतान प्रतिसंतानकी अपेक्षासे है, किंतु एक विवक्षित मनुष्य तो कुछ वर्षोंसे अधिक जीवित नहीं रह सकता है, तैसे ही एक बारका उपार्जित किया हुआ मिथ्यात्वद्रव्य अधिकसे अधिक सत्तर कोटाकोटी सागरतक स्थित रहता है, फिर भी इन कर्मोंका प्रवाह (सिलसिला) अनादि कालसे चला आया है। अतः सिद्ध हुआ कि मिथ्यादर्शन नित्य नहीं है। इस कारण अनादि भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि उस मिथ्यादर्शनको अनादिसे अनंतकालतक विद्यमान मानोगे तो सदा ही मोक्ष न होनेका आपादन हो जावेगा, यानी सर्वदा मिथ्यादर्शनके विद्यमान होनेपर मोक्ष नहीं हो सकती है। यहांतक सम्यग्दर्श-

नको नित्यपना न होनेके कारण अनादिताका निराकरण सिद्ध कर दिया है। कारिकाके प्रथम पादका विवरण हो चुका।

नित्यहेतुकत्वाभावे सर्वदोत्पत्तिव्यवच्छेदोनुपपन्नः केषाञ्चित्संसारस्य तादृशत्वेपि सर्वदोत्पत्तिदर्शनादिति चेन्न, तस्य नित्यहेतुसन्तानत्वात्।

अब सम्यग्दर्शनके नित्यहेतुकपनेके खण्डनार्थ विचार चलाते हैं। तहां शंकाकारकी ओरसे पूर्वपक्ष उठाया जाता है कि आप जैनोंने कारिकाके द्वितीयपादमें सम्यग्दर्शनको नित्यहेतुकपना न मानते हुए यह कहा है कि यदि सम्यग्दर्शनका हेतु (कारण) नित्य माना जावेगा तो उस सम्यग्दर्शनकी सर्वदा उत्पत्ति होती रहेगी। किंतु सम्यग्दर्शनका हेतु नित्य नहीं है। अतः सर्वदा उत्पत्ति ही होते रहनेका प्रसंग नहीं होता है, यह आप जैनोंका कहना हमको अच्छा नहीं लगा। क्योंकि सम्यग्दर्शनको नित्यहेतुकपना (नित्य विद्यमान रहता है ज्ञापक हेतु जिसका, इस बहुव्रीहि समासमें " कप् " प्रत्यय किया है) न माननेपर आपका इष्ट किया गया सर्वदा उत्पत्तिका व्यवच्छेद (निषेध करना) सिद्ध नहीं हो पाता है, कारण कि जो जो नित्यहेतुक नहीं हैं वे वे सर्वदा उत्पत्तिवाले नहीं हैं, इस व्याप्तिमें व्यभिचार दोष है। देखिये, किन्हीं अभव्य जीवोंके संसारको नित्यहेतुकपना नहीं है। तैसा होते हुए भी उनके संसारकी सर्वदा उत्पत्ति होना देखा जाता है ग्रंथकार उत्तरपक्ष बोलते हैं कि शंकाकारका ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन जीवोंके संसारके हेतुकी नित्यरूपसे संतान बनी रहती है। अर्थात् संतानरूपसे नित्यहेतुकपना होते हुए ही संसारकी सर्वदा उत्पत्ति हो रही है। उत्पत्तिका विरोध नहीं होने पाता है। अतः हम जैनोंने यह ठीक कहा था कि नित्यहेतुकपना न होनेके कारण ही सम्यग्दर्शनकी सर्वदा उत्पत्तिका व्यवच्छेद है, यानी सदा उत्पत्ति नहीं होने पाती है। यहांतक सम्यग्दर्शनके नित्यहेतुकपना न होनेके कारण सर्वदा उत्पत्ति होते रहनेका निराकरण हुआ सिद्ध कर दिया है। कारिकाके द्वितीय पादका विवरण हो चुका।

प्रागभावस्याहेतुकत्वेऽपि नित्यत्वसत्त्वयोरदर्शनान्नाहेतुकस्य सम्यग्दर्शनस्य तत्प्रसंगो येन तन्निवृत्तये तस्य सहेतुकत्वमुच्यत इति चेन्न, प्रागभावस्याहेतुकत्वासिद्धेः।

अब सम्यग्दर्शनके अहेतुकपनेके खण्डनार्थ विचार चलाते हैं। तहां शंकाकारकी ओरसे पूर्व पक्ष उठाया जाता है कि आप जैनोंने कारिकाके तृतीय पादमें सम्यग्दर्शनको अहेतुकपना न मानते हुए यह कहा है कि यदि सत् रूपसे विद्यमान माने गये सम्यग्दर्शनका उत्पादक कोई हेतु न माना जावेगा तो वह सम्यग्दर्शन नित्य हो जावेगा और आत्माको उसकी सत्तासे सदा सम्बन्धित रहनेका प्रसंग आवेगा, किंतु सम्यग्दर्शनके हेतुओंका अभाव नहीं है, तिस ही कारण सत् सम्यग्दर्शनके नित्य ही विद्यमान रहनेका और नित्य ही उसकी सत्ताके सम्बन्धका प्रसंग नहीं है। यह वार्तिकका उत्तरार्ध हमको अच्छा नहीं लगा, क्योंकि सम्यग्दर्शनको अहेतुकपना न माननेपर आपका इष्ट किया गया सर्वदा ही नित्यपनेके निषेधका होना नहीं बनता है। कारण कि जो जो अहेतुक होते हैं, वे वे सर्वदा

सत्तासे सम्बद्ध होजानेके कारण नित्य होजाते हैं, इस व्याप्तिमें व्यभिचार देखा जाता है। कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्वसमयतक अनादि कालसे चले आये हुए प्रागभावको अहेतुकपना होते हुए भी नित्यपना और सत्पना नहीं देखा जाता है, कार्यके उत्पन्न होजानेपर प्रागभाव नष्ट होजाता है। अतः प्रागभाव त्रिकालवर्ती नित्य नहीं है और चार अभावोंमेंसे प्रागभाव एक अभाव पदार्थ है। अतः द्रव्य, गुण और कर्मके समान सत्ता जातिवाला नहीं है। तथा सामान्य, विशेष, और समवायके समान स्वरूपसत्ता (अस्तित्व) वाला भी नहीं है, अतः असत् है। जब अहेतुक (नहीं है हेतु जिसका) माने गये प्रागभावको नित्यपना और सत्पना नहीं देखा जाता है, तिसी कारण अहेतुक सम्यग्दर्शनको भी वह नित्य ही सत्ता बने रहनेका प्रसंग न होगा, जिससे कि आप जैन उस नित्यपनेकी निवृत्तिके लिये उस सम्यग्दर्शनका सहेतुकपना कहते हैं। भावार्थ—प्रागभावके समान अहेतुक सम्यग्दर्शन भी नित्य न होगा, व्यर्थका भय करनेसे क्या लाभ है ?। अब आचार्य कहते हैं कि शंकाकारको समीचीन व्याप्तिका प्रागभावमें उक्त व्यभिचार देना तो उचित नहीं है। क्योंकि प्रागभावको अहेतुकपना सिद्ध नहीं है। अतः हमारी " जो जो अहेतुक होता है वह वह नित्य होता है जैसे कि आत्मा, आकाश आदि द्रव्य हैं, इस व्याप्तिमें व्यभिचार नहीं है। इस कारण सम्यग्दर्शन अहेतुक न माना गया, अतः नित्यपनेका प्रसंग नहीं आया। हम प्रागभावको सहेतुक मानते हुए ही नित्य नहीं मान सके हैं।

स हि घटोत्पत्तेः प्राक् तद्विविक्तपर्यायपरम्परारूपो वा द्रव्यमात्ररूपो वा ? प्रथमपक्षे पूर्वपूर्वपर्यायादुत्पत्तेः कथमसौ कार्योत्पत्तिपूर्वकालभावी पर्यायकलापोऽहेतुको नाम यतः कार्यजन्मनि तस्यासत्त्वं पूर्वं सतोपि विरुध्यते तदा वाऽसत्त्वेपि पूर्वं सत्त्वं न घटते। द्वितीयपक्षे तु यथा प्रागभावस्याहेतुकत्वं तथा नित्यं सत्त्वमपि द्रव्यमात्रस्य कदाचिदसत्त्वायोगात्।

प्रागभावको अहेतुक और अनादि माननेवाले वैशेषिकोंके प्रति हम प्रश्न उठाते हैं कि घटकी उत्पत्तिसे पहिले रहनेवाला वह प्रागभाव किस स्वरूप है ? बताओ। क्या उस घट पर्यायसे रहित मानी गयीं पहिलेकी कुशूल, कोष, स्थास, छत्र, शिवक आदि अनेक पूर्वकालवर्ती पर्यायोंकी परम्परा रूप है या वह प्रागभाव केवल द्रव्यरूप है ? कहिए। पहिला पक्ष स्वीकार करनेपर तो वह प्रागभाव कैसे अहेतुक हो सकेगा ? क्योंकि घटरूप कार्यकी उत्पत्तिके पहिले कालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंका समुदायरूप प्रागभाव उनसे पहिले पहिलेकी पर्यायोंसे उत्पन्न होरहा है अर्थात् मिट्टीकी चूर्णपर्यायसे जलका निमित्त मिलनेपर शिवक पर्याय हुयी, शिवकसे छत्र, छत्रसे स्थास, स्थाससे कोष, और कोषसे कुशूल यों पर्यायें उत्पन्न होती हैं। इनसे चिरकाल पूर्वकी पर्यायोंमें भी यही धारा चली आरही है, ऐसी दशामें पूर्व पर्यायोंकी परम्परारूप प्रागभावको आप वैशेषिक अहेतुक भला कैसे मान सकते हैं ? जिससे कि कार्यका जन्म होजाने पर पहिले कालोंमें विद्यमान होते हुए भी उस प्रागभावकी कार्यकालमें असत्ता विरुद्ध पड जाती। अर्थात् वैशेषिकोंको यह भय लगा हुआ

था कि प्रागभावको अभावरूप न मानकर भावरूप मानलिया जावेगा तो कार्यके उत्पन्न हो जानेपर भी उस प्रागभावकी सत्ता बनी रहेगी। भावकी सत्ताको कौन रोक सकेगा। वैशेषिकोंको यह भय हृदयसे निकालदेना चाहिये। क्योंकि जैन सिद्धान्तके अनुसार पूर्वपर्याय सहित उपादानका क्षय हो जाना ही उत्तर उत्तरपर्यायसहित उपादेयकी उत्पत्ति है। उपादान कारण ही उपादेयरूप परिणमता है। इसका भाव भी यही है कि पूर्व पूर्व पर्यायें उत्तर उत्तर कालमें होनेवाले कार्योंकी प्रागभाव रूप हैं। अतः कार्यके पहिले तो प्रागभाव था, किन्तु कार्यके उत्पन्न हो जानेपर पूर्वपर्यायोंका समुदायरूप प्रागभाव नहीं विद्यमान है। वर्तमानकार्यके समयमें पहिली पर्यायें पर्यायरूपसे स्थिर नहीं रह सकती हैं। एक समयमें एक पर्यायका होना ही सम्भव है। इसके साथ इस भयको भी हृदयसे निकाल देना चाहिये कि उस कार्यकी उत्पन्नता हो जानेके समयमें प्रागभाव नहीं विद्यमान है तो कार्यके पहिले कालोंमें भी प्रागभावका विद्यमान रहना नहीं घटित होगा, क्योंकि स्याद्वादमतमें पूर्वपर्यायोंका समुदायरूप प्रागभाव मान लिया है। वह कार्यके उत्पन्न हो जाने पर न भी रहे किन्तु उससे पहिले अनादिकालसे पूर्वपर्यायमालारूप प्रागभाव विद्यमान रह चुका है। अतः पहिला पक्ष मानने पर तो जैन सिद्धान्तकी ही पुष्टि होती है। आपका प्रागभावको अनादिकालसे एकसा और अहेतुक मानना सिद्ध नहीं हुआ। दूसरा पक्ष मानने पर तो प्रागभावको जैसे अहेतुकपना है तैसे नित्य ही सत्पना भी है। क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्योंकी किसी भी समयमें असत्ता नहीं हो सकती है। अर्थात् प्रागभावको द्रव्यरूप माननेपर अनादिपना, अहेतुकपना और अनन्तपना, नित्य सत्पना स्वीकार करना पडेगा। आप पूर्वके दो धर्मोंको मानते हैं, किन्तु प्रागभावमें अनन्तपना और नित्यसत्त्वपना स्वीकार नहीं करते हैं। बन्धुजन, प्रागभावको द्रव्य माननेपर तो त्रिकालवर्ती नित्यपना भी आपको मानना पडेगा। क्योंकि द्रव्य अनादिसे अनन्त कालतक सत्रूप रहता है। सत्द्रव्योंका नाश और असत् द्रव्योंका उत्पाद नहीं होता है। मुहम्मद मतानुयायियोंके खुदाकी इच्छाके अनुसार आत्मा आदि द्रव्योंकी उत्पत्तिको और चाहे जिस द्रव्यके विनाशको प्रामाणिक जैनदर्शन नहीं मानता है। हां! पर्यायोंका उत्पाद, विनाश होता रहता है। जडवाद विज्ञान (साइन्स) भी जैनोंके समान इस सिद्धान्तको स्वीकार करता है।

कार्योपत्तौ कार्यरहितत्वेन प्राच्येन रूपेण द्रव्यमसदेवेति चेत्, नन्वेवं कार्यरहितत्वमेव विशेषणमसत्र पुनर्द्रव्यं तस्य तन्मात्रस्वरूपत्वाभावात्।

वैशेषिक कहते हैं कि कार्यकी उत्पत्ति हो जानेपर द्रव्यका पूर्वकाल सम्बन्धी कार्य रहितपना नहीं रहता है, अतः पहिले कार्यरहितस्वरूप करके वर्तमानमें द्रव्य असत् ही है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन आपके प्रति अवधारण करते हुए कहेंगे कि उस प्रकार केवल कार्यरहितपना विशेषण ही द्रव्यमें विद्यमान नहीं है। अनन्तगुण, पर्याय, स्वभाव, अविभागप्रतिच्छेदरूप अंशोंका पिण्डस्वरूप द्रव्य तो तीनों कालों तो सत् है। द्रव्य फिर कैसे भी असत् नहीं हो सकता है। द्रव्यका

केवल वह कार्यरहितपना ही पूरा स्वभाव (पूरा शरीर) नहीं है। यदि ऐसा होता तो कार्य रहितपनेके नष्ट हो जानेपर कार्य सहित दशामें द्रव्य भी असत् हो जाता, किन्तु द्रव्य अनादिसे अनन्तकाल तक नित्य गुणोंका पिण्डस्वरूप अक्षुण्णरूप करके बना रहता है। विशेषण या पर्याय ही बदलते रहते हैं, ये सभी द्रव्यके अंश हैं।

तुच्छः प्रागभावो न भावस्वभाव इति चायुक्तं, तस्य कार्योत्पत्तेः पूर्वमेव सत्त्वविरोधात् कार्यकाले चाऽसत्त्वायोगात्, सत्त्वासत्त्वविशेषणयोर्भावाश्रयत्वदर्शनात्। तथा च न प्रागभावस्तुच्छः सत्त्वासत्त्वविशेषणाश्रयत्वात् द्रव्यादिवत् विपर्ययप्रसंगो वा विशेषाभावात्।

और भी वैशेषिक कहते हैं कि पर्यायसमुदायरूप या द्रव्यरूप प्रागभाव नहीं है, यहां पर्युदासपक्ष हमको इष्ट नहीं है, किन्तु प्रसज्यपक्षके अनुसार भावोंसे सर्वथा भिन्न माना गया प्रागभाव है, वह भावरूप नहीं है तथा कार्यता, कारणता, आधेयता, आधारता आदि विशेषणोंसे रहित होरहा वह प्रागभाव तुच्छ (निरुपाख्य) है, आचार्य कहते हैं कि यह कहना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि ऐसा माननेपर कार्यकी उत्पत्तिसे पहिले ही (भी) उस प्रागभावकी सत्ता माननेका विरोध होगा। और कार्यके विद्यमान रहनेके समयमें प्रागभावकी असत्ता भी न बन सकेगी। क्योंकि कोई वस्तु होवे तो उसकी सत्ता या असत्ता मानी जावे, अश्वके शृंग समान तुच्छ पदार्थमें सत्ता और असत्तारूप विशेषण नहीं ठहरते हैं। पहिले कालमें सत्ता और कार्यकालमें असत्ता आदि विशेषण तो भावरूप आधारमें रहते हुए देखे जाते हैं। तिस कारणसे हम अनुमान बनाकर सिद्धांत करते हैं कि वैशेषिकोंसे माना गया प्रागभाव (पक्ष) तुच्छ पदार्थ नहीं है (साध्य) सत्ता और असत्तारूप विशेषणोंका आधार होनेसे (हेतु) जैसे कि वैशेषिकोंसे माने गये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, आदि पदार्थ सत्ता और असत्ताके आश्रय होनेसे तुच्छ नहीं है (अन्वयदृष्टान्त)। किन्तु वास्तविक अनेक स्वभाववाले भाव हैं। यदि अनेक परमार्थभूत विशेषणोंके आधारभूत पदार्थको भी आप तुच्छ मानोगे तो आप वैशेषिकोंको अपने सिद्धान्तसे विपरीत होरहे मन्तव्यको स्वीकार करनेका यह प्रसंग होगा कि द्रव्य, गुण, कर्म आदि भी (पक्ष) तुच्छ पदार्थ हैं (साध्य) सत्ता और असत्तारूप विशेषणोंके आधार होनेसे (हेतु) जैसे कि प्रागभाव (दृष्टांत) छह भाव पदार्थोंमें जैसे अपने धर्मोंकी सत्ता और अन्यके धर्मोंकी असत्ता रहती है वैसे ही प्रागभावमें भी स्वरूप सत्ता और अन्यके धर्मोंकी असत्ता अथवा पहिले, पीछे, वे दोनों रहती हैं, कोई विशेषता (अन्तर) नहीं है। ऐसी दशामें एकको भाव मानना और दूसरेको तुच्छ अभाव मानना पक्षपाती या अन्ध श्रद्धालुओंका कदाग्रह मात्र है। वास्तवमें देखा जावे तो संसारमें कोई तुच्छ पदार्थ ही नहीं है।

कदाचित्सत्त्वमसत्त्वं च विशेषणमुपचारात्प्रागभावस्येति चेत्, तर्हि न तत्त्वतः कदाचित्सत्त्वं पुनरसत्त्वमहेतुकस्यापि भवतीति सर्वदा सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा निवृत्तये सदर्शनस्याहेतुकत्वं व्यवच्छेत्तव्यमेव नित्यत्वनित्यहेतुकत्ववत्।

यदि वैशेषिक यों कहें कि कभी (कार्यके पहिले) सत्ता रहना और कभी (कार्यके उत्पन्न होजानेपर) असत्ता रहना ये विशेषण तो प्रागभावके उपचारसे मानलिये गये हैं, वास्तवमें देखा जावे तो तुच्छ प्रागभावमें कोई विशेषण नहीं रहता है। ऐसा कहनेपर तब तो हम जैन कहेंगे कि वास्तविक रूपसे प्रागभावमें कभी सत्त्व भी न रहा और कभी असत्त्व भी न रहा, किन्तु वस्तु मान-लेनेपर अहेतुक भी प्रागभावके या तो सब कालोंमें सत्त्व रह सकेगा या तुच्छ माननेपर फिर सदा असत्त्व ही रह सकेगा, इन दोनोंकी निवृत्ति करनेके लिये आप वैशेषिकोंको भी प्रागभावके अहेतुक पनेका आग्रह छोड देना चाहिये। और प्रकृतमें यदि सम्यग्दर्शनगुण अहेतुक माना जाता तो आत्मामें नित्य ही उसकी सत्ताका संबन्ध होजानेका प्रसंग होजाता अथवा तुच्छ प्रागभावके समान सम्यग्दर्शनकी सत्ता ही आत्मामें कभी नहीं मिलती। इन दोनों प्रसङ्गोंकी निवृत्तिके लिये सम्यग्दर्शनके अहेतुकपनेका व्यवच्छेद करना ही न्याय्य है। जैसे कि नित्यपना और नित्यहेतुकपना सम्यग्दर्शनमें नहीं है। यहांतक जैसे नित्यपना न होते हुए भी मिथ्यादर्शनके अनादित्वका व्यवच्छेद नहीं होता है और नित्यहेतुकपना न होते हुए भी संसारकी सर्वदा उत्पत्तिका व्यवच्छेद होना नहीं देखा जाता है तथा अहेतुकपना होते हुए भी प्रागभावका नित्य सत्त्व नहीं देखा जाता है, यानी अहेतुकत्वके न होनेपर ही आप जैन सम्यग्दर्शनके नित्यसत्त्वका निषेध करते थे सो नहीं है। प्रागभावकी अहेतुक होते हुए भी नित्यसत्ता नहीं देखी जाती है। तैसे ही कारिका द्वारा कहे गये इन तीनों दोषोंका सम्यग्दर्शनमें भी प्रसंग नहीं होपाता है। इस प्रकार इन मिथ्यादर्शन, संसार और प्रागभावका दृष्टान्त लेकर सम्यग्दर्शनको भी नित्यपना, नित्यहेतुकपना और अहेतुकपना माननेवाले अन्यमति-योंका निराकरण करके निसर्ग और अधिगमसे कभी कभी सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके सूत्रोक्त सिद्धान्तको पुष्ट कर दिया है।

निसर्गादिति निर्देशो हेतावधिगमादिति।
तच्छब्देन परामृष्टं सम्यग्दर्शनमात्रकम् ॥ २ ॥

सूत्रमें निसर्गात् ऐसा और अधिगमात् ऐसा पञ्चमीविभक्तिके एक वचनका प्रयोग किया है, कारक सूत्रोंके अनुसार यहां हेतुरूप अर्थमें पञ्चमी विभक्ति हुई है। इस कारण तत् शब्दके द्वारा केवल सम्यग्दर्शनका ही परामर्श किया जाता है। भावार्थ—पूर्वमें कहे गये पदार्थका तत् शब्द करके स्मरण और प्रत्यभिज्ञानके लिए उपयोगी परामर्श (खेंचना) किया जाता है। यहां मोक्षमार्ग, ज्ञान और चारित्रको छोडकर तत् शब्दने सम्यग्दर्शनका ही संकलन कराया है। क्यों कि निसर्ग और अधिगमरूप दोनों हेतुओंसे उत्पत्ति होना सम्यग्दर्शनमें ही घटता है। मोक्षमार्ग आदिमें नहीं।

सूत्रेऽस्मिन्निसर्गादिति निर्देशोधिगमादिति च हेतौ भवन् सम्यग्दर्शनमात्रपरामर्शित्वं तच्छब्दस्य ज्ञापयति तदुत्पत्तावेव तयोर्हेतुत्वघटनात्, ज्ञानचारित्रोत्पत्तौ तयोर्हेतुत्वे सिद्धा-न्तविरोधान्न मार्गपरामर्शित्वमुपपन्नम्।

" तन्निसर्गादधिगमाद्वा " इस सूत्रमें निसर्गात् और अधिगमात् इस प्रकार हेतु अर्थमें हो रहे पञ्चमी विभक्तिवाले पदोंका कथन करना तो तत् शब्दके द्वारा अकेले सम्यग्दर्शनको परामर्श करनेवालेपनको ज्ञापन कर रहा है, क्यों कि उस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें ही उन निसर्ग और अधिगम दोनोंको हेतुपना घटित हो जाता है, ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्तिमें यदि उन निसर्ग और अधिगम हेतु माना जावेगा तो सिद्धान्तसे विरोध होगा। जैन सिद्धांतमें प्रत्येक ज्ञानको निसर्ग और अधिगम दोनोंसे उत्पन्न हुआ नहीं माना है, जो ज्ञान निसर्गज है वह अधिगमज नहीं है और जो ज्ञान अधिगमसे जन्य है वह निसर्गसे उत्पन्न हुआ नहीं है। चारित्र तो सर्वथा सभी अधिगमसे ही जन्य हैं। किंतु सम्यग्दर्शनमें यह बात नहीं है, प्रत्येक सम्यग्दर्शन दोनों कारणोंसे पैदा हो जाता है। तथा इस ही कारणसे तत् शब्द के द्वारा मोक्षमार्गका परामर्श करना भी साधक प्रमाणोंका कथन करना रूप युक्तिसे सिद्ध नहीं हो जाता है, अर्थात् मोक्षमार्गकी भी दोनों कारणोंसे उत्पत्ति माननेमें सिद्धांतसे विरोध है। तत् इस नपुंसक लिंग शब्दका प्रयोग करनेसे पुल्लिंग मार्गका परामर्श हो भी नहीं सकता है, अतः तत् शब्द से अकेले सम्यग्दर्शनका ही ग्रहण होता है।

सम्यग्ज्ञानं हि निसर्गादेरुत्पद्यमानं निःशेषविषयं नियतविषयं वा ? न तावदादिविकल्पः केवलस्य सकलश्रुतपूर्वकत्वोपदेशान्निसर्गजत्वविरोधात् सकलश्रुतज्ञानं निसर्गादुत्पद्यते इत्यप्यसिद्धं, परोपदेशाभावे तस्यानुपपत्तेः।

आचार्य महाराज पूंछते हैं कि क्यों जी ? सम्यग्ज्ञानको भी यदि आप अवश्य निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होता हुआ मानेंगे ? तो बताओ ! सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाले सम्यग्ज्ञानको अथवा नियमित परिमित विषयोंको जाननेवाले सम्यग्ज्ञानको दोनोंसे उत्पन्न हुआ मानते हो ? कहिये। तिन दोनों विकल्पोंमेंसे पहिले आदिका विकल्प होना तो ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति तो पूर्ववर्त्ती पूर्ण द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानरूप कारणसे होती हुयी मानी है। बारहवें गुणस्थानके आदिमें ही पहिले हीसे उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणीमें पूर्ण द्वादशांगका ज्ञान हो जाता है। उपशम श्रेणीमें शुक्लध्यान है और चतुर्विध शुक्लध्यानके पहिले दो पाये तो पूर्ववित्के होते हैं, किंतु जघन्यरूपसे वहां पञ्चसमिति, तीन गुप्तियोंके प्रतिपादक आठ प्रवचन माताओंका ज्ञान है, दूसरी बात यह है कि किसी किसी निर्ग्रन्थ साधुके बारहवें गुणस्थानमें अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान हैं, किन्तु बारहवेंमें उपयोग श्रुतज्ञानरूप ही है। वास्तवमें श्रुतज्ञान ही पूर्वापर पर्यायोंका पिण्ड होता हुआ ध्यान बन जाता है। केवलज्ञानमें अत्युपयोगी श्रुतज्ञान है। अवधि मनःपर्यय, नहीं है। किसी साधुके तो अवधि मनःपर्यय होते ही नहीं और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। हां, बारहवें गुणस्थानकी आदिमें पूर्ण श्रुतज्ञान अवश्य है। आर्षशास्त्रोंमें सम्पूर्ण श्रुतज्ञानपूर्वक ही केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेका उपदेश लिखा हुआ है। अतः पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान तो अधिगमजन्य ही हुआ, निसर्गसे उत्पन्न हुआ नहीं है। यों

निसर्गसे उपजनेका विरोध है। दूसरे विकल्प अनुसार तत् शब्दसे सम्यग्ज्ञानका भी आकर्षण करने वाले आप लोग यदि यों कहें कि सम्पूर्ण पदार्थोंको परोक्षरूपसे विषय करनेवाला सम्पूर्ण श्रुतज्ञान तो निसर्गसे उत्पन्न हो जाता है पहिले विकल्पके अनुसार आप केवलज्ञानको न पकडकर पूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञानको पकडेंगे, सो यह कहना भी आपका सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि दूसरे आप्त पुरुषोंके उपदेश विना उस पूर्ण श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति भी सिद्ध नहीं होती है। आत्मा और कर्मके सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन करचुकनेपर अथवा पांच समितियोंके, तीन गुप्तियोंके, प्रतिपादक शास्त्रोंका मनन करचुकनेपर ही पूर्ण श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। यह दूसरी बात है कि किसीको आप्तके उपदिष्ट शास्त्रोंका अध्ययन करनेपर बहुत काल पीछे अथवा अनेक जन्मोंके पश्चात् पूर्ण श्रुतज्ञान हो और किसी अञ्जन चोर, शिवभूति आदिको कतिपय मुहूर्तोंमें ही पूर्ण श्रुतज्ञान हो जावे। किन्तु पूर्ण श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें आप्तोंके आम्नायसे प्राप्त हुये लिखित या मौखिक उपदेश साक्षात् या परम्परासे कारण अवश्य माने गये हैं। सौधर्म इन्द्र, सर्वार्थ सिद्धिके देव इन सबके उक्त कारण विद्यमान है।

स्वयंबुद्धश्रुतज्ञानमपरोपदेशमिति चेन्न, तस्य जन्मान्तरोपदेशपूर्वकत्वात् तज्जन्मापेक्षया स्वयंबुद्धत्वस्याविरोधात्।

यदि यहां कोई यों कहे कि जो मुनि बोधित बुद्ध हैं, उनको श्रुतज्ञान दूसरे आप्तोंके उपदेशसे भले ही होवे, किन्तु जो मुनिमहाराज स्वयंबुद्ध हैं अर्थात् अपने आप ही अध्यवसाय करके जिन्होंने पूर्ण श्रुतज्ञानको पैदा करलिया है, उन मुनियोंका श्रुतज्ञान तो परोपदेशकी अपेक्षा नहीं करता है, अतः उसको निसर्गसे जन्य सम्यग्ज्ञान कह देना चाहिये, सो ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन प्रत्येकबुद्ध (स्वयंबुद्ध) मुनियोंके भी इस जन्मसे पहिलेके दूसरे जन्मोंमें जाने हुए हुए आप्त महाराजके उपदेशको कारण मानकर ही इस जन्ममें पूर्ण श्रुतज्ञान हो सका है। इस जन्मकी अपेक्षासे उनको स्वयंबुद्धपना होनेमें कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—वर्तमान जन्ममें दूसरोंके उपदेश विना जिन्होंने श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है वे, स्वयंबुद्ध हैं यानी प्रत्येकबुद्ध हैं और जिन्होंने विवक्षित जन्ममें दूसरोंके उपदेशको ग्रहणकर श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है वे बोधित बुद्ध हैं। यदि दूसरे जन्मोंमें ग्रहण किये हुए उपदेशोंका भी लक्ष्य रखा जावेगा तो सर्व ही मुनिजन बोधितबुद्ध कहे जावेंगे। अतः स्वयंबुद्ध मुनिके उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान भी अधिगमसे जन्य है। निसर्गसे नहीं।

देशविषयं मत्यवधिमनःपर्ययज्ञानं निसर्गादेरुत्पद्यत इति द्वितीयविकल्पोऽपि न श्रेयान् तस्याधिगमजत्वासम्भवात् द्विविधहेतुकत्वाघटनात्। किञ्चिन्निसर्गादपरमधिगमादुत्पद्यते इति ज्ञानसामान्यं द्विविधहेतुकं घटत एवेति चेत् न, दर्शनेपि तथा प्रसंगात्। न चैतद्युक्तं प्रतिव्यक्ति तस्य द्विविधहेतुकत्वप्रसिद्धेः। यथा औपशमिकं दर्शनं निसर्गादधिगमाच्चोत्पद्यते तथा क्षायोपशमिकं क्षायिकं चेति सुप्रतीतम्।

आचार्य महाराज पूंछते हैं कि प्रत्यक्षरूपसे सबको विषय करनेवाले केवलज्ञानको और परोक्ष-रूपसे सर्व द्रव्य और थोडी पर्यायोंको जाननेवाले श्रुतज्ञानको न लेकर यदि आप लोग नियत पदार्थोंको विषय करनेवाले यानी थोडे द्रव्य और अल्प पर्यायोंको जाननेवाले मतिज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञानको निसर्ग आदि यानी निसर्ग और अधिगम दोनोंसे उत्पन्न होनेका दूसरा पक्ष ग्रहण करेंगे, इस प्रकार दूसरा पक्ष लेना भी उचित नहीं है। क्योंकि ये तीनों ज्ञान निसर्गसे ही उत्पन्न होते हैं। अधिगमसे जन्य ज्ञान तो अकेला श्रुतज्ञान ही है। अधिगमसे जन्यपना उन तीनोंमें नहीं सम्भव है। अतः उन तीनोंके भी निसर्ग और अधिगम दोनों हेतुओंसे उत्पन्न होनापन नहीं घटित होता है। यदि सम्यग्ज्ञान भी दोनों कारणोंसे हो जावें इस आग्रहकी रक्षाके लिए आप यों कहेंगे कि कुछ मति, अवधि, मनःपर्यय ये सम्यग्ज्ञान तो निसर्गसे उत्पन्न होते हैं, और श्रुतज्ञान केवलज्ञान रूप दूसरे सम्यग्ज्ञान अधिगमसे उत्पन्न होते हैं इस प्रकार सामान्यपने करके सम्यग्ज्ञानके दोनों प्रकार निसर्ग और अधिगम हेतु घटित हो ही जाते हैं, सो इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि यों तो सम्यग्दर्शनमें भी तैसा ही व्याख्यान करनेका प्रसंग आवेगा, अर्थात् सम्यग्दर्शन भी कोई तो अकेले निसर्गसे होगा और कोई दूसरा सम्यग्दर्शन अकेले अधिगमसे उत्पन्न होगा, किंतु यह कहना तो युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि उस सम्यग्दर्शनकी प्रत्येक व्यक्तिको दोनों ही प्रकारके हेतुओंसे उत्पन्न हो जाना प्रसिद्ध है। जिस प्रकार कि भिन्न भिन्न जीव व्यक्तियोंमें निसर्ग और अधिगम दोनोंसे औपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तैसे ही व्यक्तिभेद या कालमें क्षयोपशम और क्षायिक सम्यग्दर्शन भी निसर्ग और अधिगम दोनोंसे उत्पन्न होते हुए भले प्रकार प्रतीत हो रहे हैं। पहिली, दूसरी, तीसरी, पृथिवियोंमें उपदेश और निसर्गसे उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाते हैं, चौथे, पांचवें आदि नरकमें अकेले निसर्गसे ही उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व होते हैं। तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंमें भी दोनों कारणोंमेंसे चाहे जिससे दो सम्यक्त्व हो जाते हैं। किन्हीं कर्मभूमियां द्रव्यमनुष्योंको केवली श्रुतकेवलीके निकट उपदेशसे और उपदेशके विना भी क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है। इस कारण तीनों ही सम्यग्दर्शन दोनों कारणोंसे उत्पन्न हो सकते हैं। यह बात सम्यग्ज्ञानमें विशेष व्यक्तिरूपसे नहीं पायी जाती है यानी प्रत्येक ज्ञान दोनों ही कारणोंसे उत्पन्न नहीं होता है।

चारित्रं पुनरधिगमजमेव तस्य श्रुतपूर्वकत्वात्तद्विशेषस्यापि निसर्गजत्वाभावान्न द्विविधहेतुकत्वं सम्भवतीति न त्रयात्मको मार्गः सम्बध्यते, अत्र दर्शनमात्रस्यैव निसर्गाधिगमाद्वोत्पत्त्यभिसम्बन्धघटनात्।

हां, चारित्र तो फिर अधिगमसे ही जन्य है। निसर्ग (परोपदेशके विना अन्य कारणसमूह) से उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि प्रथम ही श्रुतज्ञानसे जीव आदि तत्त्वोंका निर्णय कर चारित्रका पालन किया जाता है। यों श्रुतज्ञानपूर्वक ही चारित्र है। उस चारित्रके विशेष कहे गये महाव्रत, परिहार-

विशुद्धि, सामायिक आदि विशेषोंको भी निसर्गसे उत्पन्न होजानापन नहीं है, स्वयं या दूसरोंके द्वारा शास्त्रोंका अभ्यास कर चुकनेपर चारित्र पाला जाता है। अतः चारित्रका निसर्ग और अधिगम इन दोनों प्रकारके हेतुओंसे उत्पन्न होजानापन नहीं सम्भवता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों स्वरूप मार्ग भी तत् शब्दके द्वारा सम्बन्धित नहीं होपाता है। क्योंकि तीनमेंसे ज्ञान और चारित्रको तो व्यक्तिरूप करके निसर्ग और अधिगम दोनोंसे जन्यपना नहीं घटता है, ऐसी दशामें तीनोंके समुदायरूप मोक्षमार्गमें दोनोंसे जन्यपना नहीं बन सकता है। इस प्रकरणमें केवल सम्यग्दर्शनकी ही चाहे जिस व्यक्तिमें निसर्ग अथवा अधिगमसे उत्पत्ति होनेका सम्बन्ध अच्छा घटित होता है। अतः तत् शब्दसे सम्यग्दर्शनका ही परामर्श (पूर्वका स्मरण) करना चाहिये।

नन्वेवं तच्छब्दोऽनर्थकः सामर्थ्यादर्शनेनात्राभिसम्बन्धसिद्धेरिति चेत् न, शाब्दन्यायान्मार्गेणाभिसम्बन्धप्रसक्तेः।

यहां कटाक्ष पूर्वक शंका है कि इस प्रकार तो तत् शब्दका प्रयोग करना सूत्रमें व्यर्थ ही रहा, क्योंकि निसर्ग और अधिगम इन दोनोंको हेतु बनानेकी सामर्थ्यसे ही दर्शनके साथ यहां सम्बन्ध होजाना तत्शब्दके बिना भी अपने आप भी सिद्ध होजाता है। गुरुजी समझाते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि शब्दसम्बन्धी व्याकरणशास्त्रके अनुसार शब्दकी नीतिका विचार करनेपर मोक्षमार्गके साथ सुन्दर सम्बन्ध होनेका प्रसंग प्राप्त है। अतः सम्यग्दर्शनको आकर्षण करनेवाले तत् शब्दके विना मोक्षमार्गका सम्बन्ध हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

प्रत्यासत्तेस्ततोपि दर्शनस्यैवाभिसंबन्ध इति चेन्न, मार्गस्य प्रधानत्वात् दर्शनस्यास्य तदवयवत्वेन गुणभूतत्वात्, प्रत्यासत्तेः प्रधानस्य बलीयस्त्वात्, सन्निकृष्टाविप्रकृष्टयोः सन्निकृष्टे सम्प्रत्ययः इत्येतस्य गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्यय इत्यनेनापोहितत्वात् सार्थक एव तच्छब्दो मार्गाभिसम्बन्धपरिहारार्थत्वात्।

यहां पुनः आक्षेप है कि निसर्ग और अधिगमसे सम्यग्दर्शनके साथ सम्बन्ध किया जावे या मोक्षमार्गके साथ सम्बन्ध किया जावे ? ऐसा विवाद होनेपर अत्यन्त निकट होनेसे इस कारण भी, सम्यग्दर्शनका ही पञ्चम्यन्त पदोंकी ओर सम्बन्ध होगा, व्यवधान होनेके कारण मोक्षमार्गका ग्रहण न होसकेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहोगे, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां मोक्षमार्गकी ही प्रधानता है। उस त्रयात्मक मोक्षमार्गका एक अंश होनेके कारण इस सम्यग्दर्शनको गौणपना है। विधेय दलमें पडा हुआ और स्वतन्त्रताको कहनेवाली प्रथमा विभक्तिको धारण करता हुआ विशेष्य दल प्रधान होता है और उद्देश्य दलमें पडे हुए विशेषण अप्रधान होते हैं। अत्यन्त निकटके गौण पदार्थसे दूरवर्ती भी प्रधान पदार्थ अतीव बलवान् होता है। किसी राजाका वर्णन करते हुए मन्त्री, सेना, नगर, उद्यान, प्रजाजनका वर्णन कर चुकनेपर भी पीछेसे वीर धर्मात्मा दयालु आदिक शब्द प्रधान राजाके साथ ही अन्वित होवेंगे। साधारण मनुष्यके लिये नहीं। " प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः "

इस व्याकरणकी परिभाषाका यही भाव है। अत्यन्त निकट और विप्रकृष्ट यानी कालदेशका व्यवधान पडे हुए अर्थका प्रकरण उपस्थित होनेपर निकटवर्ती पदार्थमें ही भले प्रकार प्रतीत होगी दूरवर्तीकी नहीं, व्याकरणकी इस परिभाषाका गौण और मुख्य पदार्थका समान प्रकरण होनेपर मुख्य में ही समीचीन ज्ञान किया जावेगा, यों इस परिभाषासे अपवाद (बाधा) हो जाता है। सामान्य राजमार्गसे कही गयी उत्सर्ग विधियां अपवाद विषयोंको टालकर प्रवर्तती हैं। पहिले अपवाद विषयोंको स्थान मिलेगा, उसके प्रतिकूल उत्सर्गोंको दूर करदिया जाता है, जैसे कि राजमार्ग (सडक)में सम्पूर्ण प्रजाओंको समान रूपसे चलनेका अधिकार है किन्तु विशेष उत्सवके दिन परिकरसहित राजाके गमन करते समय सामन्यजनोंके चलनेका राजमार्गमें अधिकार नहीं है। अर्थात् तत् शब्दके न देनेपर प्रधानरूप मोक्षमार्गका ही सम्बन्ध होजाता। अतः मार्गके साथ अभिमुख सम्बन्ध होजानेका परिहार करनेके लिये सूत्रमें तत् शब्दका प्रयोग करना सार्थक ही है।

ननु च दर्शनवन्मार्गस्यापि पूर्वप्रक्रान्तत्वप्रतीतेः तच्छब्दस्य च पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शित्वात् कथं शाब्दन्यायादर्शनस्यैवाभिसम्बन्धो न तु मार्गस्येति चेत् न, अस्मात्सूत्रादर्शनस्य मुख्यतः पूर्वप्रक्रांतत्वात्परामर्शोपपत्तेः मार्गस्य पूर्वप्रक्रांतत्वादुपचारेण तथा भावात् परामर्शाघटनात्।

पुनः आक्षेपकर्ताका अवधारण है कि तत् शब्दके देनेपर भी मोक्षमार्गका संबन्ध हो जावेगा, कोई रोकनेवाला नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शनके समान मोक्षमार्गको भी पहिले प्रकरणमें प्राप्त होनापन प्रतीत हो रहा है, जबकि तत् शब्दको पहिले प्रकरणमें प्राप्त हुए पदार्थका परामर्शकपना है, ऐसी दशामें मोक्षमार्ग भी पूर्वप्रकरणमें आ चुका है। अतः शब्दशक्तिके अनुसार भी सम्यग्दर्शनका ही उद्देश्य दलकी ओर सम्बन्ध क्यों होगा ? किन्तु मार्गका क्यों नहीं होगा ? ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकार कहना तो उचित नहीं है, क्योंकि इस सूत्रसे पूर्व प्रकरणमें प्राप्त होनापन मुख्यरूपसे सम्यग्दर्शनको ही है, अतः तत् शब्द करके दर्शनका परामर्श होना युक्तिसिद्ध होता है। मोक्षमार्ग तो पूर्व प्रकरणमें प्राप्त होरहे सम्यग्दर्शनके भी पूर्वमें है, अतः पितामहमें पितापनके उपचार समान मोक्षमार्गमें पूर्वपनेका इस प्रकार उपचार है। मुख्यरूपसे पूर्ववस्तुके मिलनेपर उपचारके द्वारा कल्पित किये गये पूर्वका यानी पूर्वसे पूर्वका तत् शब्द करके परामर्श होना नहीं घटता है। मोक्षमार्गका ही ततसे आकर्षण होना आचार्य महाराजको यदि इष्ट होता तो तत् शब्दके कहनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि प्रधानरूपसे मोक्षमार्गका सम्बन्ध हो ही जाता, ऐसी दशामें तत् शब्द व्यर्थ पडकर आर्षमार्गके अनुसार ज्ञापन करता है कि वह सम्यग्दर्शन ही निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होता है।

तदिति नपुंसकलिंगस्यैकस्य निर्देशाच्च न मार्गस्य पुल्लिंगस्य परामर्शो नापि बहूनां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामिति शाब्दान्न्यायादार्षादिव सद्दर्शनं तच्छब्देन परामृष्टमुन्नीयते।

सूत्रमें तत् ऐसा नपुंसक लिंगके एक वचनका निर्देश होरहा है, इस कारणसे भी पुल्लिङ्ग शब्द मानेगये मोक्षमार्गका परामर्श होना नहीं बनता है और एक वचन होनेके कारण मोक्षमार्ग-रूप फैले हुए बहुतसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रोंका भी परामर्श नहीं होने पाता है। इस प्रकार शब्द सम्बन्धी न्यायसे व्याकरण शास्त्रके अनुसार भी तत् शब्द करके सम्यग्दर्शनका ही परामर्श किया गया जाना जाता है, जैसे कि सूत्रके अर्थपर विचार करनेसे दोनों कारणोंसे जन्यपना प्रत्येक सम्यग्दर्शनमें घट जाता है, इस अर्थ सम्बन्धी न्यायसे तत् शब्द करके सम्यक्त्वका ही परामर्श होता है। भावार्थ—शब्दपर विशेष लक्ष्य देनेवाले शब्द शास्त्र और अर्थांशपर लक्ष्य देकर शाब्दबोधकी प्रणालीको बतानेवाले अर्थशास्त्रकी नीतिसे तत् शब्दके द्वारा सम्यग्दर्शनका ही परामर्श हुआ विचारा जाता है। नैयायिक जैसे ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिसे दूरस्थ चन्दनमें सुगन्धका प्रत्यक्ष ज्ञान करलेते हैं, वैसे ही इतस्ततः ऊपरके प्रकरणोंसे ऋषि आम्नायके अनुसार सूत्रोंका अर्थ निर्णीत किया गया है।

कः पुनरयं निसर्गोऽधिगमो वा यस्मात्तदुत्पद्यत ? इत्याहः—

यहां किसीका प्रश्न है कि फिर आप बतलाइये ! यह निसर्ग अथवा अधिगम क्या पदार्थ हैं ? जिनसे कि वह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानंद आचार्य उत्तर कहते हैं।

विना परोपदेशेन तत्त्वार्थप्रतिभासनम् ।
निसर्गोधिगमस्तेन कृतं तदिति निश्चयः ॥ ३ ॥
ततो नाप्रतिभातेऽर्थे श्रद्धानमनुषज्यते ।
नापि सर्वस्य तस्येह प्रत्ययोधिगमो भवेत् ॥ ४ ॥

दूसरोंके लिखित या मौखिक उपदेशके विना अन्य जिनबिम्बदर्शन, वेदना आदि कारणोंसे जो तत्त्वार्थोंका प्रतिभास होना है वह निसर्ग है। और दूसरोंके उस उपदेशसे किया गया तत्त्वार्थोंका वह प्रतिभास करनारूप निश्चय है यह अधिगम है। इस परोपदेशके विना और परोपदेशसे होनेवाला निश्चय तो सम्यग्दर्शनका कारण है। इस कारण नहीं प्रतिभास किये गये अर्थमें श्रद्धान होनेका प्रसंग नहीं होता है और सर्व ही जीवोंके सम्यग्दर्शन हो जानेका प्रसंग भी नहीं होता है। क्योंकि जिन जीवोंको तत्त्वार्थोंका प्रतिभास नहीं है उनका अन्य विषयोंमें हुआ मिथ्याज्ञान यहां (इस प्रकरणमें) अधिगम नहीं माना गया है। मोक्षमार्गके उपयोगी समीचीन निश्चयरूप ज्ञानको अधिगम कहते हैं।

न हि निसर्गः स्वभावो येन ततः सम्यग्दर्शनमुत्पद्यमानमनुपलब्धतत्त्वार्थगोचरतया रसायनवन्नोपपद्येत। ततः परोपदेशनिरपेक्षे ज्ञाने निसर्गशब्दस्य प्रवर्तनान्निसर्गतः शूरः

सिंहः इति यथा स्वकारणविशेषाद् भवदपि हि तस्य शौर्यं परोपदेशानपेक्षं लोके नैसर्गिकं प्रसिद्धं तद्वत्तत्त्वार्थश्रद्धानमपरोपदेशमत्यादिज्ञानाधिगते तत्त्वार्थे भवन्निसर्गान्न विरुध्यते ।

इस सूत्रमें पडे हुए निसर्ग शब्दका अर्थ स्वभाव नहीं है जिससे कि उस स्वभावसे ही उत्पन्न हो रहा सत्ता सम्यग्दर्शन नहीं जाने हुए तत्त्वार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षासे रसायनके समान वह सम्यग्दर्शन ही न बन सके, अर्थात् रसायनके तत्त्वोंको न समझ करके क्रिया करनेवाले पुरुषके जैसे रसायनकी सिद्धि नहीं हो पाती है । यहां एक कथानक है कि एक लोभी लक्षपति सेठने अपना सम्पूर्ण रुपया किसी तापसीकी सेवामें व्यय कर दिया, उसके प्रतिफलमें तापसीसे एक रसायनका गुटका उस सेठको मिला, जिसमें कि अनेक धातु, उपधातुओंके बनानेकी तथा शुद्ध करनेकी क्रियाएं लिखी हुयी थी । तदनुसार क्रिया करते हुए सेठने तांबेसे सुवर्ण बनाना प्रारम्भ कर दिया, किंतु रसायनकी सिद्धि नहीं हुयी। अतः प्रतारित तिरस्कृत और क्रुद्ध होकर दरिद्र होचुके सेठने तापसीके दिये हुए गुटकेके साथ नीचताका व्यवहार किया । किसी चौराहेके निकट बैठकर पथिकोंसे गाली दिला और थुकवा करके अपनी क्रोध ज्वालाको शांत करता रहा । दैवयोगसे एक दिन वह तापसी भी वहीं आ निकला । वह अपने गुटका और सेठको पहिचान गया और मनमें विचारने लगा कि यह मेरा दिया हुआ ही गुटका है, उस सेठने अन्य जनोंके समान गुटकेका तिरस्कार करनेके लिये तापसीसे भी कहा । तिरस्कारका कारण पूंछनेपर सेठने सर्ववृत्तांत कह सुनाया । वह तापसी कुछ औषधियों, फलों, के सहित सेठको भी साथ लेकर तांबा गलानेवाले कसेरेके स्थानपर पहुंचा और सेठसे कहा कि गुटकेके लिखे अनुसार क्रिया करो ! सेठने गुटकेके अनुसार क्रिया की, किंतु जब नींबूको चाकूसे काटकर डालने लगा, इस प्रकरणमें तापसीने सेठको दो थप्पड मारे और कहा कि गुटकेमें नींबूको चाकूसे काटना कहां लिखा है ? लोहेके सम्बन्धसे रसायन क्रिया प्रतिकूल हो जाती है । सेठने हथैलीसे नींबूको निचोड कर तांबेमें डाला तो उसी समय दो मन तांबा सोना हो गया । सेठको उसके रुपयोंका सोना देकर अपना अमूल्य गुटका पुनः लौटा लिया और कहा कि—" नो वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम् । यथा किराती करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य विभर्त्ति गुञ्जाम् ॥ १ ॥ जो जिसके गुणको नहीं पहिचानता है, वह उसकी सदा निंदा किया करता है । जैसे कि भीलनी गजमोतियोंको छोडकर गोंगचीके गहनोंको पहनती है । वस्तुतः देखा जावे तो ज्ञानके विना क्रिया करना व्यर्थ है । तैसे ही कारणोंके विना यों ही स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनकी भी तत्त्वार्थोंको न जाननेवाले जीवोंमें उपपत्ति नहीं हो सकती है । अतः निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है, किंतु परोपदेशके अतिरिक्त जातिस्मरण, वेदना, विभवप्राप्ति आदिसे उत्पन्न हुआ ज्ञानस्वरूप कारण ही निसर्गका अर्थ है । तिस कारण परोपदेशकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानमें निसर्ग शब्दकी प्रवृत्ति हो रही है यों जैसे कि स्वभावसे ही सिंह शूर वीर होता है । यद्यपि कारणोंके विना शूर वीरता नहीं होती है, जगत्का कोई भी

कार्य कारणोंके बिना नहीं होता है। सिंहका शरीर, हड्डी, बडा मस्तक, शक्तिशाली डाढ, दांत, पञ्जे, जन्मपरंपरासे चले आ रहे आधिपत्यके विचार, नामकर्मकी विशेषतायें आदि अपने विशेष कारणोंसे उत्पन्न हो भी रही उस सिंहकी शूरवीरता परोपदेशकी नहीं अपेक्षा रखनेके कारण लोकमें स्वभावसे होती हुयी प्रसिद्ध हो रही है। तिसीके समान देवविभूति, जिनमहिमा आदिका चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा पूर्वके भव, धर्मपालन आदिका स्मरण और सुख या दुःखोंका तीव्र अनुभवरूप मानस-प्रत्यक्ष एवं स्वार्थानुमान आदि मतिज्ञान या विभङ्गज्ञान इन ज्ञानोंसे जाने गये तत्त्वार्थोंमें परोपदेशके विना ही उत्पन्न हो रहे सम्यग्दर्शनको निसर्गसे उत्पन्न हुआ कहना विरुद्ध नहीं है। अर्थात् कोई विद्यार्थी श्रीप्रमेयकमलमार्तण्ड, श्री अष्टसहस्री आदि पाठ्यग्रंथोंको गुरुमुखसे अध्ययन करके आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सप्तभङ्गीतरङ्गिणी आदि ग्रंथोंको अपने आप (निसर्ग) लगा लेता है। काव्य, साहित्यके चार पांच उच्च ग्रंथोंको पढकर पहिले देखे सुने नहीं ऐसे कतिपय काव्य और पुराणोंको अपने आप लगा लेता है। यहां अपने आपका अर्थ दूसरेके उपदेश (अध्यापन) की नहीं सहायता लेना है। निमित्तके बिना ही हो जाना निसर्गका अर्थ नहीं है। किंतु वह छात्र क्षयोपशम, व्युत्पत्ति, मनोयोग लगाना, व्याकरण, कोश, आदिका बल इन कारणोंसे ही अश्रुतपूर्व ग्रंथोंका अध्ययन करता है। कोई कोई व्युत्पन्न जीव तो अध्ययन किये विना भी पहिले जन्मके संस्कारोंसे ही उत्कृष्ट बुद्धिमत्ताके कार्योंको कर देते हैं, ये कार्य भी निसर्गसे किये हुए समझे जाते हैं। हां! जिन कार्योंमें परोपदेशकी आवश्यकता है, उन कार्योंको दूसरे भेदमें गिना गया है। जगत्के असंख्य कारणोंमें परोपदेश ही एक ऐसा विशिष्ट कारण है जो कि असंख्य कारणोंकी बराबरीमें अकेला गिना जा सकता है। " गुरु विना ज्ञान नहीं " इसकी धारा आजतक चली आ रही है। कवि लोगोंने गुरुके विना मुख्य सिद्धांतोंको न जाननेका मयूरके नृत्यमें गुह्य अंगका दीख जाना दृष्टांत दिया है। वचनोंके द्वारा प्रतिपाद्यविषयोंकी अपेक्षासे देखा जावे तो यह ठीक है, किंतु शब्दोंके द्वारा अवाच्य (न कहा जावे) ऐसा अनन्तानन्त प्रमेय तो उपदेशके बिना ही अन्य कारणोंसे जान लिया जाता है। तथा अनन्तानन्त कार्योंमेंसे अनंतवें भाग कार्य ही उपदेशसे किये जाते हैं, बहुभाग कार्य निसर्गसे ही हो जाते हैं। बाल्य, युवा अवस्थाओंमें उपदेशके बिना ही स्वोचित अनेक क्रियाएं स्वतः ज्ञात हो जाती हैं। अतः परोपदेशके बिना स्वभावसे ही उत्पन्न हुयी सिंहकी शूरवीरता, वृक (भेडिया) की क्रूरता, मृगया बकरीकी भयभीतता, दुर्जनकी नीचता, आदि हुयी देखी जा रही हैं। हां, भगे हुए कतिपय सैनिकोंके प्रति सेनापति करके ओजस्वी वचनों द्वारा शूरताका उत्साह दिलाया जाता है, वह उपदेशजन्य है। अतः परोपदेशके विना ही तत्त्वार्थोंको मति आदि ज्ञानों द्वारा जान चुकनेपर स्वतः होरहा सम्यग्दर्शन निसर्गसे हुआ कहा गया, इसमें कोई विरोध नहीं है।

नन्वेवं मत्यादिज्ञानस्य दर्शनेन सहोत्पत्तिर्विहन्यते तस्य ततः प्रागपि भावादिति चेन्न, सम्यग्दर्शनोत्पादनयोग्यस्य मत्यज्ञानादेर्मतिज्ञानादिव्यपदेशाद्दर्शनसमकालं मत्यादिज्ञानोत्पत्तेः।

यहां शंका है कि आप जैनोंने अभी कहा है कि मतिज्ञान (सुमति ज्ञान) से जाने हुए तत्त्व अर्थमें निसर्गसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है, किन्तु यह बात सिद्धान्तसे विरुद्ध पडती है। क्यों कि सम्यग्दर्शनके साथ ही सुमति या सुश्रुत अथवा अवधिज्ञानकी उत्पत्ति मानी गई है। पूर्वकालमें नहीं, किंतु आप जैनोंने उस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे पहिले भी मतिज्ञान (सुमतिज्ञान) आदिकी सत्ता मानली है । अतः दर्शनके साथ मतिज्ञानकी उत्पत्तिके सिद्धान्तका विघात होता है। ग्रंथकार समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है । क्यों कि यद्यपि सम्यग्दर्शनसे पहिले कालमें रहनेवाला ज्ञान सुमतिज्ञान या अवधिज्ञान नहीं है। फिर भी सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करानेकी योग्यतावाला पूर्वसमयवर्ती सामान्यज्ञान या कुमति आदि ज्ञान उपचारसे सुमति और अवधिरूप हैं ऐसा व्यवहार है। वास्तवमें तो सम्यग्दर्शनके समान कालमें ही सुमति और अवधि आदि की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक कार्यकी पूर्ववर्ती पर्यायोंको उपचारसे तद्रूप कहनेमें कोई क्षति नहीं हैं। सहारनपुरके निकट स्थान भी सहारनपुर समझा जाता है। एक कम लक्ष रुपयोंको भी लक्ष रुपया कह सकते हैं। सामायिकमें स्थित गृहस्थको भी महाव्रतीके समान माना है। केवलज्ञानके उत्पादक बारहवें गुणस्थानके पूर्ण श्रुतज्ञानका केवलज्ञानका व्यपदेश है, जैसे कि कमलको उत्पन्न करनेवाली बीजसहित कीचडकी अन्तिम अवस्था कमलरूप ही है। उस कमलसे ही दूसरे समयमें कमल उत्पन्न हो गया है, कोरी कीचड से नहीं। अतः साक्षात् या परम्परासे क्षयोपशम आदि चार लब्धियोंके पीछे होनेवाले चारित्रगुणके विभावरूप अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरणकी अवस्थाओंमें हो रहे मिथ्याज्ञानको मतिज्ञानपना और अवधिज्ञानपना अभीष्ट है। वास्तवमें देखा जावे तो तीनों करणोंके समयोंमें मिथ्यात्वकर्मका उदय है। अतः सम्यग्दर्शन गुणका मिथ्यात्वरूप विभाव परिणाम है तथा चारित्रगुणकी करणत्रयरूप परिणति है। किंतु इस अन्तर्मुहूर्तमें सम्यग्दर्शनकी कारणसामग्री एकत्रित हो चुकी है तथा प्रतिपक्षी कर्मोंके अनुभाग काण्डक, स्थितिकाण्डकोंको घात और गुणसंक्रमण तथा गुणश्रेणी निर्जराकी विधि भी अपूर्वकरण अवस्थामें हो जाती है। उसके पहिले अधःकरणदशामें अनन्तगुणी विशुद्धिकी वृद्धि, स्थितिबन्धापसारण, प्रशस्त प्रकृतियोंका प्रति समय अनन्तगुणा बढता हुआ गुड, खांड, मिश्री और अमृत सदृश अनुभाग होना तथा अप्रशस्त प्रकृतियोंका निम्ब कांजीर सदृश अनुभागवाला होना ये चार आवश्यक बातें हो चुकी हैं। अनिवृत्तकरणरूप परिणाम तो उत्तरकालमें सम्यग्दर्शनको उत्पन्न ही करते हैं। अतः उपशम सम्यक्त्वके उत्पादक सामग्रीमें पडे हुए ज्ञानको समीचीन ज्ञान ही कल्पित किया है। और क्षयोपशम सम्यक्त्वके पूर्ववर्ती ज्ञानको भी उपचारसे समीचीनज्ञानपना है। परीक्षा देकर उत्तीर्ण हो जानेवाला छात्र उत्तर कापियोंके लिखे जानेपर ही उत्तीर्ण हो चुका, किंतु फल प्रकाशित होनेके पहिले कुछ कालतक वह निर्णीतरूपसे उत्तीर्ण नहीं कहा जा सकता है। मिथ्यात्व गुणस्थानके आदिवर्त्ती या मध्यवर्ती मिथ्याज्ञानमें और अन्तवर्ती मिथ्याज्ञानमें भारी अंतर है, द्रव्य-

निक्षेपसे वह अन्तिम मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है। किंतु वास्तविकरूपसे तो सम्यग्दर्शनके समयमें ही मतिज्ञान उत्पन्न होता है। पहिले समयोंमें मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेसे वे ज्ञान मिथ्या सहचरित हैं।

तर्हि मिथ्याज्ञानाधिगतेऽर्थे दर्शनं मिथ्याप्रसक्तमिति चेन्न, ज्ञानस्यापि मिथ्यात्वप्रसंगात्, सत्यज्ञानस्यापूर्वार्थत्वान्न मिथ्याज्ञानाधिगतेऽर्थे प्रवृत्तिरिति चेन्न, सर्वेषां सत्यज्ञानसन्तानस्यानादित्वप्रसंगात्।

तब तो मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें प्रवृत्त हुए सम्यग्दर्शनको भी मिथ्यापनेका प्रसंग होगा, इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि यों तो मिथ्याज्ञानके पीछे होने वाले समीचीन ज्ञानको भी मिथ्यापनेका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पहिले मिथ्याज्ञान था, उस मिथ्याज्ञानके उत्तर कालमें ही सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होगया है। अत मिथ्याज्ञानके पीछे होने वाले दर्शनको जिस प्रकार मिथ्यापनेका आप प्रसङ्ग देते हैं वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीवके पूर्ववर्ती मिथ्याज्ञानसे पीछे होनेवाले उपादेयरूप सम्यग्ज्ञानको भी सुलभतासे मिथ्यापनेका प्रसंग हो जावेगा। यदि आप यों कहें कि प्रमाणस्वरूप सत्यज्ञान गृहीतग्राही नहीं है जिससे कि वह मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें प्रवृत्ति करें, किन्तु सत्यज्ञान तो नवीन नवीन अपूर्व अर्थोंको ग्रहण करता है इस कारण मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थोंमें सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं होती है। वह तो अपनेको और अर्थको जाननेवाला एक नवीन प्रमाणज्ञान है, सो यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि सभी प्राचीन सम्यग्दृष्टि और नवीन सम्यग्दृष्टियोंके सम्यग्ज्ञानकी सन्तानको अनादिपनेका प्रसंग होजावेगा। अर्थात् मिथ्याज्ञानसे जानेहुए अर्थमें अपूर्व अर्थको जाननेवाले सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्ति होना आप मानते नहीं है। तब तो परिशेषसे निकल आया कि वह सम्यग्ज्ञान अपने पूर्ववर्ती सत्यज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और वह सत्यज्ञान भी उससे पहिलेके सत्यज्ञानसे उत्पन्न हुआ होगा, इस प्रकार सत्यज्ञान अनादिका ठहर जावेगा तभी मिथ्याज्ञानका सम्बन्ध छूट सकेगा, किन्तु सम्यग्ज्ञानकी अनादिसे सन्तान चले आना किसीको इष्ट नहीं है।

सत्यज्ञानात्प्राक् तदर्थे मिथ्याज्ञानवत्सत्यज्ञानस्याप्यभावान्न तस्यानादित्वप्रसक्तिरिति चेन्न, सर्वज्ञानशून्यस्य प्रमातुरनात्मत्वप्रसंगात्, न चानात्मा प्रमाता युक्तोऽतिप्रसङ्गात्।

यदि फिर कोई यों कहे कि सम्यग्दर्शनके समान कालमें हुए सम्यग्ज्ञानसे पहिले उस सम्यग्ज्ञानके विषयमें मिथ्याज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं थी और उसी प्रवृत्तिके समान सत्यज्ञानकी भी प्रवृत्ति नहीं थी अर्थात् सम्यग्ज्ञानके पहिले उस विषयमें जीवको न मिथ्याज्ञान था और न सम्यग्ज्ञान ही था, इस कारण उस सम्यग्ज्ञानके अनादिपनेका प्रसंग नहीं आता है। आचार्य समझाते हैं कि सो यह कहना तो ठीक नहीं है, क्यों कि सभी मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानोंसे रहित मानलिए गये समीचीन ज्ञाता आत्माको अनात्मा (जड) पनेका प्रसंग हो जावेगा और ज्ञानोंसे रहित हो रहे जडरूप पदार्थको प्रमातापना युक्त नहीं है। क्यों कि यों तो जडरूपसे इष्ट किये गये घट, पट, आदिको

भी प्रमातापनेका अतिप्रसंग है। आत्माका लक्षण ज्ञान है, किसी भी अवस्थामें क्यों न हो आत्माके लब्धिरूप या उपयोगरूप ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा लक्षणके न रहनेसे लक्ष्यका भी अभाव हो जावेगा। गुणके न रहने पर द्रव्य भी स्थिर रह नहीं सकता है।

सत्यज्ञानात्पूर्वं तद्विषये ज्ञानं न मिथ्या सत्यज्ञानजननयोग्यत्वात्, नापि सत्यं पदार्थयाथात्म्यपरिच्छेदकत्वाभावात्, किं तर्हि ? सत्येतरज्ञानविविक्तं ज्ञानसामान्यं, ततो न तेनाधिगतेऽर्थे प्रवर्तमानं सत्यज्ञानं मिथ्याज्ञानं मिथ्याज्ञानाधिगतविषयस्य ग्राहकं। नापि गृहीतग्राहीति चेत्, तर्हि कथञ्चिदपूर्वार्थे सत्यज्ञानं न सर्वथेत्यायातम्। तथोपगमे सम्यग्दर्शनं तथैवोपगम्यमानं कथं मिथ्याज्ञानाधिगतार्थे स्यात् ? सत्यज्ञानपूर्वकं वा ? यतस्तत्समकालं मतिज्ञानाद्युपगमविरोधः।

फिर भी कोई कहता है कि सम्यग्ज्ञानसे पहिले उसके ज्ञेय विषयमें जो ज्ञान था वह मिथ्या नहीं था, क्यों कि वह ज्ञान सत्यज्ञानको उत्पन्न करनेकी योग्यता रखता है। जो ज्ञान सत्यज्ञानका बाप बननेके लिए समर्थ हो रहा है, वह मिथ्या नहीं हो सकता है। और सम्यग्ज्ञानके पूर्ववर्ती वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि उस समय सम्यग्दर्शन न होनेके कारण और मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय होनेसे वह ज्ञान पदार्थोंका वास्तविक रूपसे प्रतिभास करनेवाला नहीं है। कोई पूंछे कि सम्यग्दर्शनके पूर्व समयमें रहनेवाला वह ज्ञान जब सम्यग्ज्ञान भी नहीं और मिथ्याज्ञान भी नहीं, तब तो फिर कैसा ज्ञान है ? बताओ। इस पर हमारा यह उत्तर है कि वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानसे रहित होता हुआ सामान्य ज्ञान है। तिस कारण उस सामान्य ज्ञानसे जाने हुए अर्थमें पीछेसे प्रवृत्ति करता हुआ सत्यज्ञान विचारा सम्यग्ज्ञान ही है, मिथ्याज्ञान नहीं है। और मिथ्याज्ञानसे जाने हुए विषयका ग्राहक भी नहीं है। क्योंकि वह तो सामान्य ज्ञानसे जाने हुए विषयमें प्रवृत्ति कर रहा है। तथा वह गृहीत विषयका ग्राही भी नहीं है। अतः हमारे ऊपर तीनों दोषोंके आनेका प्रसंग नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार कहोगे तब तो यह सिद्धांत आया कि वह सत्यज्ञान किसी अपेक्षासे स्यात् अपूर्व अर्थको विषय करता है, सर्वथा ही अपूर्व अर्थको विषय नहीं करता है, क्योंकि अपने ही सामान्य ज्ञानसे जाने हुए विषयमें सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्ति होना माना है। जब सम्यग्ज्ञानको कथञ्चित् अपूर्वार्थग्राही आप मान लेते हैं तो तैसे ही सम्यग्दर्शनको भी तिस ही प्रकार स्वीकार करते हुए आप मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें सम्यग्दर्शनकी प्रवृत्तिका कटाक्ष कैसे कर सकेंगे ?। तथा सम्यग्ज्ञानके पूर्वमें ही सम्यग्ज्ञानकी सत्ताका प्रसंग भी कैसे दे सकेंगे ? जिससे कि उस सम्यग्ज्ञानके समानकालमें मतिज्ञान आदि यानी मतिज्ञान और अवधिज्ञानके स्वीकार करनेका विरोध हो सके। भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंके पहिले सामान्य ज्ञान था और सम्यग्दर्शनके समयमें वही ज्ञान समीचीन मतिज्ञान और अवधिज्ञानरूप परिणत हो जाता है। जैसे कि सासादन गुणस्थानमें अव्यक्तरूपसे अतत्त्वरुचि है। मिथ्यात्वमें आनेपर वही अतत्त्वरुचि व्यक्त हो जाती है।

सर्वं सद्दर्शनमधिगमजमेव ज्ञानमात्राधिगते प्रवर्तमानत्वादिति चेन्न, परोपदेशापेक्षस्य तत्त्वार्थज्ञानस्याधिगमशब्देनाभिधानात् । नन्वेवमितरेतराश्रयः सति सम्यग्दर्शने परोपदेश पूर्वकं तत्त्वार्थज्ञानं तस्मिन् सति सम्यग्दर्शनमिति चेन्न, उपदेष्टृज्ञानापेक्षया तथाभिधानादित्येके समादधते । तेपि न युक्तवादिनः परोपदेशापेक्षत्वाभावादुपदेष्टृज्ञानस्य, स्वयंबुद्धस्योपदेष्टृत्वात्, प्रतिपाद्यस्यैव परोपदेशापेक्षतत्त्वार्थज्ञानस्य सम्भवात् ।

कोई कहता है कि सम्पूर्ण सम्यग्दर्शन अधिगमसे जन्य ही हैं, निसर्गसे जन्य नहीं, क्योंकि-सामान्य ज्ञानसे जाने गये पदार्थमें सम्यग्दर्शन होनेकी प्रवृत्ति हो रही है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकरणमें अधिगम शब्द करके परोपदेशकी अपेक्षा रखता हुआ तत्त्वार्थोंका ज्ञान कहा जाता है। परोपदेशके विना अतिरिक्त कारणोंको निसर्ग माना है। यहां कोई शङ्का करे कि इस प्रकार माननेपर तो कारक पक्षका अन्योन्याश्रय दोष हो जावेगा। क्योंकि सम्यग्दर्शनके हो चुकनेपर तो परोपदेशको कारण मानकर तत्त्वार्थोंका समीचीन ज्ञान होवे और तत्त्वार्थोंका ज्ञान हो चुकनेपर उससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होवे, अर्थात् सम्यग्दर्शनका कारणभूत तत्त्वज्ञान समीचीन होगा तभी सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करा सकेगा और ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होती है। कोई कहते हैं कि इस प्रकार परस्पराश्रय दोष देना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उपदेष्टा वक्ताके ज्ञानकी अपेक्षासे तैसा कह दिया गया है। भावार्थ—उपदेष्टाका ज्ञान ही परोपदेशसे उत्पन्न हुआ है और उपदेष्टाके ज्ञानसे शिष्यके अधिगमजन्य सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। अतः अन्योन्याश्रय दोषका वारण होगया, ऐसा कोई एक विद्वान् समाधान करते हैं। आचार्य कहते हैं कि वे विद्वान् भी युक्तिपूर्वक कहनेवाले नहीं हैं। क्योंकि उपदेष्टाका ज्ञान परोपदेशकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं है। पदार्थोंका स्वयं अनुमनन किये हुए विद्वान् स्वयंबुद्धको उपदेशकपनकी व्यवस्था है। जो विद्वान् दूसरे गुरुसे पढकर उपदेशक हुआ है वह भी कुछ समयतक पदार्थोंका अभ्यास कर चुकनेपर ही पुनः उपदेशक बन सकता है। द्रव्यलिंगी मुनिके उपदेशसे भी अनेक भव्य जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेते हैं। उन द्रव्यलिंगी मुनियोंके भी जीवादिक तत्त्वोंका अच्छा अभ्यास है। सम्यग्दर्शन न होनेसे शुद्धात्माका अनुभव नहीं है। इस विषयको प्रतिपाद्य शिष्य नहीं जान सकता है। वे स्वयं भी नहीं जानते हैं। उपदेश देने सुननेमें इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। निमित्त नैमित्तिकभाव अचिन्त्य है। एक कामी राजाने अपने प्रिय होरहे जारके निकट शीघ्रतासे जाती हुयी कामिनीको बुलाया, स्त्रीने राजासे कहा कि " समय है थोडा, और मुझे जाना है दूर " इन शब्दोंको स्त्रीने साधारण अभिप्रायसे कहा था। किन्तु इस वाक्यको सुनकर और परमार्थको विचार कर राजा कुकर्मोंसे उदासीन होगया, वह विचारता है कि मैंने पापक्रियामें अपने आयुष्यका बहुभाग निकाल दिया है अब समय थोडा अवशिष्ट है और मुझे आत्मीय स्वाभाविक गुणोंकी प्राप्तिके लिए दूर तक चलना है। बादलोंको विलीन देखनेसे कई राजाओंको वैराग्य उत्पन्न होगया है। पहिले उन्होंने अनेक वार

बादल देखे थे तब कुछ नहीं हुआ था। और अनेक रागी जीव बादलोंसे शृंगार रसको उत्पन्न कर लेते हैं, अतः सिद्ध होता है कि न जाने कब किस निमित्तसे कौनसा नैमित्तिक उत्पन्न हो जावे, छात्रोंको पढानेमें भी गुरुका प्रयत्न अधिक प्रेरक नहीं है। विद्यार्थियोंका क्षयोपशम ही प्रधान कारण है, अन्यथा एक गुरुके पढाये बीस छात्रोंमें व्युत्पत्तिका इतना बडा अन्तर न देखा जाता, किन्तु गुरुकी अध्यापनदक्षता भी यों ही उपेक्षणीय नहीं है। अन्यथा विद्यार्थियोंके कृतघ्नता दोष का प्रसंग होगा। रत्नभण्डार (खजाना) की ताली को गुरुसे लेकर उनके उपकारोंको भूल जाना नीचता है। प्रकृतमें हमको यह विचारना है कि सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करानेवाले उपदेशका प्रवर्त्तक वक्ता स्वयंबुद्ध है। हाँ! प्रतिपादन करने योग्य शिष्यके ही तत्त्वार्थज्ञानको परोपदेशकी अपेक्षा होना सम्भव है। अतः उन कोई एक विद्वानोंके द्वारा अन्योन्याश्रय दोषका वारण करना युक्तियोंसे नहीं हो सका। अब कोई अन्य पंडित समाधान करना चाहते हैं कि—

यदैव प्रतिपाद्यस्य परोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानं तदैव सम्यग्दर्शनं तयोः सहचारित्वात् ततो नेतरेतराश्रय इत्यन्येऽपि न प्रकृतज्ञाः। सद्दर्शनजनकस्य परोपदेशापेक्षत्वात् तत्त्वार्थज्ञानस्य प्रकृतत्वात् तस्य तत्सहचारित्वाभावात् सहचारिणस्तदजनकत्वात्।

जिस समय ही शिष्यको परोपदेशसे तत्त्वार्थोंका ज्ञान हुआ है उसी समय सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगया है। क्योंकि वे दोनों ही तत्त्वार्थ-ज्ञान और सम्यग्दर्शन साथ साथ रहने वाले हैं, तिस कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है। भावार्थः—जैसे बैलके सींघे और डेरे सींग साथ उत्पन्न होते हैं इनमें एक दूसरेका आश्रय लेना नहीं है, तैसे ही समानकाल में होनेवाले तत्त्वार्थ-ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें भी परम्पराश्रय नहीं है, अपने अपने उपादान कारणोंसे वे उत्पन्न हो जाते हैं, इस प्रकार अन्य कोई विद्वान् समाधान करते हैं। वे भी प्रकरणमें प्राप्त हो रहे विषयको समझनेवाले नहीं हैं। क्योंकि परोपदेशकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ सम्यक्दर्शनका जनक ऐसा तत्त्वार्थ-ज्ञान यहां प्रकरणमें प्राप्त है। वह ज्ञान सम्यग्दर्शनका सहचारी नहीं है। हां जो ज्ञान सम्यग्दर्शनका सहचारी है वह उस सम्यग्दर्शनका जनक नहीं है। भावार्थः—शिष्यके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रथम जो तत्त्वार्थज्ञान परोपदेशसे उत्पन्न हुआ है, वह तत्त्वार्थ-ज्ञान सम्यग्दर्शनसे पूर्व समयमें रहता है। तभी सम्यग्दर्शनका कारण हो सकता है। कार्यसे पूर्व समयमें कारण रहना चाहिये। अतः इस ढंगसे भी अन्योन्याश्रयका वारण अन्य जन नहीं कर सकते हैं। अभीतक अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ है।

परोपदेशापेक्षस्य तत्त्वार्थज्ञानस्य सम्यग्दर्शनजननयोग्यस्य परोपदेशानपेक्षतत्त्वार्थज्ञानवत्सम्यग्दर्शनात्पूर्वं स्वकारणादुत्पत्तेर्नेतरेतराश्रयणमित्यपरे सकलचोद्यानामसम्भवादागमाविरोधात्।

परोपदेशकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला तत्त्वार्थोंका ज्ञान जैसे सम्यग्दर्शनसे पहिले अपने नियत कारणों करके उत्पन्न हो जाता है, तैसे ही परोपदेशकी अपेक्षा रखता हुआ और सम्यग्दर्शनको उत्पन्न

करनेकी योग्यतावाला तत्त्वार्थज्ञान भी सम्यग्दर्शनसे पहिले अपने अपेक्षणीय क्षयोपशम आदि कारणोंसे उत्पन्न हो चुका है। अर्थात् सम्यक्पने और मिथ्यापनेसे नहीं निर्णीत किये गये पूर्व समयवर्ती तत्त्वार्थज्ञानसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार माननेपर अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है, ऐसा दूसरे विद्वान् कह रहे हैं। इस कथनमें सभी कुचोद्योंका होना नहीं सम्भवता है। अर्थात् कोई भी शंका खडी नहीं रहती है। आगमसे भी कोई विरोध नहीं आता है। इनका अभिप्राय है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिमें निश्चित ज्ञान पूर्व समयवर्ती हुआ है और उस ज्ञानका निमित्त कारण क्षयोपशम है। इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। श्रीविद्यानन्द स्वामीको भी यह समाधान इष्ट है।

सर्वं सम्यग्दर्शनं स्वाभाविकमेव स्वकाले स्वयमुत्पत्तेर्निःश्रेयसवदिति चेन्न, हेतोरसिद्धत्वात्, सर्वथा ज्ञानमात्रेणाप्यनधिगतेऽर्थे श्रद्धानस्याप्रसिद्धेः।

यहांतक सभी सम्यग्दर्शनोंको अधिगमजन्य माननेवालोंके एकान्तका निरास कर दिया है। अब सभी सम्यग्दर्शनोंको स्वाभाविक माननेवाले निरासार्थ प्रयत्न करते हैं। पूर्वपक्षीका कहना है कि सर्व ही सम्यग्दर्शन निसर्ग यानी स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि जो जिसका योग्य काल है, वह अपने समयमें अपने आप उत्पन्न हो जाता है जैसे कि मोक्ष। अर्थात् दस जन्म पीछे होनेवाली मोक्ष प्रयत्न करनेपर भी दो या चार जन्म पीछे नहीं हो सकती है अथवा उपेक्षा करनेसे पचास जन्म पीछे होनेके लिये नहीं हट सकती है। नियत समयमें ही मोक्षका होना अनिवार्य है। जो होनहार है सो होता ही है। कारणोंके मिलानेसे क्या लाभ है? योग्य कालमें वनस्पतियां फलती, फूलती हैं। तैसे ही अपने नियत कालमें सम्यग्दर्शन भी स्वभावसे उत्पन्न होजाता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वपक्षीके द्वारा दिया गया स्वयं उत्पत्तिरूप हेतु किसी अधिगमजन्य होरहे सम्यग्दर्शनमें न रहनेके कारण भागासिद्ध हेत्वाभास है अथवा सभी प्रकारोंसे सामान्य ज्ञानके द्वारा भी नहीं जाने हुए अर्थमें श्रद्धान होना प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् परोपदेशसे या स्वयं जान लिये गये अर्थमें श्रद्धान होना बन सकता है। अतः कारणोंकी अपेक्षासे होनेवाले सम्यग्दर्शनके दो भेद कर दिये गये हैं। उन दोनों सम्यग्दर्शनरूप पक्षमें नहीं रहता है, अतः हेतु स्वरूपासिद्ध है। अपने कालमें भी विना कारकोंके कोई कार्य नहीं होजाता है। हां, अन्य कारणोंके समान काल भी एक कारण है। अकेला काल ही किसी कार्यका पूर्णरूपसे कारण नहीं है। अपने कालमें कार्य होते हैं, इसका अर्थ यही है कि सामग्री मिलने पर अपने कालमें कार्य होते हैं। यदि सामग्री न मिले तो कोरा काल क्या कर सकता है?। कर्मोंका उदयकाल आनेपर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न होनेसे कर्मोंका फल नहीं होने पाता है। नारकियोंके अनेक पुण्य प्रकृतियोंका अपने उचित कालमें उदय आता है। किन्तु क्षेत्रसामग्री न होनेसे विना फल दिये हुए वे प्रकृतियां झड जाती हैं। पूरी आयुःको रखनेवाले जीवोंके अपवर्तनका कारण माने गये शस्त्रघात, विषभक्षण, ग्रन्थिक सन्निपात (प्लेग), विशूचिका (हैजा), आदिके मिल जानेपर मध्यमें ही आयुः कर्मका

ह्रास होजाता है। यदि कदलीघातके कारण न मिलते तो वे कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्च अधिक काल तक अवश्य जीवित रहते। जो भवितव्य है, वह अवश्य ही होवेगा। इसका तात्पर्य यही है कि कारणोंके मिलनेपर ही वह कार्य हो सकेगा. यदि ऐसा नहीं माना जावेगा तो पुरुषार्थ करना व्यर्थ पडता है। व्यापार, अध्ययन, विवाह आदि कारणोंके मिलाये विना धनप्राप्ति, विद्वत्ता, सन्तति आदि कार्य नहीं हो सकते हैं। हां, कभी तीव्र कर्मका उदय होजानेपर पुरुषार्थ व्यर्थ होजाता है। प्लेग, सन्निपात रोगोंसे सताये गये भी औषधिओंके विना ही कोई जीव चंगे होजाते हैं, किन्तु यह राजमार्ग नहीं है। एक मनुष्यका सन्निपात रोग दही खानेसे दूर होगया, इतनेसे ही वह दही खाना सन्निपातकी चिकित्सा नहीं। वास्तवमें कारणोंके मिलनेपर ही कार्य हुआ है, स्वयं अपने आप नहीं। केवल दैववादका पक्ष लेकर पुरुषार्थको न करनेवाले जीव आलसी और एकान्ती हैं। मोक्ष अपने समयमें होती है, इसका अभिप्राय भी यही है कि अतीन्द्रियदर्शीने परोक्ष मोक्षका जिस नियत कालमें होना बताया है, उसको मोक्षके पूर्ववर्त्ती कारण माने गये मनुष्यपर्याय, दीक्षा लेना, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षपकश्रेणी, चारों शुक्लध्यानरूप सामग्रीका होना भी अत्यावश्यक प्रतीक होकर दीख गया है, अतः मोक्षका दृष्टान्त लेकर सभी सम्यग्दर्शनोंको अपने कालमें स्वयं उत्पत्ति होनेसे स्वाभाविकपना सिद्ध करना ठीक नहीं है। जो कार्य अपने कारणोंके मिलनेपर नियत समयमें होगा वही उसका काल है, फिर अपने कालमें अपने आप होगा इस निःसार बातमें क्या तत्त्व निकला ? कुछ भी नहीं। जैसे कि कोई ईश्वरवादी कह देते हैं कि एक एक दानेमें छाप लग रही है, जो दाना जिस प्राणीका है उसीको मिलेगा। क्योंजी इसमें छाप मोहर, लगानेकी क्या बात है ? हम कहते हैं कि बैल गाडी या मोटर गाडीकी उडती हुई धूल या हवा, या जलकण मेघ विन्दुऐं जिसके अंग पर लगती है, सबपर छाप लगी कहो। बात यह है कि देश, काल अनुसार वह वस्तु प्राप्त हो जाती है। सामग्री बदलनेपर परिवर्तन भी हो सकता है, एकान्त करना ठीक नहीं है, प्रकरणमें यह कहना है कि किसी भी प्रकारसे ज्ञान सामान्यके द्वारा भी अर्थको न जाना जावेगा तो ऐसे अर्थमें श्रद्धान होना कैसे भी नहीं बन सकता है।

वेदार्थे शूद्रवत्तत्स्यादिति चेन्न, भारतादिश्रवणाधिगते शूद्रस्य तस्मिन्नेव श्रद्धान दर्शनात्, च प्रत्यक्षतः स्वयमधिगते मणौ प्रभावादिना सम्भवानुमानाभिर्णीते कस्यचिद्भक्तिसम्भवादन्यथा तदयोगात्।

कोई यदि यों कहे कि वेदके अर्थमें विना जाने हुए भी जैसे शूद्रको श्रद्धान हो जाता है अर्थात् "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" इस श्रुतिके अनुसार स्त्री और शूद्रको वेदके अध्ययन करनेका अधिकार नहीं है। फिर भी वेदमें विहित किये गये यज्ञ, आत्मविज्ञान, आदिक अर्थोंमें शूद्रको गाढ श्रद्धान देखा जाता है। इसीके समान ज्ञानके द्वारा नहीं जाने हुए अर्थमें भी सम्यग्दृष्टिको श्रद्धान हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि वेदव्यासके बनाये हुए

महाभारत, भागवत और वाल्मीकिके बनाये हुए रामायण आदि शास्त्रोंके सुननेसे जान लिए गए उस वेदमें ही शूद्रको श्रद्धान होना देखा जाता है। महाभारत आदिमें लम्बे चौडे प्रकरणोंके द्वारा वेदकी स्तुति गायी गयी है और इन प्रमाणोंके सुननेका अधिकार शूद्रको प्राप्त है। अतः सामान्यरूपसे जाने हुए वेदमें ही शूद्रकी भक्ति और श्रद्धान हो सकता है। किसी समय रत्नकी परीक्षा नहीं करनेवाले पुरुषोंके भी मार्गमें पडे हुए अथवा किसी धनिकके घरमें रखे हुए माणिक्य, हीरा, मरकत आदि किसी भी मणि (रत्न) को प्रत्यक्ष प्रमाणसे अपने आप ज्ञात कर लेनेपर और प्रभाव, चाकचक्य आदि हेतुओं करके सम्भवते हुए अनुमानसे निर्णय कर चुकनेपर ही उन रत्नोंमें किसीकी भक्ति होना सम्भव है। अन्यथा यानी कुछ कुछ प्रत्यक्षसे या सम्भवते हुए अनुमानसे मणिको न जाना जावेगा तो बालक, चूहा, चिडिया आदिके समान उन पुरुषोंको रत्नोंमें वह भक्ति या रागका योग नहीं हो सकता है। जैसे कि मूर्ख भिल्लिनीको गज-मुक्ताओंमें राग नहीं होता है, वह गज-मोतियोंको छोडकर गोंगचियोंके भूषण बनाकर हर्षसहित पहिनती है। भूमिमें गढे हुए रत्नोंके निकट मूसे यों ही डोलते हैं। उन रत्नोंका वास्तविक ज्ञान न होनेके कारण उनको आभिमानिक सुख प्राप्त नहीं होता है। तभी तो वे सुवर्ण या रत्नको यों ही इतस्ततः फेंक देते हैं।

साध्यसाधनविकलत्वाच्च दृष्टान्तस्य न स्वाभाविकत्वसाधनं दर्शनस्य साधीयः। न हि स्वाभाविकं निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानादिकतदुपायानर्थक्यापत्तेः। नापि स्वकाले स्वयमुत्पत्तिस्तस्य युक्ता तत एव। केचित् संख्यातेन कालेन सेत्स्यन्ति भव्याः, केचिदसंख्यातेन केचिदनन्तेन, केचिदनन्तानन्तेनापि कालेन न सेत्स्यन्तीत्यागमान्निःश्रेयसस्य स्वकाले स्वयमुत्पत्तिरिति चेत् न, आगमस्यैवंपरत्वाभावात्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसात्मीभावे सति संख्यातादिना कालेन सेत्स्यन्तीत्येवमर्थतया तस्य निश्चितत्वात्, दर्शनमोहापशमोदिजन्यत्वाच्च न दर्शनं स्वकालेनैव जन्यते यतः स्वाभाविकं स्यात्।

एक बात यह भी है कि सम्यग्दर्शनको स्वाभाविकपना सिद्ध करनेमें दिया गया मोक्षरूपी दृष्टान्त तो स्वाभाविकपना साध्य और अपने कालमें अपने आप उत्पत्ति हो जाना रूप हेतुसे रहित है। अतः सम्यग्दर्शनको स्वाभाविकत्व सिद्ध करनेके लिये दिया गया वह दृष्टान्त बहुत अच्छा नहीं है। सुनिये, प्रथम ही दृष्टान्तका साध्यरहितपना अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि मोक्ष (पक्ष) स्वाभाविक नहीं है (साध्य) तत्त्वज्ञान, दीक्षा, ध्यान, आदि उसके उपायोंको व्यर्थपनेका प्रसंग हो जानेसे (हेतु)। अर्थात् जो उपायोंसे साध्य है वह कारणोंके विना यों ही स्वभावसे ही उत्पन्न हो जानेवाला नहीं है। तथा मोक्षरूपी दृष्टान्तमें हेतु भी नहीं रहता है। देखिये, उस मोक्षकी (पक्ष) अपने आप ही अपने समयमें उत्पत्ति हो जाना भी युक्त नहीं है (साध्य) क्योंकि उस ही पूर्वोक्त हेतुसे यानी विशिष्ट समयोंमें ही होनेवाले तत्त्वज्ञान आदिक उपाय व्यर्थ पड जावेंगे (हेतु)। यहां कोई शंका उठाता है कि कितने ही भव्य जीव संख्यात कालके बीत जाने पर सिद्धिको प्राप्त करेंगे

और अन्य कितने ही भव्यजीव असंख्यात कालसे (के पीछे) सिद्ध होवेंगे तथा अन्य कतिपय जीव अनन्त वर्षोंके पीछे सिद्धिलाभ करेंगे। कुछ अभव्य और दूर भव्य जीव ऐसे भी हैं जो अनन्तानन्त कालमें भी सिद्ध अवस्थाको न प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार आगमके वाक्योंसे मोक्षकी अपने नियत कालमें अपने आप उत्पत्ति होना सिद्ध है। फिर आप जैनोंने मोक्षरूप दृष्टान्तको साधनसे रहित कैसे कहा था ? बतलाइये। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह शंका तो ठीक नहीं है। क्योंकि आप आगमका जैसा अर्थ कर रहे हैं उस आगमकी इस प्रकार अर्थ करनेमें तत्परता नहीं है। यानी आप जैसा अर्थ करते हैं वह आगमका अर्थ नहीं है। उसका ठीक अर्थ यह है कि मोक्षके नियतकारण माने गये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनका आत्माके साथ तदात्मक एक रस हो जानेपर कोई संख्यात आदि कालोंसे सिद्धिलाभ करेंगे। हां कोई अनन्तकालमें भी सिद्ध न बन सकेंगे। इस प्रकारके अर्थसहितपने करके उस आगमका निश्चय हो रहा है। कारणोंके एकत्रित हो जानेपर ही कार्य हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि यह सम्यग्दर्शन तो दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम क्षयोपशम और क्षयरूप आदि हेतुओंसे जन्य है। अतः जब ये हेतु मिलेंगे तभी उत्पन्न होगा, चाहे जिस अपने कालमें ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होजाता है जिससे कि वह स्वाभाविक यानी विना कारणोंके ही निसर्गसे होनेवाला हो सके। अर्थात् यहां सम्यग्दर्शनमें साधनके न रहनेसे स्वाभाविकपना साध्य भी नहीं रहता है। इस कारण तीनों ही सम्यग्दर्शनोंके निसर्ग और अधिगम ये दो कारण मानना समुचित हैं।

अन्तर्दर्शनमोहस्य भव्यस्यापशमे सति।
तत्क्षयोपशमे वापि क्षये वा दर्शनोद्भवः ॥ ५ ॥
बहिः कारणसाकल्येप्यस्योत्पत्तेरपीक्षणात्।
कदाचिदन्यथा तस्यानुपपत्तेरिति स्फुटम् ॥ ६ ॥

दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम या क्षयोपशम अथवा उसके क्षयरूप भी अन्तरङ्ग कारणोंके होनेपर किसी भव्य जीवके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना देखा जाता है, तथा जिनमहिमाका दर्शन, जातिस्मरण, वेदनासे दुःखित होना, अधिगम, (धर्मश्रवण) अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरण आदि बहिरंग कारणोंकी भी सम्पूर्णता मिलनेपर ही इस सम्यग्दर्शनकी कभी कभी उत्पत्ति होना भी देखा जाता है। अन्यथा यानी बहिरंग और अन्तरङ्ग कारणोंकी पूर्णता न होनेपर उस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना असिद्ध है। यह बात सबके सन्मुख स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाती है।

ततो न स्वाभाविकोस्ति विपरीतग्रहक्षयः स्याद्वादिनामिवान्येषामपि तथानभ्युपगमात्।

तिस कारणसे सिद्ध होता है कि विपरीत अर्थका ग्रहण कर श्रद्धान करनारूप मिथ्यात्वका क्षय मात्र स्वभावसे ही होनेवाला नहीं है। स्याद्वादियोंके समान अन्य नैयायिक मीमांसक आदि वादियोंने भी तैसा स्वीकार नहीं किया है। अर्थात् मिथ्याज्ञानरूप शनिग्रहको क्षय करनेवाला सम्यग्ज्ञानका अविनाभावी सम्यग्दर्शन अपने कारणोंसे ही विशिष्ट समयमें उत्पन्न होता है। कारणोंके विना स्वभावसे ही चाहे जब वह उत्पन्न नहीं हो जाता है।

पापापायाद्भवत्येष विपरीतग्रहक्षयः।
पुंसो धर्मविशेषाद्वेत्यन्ये संप्रतिपेदिरे ॥ ७ ॥

अतत्त्वोंको तत्त्वरूपसे ग्रहण करनेरूप विपर्यय ज्ञानका यह क्षय (उद्देश्यदल) पाप कर्मोंके नाशसे होता है (विधेय)। अथवा आत्माके विशेष पुण्य कर्मोंसे उत्पन्न हुए विशिष्ट धर्मोंसे मिथ्याज्ञानका क्षय होता है। इस प्रकार अन्य नैयायिक, मीमांसक, आदि प्रतिवादी लोग भी भले प्रकार ज्ञात कर चुके हैं। भावार्थः—मिथ्याग्रहणके क्षयकी कारणोंसे उत्पत्ति होना सभी दार्शनिकोंने स्वीकार की है। वह स्वाभाविक नहीं है। अन्यथा सभी जीवोंके सर्वदा उसका मित्र सम्यग्ज्ञान पाया जाता। तीव्र पिशाचको दूर करनेके लिये सामग्री एकत्रित करनी पडती है। कोरे ढोंगसे काम नहीं चलता है। सूत्रमें कहे गये निसर्गपदका अर्थ भी उपदेशके अतिरिक्त होरहे शेष कारण हैं। कोरा स्वभाव नहीं मान बैठना।

ननु च यदि दर्शनमोहस्योपशमादिस्तत्त्वश्रद्धानस्य कारणं तदा स सर्वस्य सर्वदा तज्जनयेत् आत्मनि तस्याहेतुकत्वेन सर्वदा सद्भावात्, अन्यथा कदाचित्कस्यचिन्न जनयेत् सर्वदाप्यसत्त्वात् विशेषाभावादिति चेन्न, तस्य सहेतुकत्वात्प्रतिपक्षविशेषमन्तरेणाभावात्।

यहां किसीकी दूसरी शंका है कि दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदिको आप जैन लोग यदि तत्त्वश्रद्धानके कारण मानेंगे, तब तो वे उपशम आदि कारण सभी जीवोंके सम्पूर्ण कालोंमें उस सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करा देवें। क्योंकि वह मोहनीय कर्मका उपशम आदि होना अपनी उत्पत्तिमें किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं रखता है। अतः वह आत्मामें सर्वदा विद्यमान है ही। अन्यथा यानी उपशम आदिको आत्मामें सर्वदा विद्यमान नहीं कहकर अन्य प्रकारसे मानोगे तो किसी भी समय किसी जीवके वे उपशम आदि सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करा सकेंगे, कारण कि उपशम आदिक सदा भी आत्मामें हैं ही नहीं। उपशम आदि न होनेकी अपेक्षासे कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् किसी समयमें किसी आत्माके उपशम आदिकका न होना तो सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करादे और अन्य समयमें अन्य किसी आत्माके उपशम आदिका न होना सम्यग्दर्शनको उत्पन्न न करा सके, इस व्यवस्थाका नियामक कोई विशेष हेतु आप जैनोंके पास नहीं है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकारकी शंका तो ठीक नहीं है। क्योंकि वे उपशम, क्षय, क्षयोपशम तो अहेतुक

नहीं हैं, किन्तु हेतुओंसे सहित हैं। दर्शनमोहनीयकर्मके नाश करनेवाले काललब्धि, ध्यान, अधःकरण, आदि विशेष प्रतिपक्षिओं (शत्रुओं) के विना उपशम आदि कभी नहीं उत्पन्न होते हैं। भावार्थ—विशेष व्यक्तिके विशेष समयमें कर्मोंके प्रतिपक्षी कारणोंके मिलनेपर ही उपशम, क्षय और क्षयोपशम होते हैं। अतः सम्यग्दर्शनकी सर्वदा उत्पत्ति और सर्वदा अनुत्पत्तिका प्रसंग नहीं आता है।

कथं प्रतिपक्षविशेषाद्दर्शनमोहस्योपशमादिरित्युच्यते।

कर्मोंके शत्रुरूप विशेष प्रतिपक्षियोंसे दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षयोपशम और क्षय कैसे हो जाते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज कहते हैं—

दृग्मोहस्तु क्वचिज्जातु कस्यचिन्नुः प्रशाम्यति।
प्रतिपक्ष्यविशेषस्य सम्पत्तेस्तिमिरादिवत् ॥ ८ ॥
क्षयोपशममायाति क्षयं वा तत एव सः।
तद्धेदेवेति तत्त्वार्थश्रद्धानं स्यात्स्वहेतुतः ॥ ९ ॥

यहां तीन अनुमान बनाये जाते हैं कि किसी स्थानपर किसी समय योग्यता मिलनेपर किसी आत्माके दर्शनमोहनीय कर्मका प्रशस्त उपशम हो जाता है। अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टिके अनन्तानुबन्धी चार और मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियोंका तथा किसी सादि मिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व सहित उक्त सात प्रकृतियोंका उपशम हो जाता है। पहिले, चौथे, पांचवें, छठे, सातवें गुणस्थानमें सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृतिका संक्रमण हो जानेपर अथवा तीसरे, चौथे आदि गुणस्थानोंमें फल देकर या कहीं भी नहीं फल देकर दोनोंकी स्थितिबन्धके पूर्ण हो जानेपर सादि मिथ्यादृष्टिके भी पांच प्रकृतियोंका उपशम होता है [प्रतिज्ञा] क्योंकि उस मोहनीय कर्मके नाश [उपशम] करनेवाले विशेष प्रतिपक्षियोंकी आत्मामें तदात्मक रूपसे प्राप्ति होगयी है [हेतु] जैसे कि आंखोंमें लगे हुए तमारा, फुली, मोतियाबिन्दु, जाला आदि दूषित पदार्थोंका अञ्जन आदि प्रतिपक्षी औषधियोंसे कुछ दिनोंतकके लिए उपशम हो जाता है। दूसरा अनुमान यह है कि वह दर्शनमोहनीय कर्म [पक्ष] कहीं कभी किसी जीवके क्षयोपशम अवस्था को प्राप्त हो जाता है, यानी छह प्रकृतियोंके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभावरूप क्षय तथा उदीरणाको रोक रहा इनही प्रकृतियोंका सदवस्थारूप उपशम और देशघाती सम्यक्त्व कर्मका उदय बना रहता है (साध्य) क्योंकि तैसा ही कारण होनेसे अर्थात् कर्मबन्धके प्रतिपक्षी और स्वाभाविक गुणके प्रापक काललब्धि, जिनबिम्ब दर्शन आदि विशेष हेतुओंकी सम्प्राप्ति हो रही है [वही हेतु] दृष्टान्त भी वही है। अर्थात् जैसे नेत्रमें उपयोगी हो रही औषधके सेवनसे कुछ देरके लिए प्रकृष्ट दोषोंका फल न

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देना रूप क्षय और छोटे छोटे दोषोंका सद्भाव बना रहता है। अथवा तिसरा अनुमान यह है कि वह दर्शन मोहनीय कर्म [पक्ष] कहीं [श्रुतकेवली या केवलीके निकट] कभी [कुछ मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कमती दो कोटि पूर्व वर्षसे अधिक तेतीस सागर तक अधिकसे अधिक संसारमें रहना शेष रहनेपर] किसी निकट भव्य जीवके क्षयको प्राप्त हो जाता है [साध्यदल] क्योंकि दर्शनमोहनीयकर्मको बंध, उदय सत्त्वरूपसे समूल चूल क्षय करनेवाले प्रतिपक्षी कारण आत्मामें जुट गये हैं [हेतु] उसी दृष्टांतके समान अर्थात् जैसे कि आंखोंके तमारा, रतोंध आदि दोषोंको जडमूलसे काटनेवाली औषधिके मिलने पर उन दोषोंका सर्वदाके लिये क्षय हो जाता है। इस प्रकार तीनों अनुमानोंसे उपशम, क्षय, क्षयोपशमोंको कारण सहितपनेका निरूपण कर दिया है। उन्हींके समान तत्त्वार्थश्रद्धान भी अपने कारण माने गये उपशम आदिसे विशेषव्यक्तिके विशेष समयमें कारणोंके अनुरूप उत्पन्न हो जाता है। यह समझ लेना चाहिये।

यः कचित्कदाचित् कस्यचिदुपशाम्यति, क्षयोपशममेति, क्षीयते वा, स स्वप्रतिपक्ष-प्रकर्षमपेक्षते यथा चक्षुषि तिमिरादिः तथा च दर्शनमोह इति नाहेतुकस्तदुपशमादिः।

जो पदार्थ कहीं कभी किसीके भी उपशान्त होता है या क्षयोपशमको प्राप्त होता है अथवा क्षयको प्राप्त हो जाता है। (व्याप्तिका हेतु) वह पदार्थ अपने प्रतिपक्ष होरहे पदार्थकी वृद्धिको सहकारीपनेकी अपेक्षासे चाहता है। (व्याप्तिका साध्य)। जैसे कि चक्षुमें तमारा, कामल, आदि रोग तभी नाशको प्राप्त होवेंगे, जब कि उन दोषोंके उत्पादक कारणोंका प्रकर्षशक्तिवाला प्रतिपक्ष (नाशक) अञ्जन, ममीरा, भीमसेनी कर्पूर, मोती आदि औषधिओंका समुदाय प्राप्त हो जावेगा। (अन्वय दृष्टांत)। और तैसा ही तिमिर आदिके समान उपशम आदिको प्राप्त होनेवाला दर्शनमोहनीय कर्म है। (उपनय) अतः अपने प्रतिपक्षीका अपेक्षक है। (निगमन) इस प्रकार उस कर्मके उपशम आदि होना अहेतुक नहीं हैं, यानी हेतुओंसे कर्मोंके उपशम, क्षय, और क्षयोपशम होते हैं। तब तो सम्यग्दर्शन भी कारणसहित ठहरा।

प्रतिपक्षविशेषोऽपि दृङ्मोहस्यास्ति कश्चन।
जीवव्यामोहहेतुत्वादुन्मत्तकरसादिवत् ॥ १० ॥

मोहनीय कर्मके प्रतिपक्ष पडनेवाले विपक्षीको अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि दर्शनमोहनीय कर्मका कोई न कोई विशेष प्रतिपक्षी भी है (प्रतिज्ञावाक्य)। जीवके स्वाभाविक गुणोंको विशेषरूप करके मोहित करनेका कारण होनेसे (हेतु); जैसे कि उन्मत्त करनेवाले मद्य, भंग, धतूरा, आदिके रसका तथा अहिफेन, गांजा, आदि उन्मत्त बनानेवाले पदार्थोंकी शक्तिका ध्वंस करनेवाले प्रतिपक्ष शीतजल, दधि, खटाई, हींगडा आदि पदार्थ हैं (अन्वय दृष्टान्त)।

यो जीवव्यामोहहेतुस्तस्य प्रतिपक्षविशेषोऽस्ति यथोन्मत्तकरसादेः। तथा च दर्शनमोह इति न तस्य प्रतिपक्षविशेषस्य सम्पत्तिरसिद्धा।

जो पदार्थ जीवको चारों ओरसे विशेष मोहित करनेका कारण है उस पदार्थका नाश करनेवाला प्रतिपक्षी पदार्थ भी कोई अवश्य है। जैसे कि उन्मत्तताको करनेवाले मद्य रस, धतूरा आदिकी शक्तियोंको नष्ट करनेवाले विरोधी पदार्थ हैं। जिन कारणोंसे ज्वर, श्लेष्म, खांसी आदि रोग उत्पन्न होजाते हैं उनके प्रतिपक्षी निदानोंसे वे रोग दूर भी होजाते हैं। आत्माको मूढ बनानेवाले अहिफेन, कुमंत्र आदि पुद्गल द्रव्यके निवारक प्रतिपक्षी पदार्थ संसारमें विद्यमान हैं। और तैसा ही आत्माको तत्त्वार्थोंके श्रद्धानमें न लगाकर कुतत्त्वोंकी ओर (तरफ) झुकानेवाला मोहक मोहनीय कर्म है। इस प्रकार उस कर्मके नाश करनेवाले द्रव्य, या अनिवृत्तिकरण, आदि विशेष प्रतिपक्षियोंकी किसी समय किसी आत्मामें अच्छी प्राप्ति होजाना असिद्ध नहीं है, सो सुनिये।

स च द्रव्यं भवेत् क्षेत्रं, कालो भावोऽपि वाङ्गिनाम्।
मोहहेतुसपत्नत्वाद्विषादिप्रतिपक्षवत् ॥ ११ ॥

मोहनीय कर्मके प्रतिपक्षको अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि जीवोंके मोहनीय कर्मका वह प्रतिपक्षी पदार्थ (पक्ष) विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र और काल हैं तथा भाव भी हैं (साध्य) क्योंकि उन द्रव्य आदिकोंको मोहनीय कर्मके मिथ्या आयतन, रौद्रध्यान, आदि हेतुओंका शत्रुपना है। (हेतु) जैसे कि विष, अधिक भोजन, आदिके प्रतिपक्ष माने गये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंके मिलनेपर विष और अधिक भोजनके दोषोंका नाश होजाता है। (अन्वय दृष्टान्त) अधिक भोजनके दोषोंका वडवानल चूर्ण, पञ्चसकार चूर्ण आदि द्रव्यसे, समीचीन जल वायुके प्रदेशमें टहलनेसे, प्रातःकाल व्यायाम, डेरे करवटसे लेटना आदि क्रियाओंसे नाश होजाता है, विषका भी द्रव्य आदिकसे नाश होजाता है, तैसे ही द्रव्य आदि कारणकूटसे मोह कर्मका नाश होजाता है।

मोहहेतोर्हि देहिनां विषादेः प्रतिपक्षो वन्ध्यकर्कोट्यादि द्रव्यं प्रतीयते, तथा देवतायतनादि क्षेत्रं, कालश्च मुहूर्तादिः, भावश्च ध्यानविशेषादिस्तद्दर्शनमोहस्यापि सपत्नो जिनेन्द्रबिम्बादि द्रव्यं, समवसरणादि क्षेत्रं, कालश्चार्धपुद्गलपरिवर्तनविशेषादिर्भावश्चाधाप्रवृत्तिकरणादिरिति निश्चीयते। तदभावे तदुपशमादिप्रतिपत्तेः, अन्यथा तदभावात्।

जिस कारणसे कि प्राणियोंको मोहके कारण होरहे विष आदि पदार्थोंके प्रतिपक्षी द्रव्य तो वन्ध्य, (विषकी शक्तिको निष्फल करनेवाली कोई विशेष औषधि) ककोंटी, (विशेष फल, जडी, बूटी) यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, गारुडि, आदि प्रतीत हो रहे हैं, तथा विष, शरीर वेदना, बावले कुत्ते, और लोखटीके काटनेका पागलपनको नाश करनेवाले क्षेत्र भी सुदेवोंके स्थान, धर्मशाला, मन्त्रशाला

कसौली आदि हैं। तथा शुभ मुहूर्त, दीपावलीका दिवस, पुष्य नक्षत्र आदि काल हैं। एवं धनञ्जय सेठके समान ध्यान विशेष करना, नीरोगताकी भावना, मंत्र जपना आदि भाव हैं। तैसे ही दर्शन-मोहनीय कर्मकी भी शक्तिको नष्ट करनेवाले प्रतिपक्षी द्रव्य तो जिनेंद्र प्रतिमा, देव ऋद्धि आदि हैं। और समवसरण या तीर्थस्थान एवं पञ्चकल्याणोंके स्थान आदि क्षेत्र हैं। तथा अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल संसारमें अवशेष रहना या तीर्थङ्करोंके पञ्चकल्याणकोंकी तिथियां, विशेष पर्वदिन, आदि काल रूप सामग्री है। और प्रायोग्य, अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, आदि भाव हैं। इस प्रकार दर्शनमोहनीयके प्रतिपक्षी द्रव्य आदि पदार्थ निश्चित किये जाते हैं। सम्पूर्ण कर्मोंके सम्राट् समझे गये उस मोहनीय कर्मके अभाव होनेपर ही उसके उपशम, क्षयोपशम, और क्षय होनेकी प्रतिपत्ति हो रही है। दूसरे प्रकारोंसे उन उपशम आदिके होनेका अभाव है।

तत्सम्पत्सम्भवो येषां ते प्रत्यासन्नमुक्तयः।
भव्यास्ततः परेषां तु तत्सम्पत्तिर्न जातुचित् ॥ १२ ॥

उस दर्शन मोहके प्रतिपक्षी कहे गये उपशम आदि भावोंकी या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की सम्पत्ति जिन जीवोंके सम्भवती है तिस कारणसे वे जीव निकटभव्य हैं उनकी मोक्ष होना अति निकट है। और उनसे दूसरे अभव्य जीव या दूरातिदूर भव्य जीवोंके तो उस उपशम या द्रव्य आदि सम्पत्तिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकेगी। अति विलम्बसे मोक्षको प्राप्त करनेवाले जीवोंके भी अधःकरण आदिकी सम्पत्ति बहुत दिनोंके पीछे प्राप्त होगी। सम्पत्तिका अर्थ गुणके साथ प्रेम रखते हुए एक रस हो जाना है। षोडशकारण भावनाओंमें विनयसम्पन्नता दूसरी भावना है। अन्य पन्द्रहोंसे विनय भावनामें यह विशेषता है कि जैसे कृपणधनी अपनी धन सम्पत्तिको सदा छातीसे लगाये रहता है वैसे ही विनीत पुरुषके मन, वचन, तन आत्मामें विनयगुण सना रहना चाहिये। विनयको अपनी मूलसम्पत्ति समझकर सदा गुरु जनोंके प्रति आदर करे। जैसे ऐंठैल धनाढ्यकी प्रत्येक क्रियामें धनवत्ताकी वास आती है तैसे ही आत्माके प्रत्येक व्यवहारमें विनयकी सुगन्ध बहती रहनी चाहिये। अतः विनयगुणके साथ सम्पन्नता लगाकर दूसरी भावना भावित होती है।

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषां क्वचित्कारणासन्निधानात्, इति युक्तिनासन्नभव्यादिविभागः सद्दर्शनादिशक्त्यात्मकत्वेपि सर्वसंसारिणाम्।

जिन आत्माओंको मोक्ष होना अतीव निकट है उन भव्योंके ही दर्शनमोहनीय कर्मके प्रतिपक्ष सामग्रीकी प्राप्ति होजाती है। अन्य जीवोंके किसी कालमें उस सम्पत्तिकी प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि अन्य आत्माओंके कभी भी ऐसे कारण पासमें नहीं आते हैं और कारणके विना कार्य होता

नहीं है। इस प्रकार जीवोंका निकटभव्य, दूरभव्य, दूरातिदूरभव्य आदि और अभव्य ऐसा जाति-विभाग करना युक्तियोंसे सहित है। भले ही सम्पूर्ण संसारी जीवोंके द्रव्यरूपसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों तदात्मक शक्तियां विद्यमान हैं तो भी भेद करना आवश्यक है। भावार्थः—इन तीनों शक्तियोंका अभव्योंके सदा ही विभाव परिणाम होता रहता है या यों कहिये कि इन तीनों स्वाभाविक पर्यायोंकी व्यक्ति अभव्यमें नहीं हो पाती है। अभव्योंके केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञानरूप परिणमन करनेकी योग्यताको रखनेवाली चेतना शक्ति विद्यमान है, किन्तु मनः पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणका सदा उदय बना रहनेसे वह शक्ति कभी व्यक्त नहीं होने पाती है। कोई मूंग शीघ्र पक जाती है, कोई कुछ देरमें पकती है, तथा किसी सडी गली मूंगको तो पकानेके कारण अग्नि, जल और पात्र ही नहीं मिल पाते हैं। तथा कुछ जातिकी मूंग तो हजारों मन लक्कड जलानेपर भी नहीं पक सकती है। तीन चार भवोंमें मोक्ष जानेवाला नितान्त आसन्न भव्य है। थोडे भवोंमें मोक्ष जानेवाला निकट भव्य है। अनन्तानन्त कालकी अपेक्षासे अर्ध-पुद्गलपरिवर्तन उसका अनन्तानन्तवां भाग होनेसे बहुत थोडा काल है। जिस जीवको मोक्ष जानेके लिये इतना काल अवशेष रहा है वह भी निकटभव्य कहा जाता है। पांच परावर्तनोंमें सबसे छोटा द्रव्यपरिवर्तन है। इसके नोकर्म, कर्म ये दो भेद हैं। सबसे छोटा नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन है, इसके आधे कालको अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं। इससे अधिक कालमें या अनेक पुद्गल परिवर्तनोंके पीछे जो मोक्ष जानेवाले हैं वे दूरभव्य हैं। और जिन भव्योंको शक्ति होनेपर भी सम्यग्दर्शनके व्यक्त होनेके लिये कभी कारण ही न मिलेंगे उनको दूरातिदूरभव्य कहते हैं। ऐसे परमाणु अनन्त पडे हुए हैं जो आजतक स्कन्धरूप नहीं हुए और आगे भी न होवेंगे, उनमें जघन्य गुण ही परिणत होते रहते हैं जो कि बन्धके कारण नहीं है। कोई अभव्य जीव हैं जो कि निमित्त मिलनेपर भी दर्शनमोहनीयका उपशम नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार संसारी जीवोंकी चार प्रकार की जातियां हैं।

सम्यग्दर्शनशक्तेर्हि भेदाभावेऽपि देहिनाम्।
सम्भवेतरतो भेदस्तद्व्यक्तेः कनकाश्मवत् ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके सम्यग्दर्शनरूपी शक्तिका भेद न होनेपर भी व्यक्त होनेकी सम्भावना और सम्यग्दर्शनके नहीं प्रगट होनेकी सम्भावनासे अवश्य भेद है, जैसे कि सुवर्णका पाषाण (दृष्टान्त) अर्थात् जिनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण व्यक्त हो जावेंगे, वे भव्य हैं। और जिनके ये गुण कैसे भी प्रगट न होवेंगे, वे अभव्य हैं। तथा जिनको कारण ही न मिलेंगे वे दूरातिदूर भव्य भी अभव्य सारिखे हैं। सुवर्णपाषाणमेंसे अग्नि, तेजाब निमित्त मिलानेपर सौटंच सुवर्ण प्रगट होजाता है और अन्ध पाषाणसे निमित्त मिलानेपर भी सुवर्ण व्यक्त नहीं होता है। यद्यपि सुवर्ण दोनों पाषाणोंमें विद्यमान है। बादाम, पिस्ता, सरसों और तिलोंसे तैल निकल आता

है। गेहूं, जौ, चनामें से कठिनतासे तेल निकलता है। चीकनी मट्टी, भुस से नहीं। हां, मट्टी आदिमें भी अव्यक्त रूपसे तैल विद्यमान रहता है। कहीं तिल आदिमें निमित्त ही नहीं मिलपाते हैं। हां, बालूमें से तेल निकलता ही नहीं है।

यथा किञ्चित्कनकाश्मादि सम्भवत्कनकभावाभिव्यक्तिकमचिरादेव प्रतीयते, अपरं चिरतरेणापि कालेन सम्भवत्कनकभावाभिव्यक्तिकमन्यदसम्भवत्कनकभावाभिव्यक्तिकं, शश्वत्कनकशक्त्यात्मकत्वाविशेषेऽपि सम्भाव्यते, तथा कश्चित् संसारी सम्भवदासन्नमुक्तिरभिव्यक्तसम्यग्दर्शनादिपरिणामः, परोनन्तेनापि कालेन सम्भवदभिव्यक्तसद्दर्शनादिरन्यः शश्वदसम्भवदभिव्यक्तसद्दर्शनादिस्तच्छक्त्यात्मकत्वाविशेषेऽपि सम्भाव्यते।

जैसे कि किसी कनकपाषाण या रसायनप्रयोग द्वारा सम्पादन किया गया तांबा, सीसा, लोहाका अग्नि तेजाब नागफणी आदि पदार्थोंका निमित्तोंके मिलानेपर अल्प ही कालमें निर्दोष सुवर्ण स्वरूपसे प्रगट होना सम्भव होरहा है। और दूसरे सुवर्णकी खानका पाषाण या रसायन बनानेकी प्रक्रियामें पडा हुआ तांबा आदि द्रव्य तो विशेष लम्बे काल करके भी सुवर्णरूपसे प्रगट होते हुए सम्भव रहे हैं। तीसरे जातिके अन्य अन्ध पाषाण या विशिष्ट तांबा आदिका सुवर्णरूपसे प्रगट होना असम्भव ही है। यद्यपि उक्त पाषाण आदि धातुओंमें सुवर्णरूपसे परिणमन होनेकी शक्ति तदात्मक होकर विशेषताओंसे रहित यानी एकसी सदा विद्यमान है। फिर भी शीघ्र सोना बन जाना, विलम्बसे सोना बन जाना और कभी भी सोना न बनना इन परिणतियोंसे जैसे शक्तियुक्त द्रव्यके तीन विभाग कर दिये सम्भव जाते हैं। वैसे ही कोई संसारी जीव तो अल्पदिनोंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणों (परिणामों) को प्रगट करता हुआ निकट मोक्ष-गामी सम्भव है। और दूसरा दूरभव्य अनन्तकालसे भी सम्यग्दर्शन आदि गुणोंको सम्भवतः प्रगट कर सकेगा। अतः वह दूरभव्य सम्भव रहा है। इनसे भिन्न तीसरा सर्वदा ही सम्यग्दर्शन आदिको प्रगट न कर सकेगा। अतः उसकी मुक्ति होना असम्भव है यह अभव्यजीव है। तीनों ही प्रकारके जीवोंमें भले ही शक्तिरूपसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, की तदात्मकतायें अन्तररहित विद्यमान हैं, फिर भी शीघ्रभव्यता, दूरभव्यता, और अभव्यता, से विभाग करना सम्भावित होरहा है। दूरातिदूर भव्यपना भी इन्हींमें गर्भित होजाता है। भावार्थ—द्रव्यमें गुण नये नहीं गढे जाते हैं। जो ही भव्योंमें गुण हैं वैसे ही अभव्योंमें गुण हैं, केवल स्वाभाविक पर्यायोंका होजाना या सम्भावित होना और विभाव पर्यायोंका होना इतना ही भव्य और अभव्यमें अन्तर है। अकेले पञ्चाध्यायीकारके मतानुसार जीवोंमें भव्यत्व और अभव्यत्व गुणोंके सद्भावसे भी अन्तर है।

इति नासन्नभव्यदूरभव्याभव्यविभागो विरुध्यते बाधकाभावात् सुखादिवत्। तत्र प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भव्यस्य दर्शनमोहोपशमादौ सत्यन्तरङ्गे हेतौ बहिरंगादपरोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानात् परोपदेशापेक्षाच्च प्रजायमानं तत्त्वार्थश्रद्धानं निसर्गजमधिगमजं च प्रत्येतव्यम्।

इस प्रकार युक्ति और दृष्टान्तोंकी सामर्थ्यसे जीवोंका निकट भव्य, दूरभव्य और अभव्यरूप करके विभाग करना विरुद्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है, (हेतु) जैसे—सुख, दुःख, पुण्य, पापकी सत्ता माननेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात् देवदत्तका सुख या दुःख उसको स्वयंसम्वेद्य है, वह मोक्षकी तरह अपने सुख दुःखोंको प्रत्यक्ष द्वारा दूसरे छद्मस्थोंको नहीं जता सकता है, किन्तु बाधक प्रमाणोंके न होनेसे सुख आदिककी सत्ता मानी जाती है। तैसे ही जीवोंमें अतीन्द्रिय भव्यपनेकी व्यवस्था माननी पडती है। उन तीन या चार प्रकारके जीवोंमेंसे पहिले अति निकट सिद्धिवाले भव्यजीवके दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम आदिक अन्तरंग हेतुओंके विद्यमान रहनेपर और परोपदेशको छोडकर शेष ऋद्धि दर्शन, जिनबिम्ब दर्शन, वेदना, आदि बहिरंग कारणोंसे पैदा हुए तत्त्वार्थज्ञानसे उत्पन्न हुआ तत्त्वार्थ—श्रद्धान तो निसर्गज समझ लेना चाहिए। और अन्तरंग कारण माने गये दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय, और क्षयोपशम तथा बहिरंग कारण परोपदेशसे बढिया ढंगपर उत्पन्न हो रहे तत्त्वार्थ—श्रद्धानको अधिगमज निर्णीत कर लेना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान सूत्रकी तीसरी, चौथी, वार्त्तिकके प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है।

तृतीयसूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंका संक्षेप विवरण यह है कि प्रथम ही सम्यग्दर्शनके नित्यपने, नित्यहेतुकपने और अहेतुकपनेका निराकरण किया है। यहां अन्य मतियोंके द्वारा मिथ्यादर्शन, संसार, प्रागभाव, करके दिये गये व्यभिचार विशेषविद्वत्तासे आचार्य महाराजने वारण किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्मीयगुणोंकी स्वाभाविक पर्यायें हैं, अतः ये भाव अनित्य हैं। किन्तु इनका परिणामी द्रव्य तो नित्य है। प्रागभावको जैनसिद्धान्तमें निश्चयनयसे अव्यवहित एक पूर्व पर्यायरूप माना गया है और व्यवहारनयसे पूर्ववर्ती अनेक पर्यायरूप स्वीकार किया है। तुच्छ प्रागभावको हमने स्वीकार नहीं किया है। सूत्रमें उत्पद्यते क्रियाको शाब्दबोध करनेके लिये जोड लेना चाहिए। सूत्रके तत्पदसे सम्यग्दर्शनका ही परामर्श हो सकता है। क्योंकि व्यक्तिरूपसे सभी सम्यग्दर्शनोंके निसर्ग और अधिगम दोनों हेतु बन जाते हैं। ज्ञान, चारित्र और मोक्षमार्गके व्यक्तिरूपसे दोनों कारणोंका होना नहीं सम्भवता है। व्याकरण शास्त्रसे भी मोक्षमार्गका परामर्श न कर सम्यग्दर्शनका ही तत् शब्दसे स्मरण हो सकता है। परोपदेशके विना जिनबिम्ब आदिसे हुए तत्त्वार्थज्ञानको अधिगम निर्णीत किया है। इन दो कारणोंसे दो प्रकारके सम्यग्दर्शन हो जाते हैं। निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है। सम्यग्दर्शनके पूर्ववर्ती ज्ञानको सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानसे भिन्न सामान्यज्ञान माना गया है। यहां आचार्य महाराजने भारी विद्वत्तासे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी समीचीनताको परिपुष्ट किया है। अन्योन्याश्रय दोषका वारण अतीव प्रशंसनीय है। इसके आगे सभी सम्यग्दर्शनोंके

स्वाभाविकपने (निसर्गज) के एकान्तका निराकरण किया है। कारणोंके विना मोक्ष, सुख, सम्यग्दर्शन, आदि कोई भी कार्य निष्पन्न नहीं होता है। सम्यग्दर्शनके अन्तरंग और बहिरंग कारणोंका व्याख्यान करके अनुमानके द्वारा उपशम आदिकको सिद्ध किया है। मद्य आदिका दृष्टान्त देकर पुद्गल द्रव्यके बने हुए कर्मोंकी शक्तियोंका नाश हो जाना बतलाया है। विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावरूप निमित्तोंसे अनेक योग्य नैमित्तिक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जिनबिम्ब, तीर्थस्थान आदि कारण भी आत्मामें छिपे हुए अनेक गुणोंको व्यक्त कर सकते हैं। निकटभव्य, दूरभव्य, अभव्य, जीवोंको सुवर्ण पाषाण, और अन्धपाषाणके दृष्टान्तसे अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। पारिणामिकभाव रूप भव्यपना सिद्ध अवस्था उत्पन्न होनेके पूर्व समयतक बना रहता है। पीछे नहीं, यह बात स्वयं सूत्रकारने दशवें अध्यायमें कही है। इस प्रकार निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न हुए श्रद्धान गुणकी प्रतीति कर लेनी चाहिये।

" सम्यग्दर्शनकी दुर्लभता "

(टीकाकार द्वारा)

इस परिवर्तन शील अनादि संसारमें कर्मफल चेतनाके वश होकर अक्षय अनंतानंत जीव नारक, निगोद आदि अवस्थाओं और जन्म, जरा, मृत्यु, भूख, रोग, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोगज आदि अनेक विपत्तियोंको प्रतिक्षण भुगत रहे हैं। उनमें बहुभाग प्राणी तो दुःखसे छूटनेके उपायोंको ही नहीं जानते हैं। हां, मात्र असंख्याते विचारशाली जीव दुःखसे छूटकर वास्तविक सुखको प्राप्त करनेके लिये अभिलाषुक होरहे प्रतीत होते हैं।

अनुभव करनेपर परीक्षित होता है कि—यथार्थ सुख तो कर्म, नोकर्मके सम्बन्धसे वियुक्त हो रही परमात्म अवस्थामें है। और मोक्षकी प्राप्तिका अव्यर्थ कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रोंकी परिपूर्णता हो जाना है।

सबसे प्रथम माने गये सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना जीवोंको अत्यन्त दुर्लभ है। यद्यपि तत्त्वज्ञान और चारित्र भी अतीव दुष्प्राप्य हैं। किन्तु अर्धपुद्गलपरिवर्त्तन नामक अनन्तवर्षोंके छोटेसे कालमें ही मोक्ष सुखमें धर देनेवाले सम्यग्दर्शनकी दुर्लभता बढी चढी है। अतः आज हम इसीपर जिनागमानुकूल थोडासा प्रतिपादन करते हैं।

नारकी, देव, और संज्ञी तिर्यंचोंमें असंख्यासंख्यात जीव सम्यग्दृष्टि हैं, जो कि उनकी नियत संख्याके असंख्यातवें भाग हैं, यानी तीन गतियोंमें प्रत्येकमें असंख्याते, असंख्याते जीवोंके पीछे केवल एक एक ही सम्यग्दृष्टि जीव आंकडोंमें बैठता है। हम तीनों गतियोंके सम्यग्दृष्टियोंका विचार नहीं करके केवल मनुष्यगति सबन्धी जीवोंके सम्यग्दर्शनका ही विचार चलाते हैं।

तेरस कोडी देसे बावण्णा सासणे मुणेदव्वा।
मिस्साविय तद्दुगुणा असंजदा सत्तकोडिसयं॥ ६४१॥

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झाय संजदा सव्वे ।
अंजलि मौलिय हत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि ॥ ६३२ ॥

(गोम्मटसार जीवकाण्ड)

प्रसन्नताकी बात है कि हम आप मनुष्योंमें सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या हमारी नियत संख्याके संख्यातवें भाग ही है । अर्थात् ७९ उन्यासी आदि उन्तीस अंक प्रमाण ७९२२८१६२५१, ४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ सम्पूर्ण पर्याप्त मनुष्योंमें मात्र (७२१९९९९९९७) सात अरब इक्कीस करोड निन्यानवे लाख निन्यानवें हजार नौसौ सत्तानवे मनुष्य सम्यग्दृष्टि हैं । जो कि अपनी संख्याके वर्तमान इकाई, दहाई, को आदि लेकर दश संखतक प्रसिद्ध होरहीं संख्यानुसार सौसंखवें भाग हैं । भावार्थ—कुल इकाई, दहाई, सैकडा, हजार, दशहजार, लाख, दश लाख, करोड, दश करोड, अरब, दश अरब, खरब, दशखरब, नील, दशनील, पदम, दश पदम, संख, दश संख, इस गणनाके अनुसार स्थूलरूपसे सौसंख मनुष्योंमें केवल एक मनुष्य सम्यग्दृष्टि है । अथवा सत्ताईस अंक प्रमाण मनुष्य माने जांय तो एक संख मनुष्योंमें एक सम्यग्दृष्टि पाया जायगा । अवगाहना शक्त्यनुसार उन्तीस अंक प्रमाण, या सत्ताईस अंक प्रमाण मनुष्य इस पैंतालीस लाख योजनके नरलोकमें पाये जाते हैं ।

भरतक्षेत्रसंबंधी आर्यखंडके कई हजारवें भागमें यह वर्तमान वैज्ञानिकोंका समझा हुआ, यूरोप, एसिया, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा और भी अन्य छोटे प्रदेश, अथवा समुद्रीय जल भागसे घिरा हुआ भूमण्डल है । इसमें मात्र कई अरब मनुष्य हैं ।

एसिया महादेशके इस भारतवर्षमें वीर निर्वाण संवत् २४५८ में जैनोंकी संख्या तेरह लाख मानी जाती है । इसमें श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तथा बालक, बालिकायें, और मिथ्यादृष्टि, सप्त-व्यसनसेवी आदि भी सम्मिलित हैं । इनमें यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान करनेवाले, सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी प्रतीति करनेवाले, भेदविज्ञानी, सम्यग्दृष्टि कितने हैं ? इसका विचार आवश्यक है ।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

(स्वामी समन्तभद्राचार्यः)

सर्वज्ञदेवने पच्चीस दोषोंको टालकर परमार्थ आप्त, आगम, और गुरुओंका अष्टांग श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा है । अनंतानुबंधी चार, और दर्शनमोहत्रिक, के उपशम, क्षय, या क्षयोप-शमसे होनेवाली आत्मविशुद्धिको सम्यग्दर्शन माना है । जो कि सूक्ष्म है, अव्यक्त है, और प्रत्यक्षज्ञानियोंके गम्य है । हां, प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य, अथवा संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, प्रशम, जिनभक्ति, वात्सल्य, अनुकंपा गुणोंसे अन्वित हो रहा सरागसम्यक्त्व तो स्वपरसम्वेद्य भी है ।

इस अंगी सम्यग्दर्शनके निःशंकित, निःकांक्षित, आदि आठ अंग माने गये हैं। बुद्धिमान् पुरुष अंगोंको देखकर अंगीका अनुमान कर लेते हैं। गोम्मटसारकी प्ररूपणासे बीस अंक परिमित सौ संख या अठारह अंक प्रमाण एक संख मनुष्योंमें टोटल अनुसार एक ही मनुष्य सम्यग्दृष्टि हो सकता है। २४ अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या होनेपर भी तो १० नील मानवोंमें एक ही सम्यग्दृष्टि बननेका अधिकारी रहजाता है।

इस त्रिलोक, त्रिकाल, अबाधित, अखण्ड, सर्वज्ञोक्त, सिद्धान्तकी सत्यताका युक्तिपूर्ण अनुमान भी इस अग्रिमविवेचनपर अवलंबित है।

उस सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये निःशंकित आदि आठ गुणोंके प्रतिपक्ष होरहे शंकादि आठदोष आजकल अस्मदादि मनुष्योंमें कितने कैसे पाये जाते हैं? इसकी निष्पक्ष, खरी, आलोचना करनी पडती है। जो मनुष्य सर्वज्ञोक्त आगममें शंका कर रहा है, अथवा वीतराग धर्मका बहिरंग श्रद्धालु होकर भी भोगोपभोगोंकी आकांक्षा कर रहा है, मुनियोंके पवित्र शरीरमें घृणा करता है, जैनमत-बाह्य दार्शनिकोंके गुणाभासोंकी प्रशंसा स्तुतिओंके पुल बांधता है, वह दीन विचारा निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सादि गुणोंको बिलकुल भी नहीं पाल सकता है। सुनिये।

बात यह है कि [illegible] प्रकारके संक्लेश, विकल्पोंमें घिरे हुये प्राणियोंके इस कालमें सम्यक्त्व होना अतीव दुर्लभ है, असंभव तो नहीं है। जब कि असंख्यात योजन चौडे अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीपकी परली ओरके अर्धभागमें असंख्याते तिर्यंच, देशव्रती, पांचवे गुणस्थानवाले पाये जाते हैं, तो जिनालय, जिनागम, तीर्थस्थान, गुरुसंगति, संयमी, सत्संगादि अनेक अनुकूलताओंके होते हुए यहां भरत क्षेत्रसंबंधी आर्यखण्डके मध्यप्रान्तमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाना असंभव नहीं कही जा सकता है।

सूक्ष्म विचारके साथ पर्यवेक्षण किया जाय तो करोडों, अरबों जीवोंमें एक, दो जीवके ही शंकायें करता नहीं मिलेगा, शेष सभी जीव प्रायः हृदयमें व्यक्त, अव्यक्त रूपसे शंका पिशाचियोंसे ग्रसित होरहे हैं। परलोक है या नहीं? बडे, बडे स्नेही जीव भी मरकर पुनः अपने प्रेम पात्रोंको आकर नहीं संभालते हैं? अत्याधिक प्यार करनेवाले माता पिता भी मरकर पुनः अपनी सन्तानकी कोई खबर नहीं लेते हैं,। आखिर कोई तो उनमेंसे देव देवी हुये ही होंगे, जो कुछ भी उपकार कर सकते हैं?। तीव्र क्रोधी भी परलोकसे आकर अपने शत्रुओंको त्रास देते हुये नहीं सुने जाते हैं! क्वचित् भवस्मरणकर पूर्वभवकी कुछ, कुछ बातोंको कहनेवाले लडकी, लडका, सुने जाते हैं। किन्तु उनसे भरपूर संतोष नहीं होता है।

कोई पुरुष अभिमानके साथ उपकार या अपकार करनेकी प्रतिज्ञा कर मरते हैं, वे भूत-कालमें लीन हो जाते हैं। पद्मपुराणमें लिखा है कि एक भैंसाने मरकर व्यंतर होकर अयोध्यावा-सियोंको अनेक त्रास दिये थे।। किन्तु आजकल हजारों, लाखों, गायें बकरियें कत्ल कर दी जाती हैं। युद्धोंमें अनेक मनुष्य मार दिये जाते हैं, लेकिन कोई भी जीव पुनः अपने घातकोंको दुःख

देता हुआ नहीं सुना गया है यों अनेक जीव परलोकके विषयमें या सर्वज्ञ, ज्योतिषचक्र, भूभ्रमणमें शंकित हो रहे हैं।

चींटी, मक्खी, भोरी, मकडी आदिके मानसिक विचारपूर्वक किये गये चमत्कारक कार्योंकी आलोचना कर नैयायिकोंके अभिमत समान चींटी आदिमें भी मनइन्द्रियके होनेकी शंकायें बनाये रखते हैं। इसी प्रकार जैन धर्मात्माओं, या तीर्थस्थानों, अथवा जिनबिंब, जिनागम, आदिके ऊपर कई प्रकारकी विपत्तियां आ रही जानकर भी असंख्याते सम्यग्दृष्टि देव या जिनशासन रक्षक देवोंके होते हुये कोई एक भी देव यहां आर्यखण्डमें दिगंबर जैनधर्मका चमत्कार क्यों नहीं दिखाता है? स्वर्ग, मोक्ष, असंख्यात द्वीप, समुद्र भला कहां हैं? कुछ समझमें नहीं आता है? आदि शंकायें बहुतोंके मनमें चुभरही हैं। जब पुण्य, पापकी व्यवस्था है, तो अनेक पापी जीव सुखपूर्वक जीवन बिताते हुए और अनेक धर्मात्मापुरुष क्लेशमय जीवनको पूराकर रहे क्यों देखे जाते हैं? वेश्याओंकी अपेक्षा कुलीन विधवायें महान् दुःख भोग रही हैं? शिकार खेलनेवाले, या धीवर, वधिक, बहेलिया, शाकुनिक, मांसभक्षी आदिको कोई भी जीव पुनः आकर नहीं सताता है। कतिपय बडे बडे धर्मात्मा मरते समय अनेक क्लेशोंको भुगतते हैं, जब कि अनेक पापी जीव सुखपूर्वक मर जाते हैं। धर्मका रहस्य अंधकारमें पडा हुआ है। यों अनेक संशय उपज बैठते हैं।

इसी प्रकार दूसरे अंगके प्रतिपक्ष दोषके अनुसार बडे बडे धर्मात्माओंको भी आकांक्षायें हो जाती हैं। नीरोगशरीर, दृढसुंदरशरीर, पुत्र, स्त्री, धनी, कुलप्राप्ति, प्रभुता, यशः, लोकमान्यताका मिलना; प्रकृष्टज्ञान, बल, राजप्रतिष्ठाकी पूर्णता आदिमेंसे जिस किसी भी महत्त्वाधायक पदार्थकी त्रुटि रहजाती है उसीकी आकांक्षा आजकलके जीवोंको कचित् कदाचित् हो ही जाती है। दिनरात कलह करनेवाली स्त्रीसे मनुष्यका जी ऊब जाता है, बिचारा कहांतक संतोष करे। कुरूप, रोगी, क्रोधी, आजीविकाहीन, दरिद्र, मूर्खपतिमें सुन्दरी युवतीका चित्त कहांतक रमण कर सकता है? इनको स्वानुकूल पत्नी या पतिकी आकांक्षा कदाचित् हो ही जाती है। चक्रवर्ती, विद्याधर, देव, इन्द्र, अहमिन्द्रोंके सुखोंको सुनकर अनेक भद्र पुरुषोंके मुखमें पानी आजाता है। आतुर विद्यार्थीका चित्त अच्छे व्याख्याताके व्याख्यानको सुनकर व्याख्याता बननेके लिये, एवं चित्रकार, अभिनेता, व्यापारी, शासक, आदि बननेके लिये जैसे लालायित हो जाता है, उसी प्रकार कतिपय दानी, पूजक, पुरुषोंका भी चित्त अन्य विभूतियोंको देखकर अधीनतासे बाहर हो जाता है।

तीसरे विचिकित्सा दोषपर भी यह कहना है कि कितने ही बहिरंग धर्मात्माओंमें घृणाके भाव पाये जाते हैं। कितने पुरुष दुःखी जीवोंपर करुणा करते हैं? या बीमार धार्मिक पुरुषोंके मल, मूत्र धोकर उनकी परिचर्यामें जा लगते हैं? बताओ? घृणा और भयके मारे कितने जीव अन्य पुरुषोंकी निःस्वार्थचिकित्सा या समाधिमरण करानेके लिये उद्युक्त रहते हैं? स्यात् हजारों, लाखोंमेंसे कोई एक आध ही होगा।

सम्यग्दर्शनके चौथे, पांचवे अतीचार अनुसार जैनेतर पुरुषोंकी प्रशंसा और स्तुति करना अनेक भद्रपुरुषोंमें भी पाया जाता है। हां, कोई उदासीन श्रावक, या मुनि इस अतिचारसे बच गया होय, किन्तु बहुतसे जीवोंमें यह दोष अधिकतया पाया जाता है। जैनपण्डितों, ब्रह्मचारी, मुनियोंकी सन्मुख प्रशंसाकरनेवाले जैन सदस्य ही पीछे उन्हींकी निन्दा करते हुये देखे जाते हैं। और वे ही मिथ्यादृष्टियोंकी उच्छ्वासके लिये विना प्रशंसाके गीत गाते रहते हैं। जैनोंद्वारा व्यवहारमें अनेक अजैन प्रतिष्ठा प्राप्त होरहे हैं। जैनोंको जैन अधिकारियोंके यहां ही उन अजैनोंकी टलह या खुशामद करनी पडती है, तब कहीं जीविकाका निर्वाह हो पाता है।

भले सम्यग्दृष्टि कहे जानेवालोंके घरमें भी एक न एक मिथ्यादृष्टि पुरुष उच्चकोटिकी प्रशंसा स्तुतियोंको पारहा है। अजैन राजवर्ग, या प्रभुओंकी अथवा देशनेताओंकी प्रशंसा करते हुये लोग अघाते नहीं हैं। जब कि साधर्मी भाईसे "जयंजिनेन्द्र" या सहानुभूतिसूचक दो एक शब्द कहनेमें ही उनके ऊपर डलियाओंभर आलस्य चढ बैठता है।

यही दुर्दशा अमूढदृष्टि गुणकी है। लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढताओंके फन्देमें अनेक जैन, स्त्री, पुरुष फंस जाते हैं। प्रकट, अप्रगट रूपसे वे उन कार्योंमें आसक्ति कर बैठते हैं। रामलीला, नाटक, सिनेमा, कहानियां, गंगास्नान, कुतपस्विदर्शन, देवताराधन, यंत्र, तंत्र, मंत्र, क्रियायें आदि उपायों द्वारा कितने ही श्रोता मूढदृष्टि प्रकरणोंमें सम्मति दे बैठते हैं।

पांचवे उपगूहन अंगकी भी यही विकटस्थिति है। साम्यवादके युगमें दोषोंका छिपाना दोष समझा जाता है। खोटी टेवोंको धार रहे अनेक ठलुआ पुरुष जब दूसरोंके असद्भूत दोषोंको प्रसिद्धिमें ला रहे हैं, तो सद्भूत दोषोंको प्रगट करनेमें उनको लज्जा क्यों आने लगी?। साधर्मियोंके अल्पीयान् दोषोंका परोक्षमें या एकान्तमें वियोगसे छिपा लेना बडा भारी पुरुषार्थ पूर्वक किया गया गुरुतर कार्य हो गया है। निंदा किए बिना चुपका बैठा नहीं जाता है। परितोष देनेपर भी जनता बुराई करनेसे नहीं चूकती है। भले ही उल्टा हमसे कुछ ले लो। किन्तु दूसरोंके सद्भूत, असद्भूत दोषोंकी निन्दा करनेकी हमारी कण्डूया (खाज) को बुराई कर लेने द्वारा मिट जाने दो, ऐसी उनकी अभ्यर्थना रहती है।

छठा अंग स्थितीकरण करना भी बडा कठिन होरहा है। अजैनोंके लिये, राजवर्गके लिये अथवा यशःसम्बन्धी कार्योंमें धन लुटानेको अनेक धनिक भाई थैलियोंके मुंह खोले हुये हैं। किन्तु निर्धन, धार्मिकोंको या दरिद्रविधवाओं अथवा दीन छात्रोंके उदरपोषणार्थ स्वल्प व्यय कर-देनेका उनके आयव्ययके चिट्ठे (बजट) में सौकर्य (गुंजाइश) नहीं है। तथा व्रती पुरुष भी जैनत्वके बढाने और स्थितीकरण करनेमें उतने उद्योगी नहीं है जितने कि होने चाहिये।

सातवां अंग वात्सल्य परिणाम भी हीयमान होरहा है। अपने साधर्मियोंके साथ निष्कपटप्रतिपत्ति करनेका व्यवहार क्वचित् ही पाया जाता है। भलेसे भला मनुष्य भी यदि किसी व्यक्तिसे

बातचीत करता है, तो उस व्यक्तिको प्रथम ही भान होता है कि यह कोई स्वार्थसिद्धिके लिये कपट व्यवहार कर मुझको आर्थिक, मानसिक, क्षति पहुंचानेका प्रयत्न कररहा है। यों विश्वासपात्रता और वात्सल्यदृष्टियां न्यून होती जारही हैं। जैनधर्मानुयायियोंमें परस्पर गाय और बछडेके समान अनुराग होना चाहिये था।

नामतः स्थापनातो वा जैनः पात्रायतेतराम्। स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः॥

श्रावकाचारोंमें नाम जैन, स्थापना जैन को ही बहुत बडा पात्र कहा है। द्रव्यजैन और भाव-जैनका समागमतो अतीव पुण्योदयका फल बतलाया है। जैन भाइयोंके साथ स्नेह करनेका, स्वर्गप्राप्ति-पूर्वक मोक्षलाभ होजाना फल कहा है। मोक्षमार्गमें प्रवर्त्तनेवाले मुनियों, व्रतियों और, आर्यिकाओंकी श्रेष्ठ भक्ति जैनोंमें परिपूर्ण नहीं पाई जाती है। अतः हमारे जैनबंधुओंको उचित है कि " गुणिषु प्रमोदं " के अनुसार त्यागी, ब्रह्मचारी विद्वानों और विद्यार्थियोंका आदर करें। जहांतक जैनोंको आश्रय देने दिलानेका सौभाग्य प्राप्त होवे, उस विषयमें अहोभाग्य समझें। जैन स्कूलोंमें प्रधानाध्यापक जैन ही होना चाहिये। विद्यालयों, पाठशालाओं, दूकानों, में भी साधर्मियोंकी प्रतिष्ठा बढी रहनी चाहिये। कोई २ भोले भाई कहदेते हैं कि जैन लोग काम करना नहीं जानते हैं। किन्तु यह उनका कथन अलीक है। प्रथम तो यह बात है कि जैनोंमें अब सभी विषयोंके ज्ञाता उपलब्ध होरहे हैं। दूसरे अपने लडका, लडकियोंको काम करना सिखाया जाता है, तब ये योग्य बनजाते हैं। मात्र स्वकी निंदा और परकी प्रशंसा करदेनेसे काम नहीं चल सकता है।

श्रावकाचारोंमें कहा गया है कि—**समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात्। दानादिना यथोत्तरगुणरागात्सद्गृही नित्यम्** ॥ प्रत्येक जैन पुरुषका कर्तव्य होना चाहिये था कि जैन विद्वान्, लोकोपकारक, शास्त्रज्ञ, शास्त्रार्थ करनेवाले पण्डित, व्रतधारी, गृहस्थाचार्य, इनको उत्तरोत्तर अधिक भक्ति, गुणानुराग करते हुये दान, मान, सन्मान, निष्कपट भाषण, आदि व्यवहारोंसे परितृप्त करें। जैनको देखकर हृदय कमल खिल जाय। वात्सल्य या अवात्सल्यके ऊपर अन्वय, व्यतिरेक रूपसे पर्याप्त विवेचन हो चुका है। अलम्।

आठवें ठोस प्रभावना अंगका पालना तो विरले पुरुषोंमें ही पाया जाता है। यशःकी प्राप्ति और कुछ धर्मलाभका लक्ष्य रखकर यद्यपि कतिपय सभायें, प्रतिष्ठायें, तीर्थयात्रायें, जिनपूजा, तपश्चरण आदि कार्य होते देखे जाते हैं। फिर भी निर्दोष, परमपवित्र जिनशासनके माहात्म्यका प्रकाश करना अभी बहुत दूर है। यदि दश वर्षतक भी ठोस प्रभावनाएं होती रहें तो साढेबारह लाख जैनोंकी संख्या बढकर कई गुनी अधिक हो सकती है, और ये साढेबारह लाख भी पक्के जैन बन जावें।

जैनोंके अनेक पुत्री, पुत्र अपनी जिनागम शिक्षासे अरुचिकर धर्महीन पुस्तकोंको बडे चावसे पढते हैं। उनमें परीक्षोत्तीर्ण होकर अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। तथा श्रोताओंके कलुषित आशय और वक्ताओंकी वचन अकुशलतासे भी जिनशासनकी यथेच्छ प्रभावना नहीं होने पाती है।

तात्पर्य यह है कि अष्टांगसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अतीव दुर्लभ है। हां, असंभव नहीं है। क्षयोपशमसम्यक्त्व और उपशमसम्यक्त्व कभी कभी आधुनिक धर्मात्मा जैनोंको हो जाते हैं। उस समय थोडी देरके लिये निःशंकित आदि गुण भी चमक जाते हैं। हां, पुनः मिथ्यात्वका उदय आजानेपर शंका आदि दोष उपज जाते हैं। हमने उक्त विवेचन किसी व्यक्ति या समाजका हृदय दुखानेके लिये द्वेषवश नहीं लिखा है। अनेक जीव इन दोषोंसे रहित भी हैं। किंतु हमें विवश होकर श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त गाथानुसार संख मनुष्योंमें एक ही सम्यग्दृष्टि जीव होनेके अखण्ड सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये अप्रिय सत्य समालोचना करनी पडी है। हमारे उक्त प्ररूपणसे कोई भाई कुपित नहीं होवें। क्योंकि मैं भी आप लोगोंमेंसे एक व्यक्ति हूं। और उक्त दोषोंसे घिरा हुआ हूं।

धर्मप्राण भाइयो ! आठ काठके बिना खाट जैसे तैयार नहीं हो पाती है उसी प्रकार व्यस्त या समस्त रूपसे आठ अंगोंके बिना सम्यग्दर्शन आत्मलाभ नहीं कर सकता है।

आजकल हम आदि कितने ही जैनोंमें ज्ञान, कुल, जाति, पूजा, बल, ऋद्धि, तपस्या और शरीरका कितना गर्व है यह किसीसे छिपा हुआ नहीं है। लेख बढ गया है। अतः इन आठ अभिमानोंकी प्रसिद्ध चर्चाको बढाना आवश्यक नहीं दीखता है। तीन मूढता और छः अनायतन ये दोष भी गुप्त और प्रसिद्ध रूपसे स्त्रियों, पुरुषों, बालक, बालिकाओंमें बहुभाग अनुप्रविष्ट होरहे हैं।

सम्यग्दृष्टिका भयसे रहित होना शास्त्रोंमें वर्णित है। आजकलके मनुष्योंको आत्मा, धन, प्रतिष्ठा, कुटुंब आदिकी रक्षाके लिए सतत भयग्रस्त रहना पडता है। विशेषतया युद्धके युगमें तो अनेक भयोंके मारे चैन ही नहीं पडता है। अतः सात भयोंसे रहित और सहितपनेकी पाठक आप अपने हृदयमें विवेचना कर लेवें। कहना यह है कि अंतरंग सम्यग्दर्शन या असली जैनधर्मका सर्वस्व इन बहिरंग आडम्बरोंमें निहित नहीं है। कठिन अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होकर शुद्ध स्वर्ण प्रकट होता है। शास्त्रोंमें लिखा भी है कि बहिरंगमें जिनलिंगके धारी और उनके उपासक ऐसे भेद विज्ञानहीन अनेक जीव नरक गये और जायेंगे भी।

हम और आप लोगोंने संभव है कि अनंत बार मुनिव्रत धारणकर अनंती पोतें अहमिंद्रपद प्राप्त किया होय। यथार्थमुनिपना तो बत्तीसवें बारमें मोक्षकी प्राप्ति करा ही देता है। अतः कोरे बाहरके रूपकपर लट्टू नहीं हो जाना चाहिये। अंतरंगमोहनीयकर्मके मंदोदयपर लक्ष्य रखिये। पंचाध्यायीमें सम्यग्दर्शनको आत्माका नितान्त सूक्ष्म, अप्रतिपाद्य अनुजीवी गुण कहा है। मति, श्रुत और देशावधिज्ञान द्वारा सम्यक्त्व नहीं जाना जा सकता है। अन्य सिद्धान्त अथवा न्यायग्रंथोंमें संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य गुणोंसे सम्यग्दर्शनका प्रकट होना कहा गया है। " तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं " सूत्रका भाष्य करते समय श्लोकवार्तिक ग्रंथमें शंका उठाई गई है कि मिथ्यादृष्टियोंके भी क्रोध आदिकी न्यूनता देखी जाती है। वैराग्यके परिणाम भी हो रहे हैं। दयाभाव भी पाये

जाते हैं। ऐसी दशामें प्रशम, आदिको सम्यग्दर्शनका अभिव्यंजक हेतु मानने पर व्यभिचार दोष आता है। श्रीविद्यानंदि स्वामीने इस शंकाका बढिया उत्कट उत्तर यों दिया है कि उन मिथ्यादृष्टियोंके अनंतानुबंधी मान, या माया, लोभ अवश्य हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, आदि प्राणियोंकी हिंसा उनमें पायी जाती है। अन्य भी कतिपय दोष हैं। सूक्ष्म गवेषणा करो।

उपर्युक्त निरूपणसे वही श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिका सिद्धान्त पुष्ट होता है कि जब संख मनुष्योंमें एक सम्यग्दृष्टि गणनामें आता है, तब आजकलके तेरह लाख जैनोंमें तो स्यात् कोई ही सम्यग्दृष्टि होय ? अथवा जिनपूजन, आत्मध्यान, स्वाध्याय, आदि करनेवालोंके पूरे जन्ममें दो, चार बार कुछ मिनिटोंके लिए होगये उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्वका हिसाब लगा लिया जाय तो अतिशयोक्ति अनुसार दश बीस या कुछ अधिक व्यक्ति सम्यग्दृष्टि कह दिये जांय। गणितज्ञ पाठकोंको सौ संख या १० नील नामकी संख्या और तेरह लाख जैन तथा उनकी सत्तर, अस्सी वर्षकी अवस्थाका लक्ष्य रख त्रैराशिक बनानी चाहिये।

वियोगान्त नाटकके सदृश इस वक्तव्यको हम दुःखान्त समाप्त नहीं करना चाहते हैं। अतः पाठकजन भविष्य विवेचनपर भी गंभीरदृष्टि डालें।

जैन बंधुओंको धार्मिक क्रियाओंमें और शांति, वैराग्य, आदि शुभ परिणामोंमें, निःशंकित आदि गुणोंमें अपनी प्रवृत्ति शिथिल नहीं कर देनी चाहिये। प्रत्युत धार्मिक प्रवृत्तियोंको बढाते रहना चाहिये। हमें अपने धार्मिक संस्कारोंको दृढ करना है। अपनेको व्यवहार सम्यग्दृष्टि माने रहनेका विश्वास और तदनुसार धार्मिक वृत्तिको बताते रहना चाहिये।

बात यह है कि सिद्धपरमात्माओंमें जो अनन्तगुण प्रकट हो गये हैं, वे शक्तिरूपसे प्रत्येक संसारी आत्मामें भी छिपे हुये हैं। निमित्तोंके मिलानेपर वे गुण व्यक्त हो सकते हैं। एक दो बारमें ही छोटासा साधन मिला देनेपर कोई गुण झट प्रकट नहीं हो जाता है किन्तु विद्यार्थीके समान हजारोंबार अभ्यास करते करते संभवतः कोई गुण प्रकट होसकता है। छोटेसे वाणिज्य कर्म, टैनिस, पोलो खेलना, व्याख्यान देना आदि लौकिक कलाओंकी प्राप्तिके लिये जब अत्यधिक परिश्रम,अभ्यास आवश्यक है तो अलौकिक, सर्वोत्तम, मोक्षोपयोगी, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी प्राप्ति तो हजारों, लाखों बार किये गये पुरुषार्थोंका फल निःसंदेह होना ही चाहिये।

आप दृढ विश्वास रक्खें कि वर्तमान जैनोंके देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान या प्रशम आदि कर्त्तव्य व्यर्थ नहीं जायेंगे। प्रत्युत वे भविष्यके अव्यभिचारी हेतु होरहे प्रशम आदिमें गहरे संस्कार जमा देंगे, जिससे कि अग्रिम जन्मोंमें तो सम्यग्दर्शन हो सकेगा।

देवगतिमें तो असंख्याते सम्यग्दृष्टि हैं। तेरह लाख या तेरह सौ लाख भी भारतवर्षीय जैन यदि सम्यग्दर्शनके कारणोंका अभ्यास करें तो परभवमें जन्म लेते हुये सम्यग्दृष्टि देवोंकी संख्यामें केवल असंख्यातवां भाग बढ जायगा। अतः मैं प्रत्येक साधर्मीजनसे प्रेरणा करूंगा कि वे जैसे

प्राप्तिस्थान : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भविष्य जन्ममें तीर्थंकर पदकी प्राप्तिके लिये अब षोडशकारण--भावनाओंको प्रतिदिन या विशेष रूपसे भाद्रपदमासमें पूजन कर भावते रहते हैं, उसी प्रकार वीतरागसम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये पच्चीस दोषोंको टालकर अष्टांग सम्यग्दर्शनके कारणोंका अभ्यास निरालस होकर तत्परतासे करें।

षोडशकारण भावनायें भी हमें आज ही यहां तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव नहीं करा देती हैं। न जाने कितने जन्मोंसे हम षोडशकारण भावनाओंकी पूजन करते चले आ रहे हैं। और आगे भी न जाने केवलिदृष्ट अनेक जन्मोंतक भावना भावनी पडें, तब कहीं कर्मभूमिके सम्यग्दृष्टि मनुष्यको केवलिद्वयके निकट तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो सकेगा। यदि कारणोंमें कमी रह गई तो यह सब विडम्बना व्यर्थ जायगी। मात्र थोडासा पुण्यबंध करा देगी। हां, समर्थकारण आपके अभीष्ट कार्यको निःसंशय सिद्धि कर देगा। जिस प्रकार नरक, तिर्यंच, देव इन गतियोंमें असंख्याते सम्यग्दृष्टि जीव वर्तमानमें उपस्थित हैं, उसी प्रकार आजकल तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर चुके भी असंख्याते जीव नरकगति, और देवगतिमें विद्यमान हैं। " तिरिये ण तित्थसत्तं " तिर्यग्गतिमें तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्ता नहीं पायी जाती है। आप बीसकोटाकोटिसागरके एक कल्पकालको ही लेलीजियेगा। पूरे कल्पकालमें पांच मेरु संबंधी पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रोंमें मात्र चार सौ अस्सी तीर्थंकर जन्म लेते हैं। किन्तु एक सौ साठ विदेह क्षेत्रोंमें निकटकोटि पूर्ववर्षकी स्थितिवाले नाना असंख्यात तीर्थंकर एक कल्पकालमें हो जाने आवश्यक हैं। भावार्थ—दशकोटाकोटिसागर प्रमाण अवसर्पिणीकालके एक कोटाकोटिसागर स्थितिवाले चतुर्थ दुःषम सुषम कालमें अथवा उत्सर्पिणीके इतने ही परिमाणवाले तीसरे दुःषम कालमें विदेह क्षेत्रमें असंख्यात तीर्थंकर वर्त्त जाते हैं।

यदि हम अवसर्पिणी कालके दशवें भागरूप चौथे कालके समयवर्ती विदेहक्षेत्रोंके लिये आवश्यक होरहे तीर्थंकरोंका ही ख्याल करें तो वर्तमानमें तीर्थंकर प्रकृतिबंधका टिकट ले चुके विद्यमान महाशयोंसे पूरा नहीं पडसकता है। अधिकसे अधिक इनसे तेतीस सागरतकका काम चलालो। यद्यपि इतने कालके लिये भी मध्यमें बहुतसे तीर्थंकर प्रकृतिका टिकट लेनेवालोंकी जरूरत पडेगी। फिर भी भविष्यमें खरबों, नीलों गुणे जीव तीर्थंकर प्रकृतिको बांधेंगे। तब कहीं एक कोटाकोटि-सागरकेलिये नियत तीर्थंकर भरपूर होसकेंगे।

उक्त विदेह क्षेत्रोंमें बीससे लेकर एक सौ साठतक तीर्थंकरोंका शाश्वत बना रहना जरूरी है। विदेह क्षेत्रकी उत्कृष्ट आयुः कोटिपूर्ववर्ष यानी सात हजार छप्पनसंख ७०५६०००००००० ०००००००० वर्षोंसे दो कोटाकोटिसागरकाल असंख्यातगुणा है।

छः महिने आठ समयमें छः सौ आठ जीव मोक्षको आवश्य जाते ही हैं।

यो असंख्यातों वर्षवाले एक कल्पकाल या एक अवसर्पिणी कालमें असंख्याते जीवोंका ढाई

द्वीपसे मोक्ष जाना अनिवार्य है। इस हमारे भरतक्षेत्रसे इस अवसर्पिणीकालमें तीर्थंकर तो चौवीस ही मोक्ष गये हैं। किन्तु सामान्य केवलीगत चौथे कालमें इस भरतक्षेत्रसे असंख्याते मोक्ष जा चुके हैं।

निर्वाण काण्डमें गिनाई गई सिद्धक्षेत्रों और मुक्तजीवोंकी नियत संख्या तो मात्र आरातीय थोडेसे चौथे कालकी है। पूरे दुःषमसुषम कालके सिद्धक्षेत्रों और केवलज्ञानियोंको यदि गिना जाय तो उससे कहीं संख्यातगुणे, और असंख्यातगुणे गणना प्राप्त होंगे। इसी प्रकार जम्बूद्वीपके बतीस विदेहक्षेत्रोंसे गत चौथे कालमें असंख्याते सामान्य केवली और उनसे कम असंख्यात तीर्थंकर महाराज मुक्तिलाभ करचुके हैं। तब तो एक कल्पकाल या उत्सर्पिणी कालकेलिये असंख्याते तीर्थंकरोंके होजानेकी आवश्यकता है, जो कि तेरहवें गुणस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होजानेपर समवसरणमें उपदेश देते रहें।

पहिले, दूसरे, तीसरे, नरक, या वैमानिक देवोंसे आकर पन्द्रह कर्मभूमियोंमें तीर्थंकर महाराज जन्म लेते हैं। नरकोंके एक, तीन, सात, सागर या वैमानिक देवोंके दो आदि तेतीस सागर ये सब कोटिपूर्व वर्षसे असंख्यातगुणे अधिक हैं और कल्पकाल इन सागरोंसे मात्र संख्यातगुणा बढा हुआ है, अर्थात् पांच, छह नील या लगभग पचास साठ, नीलगुणा अधिक है।

यों मानना पडता है कि इस समय भी असंख्याते जीव तीर्थंकर नामकर्म बंधकी टिकट लेकर तीन नरकों या मनुष्य भोगभूमियों और वैमानिक देवोंमें प्लेटफार्मपर विराज रहे हैं। यह टिकट विदेहक्षेत्रसे आजकल भी बट रहा है, और भविष्यमें भी अनवरत बटेगा। कल्पकालके लिये भविष्यमें भी जीव तीर्थंकर प्रकृतिको बांधेंगे। किन्तु इस समय भी जीव भंडारमें तीर्थंकर प्रकृतिको बांधे हुये अनेक आत्मायें विद्यमान हैं। जो कि वहांसे चयकर कर्मभूमिमें मनुष्यजन्मरूपी रेलगाडीमें बैठकर तपस्याद्वारा घातिकर्मोंका नाशकर असंख्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुये परमेष्ठ स्थानलाभ करेंगी। भोगभूमिवालोंको देव होनेके पश्चात् उक्त अवस्था प्राप्त होगी। यहां हमें कहना यह है कि हमारे आपके परलोकगत पिताजी, बाबाजी, पडबाबा, बुआ, माता, दादी, पडदादी आदि पूर्वज [पुरिखा] जनोंने अनेक बार षोडशकारण भावनाओंकी पूजाकर यदि सम्यग्दर्शन सहित होकर यहांसे मृत्यु प्राप्त की थी होय, तब तो वे वैमानिकदेव होकर पुनः तीसरे जन्ममें विदेहक्षेत्रोंमें या यहां ही केवलिद्वयके निकट तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवकी योग्यता प्राप्त कर लेंगे। और यदि षोडशकारण भावनाओंका अभ्यासकर उन्होंने पुनः मिथ्यात्व अवस्थामें प्राणत्याग किया होय तब तो संभवतः न्यूनतम अगले जन्ममें ही विदेह क्षेत्रमें जन्म लेकर केवली श्रुतकेवलीके निकट वे तीर्थंकरप्रकृति बंधकी योग्यता प्राप्त कर चुके होंगे।

जो शुभकार्य पुरिखाओंने किये हैं, आप भी उनके पदोंपर चले चलिये। आज्ञाप्रधानी और परीक्षाप्रधानी जिनभक्तोंको यह व्यवस्था दृढतया गांठ बांध लेनी चाहिये कि जिस प्रकार " सोलह कारण भाय तीर्थंकर जे भये " " कंचनझारी निर्मलनीर " दरशविशुद्धि धरै जो कोई " यजाम्यहं

षोडशकारणानि " इत्यादि रूपसे पूजन करनेवालोंके संस्कार उस नितान्त दुर्लभ तीर्थंकर प्रकृतिका आस्रव करानेके लिये प्रतिदिन बढते जाते हैं, कुछ काल पीछे भवान्तरोंमें वे अपने मनोरथ सिद्धिकी शिखरपर पहुंच जावेंगे। उसी प्रकार ततोप्यधिक प्रकाण्ड दुर्लभ हो रहे सम्यग्दर्शनके परंपरा-कारणोंका अभ्यास करते करते हम और आप अपने मनोवांछित सम्यग्दर्शन गुणको प्राप्त कर लेवेंगे। किसी भी कार्यके लिये जल्दी मचाना अच्छा नहीं है।

अनादि कालकी अविद्यापूर्ण अक्षय अनंतताको विचारिये ! और इस समय पूर्व जन्मके पुण्यवश प्राप्त होगये श्रेष्ठकुल, पंचेंद्रिय, जिनालय, जिनागम, सत्संग, प्रवचन, श्रद्धान आदि सहकारी सामग्रीपर लक्ष्य दो। यह संस्कारवर्धक लाभ भी क्या थोडा है ! शनैः शनैः दुर्लभ सम्यग्दर्शन भी प्राप्त हो ही जायगा। विचारशीलोंको इतनेसे ही संतोष कर लेना चाहिये। भद्रमस्तु।

नैसर्गिकीं वृत्तिमधिष्ठितोखिल– (जनौ। चा–) श्चान्योपदेशात्तवपुर्गुणेश्वरः ॥
सम्यक्त्वमापूर्य गुणाब्जसंहतौ। सद्दृष्टिभानुर्जगति प्रवर्धताम् (प्रकाशताम्) ॥१॥

—०—

अब अग्रिम सूत्रके लिये अवतरण उठाते हैं—

किं तत्त्वं नाम येनार्थमाणस्तत्त्वार्थ इष्यते।
इत्यशेषविवादानां निरासायाह सूत्रकृत् ॥—

तत्त्वार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहां प्रश्न है कि वह तत्त्व भला कौनसा पदार्थ है ! जिस करके कि निर्णीत किया गया अर्थ तत्त्वार्थ माना जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण विवादोंका निराकरण करनेके लिये सूत्रकार उमास्वामी महाराज तत्त्वोंके प्रतिपादक सूत्रको कहते हैं—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। तत्त्व शब्द भाववाची है, फिर भी पर्याय और पर्यायीका अभेद होनेके कारण भाववान्के साथ उसका समानाधिकरण हो जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं आता है।

तत्त्वस्य हि संख्यायां स्वरूपे च प्रवादिनो विप्रवदन्ते, तद्विप्रतिपत्तिप्रतिषेधाय सूत्रमिदमुच्यते। तत्र जीवादिवचनात्:—

जिस कारणसे कि तत्त्वोंकी संख्यामें और तत्त्वके स्वरूपमें अनेक प्रवादी लोग अपनी अपनी प्रकर्षताको बखानते हुए विवाद कर रहे हैं, तिस कारण उन विवादोंका निषेध करनेके लिये यह सूत्र कहा जाता है। तहां सूत्रमें जीव आदिकोंको ही तत्त्व कहनेसे:— (इसका अन्वय अग्रिम वार्तिकसे जोड लेना)

सप्त जीवादयस्तत्त्वं न प्रकृत्यादयोऽपरे ।
श्रद्धानविषया ज्ञेया मुमुक्षोर्नियमादिह ॥ १ ॥

यहां मोक्षमार्गके प्रकरणमें जीव आदिक ही सात तत्त्व समझने चाहिये । प्रकृति, महान्, अहङ्कार, आदि सांख्योंके माने हुए पच्चीस तत्त्व नहीं है और नैयायिकोंसे माने गये प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्व भी नहीं हैं तथा वैशेषिकोंसे माने गये द्रव्य, गुण, कर्म, आदिक भी सात तत्त्व नहीं है । इस प्रकार बौद्ध, मीमांसक, आदिके माने हुए इनसे भिन्न विज्ञान आदि तत्त्व भी मोक्षाभिलाषी जीवको नियमसे श्रद्धानके विषय नहीं समझना चाहिये ।

तथा चानन्तपर्यायं द्रव्यमेकं न सूचितम् ।
तत्त्वं समासतो नापि तदनन्तं प्रपञ्चतः ॥ २ ॥
मध्यमोक्त्यापि तद्द्व्यादिभेदेन बहुधा स्थितम् ।
नातः सप्तविधात्तत्त्वाद्विनेयापेक्षितात्परम् ॥ ३ ॥

और इस ही कारणसे यानी मोक्षमार्गके प्रकरणमें मोक्षके उपयोगी होरहे पदार्थोंके निरूपणकी आवश्यकता होनेसे ही सूत्रकारने अनन्त पर्यायवाला द्रव्य ही एक तत्त्व है ऐसा सूत्र द्वारा अत्यन्त संक्षेपसे सूचन नहीं किया है । अर्थात् अनन्त पर्यायवाला द्रव्य ही एक तत्त्व नहीं माना है । विचारा जावे तो ऐसा माननेमें बहुत लाघव था, किन्तु मोक्षमें उपयोगी नहीं पडता । और वे द्रव्य अनन्त हैं, ऐसा भी अत्यन्त विस्तारसे सैकडों द्रव्योंका नाम लेकर सूत्र नहीं रचा है । तथा अतिसंक्षेप नहीं, अतिविस्तारसे भी नहीं, ऐसे मध्यम रुचिवाले शिष्योंकी अपेक्षासे कथन करके भी यह सात प्रकारके तत्त्वोंका निरूपण नहीं है, क्योंकि मध्यम कथन करनेसे तो दो, तीन, चार, पांच या आठ, नौ, दस आदि भी वे बहुत प्रकारसे तत्त्वभेद व्यवस्थित किये जासकते हैं । ज्ञान और ज्ञेय या जीव और अजीव अथवा मूर्त अमूर्त्त इन दो भेदोंमें ही सर्व तत्त्व गर्भित होजाते हैं । अथवा बुद्धि, शब्द और अर्थ या द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीन भेदोंमें ही सब तत्त्व गर्भित होसकते हैं । एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव या नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन चारोंमें ही सम्पूर्ण तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं । सातसे अधिक तत्त्व भी मध्यम रुचिसे माने जा सकते हैं । जैसे कि जीवसमासोंके एक, दो, तीन, आदि भेदसे अट्ठानवें (९८) भेद तक हो जाते हैं । इससे भी अधिक भेद हो सकते हैं। इनमें पुद्गल, धर्म आदिकोंके संग्रहके लिये एक भेद जड और मिला दिया जावेगा । जडके भी मूर्त्त, अमूर्त आदि अनेक भेद हो सकते है । चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान, सिद्धपरमेष्ठी, और अचेतन इस प्रकार तत्त्वोंके तीस भेद भी हो सकते हैं । पांच महाव्रत, उत्तमक्षमा आदिक दस

धर्म, तीन गुप्ति आदि जीवके भेदोंसे तथा अणु, संख्यातवर्गणा, असंख्यातवर्गणा आदि पुद्गलके भेदोंके साथ चार धर्म आदिकोंको मिलादेनेपर सौ, दो सौ भी भेद हो सकते हैं। अतः दो, तीन, चार तथा आठ, तीस, सौ आदि मध्यम भेदोंको टालकर सात ही प्रकारके तत्त्व बतलाना कुछ रहस्य रखता है। वास्तवमें मोक्षके अभिलाषुक शिष्यको मोक्षके उपयोगी इन सात तत्त्वोंका ही श्रद्धान करना चाहिए। विनीत शिष्यको मोक्षके लिए ये सात तत्त्व ही अपेक्षित हैं। इन सात प्रकारके तत्त्वोंसे भिन्न निरर्थक तत्त्वोंका श्रद्धान करना उपयोगी नहीं है। यही सूत्रकारका हार्दिक अभिप्राय है।

प्रकृत्यादयः पञ्चविंशतिस्तत्त्वमित्यादिसंख्यान्तरनिराचिकीर्षयापि संक्षेपतस्तावदेकं द्रव्यमनन्तपर्यायं तत्त्वमित्येकाद्यनन्तविकल्पोपायादौ तत्त्वस्य मध्यमस्थानाश्रयमपेक्ष्य विनेयस्य मध्यमाभिधानं सूरेः संक्षेपाभिधाने सुमेधसामेवानुग्रहाद्विस्तराभिधाने चिरेणापि प्रतिपत्तेरयोगात्। सर्वानुग्रहानुपपत्तिरित्येके।

१ प्रकृति, २ महान्, ३ अहंकार, ४ स्पर्शन इन्द्रिय, ५ रसना, ६ घ्राण, ७ चक्षुः, ८ श्रोत्र, ९ मन, १० वचनशक्ति [जबान], ११ हाथ, १२ पांव, १३ गुदास्थान, १४ जननेन्द्रिय, १५ शब्दतन्मात्रा, १६ स्पर्शतन्मात्रा, १७ रूपतन्मात्रा, १८ रसतन्मात्रा, १९ गन्धतन्मात्रा, २० आकाश, २१ वायु, २२ तेज, २३ जल, २४ पृथिवी, और २५ पुरुष [आत्मा] ये पचीस तत्त्व कापिलोंकरके माने गये हैं। तथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, परतन्त्रता, शक्ति और नियोग ये आठ तत्त्व प्रभाकर मीमांसकोंने इष्ट किये हैं। नवीन प्रभाकर तो परतन्त्रताके स्थानपर समवाय और नियोगके स्थानपर संख्याको तत्त्व मानते हैं। इत्यादि प्रकारसे अनेक प्रतिवादियोंकी दूसरी दूसरी तत्त्वसंख्याओंके निराकरण करनेकी अभिलाषासे भी आचार्य महाराजने सात तत्त्वोंकी इयत्ता करनेवाले सूत्र कहा है। सबसे प्रथम यद्यपि अन्य वादियोंकी संख्याका निराकरण अति संक्षेपसे अनन्तपर्यायरूप द्रव्य ही एक तत्त्व है, इससे भी हो सकता है। तथा अतिविस्तारसे अनन्त भेदोंका निरूपण करना अतीव दुस्साध्य कार्य है, किन्तु उपायसे होसकता है। और मध्यके दो, तीन, आठ, नौ, सौ, पांचसौ, आदि तत्त्वोंके विकल्प करनेके उपाय हैं। इनसे भी अन्य मतोंकी तत्त्वसंख्याका खण्डन होसकता था, ऐसा होते हुए भी तत्त्वके मध्यमस्थानके आश्रयकी अपेक्षासे शिष्यके प्रति आचार्यका मध्यमरूप सात ही प्रकारसे कथन करना समुचित है। दो, छह, आठ, सौ भी कह देते तो भी पुनः कटाक्ष होते रहते। अतः झगडेका अन्त करनेके लिये सात तत्त्वोंका निरूपण किया है। अत्यन्त संक्षेपसे कहनेपर तो अधिक प्रतिभाशाली थोडेसे विद्वानोंका ही उपकार होता। और अधिक विस्तारसे कथन करनेपर लाखों, करोडों, असंख्य तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति चिरकालसे भी नहीं होसकती थी, और होती भी तो कतिपय जीवोंको ही तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति होती, सम्पूर्ण मुमुक्षु जीवोंका उपकार होना नहीं बन सकता था, और सात प्रकारके तत्त्वोंका निरूपण करनेसे तो सभी

मन्दबुद्धि, सूक्ष्मबुद्धि, वाले श्रोता भव्यजीवोंका उपकार होजाता है। इस प्रकार कोई एक विद्वान् कहरहे हैं। कोई कोई श्रीअकलङ्क देवका अभिप्राय भी श्रीराजवार्तिक ग्रन्थ द्वारा ऐसा ही निकालते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है।

ते न सूत्रकाराभिप्रायविदः। सप्तानामेव जीवादीनां पदार्थानां नियमेन मुमुक्षोः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थत्वादुपदेशस्य मध्यमरुचिविनेयानुरोधेन तु संक्षेपेणैकं तत्त्वं प्रपञ्चतश्चानन्तं मा भूत् सूत्रयितव्यम्। मध्यमोक्त्या तु द्वयादिभेदेन बहुप्रकारं कथनं सूत्रयितव्यं विशेषहेत्वभावात्। सप्तविधतत्त्वोपदेशे तु विशेषहेतुरवश्यं मुमुक्षोः श्रद्धातव्यत्वमभ्यवाप्येत परैः। कथम् ?।

अब श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि वे व्याख्याता जन तो सूत्रकार श्री उमास्वामीके अभिप्रायको जाननेवाले नहीं हैं। भगवान् श्रीउमास्वामी महाराजने सात ही तत्त्वोंका उपदेश दिया है। इससे सिद्ध है कि मोक्षाभिलाषी सम्यग्दृष्टीको जीव आदिक सात पदार्थोंका ही नियमसे श्रद्धान करना उचित है। मोक्षके अनुपयोगी हो रहे ग्राम, नगर, खाद्य पेय, खेलना, आर्त्तध्यान, सुमेरु, धर्मा, स्वयम्भूरमण, महास्कन्ध वर्गणा आदि वस्तुभूतपदोंके श्रद्धानकी आवश्यकता नहीं है। यदि किसी विशिष्ट ज्ञानीको उक्त ग्राम आदिका ज्ञान हो भी जावे तो वह मोक्षके मार्गमें विशिष्ट उपयोगी नहीं पडता है, किन्तु इन सात तत्त्वोंका ही श्रद्धान करना मोक्षोपयोगी है। इस बातको सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि तत्त्वोंकी देशनाका विकल्प मोक्षमार्गमें उपयोगी तत्त्वोंकी अपेक्षासे हैं। अतः जीव आदिक सात तत्त्वोंको ही आवश्यक रूपसे श्रद्धान करने योग्य समझानेके लिये सूत्रकारने उपदेश दिया है। मध्यम रुचिवाले शिष्योंके अनुरोधसे तो अत्यन्त संक्षेपसे एक ही तत्त्व है और अतीवविस्तारसे मनुष्य, तिर्यञ्च, सिद्ध, वैमानिक, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, द्वीप, समुद्र प्रभृतिके भेद प्रभेद आदि अनन्त तत्त्व हैं। इस प्रकार तो भले ही सूत्र न किया जावे किन्तु मध्यम कथन करके दो, तीन, आठ, दस, बीस, तीस आदि भेद करके बहुत प्रकारके कथन सूत्र द्वारा किये जा सकते थे, तो फिर मध्यम रुचिवाले प्रतिपाद्यके लिये पूर्वोक्त एक महाशय विद्वानके अनुसार सात ही तत्त्वोंको निरूपण करनेमें कोई विशेष कारण दीखता नहीं है अर्थात् मध्यम रुचिवालोंके लिये छह द्रव्योंमें या दस, ग्यारह आदि भेदोंमें सब तत्त्वोंको गर्भित करनेवाला सूत्र भी बनाया जा सकता था। किन्तु सूत्रकारने सात ही प्रकारके तत्त्वोंका उपदेश दिया है, इसमें अवश्य कोई विशेष कारण है। और वह यही है कि मोक्षके चाहनेवाले जीवको इन ही सात प्रकारके तत्त्वोंका सब ओरसे श्रद्धान करना चाहिये। न्यून या अधिकका नहीं। अन्य प्रवादियों करके भी मोक्षके उपयोगी ही तत्त्वोंका श्रद्धान करना समझ लेना चाहिये। अधिकका हो भी नहीं सकता, और इनको छोडकर अन्य अनुपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान हुआ भी तो बैलके ऊपर पाण्डित्यसम्पादनार्थ पुस्तकोंका बोझ लादनेके

समान व्यर्थ पडेगा। मोक्षके उपयोगी श्रद्धान करनेके विषयकी योग्यता जीव आदिक सात तत्त्वोंमें ही कैसे है ? सो सुनिये। अग्रिम वार्त्तिकोंमें इसीका समाधान है।

मोक्षस्तावद्विनेयेन श्रद्धातव्यस्तदर्थिना।
बन्धश्च नान्यथा तस्य तदर्थित्वं घटामटेत् ॥ ४ ॥

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सबसे पहिले उस मोक्षके अभिलाषी विनीत शिष्य करके मोक्षतत्त्वका श्रद्धान करना तो आवश्यक है और बन्धतत्त्व भी श्रद्धान करने योग्य है। अन्यथा वर्तमानमें उन कर्मोंसे बन्धे हुए शिष्यकी उस मोक्षके लिए अभिलाषा करना घटित न हो सकेगा, अर्थात् जो जीव अपनेको बन्धे हुएका विश्वास नहीं करता है, वह अनंत सुखवाली मोक्षका इच्छुक नहीं हो सकता है, अतः मोक्ष और बन्धतत्त्व तो श्रद्धान करने योग्य सिद्ध हुए।

आस्रवोऽपि च बन्धस्य हेतुः श्रद्धीयते न चेत्।
काहेतुकस्य बन्धस्य क्षयो मोक्षः प्रसिध्यति ॥ ५ ॥

और यदि बन्धके कारण हो रहे आस्रवका भी श्रद्धान न किया जावेगा तब तो हेतुओंसे रहित माने गये बन्धका क्षय होना भला मोक्षपदार्थ कहां प्रसिद्ध हो सकेगा ?। अर्थात् बन्धतत्त्व पहिले ही श्रद्धान करने योग्य मान लिया है। यदि उसका कारण आस्रवतत्त्व न माना जावेगा तो बन्ध नित्य हो जावेगा। क्योंकि जो सत् पदार्थ अपने जनक कारणोंसे रहित है, वह द्रव्य दृष्टिसे नित्य है, तब तो जीव आकाश आदि द्रव्योंके समान बन्ध भी नित्य हो जावेगा। ऐसी दशामें बन्धका क्षय न हो सकेगा और मोक्ष भी न हो सकेगी। अथवा यदि पर्याय दृष्टिसे बन्धका कोई कारण नहीं है तो बन्ध असत् हुआ। अश्वविषाणके समान असत् पदार्थका क्षय भी असत् है। तब तो बन्धका क्षय मोक्ष भी असत् है। असत्के लिए किया गया यत्न फलवान् नहीं होता है, अतः बन्धके हेतु आस्रव तत्त्वका भी श्रद्धान करना चाहिए।

बन्धहेतुनिरोधश्च संवरो निर्जरा क्षयः।
पूर्वोपात्तस्य बन्धस्य मोक्षहेतुस्तदाश्रयः ॥ ६ ॥
जीवोऽजीवश्च बन्धस्य द्विष्ठत्वात्तत्क्षयस्य च।
श्रद्धेयो नान्यदाफल्यादिति सूत्रकृतां मतम् ॥ ७ ॥

और बन्धके कारणोंका रुकजाना रूप संवर तथा पूर्वकालमें इकट्ठे किये बन्धका एक एक देशरूप क्षय होना निर्जरा ये दोनों मोक्षके कारण हैं। अतः इन संवर और निर्जरा तत्त्वोंका श्रद्धान

करना भी आवश्यक हुआ। और उन पूर्वोक्त सर्व तत्त्वोंके आश्रय (आधार) हो रहे जीव, अजीव तत्त्व भी श्रद्धान करने योग्य हैं। क्योंकि बन्ध और उस बन्धका क्षय होना रूप मोक्ष ये दोनों तत्त्व दोमें ठहरते हैं। अर्थात् जो व्यासज्यवृत्ति धर्मसे अवच्छिन्न पदार्थ होते हैं, वे संयोग, द्वित्वसंख्या, त्रित्वसंख्या, बन्ध, विभाग, पृथक्त्व, मोक्ष आदि पदार्थ दो आदि पदार्थोंमें रहते हैं, अकेलेमें नहीं। जैसे कर्म, नोकर्मके दूर हो जानेसे आत्माकी मोक्ष हुयी है वैसे ही आत्माके दूर हो जानेसे कर्म नोकर्मकी भी मोक्ष हो गयी है। कर्म, नोकर्म भी अपनी बन्ध अवस्थाकी परिणतियोंको छोडकर अन्य अबंध अवस्थाकी परिणतियोंमें आ गये हैं। पीछे कुछ समयोंके बाद भले ही निमित्तोंके द्वारा आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तेजो वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा रूप परिणति कर चुकनेपर अन्य आत्माके योगबलसे आकर्षित होकर पुनः कर्मनोकर्म रूप हो जावें। किन्तु कुछ समयोंतक वे पुद्गलद्रव्य भी मोक्ष अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं। मणि या सुवर्णसे जो मल दूर हो जाता है उसका भी छुटकारा हुआ कहना चाहिये। जड पुद्गलमें सुख और ज्ञानके न होनेसे उनके मोक्ष होनेकी कोई प्रशंसा नहीं समझी जाती है। दूसरी बात यह भी है कि उन पुद्गलोंके अन्तरंगमें बंधने योग्य पांच वर्गणायें रूप बननेकी शक्ति विद्यमान है। थोडी देर पीछे वे पुनः बन्धने योग्य हो जा सकते हैं। अतः ऐसी क्षणिक मोक्षके प्राप्त करनेमें कोई सार नहीं है। बन्ध जैसे दो जीव अजीव (पुद्गल) पदार्थोंमें रहता है, मोक्ष भी वैसे ही उन दोनोंमें रहती है। संयोग और विभाग दोमें रहते हैं, जैसे भूतलमें घटका संयोग है, वह संयोग अनुयोगिता सम्बन्धसे भूतलमें रहता है, और प्रतियोगिता सम्बन्धसे घटमें रहता है। षष्ठी विभक्तिका अर्थ प्रतियोगिता है, सप्तमी विभक्तिका अर्थ अनुयोगिता होता है। यद्यपि जैनसिद्धान्तके अनुसार दो द्रव्योंका एक गुण नहीं होता है। किन्तु संयुक्त या बद्ध अवस्था हो जानेपर दो गुणोंका या दो पर्यायोंका एकपनेसे उपचार कर दिया गया है। दो पत्रोंके बीचमें लगा दिया गया गोंद दो अंशोंसे युक्त है, वह पीठकी ओरसे एक पत्रपर चुपटा है और छातीकी ओरसे दूसरे पत्रसे चुपटा रहता है। जैन मतमें संयोगकी अपेक्षा विभागका क्रम नैयायिकोंसे निराला है। बन्ध और मोक्ष दो में रहते हैं। अतः जीव अजीव ये दोनों तत्त्व भी श्रद्धान करने योग्य हैं। इन सातोंसे अतिरिक्त अन्य पदार्थ श्रद्धान करने योग्य नहीं है। निष्फल हो जानेसे (हेतु)। इस प्रकार सात ही तत्त्वोंको कहनेमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजका मन्तव्य यानी स्वरस यों है।

ननु च पुण्यपापपदार्थावपि वक्तव्यौ तयोर्बंधव्यत्वाद्बन्धफलत्वाद्वा तदश्रद्धाने बन्धस्य श्रद्धानानुपपत्तेरसम्भवादफलत्वाच्चेति कश्चित्, तदसदित्याहः—

यहां कोई और शंका करता है कि जब मुमुक्षुको मोक्षके उपयोगी तत्त्वोंका ही श्रद्धान करना आवश्यक है तो पुण्य और पाप दो पदार्थ भी प्रकृत सूत्रमें कहने चाहिये। क्योंकि वे दोनों ही पदार्थ बन्ध होने योग्य हैं और बन्धके फल भी हैं। यदि उनका श्रद्धान न किया जावेगा तो पूरे बन्ध-

तत्त्वका श्रद्धान होना नहीं बन सकता है और पुण्य पापके अतिरिक्त बन्धतत्त्वका होना ही असम्भव है। बन्ध होवे किसका ? तथा पुण्यपापबन्धके विना बन्धतत्त्व ही व्यर्थ (फलरहित) है। अर्थात् द्रव्यकर्मबन्धसे उत्पन्न हुए अज्ञान, राग, द्वेष, मोह अनुत्साह आदि भावकर्मबन्ध हैं। सौ प्रकृतियां पापरूप हैं और अडसठ (६८) प्रकृतियां पुण्यरूप हैं पुद्गलविपाकी कही गयीं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, की उत्तरभेदरूप बीस प्रकृतियां जीवको अनुकूल होनेसे पुण्यमें गिनी जाती हैं और अपने प्रतिकूल होनेसे पापोंमें परिगणित हैं। काला रंग अच्छा है, बुरा भी है। तीर्थङ्कर महाराज भी कोई काले रंगके होते हैं। वासि[illegible] बुरा है। काले नमकका रस किसीको अच्छा लगता है और किसीको बुरा। मूलीके पत्तोंमें या हींगडामें किसीको सुगन्ध आती है, दुसरेको दुर्गन्ध प्रतीत होती है। वात प्रकृतिवालेको उष्ण पदार्थ अच्छा लगता है, पित्त प्रकृतिवालेको नहीं। दांतवाले युवाको कठोर सुपारी अच्छी लगती है, पोपले वृद्धको नहीं आदि। अतः पुण्य पाप पदार्थोंको भी पृथक् रूपसे तत्त्वोंमें कहना चाहिये, इस प्रकार कोई कह रहा है। वह कहना प्रशंसनीय नहीं है, इस बातको श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्टकर कहते हैं।

पुण्यपापपदार्थौ तु बंधास्रवविकल्पगौ।
श्रद्धातव्यौ न भेदेन सप्तभ्योतिप्रसंगतः॥ ८॥

पुण्य, पाप ये पदार्थ तो बन्ध और आस्रव तत्त्वके भेदोंमे प्राप्त हो चुके हैं, अतः सात तत्त्वोंसे भिन्नपने करके श्रद्धा करने योग्य नहीं हैं। यदि प्रत्येक तत्त्वके प्रकारोंका भी श्रद्धान किया जावेगा तो अतिप्रसंग दोष होगा, अर्थात् जीवतत्त्वके भी संसारी और मुक्त तथा अजीवतत्त्वके भी पुद्गल, आकाश, आदि एवं संवरतत्त्वके गुप्ति, समिति, आदि विकल्पोंका भी श्रद्धान करना आवश्यक पड जावेगा जो कि तुमको भी इष्ट नहीं है। इस ढंगसे तो तत्त्वसंख्याकी इयत्ताका निर्णय करना ही अतिकठिन पडेगा।

न हि पुण्यपापपदार्थौ बंधव्यौ जीवाजीवबंधव्यवत्, नापि बन्धफलं सुखदुःखाद्यनुभवनात्मकनिर्जरावत्।

शंकाकारने पहिले कहा था कि पुण्य पाप पदार्थ बन्धने योग्य हैं, सो ऐसा नहीं है जैसे कि जीव (संसारी) और अजीव (पांच वर्गणारूप पुद्गल) बन्धने योग्य हैं। तथा पुद्गल द्रव्योंमें योग्यता मिलनेपर अनेक परमाणु और स्कन्ध परस्परमें बन्धनें योग्य हैं। भावार्थ—जीव दूसरे जीवसे नहीं बन्धता है। पुद्गलका सजातीय अन्य पुद्गल द्रव्यसे बंध हो जाता है। जीवका सजातीय से बन्ध नहीं होता है, अतः जीव और पुद्गल जैसे बन्धते हैं, तैसे पुण्यपाप पदार्थ बन्धने योग्य नहीं है। जैनसिद्धांतके अनुसार सिद्धराशिसे अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनंतगुणी कार्मण वर्गणायें एक जीवके प्रतिक्षण बन्ध होने योग्य हैं। उनमें पहिले से ही कोई पुण्य, पाप भेद नहीं है।

किन्तु जीवके परिणाम माने गये कषायोंको निमित्त पाकर पीछेसे पुण्य, पाप नानाभेदरूप बटवारा हो जाता है जैसे कि मेघजलका उन उन निम्ब, आम, अमरुद, केला, आदि वृक्षोंमें प्राप्त होकर तैसा परिणमन हो जाता है। अतः बन्धने योग्य अशुद्धजीव और अशुद्ध पुद्गल द्रव्य ही मानना चाहिये। पुद्गलका पुद्गलके साथ बन्ध होनेमें शुद्ध पुद्गलपरमाणु भी बन्धने योग्य माना गया है। क्यों कि शुद्ध भी परमाणुद्रव्यके अन्तरंगमें अशुद्धताका कारण हो रही स्पर्श गुण संबंधी स्निग्ध रूक्ष पर्यायोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी बाधिकता पडी हुयी है और शुद्ध आत्मद्रव्यमें अशुद्धताके कारण बनरहे कषाय, योग, अविरति आदि करण विद्यमान नहीं हैं, उनका अनन्त कालतकके लिये क्षय होजाता है। दूसरी बात [illegible] थी कि बंधके फल भी पुण्य, पाप, हैं। सो भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि बन्धका सुख, दुःख, अज्ञान, मूढपना आदिका अनुभव करना स्वरूप भाव-निर्जरा होजाना फल है। गहरा घुसकर विचार किया जावे तो बन्ध, उदय, फलका एक ही काल प्रतीत होता है। बन्धे हुए कर्मोंकी उपशम अवस्थासे फल देनेकी अवस्थामें निराली परिणति है। ठीक बन्ध उसीको कहना चाहिये जहां दोनोंके गुणोंकी च्युति हो जावे, जिन कर्मोंका पहिलेसे बन्ध होकर असंख्य समयोंकी स्थिति पड जाती है, वहां भी भावबन्धका लक्षण उनका उदय होते समय ही घटता है। अतः उसी समय सुख दुःख, आदि रूप फल देकर कर्म झड जाते हैं। यही बन्धका फल है, पुण्य पाप ये दोनों बन्धके फल नहीं हैं। किन्तु बन्धे हुए कर्मोंकी अवस्था विशेष हैं। आत्माको उत्तर कालमें सुख दुःख आदि फल भुगवानेकी शक्तिवाले पौद्गलिक द्रव्यको पुण्य पाप कहदिया जाता है।

किं तर्हि ? बन्धविकल्पौ। पुण्यपापबन्धभेदेन बंधस्य द्विविधोपदेशात्। तद्धेत्वास्रवविकल्पौ वा सूत्रितौ। ततो न सप्तभ्यो जीवादिभ्यो भेदेन श्रद्धातव्यौ तथा तयोः श्रद्धानेतिप्रसंगात्। संवरविकल्पानां गुप्त्यादीनां निर्जराविकल्पयोश्च यथाकालौपक्रमिकानुभवनयोः संवरनिर्जराभ्यां भेदेन श्रद्धातव्यतानुषंगात्।

तब तो पुण्य, पाप क्या वस्तु हैं ? बतलाइये। ऐसी जिज्ञासा होनेपर हम जैन उत्तर देते हैं कि वे बन्धके भेद हैं। पुण्यबन्ध और पापबन्धके भेदसे बन्धतत्त्वका आर्ष ग्रन्थोंमें दो प्रकार रूप उपदेश दिया है। अथवा उस बन्धके कारण माने गये आस्रव तत्त्वके ये पुण्य पाप दो भेद हैं, ऐसा उन दोनोंको प्राचीन सूत्रोंमें प्रतिपादन किया है। जिन आस्रवरूप शुभ योगोंसे आकर्षित हुयी प्रकृतियोंके बहुभागमें प्रशस्त अनुभाग पडगया है, वे योग पुण्यरूप आस्रव हैं और जिन अशुभ योगोंसे खिंचकर बहुभाग प्रकृतियोंमें कषाय द्वारा अप्रशस्त अनुभाग बन्ध पड गया है वे योग पापास्रव हैं। यों तो नौवें दशवें गुणस्थानोंमें शुभयोगसे भी ज्ञानावरण आदि पापोंका आस्रव हो रहा है और पहिले गुणस्थानमें भी अशुभ योगसे कुछ पुण्य प्रकृतियां आती रहती हैं। किन्तु विशुद्धि और संक्लेशसे युक्त हो रहीं कषायोंके आधीन होनेवाले अनुभाग बन्धकी विशेषतासे यह कथन है। तथा अपने इष्ट होरहे लौकिक सुखोंके लिये अनुकूल पडनेवाली प्रकृतियोंके बन्धको पुण्यरूपबन्ध

कहते हैं और अपने अनिष्ट माने गये दुःखोंके लिये सहायक होनेवाली प्रकृतियोंके बन्धको पापबन्ध कहते हैं। आस्रवके द्रव्यास्रव और भावास्रव तथा बन्धके द्रव्य, भाव और उभय तीन भेद करनेपर भी पुण्य, पापका इन पांचोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। विशिष्ट योगोंसे नियमित कर्मोंके योग्य पुद्गलके आगमनको द्रव्यास्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, आदिसे युक्त होरहे योगोंको भावास्रव कहते हैं। आगत कर्मोंमें ज्ञान, दर्शन, आदिको घातनेकी शक्तिका पड जाना द्रव्यबन्ध है। सञ्चित कर्मोंके उदय होनेपर होनेवाले तथा आये हुए कर्मोंकी स्थिति आदिके कारण होगये क्रोध, अज्ञान, असंयम, अचारित्र आदि भावोंको भावबन्ध कहते हैं। आत्मप्रदेशोंका और कर्मनोकर्मोंका दूध, बूरेके समान एकरस सरीखा हो जाना उभयबन्ध कहलाता है। खेंचना, आना, बन्ध जाना, ये सब एक समयमें होनेवाले कार्य हैं, जैसे कि चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें तेरह कर्मप्रकृतियां विद्यमान हैं, चौदहवेंके अन्तिम समयके उत्तर समयमें कर्मोंका नाश १, सात राजू ऊर्ध्वगमन करना २, और ऊपर तनुवात वलयमें स्थित हो जाना ३, ये कार्य एक समयमें ही सम्पन्न हो जाते हैं। प्रकृतमें यह कहना है कि पुण्य और पाप स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं। तिस कारण पुण्य और पाप पदार्थोंका जीव आदिक सात तत्त्वोंसे भिन्नपने करके श्रद्धान नहीं करना चाहिये। भावार्थ—वे दोनों आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भूत हैं। भिन्न नहीं हैं। तत्त्वोंके अवान्तर भेदोंका भिन्नतत्त्वपनेका श्रद्धान नहीं किया जाता है। यदि इसप्रकार उन दोनोंका श्रद्धान किया जावेगा तो तत्त्व व्यवस्थाको अतिक्रमण करनेवाला अतिप्रसंग दोष होगा। क्योंकि यों तो संवरके भेद माने गये गुप्ति, समिति, धर्म, आदिकोंका और संवरके प्रभेद होरहे मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, उत्तम क्षमा आदिका तथा निर्जराके प्रकार कही गयीं यथायोग्य समयमें कर्मोंका उदय होनेपर फल देनारूप यथाकाल निर्जरा और भविष्यमें आनेवाले कर्मोंका प्रयोगके द्वारा वर्तमानकालमें उदय लाकर अनुभव करना रूप औपक्रमिक निर्जरा, इनका भी संवर और निर्जरातत्त्वसे भिन्न तत्त्वपने करके श्रद्धान करने योग्यपनेका प्रसंग हो जावेगा। इस प्रकार तो किसीके मतमें भी तत्त्वोंकी नियमित संख्याकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अनेक पदार्थोंके भेद, प्रभेद, शाखायें, उपशाखायें बहुत हैं।

नन्वेवं जीवाजीवाभ्यां भेदेन नास्रवादयः श्रद्धेयास्तद्विकल्पत्वात् अन्यथातिप्रसंगादिति न चोद्यं, तेषां तद्विकल्पत्वेपि सार्वकत्वेन भिदा श्रद्धेयत्वोपपत्तेः।

यहां पुनः शंका है कि तत्त्वोंके भेदप्रभेदरूप विकल्पोंके भिन्नतत्त्वपने करके श्रद्धान करनेको यदि आप जैनलोग अनुचित कहते हो, तब तो इस प्रकार जीव और अजीव तत्त्वसे भिन्नपने करके आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षका भी श्रद्धान नहीं करना चाहिये। क्योंकि आस्रव आदि भी तो उन जीव और अजीव तत्त्वके ही विकल्प हैं। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे भेद प्रभेदरूप पदार्थोंका भी श्रद्धान करना मानोगे तो आप जैनोंके ऊपर भी अतिप्रसंग दोष होगा। गुप्ति, धर्म आदि भेद प्रभेदोंका भी श्रद्धान करना आवश्यक हो जावेगा, जो कि

आपको इष्ट नहीं है। और यदि आस्रव आदिको जीव अजीवसे भी सर्वथा भिन्न स्वतन्त्रतत्त्व मानोगे तो ऐसी दशामें आस्रव आदिक सत् पदार्थ ही न होसकेंगे। अश्वविषाणके समान असत् हो जावेंगे। कारण कि जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ जीव और अजीव इन दोमें ही गर्भित हैं। अब आचार्य समझाते हैं कि, इस प्रकार कुतर्क करना ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि उन आस्रव आदिकोंको उन जीव, अजीव तत्त्वका विकल्पपना है तो भी सम्पूर्ण मुमुक्षु जीवोंके लिये आस्रव आदिक हित रूप हैं। इस कारण भिन्न तत्त्वपने करके आस्रव आदिकका स्वतन्त्र उपदेश दिया है। उनको जीव अजीवसे कथञ्चित् भेदकी विवक्षा करके न्यारा मानते हुए स्वतन्त्र श्रद्धान करने योग्यपना सिद्ध हो जाता है। लोकमें भी देखा जाता है कि सामान्यरूपसे कह देनेपर भी विशेष प्रयोजनके लिये विशेषोंका स्वतन्त्र रूपसे कथन कर देते हैं। सर्व भोज्य पदार्थ आ गये हैं, लड्डू भी आ गये हैं। जिस विषयका जो उत्कट अभिलाषी है, उसको उस विषयके कारण, स्थान, प्रतिबन्धक आदिकी प्रतिपत्ति कर लेना चाहिए। कपडेके व्यापारीको कपडेको आयव्यय स्थानका और विशिष्ट ऋतुओंमें उन उन कपडोंके उपयोगका विशेषरूपसे परिज्ञान होना आवश्यक है। सेवकको सेवा वृत्तिके लिए उपयोगी प्रयोगोंका जानना अनिवार्य है। न्यायशास्त्रके अध्यापकको दार्शनिक तत्त्वोंका निर्णय कर लेना विशेष रूपसे श्रद्धेय है। पाचकको रसोई (भोज्य) बनानेके उपयोगी उपकरणों और लवण, घृत आदिकके न्यून आधिक्यका विशेषरूपसे विचार करना आवश्यक है। पाचकको इन प्रश्नोंके निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं कि भोजन करनेवाला पुरुष काला है या गोरा ? विद्वान् है ? या मूर्ख ? वैद्य है या ब्राह्मण ? क्योंकि पाक कलाके ज्ञानकी सफलताको प्राप्त करनेमें उक्त प्रश्नोंका उत्तर उपयोगी नहीं है। रोगीको अपनी औषधिके अनुपान, परिणाम, नियत समय, आदिका श्रद्धान करना उपयोगी है। अन्य थोथी बातोंका नहीं। ऐसे ही जिन भव्योंको मोक्ष प्राप्त करनेकी हृदयसे लगन लग रही है, उनके लिये आस्रव आदि तत्त्वोंका श्रद्धान करना हित मार्ग है। तभी तो वे आस्रव और बन्धका त्याग करके संवर और निर्जराको प्राप्त कर मोक्षकी सिद्धि कर सकेंगे। अतः मोक्षरूपी कार्यको सिद्ध करना जिनका लक्ष्य है उन भव्योंको जीव अजीव तत्त्वोंसे भिन्नतत्त्वपने करके उन जीव अजीवकी परिणतियों रूप आस्रव आदि तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना चाहिये। यह युक्ति जच गयी है।

बन्धो मोक्षस्तयोर्हेतू जीवाजीवौ तदाश्रयौ।
ननु सूत्रे षडेवैते वाच्याः सार्वत्ववादिना ॥ ९ ॥

इस कारिकाके द्वारा पुनः कोई शंका करता है कि सभीके लिये हितको चाहनेवाले स्याद्वादी वादीको अपने प्रकृत सूत्रमें ये छह ही तत्त्व कहने चाहिये। १ बन्ध, २ मोक्ष, तथा उन दोनोंके दो हेतु यानी ३ बन्धका कारण, ४ मोक्षका कारण, ५ और उनके आधारभूत दो जीव, ६ अजीव अर्थात् उक्त छह तत्त्वोंके कहनेमें मोक्षके लिए विशेष उपयोगीपना दीख रहा है।

" जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वमिति सूत्रं वक्तव्यं सकलप्रयोजनार्थसंग्रहात्, बन्धस्य हि हेतुरास्रवो मोक्षस्य हेतुर्द्विविकल्पः संवरनिर्जराभेदादिति न कस्यचिदसंग्रहस्तत्त्वस्य मोक्षहेतुविकल्पयोः पृथगभिधाने बन्धास्रवविकल्पयोरपि पुण्यपापयोः पृथगभिधानप्रसंगादिति चेत् ।

शंकाकारके अभिमतको कहनेवाली वार्तिकका भाष्य करते हैं कि जीव और अजीव तथा बन्ध और मोक्ष एवं उन बन्ध और मोक्ष दो तत्त्वोंके दो कारणरूपी तत्त्व इस प्रकार छह तत्त्वोंको निरूपण करनेवाला सूत्र कहना चाहिए। क्यों कि ऐसा कहनेसे सम्पूर्ण प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले अर्थोंका संग्रह हो जाता है। कोई भी मोक्षोपयोगी तत्त्व शेष नहीं रह जाता है। कारण कि बन्धका हेतु छह पदार्थोंमें एक स्वतंत्र तत्त्व हमने कहा है। ऐसा कहनेसे आस्रव तत्त्वका संग्रह हो जाता है तथा मोक्षका हेतु भी एक स्वतंत्र तत्त्व है। वह संवर और निर्जराके भेदसे दो प्रकारका है। अतः मोक्ष हेतु तत्त्वमें संवर और निर्जराका संग्रह हो जाता है। इस प्रकार आपके माने हुए सात तत्त्वोंका इन छह तत्त्वोंमें संग्रह हो जाता है किसी भी तत्त्वका असंग्रह नहीं। यानी कोई शेष नहीं बचता है। सात तत्त्वोंसे एक संख्या घटाकर छह तत्त्वोंके माननेमें उपस्थितिसे किया गया लाघवगुण है। अन्य भी बचे हुये कतिपय तत्त्वोंका संग्रह होजाता है। और मोक्षकी प्रक्रिया सुलभतासे जानी जाती है। अतः अर्थसे किया गया लाघव गुण है। तथा अठारह स्वरवाले सूत्रसे " जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वम् " इस चौदह स्वरवाले सूत्रके बनानेमें परिमाणसे किया गया लाघव गुण है। एवं लम्बा समास न होनेके कारण यह सूत्र सुलभतासे शाब्दबोध करा देता है। अतः गुणसे किया गया लाघव भी है। व्याकरण शास्त्र और न्यायशास्त्र जाननेवालोंको इन गुणोंका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। मोक्षके कारण मानेगये संवर और निर्जरा विकल्पों (प्रकारों) को यदि आप जैन पृथक्-रूपसे कथन करेंगे तो बन्ध और आस्रवके विकल्परूप होरहे पुण्य, पाप तत्त्वोंका भी स्वतन्त्र रूपसे तत्त्वोंमें पृथक् कथन करनेका प्रसंग होगा। न्याय्य विषयको कहनेमें लांच नहीं खाना चाहिये। यदि शंकाकार इस प्रकार कहेंगे ? तो हम जैन बोलते हैं कि—

सत्यं किंत्वास्रवस्यैव बन्धहेतुत्वसंविदे ।
मिथ्यादृगादिभेदस्य वचो युक्तं परिस्फुटम् ॥ १० ॥

शंकाकारका कहना कुछ देरके लिये ठीक है जबतक कि हम उत्तर नहीं देते हैं। किन्तु उत्तर देनेपर तो जीर्ण वस्त्रके समान खण्डित हो जावेगा। बन्धका हेतु आस्रव ही है, इस बातको समझानेके लिये मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये हैं भेद जिसके ऐसे आस्रवका अधिक स्पष्टरूपसे तत्त्वोंमें स्वतन्त्र तत्त्वपने करके कथन करना युक्त ही है। अर्थात् यदि बन्धहेतु नामका ही तत्त्व माना जावेगा तो बन्धका हेतु आस्रव ही है, यह निर्णय नहीं हो सकता है। देखो,

अन्य वादियोंने बन्धका कारण मिथ्याज्ञानको भी माना है और कोई अविद्या और तृष्णाको बन्धका कारण मानते हैं। बन्धहेतु नामका तत्त्व कहनेसे उस तत्त्वका ठीक पता नहीं चलता है। अतः स्वतन्त्ररूपसे आस्रव तत्त्व कहना चाहिये। सिद्धान्त तत्त्वोंका निरूपण पोले ढोंगसे नहीं होता है। निर्णीत किये गये पदार्थोंको " बावन तोले पाव रत्ती " के न्यायानुसार ठीक ठीक कहना पडता है। जैसे कि बावन तोले तांबेमें पाव रत्ती पारद भस्म डाल देनेसे बावन तोले पाव रत्ती रसायन (सुवर्ण) बन जाती है। तिस प्रकार आस्रवसे ही बन्ध होता है अविद्या, तृष्णासे नहीं। अविद्या तृष्णा अथवा मिथ्याज्ञान दूरवर्ती पदार्थको खींच नहीं सकते हैं। धन या धानके जान लेने मात्रसे या इच्छासे वह हमारे पास खिंचकर नहीं आ सकता है, आकर्षण करनेके लिये प्रेरक कारण चाहिये। वह योगरूप आस्रवतत्त्व ही हो सकता है। अतः स्वतन्त्र रूपसे कण्ठोक्त कहा है। योगमें आकर्षण करनेका इतना बल है कि लोकमें नीचे ठहरे हुए तनुवात वलयके वायुकायका जीव लोकके सबसे ऊपर तनुवातवलयमें फैली हुयीं कर्म, नोकर्म, वर्गणाओंको खींचकर अपने शरीररूप बना लेता है। अजगर सांप स्थूल जन्तुओंको सौ गजसे खींच लेता है। अधिक प्यास लगनेपर एक लोटा जल आधे विपलमें पी लिया जाता है। थोडी प्यास लगनेपर उदराग्निके द्वारा उतना नहीं खिंचता है। श्वास लेनेमें या छींक लेनेके प्रथम भी कुछ दूरके छोटे छोटे स्कन्ध खिंचे हुए चले आते हैं। लोकमें योगके लिये कोई स्थान दूर नहीं है। कभी कभी अपनी आत्माके निकट संयुक्त हो रहीं वर्गणाओंका या विस्रसोपचयका आस्रवण हो जाता है, योगमें बडी प्रबलशक्ति है। यदि संसारी जीवोंमें योग नामकी पर्यायशक्ति न होती तो सर्व जीव सिद्ध भगवान् बन जाते। अतः कर्मनोकर्म बन्धका प्रधानकारण योग (आस्रव) स्वतन्त्र रूपसे कहा गया है।

मोक्षसंपादिके चोक्ते सम्यक् संवरनिर्जरे ।
रत्नत्रयादृतेन्यस्य मोक्षहेतुत्वहानये ॥ ११ ॥
तेनानागतबन्धस्य हेतुध्वंसाद्विमुच्यते ।
सञ्चितस्य क्षयाद्येति मिथ्यावादो निराकृतः ॥ १२ ॥

मोक्षकी भले प्रकार उत्पत्ति करानेवाले संवर और निर्जरातत्त्व कहे गये हैं, जब कि रत्नत्रयके विना अन्यको मोक्षके कारणपनकी हानि है। इसलिये रत्नत्रयस्वरूप संवर और निर्जरातत्त्वोंका स्वतन्त्र रूपसे कहना ठीक है। भावार्थ—मोक्षहेतु नामका तत्त्व कह देनेसे यह निर्णय नहीं हो सकता है कि मोक्षका असाधारण और अव्यवहित पूर्वसमयवर्ती रत्नत्रय ही है। किन्हीं वादियोंने मोक्षका हेतु तत्त्वज्ञान ही माना है। कोई कोई तो गंगास्नान, या कर्मनाशा नदीके जलस्पर्शसे मोक्ष होना स्वीकार करते हैं। किन्तु वास्तवमें देखा जावे तो मोक्षका हेतु रत्नत्रय ही है। संवर और निर्जरातत्त्व

चारित्ररूप हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उनके अन्तरंगमें प्रविष्ट होरहा है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित होरही बहिरंग और अन्तरंग क्रियाकी निवृत्ति होकर हुई स्वात्मनिष्ठाको सम्यक्चारित्र कहा है। वह संवर और निर्जरातत्त्व रूप पडती है। अतः इस कथन करके इस मिथ्यावादका भी खण्डन करदिया जाता है कि भविष्यमें आनेवाले कर्म बन्धका बन्धहेतुओंके नाश होजानेसे जीव मुक्त होजाता है। अथवा पूर्वमें एकत्रित हुए कर्मोंका क्षय करदेनेसे मोक्ष होजाती है। वस्तुतः यह एकान्तवाद मिथ्या है। यद्यपि यह बात जैन सिद्धान्तसे मिलती जुलती है तो भी इन दो बातोंको क्रमसे होती हुयी माननेवाला एकान्तवादी है। जैनसिद्धान्तमें इन दोनोंके युगपत् रहते ही मोक्ष मानी गयी है। तथा किसी जीवकी बन्ध हेतुओंके (संवर) ध्वंससे ही मोक्ष होती है। अन्यकी संचित कर्मोंके क्षय (निर्जरा) से ही मोक्ष होती है, यह मिथ्यावाद है। वस्तुतः प्रत्येक मोक्षगामी जीवकी दोनों ही कारणोंसे मोक्ष होसकती है। यदि मोक्षके हेतुओंका तत्त्वोंमें स्वतन्त्ररूपसे नाम न लिया जावेगा तो उक्त मिथ्यावादीका खण्डन न हो सकेगा। यद्यपि बन्धके हेतुओंका ध्वंस संवररूप है और संचित कर्मोंका क्षय निर्जरा है, किन्तु रत्नत्रयके विना कोरे ध्वंसरूप संवर और निर्जरा किसी भी कामके नहीं हैं तथा हो भी नहीं सकते हैं। अतः रत्नत्रयसे तादात्म्य रखनेवाले संवर और निर्जरा ही भविष्यके बन्धको रोकते हैं और संचित कर्मोंका क्षय करदेते हैं। तभी मोक्ष होने पाती है।

सञ्चितस्य स्वयं नाशादेष्यद्बन्धस्य रोधकः।
एकः कश्चिदनुष्ठेय इत्येके तदसंगतम् ॥ १३ ॥
निर्हेतुकस्य नाशस्य सर्वथानुपपत्तितः।
कार्योत्पादवदन्यत्र विस्रसा परिणामतः ॥ १४ ॥

कोई किन्हीं एक वादियोंका यह कहना है कि संचित कर्मोंका तो अपने आप नाश हो जाता है। हां ! भविष्यमें आने योग्य कर्मबन्धको रोकनेवाले किसी एक मोक्षहेतुका अनुष्ठान करना चाहिये। भावार्थ—मोक्षहेतु नामके तत्त्वसे एक ही संवरतत्त्व मान लेना चाहिये। निर्जरा या रत्नत्रयकी आवश्यकता नहीं। अब आचार्य कहते हैं कि सो उनका कहना असंगत है। क्योंकि हेतुओंके विना संचित कर्मोंका स्वयं नाश होना सभी प्रकारोंसे नहीं बन सकता है अर्थात् बौद्ध लोग मानते हैं कि क्षणिकपना वस्तुका स्वभाव है। क्षणक्षणमे नाश करनेके लिये कारणोंकी आवश्यकता है, इसपर हम कहते हैं कि कार्योंके उत्पाद जैसे हेतुओंसे होते हैं उसीके सदृश नाश भी हेतुओंसे ही होता है। यदि ऐसा न माना जावे तो संसारका ध्वंस या कर्मोंका ध्वंस भी सब जीवोंके विना प्रयत्नसे ही हो जावेगा। फिर बौद्धलोग मोक्षके हेतु आठ अंगोंको क्यों मानते हैं ? स्वभावसे होने-

वाले परिणामोंके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ हेतुओंसे जन्य हैं। स्वाभाविक परिणामोंमें भी पूर्वपर्याय-रूप उपादान कारण और प्रतिबन्धकोंका नाश निमित्तकारण तथा कालाणुओंरूप उदासीन कारण इनकी आवश्यकता पडती है। अतः संवरके समान निर्जरातत्त्वको भी मोक्षका कारण मानना चाहिये। निर्जराके विना सञ्चित कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता है।

यतश्चानागताघौघनिरोधः क्रियतेऽमुना।
तत एव क्षयः पूर्वपापौघस्येत्यहेतुकः ॥ १५ ॥
सन्नप्यसौ भवत्येव मोक्षहेतुः स सम्वरः।
तयोरन्यतरस्यापि वैकल्ये मुक्त्ययोगतः ॥ १६ ॥

जिस कारणसे कि उस संवर तत्त्वकरके भविष्यमें आनेवाले पापोंके समुदायका निरोध कर दिया जाता है, तिस ही कारणसे पूर्वसञ्चित पापोंके समुदायका भी क्षय कर दिया जावेगा। इस कारण कर्मोंका क्षय होना अन्य कारक हेतुओंसे रहित है। इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी ज्ञापक हेतुओंसे रहित है। क्योंकि भविष्य कर्मोंको रोकनेवाले रत्नत्रयके स्वरूपका नाम संवर है और संचित कर्मोंका क्षय करनेवाले रत्नत्रयका स्वरूप निर्जरा है। इस कारणसे हो रहा वह कर्मोंका क्षय भी मोक्षका हेतु ही है और वह संवर भी मोक्षका हेतु है। उन दोनोंमेंसे एकके भी विकल (रहित) होनेपर मोक्ष होनेका योग नहीं बनता है।

एतेन संचिताशेषकर्मनाशे विमुच्यते।
भविष्यत्कर्मसंरोधापायेपीति निराकृतम् ॥ १७ ॥
एवं प्रयोजनापेक्षाविशेषादास्रवादयः।
निर्दिश्यंते मुनीशेन जीवजीवात्मका अपि ॥ १८ ॥

इस कथन करके किसीके इस सिद्धान्तका भी निराकरण हो गया है कि भविष्यमें आनेवाले कर्मोंका निरोध नहीं करते हुए भी केवल संचित सम्पूर्ण कर्मोंका नाश हो जानेपर ही जीव मुक्त हो जाता है। भावार्थ—किसी वादीने मोक्षहेतु नामके तत्त्वसे केवल निर्जराको ही पकडा है। संवरकी आवश्यकता नहीं। इसपर स्याद्वादियोंका कहना है कि यदि आनेवाले कर्मोंका द्वार न रोका जावेगा तो कर्मोंका आना सतत बना रहेगा। ऐसी दशामें सञ्चित कर्मोंका नाश होनेपर भी मोक्ष न हो सकेगी। अनेवाले कर्मोंका सञ्चय सर्वदा बना ही रहेगा तब तो किसी भी जीवकी मोक्ष न हो सकेगी। अतः मोक्षहेतु नामका तत्त्व न कहकर स्पष्टरूपसे मोक्षके कारण माने गये संवर और निर्जराका स्वतंत्र रूपसे तत्त्वोंमें कण्ठोक्त प्रतिपादन करना चाहिये। छह द्रव्योंके कहनेसे सम्पूर्ण मोक्षोपयोगी तत्त्वोंका

संग्रह नहीं होने पाता है। कहीं सम्यग्दर्शन छूट जाता है, कहीं सम्यक्चारित्रका ग्रहण नहीं होने पाता है तथा किसी मतके अनुसार संवरका ग्रहण नहीं होने पाता है और किसीके मतानुसार मोक्षके अत्यावश्यक कारण हो रहे निर्जरातत्त्वका ग्रहण नहीं होने पाता है। जो लाघव संशयको उत्पन्न करा देवे अथवा पूर्ण कार्यको ही न होने दे तो वे उपस्थिति, परिमाण, अर्थ और गुणसे किये गये लाघव कोरी लघुता [ओछापन] है। इस प्रकार यद्यपि सातों ही तत्त्व जीव, अजीव, दो स्वरूप है, तो भी विशेष प्रयोजनकी अपेक्षासे मुनियोंके स्वामी श्री उमास्वामी आचार्यने आस्रव आदिक तत्त्व स्वतंत्ररूपसे कण्ठद्वारा कथन किये हैं। यहांतक सात प्रकार तत्त्वोंके निरूपण करनेका बीज सिद्ध कर दिया है।

बन्धमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वमिति सूत्रं वाच्यं जीवाजीवयोर्बन्धमोक्षोपादानहेतुत्त्वादास्रवस्य बन्धसहकारिहेतुत्वात् संवरनिर्जरयोर्मोक्षसहकारिहेतुत्वात् तावता सर्वतत्त्वसंग्रहादिति येप्याहुस्तेप्यनेनैव निराकृताः। आस्रवादीनां पृथगभिधाने प्रयोजनाभिधानात्, जीवाजीवयोश्चानभिधाने सौगतादिमतव्यवच्छेदानुपपत्तेः।

जो भी कोई वादी यह कहरहे हैं कि चार ही तत्त्व मानने चाहिये। १ बन्ध, २ मोक्ष, ३ बन्धका कारण और ४ मोक्षका कारण, इस प्रकार चार ही तत्त्वोंको निरूपण करनेवाला ' बन्धमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वम् " ऐसा दस स्वरवाला सूत्र श्रीउमास्वामी महाराजको कहना चाहिये 'था। जीव और अजीव तत्त्वोंका बन्ध और मोक्षके प्रति उपादान कारण होनेसे बन्धहेतु और मोक्षहेतु तत्त्वमें गर्भ होजाता है। तथा बन्धका सहकारी कारण होनेसे आस्रवका भी बन्धहेतु नामके तत्त्वमें अन्तर्भाव होजाता है। तथैव मोक्षके प्रति सहकारी कारण होनेसे संवर और निर्जराका मोक्षहेतु तत्त्वमें संग्रह होजाता है। अतः तिन चार प्रकार तत्त्वोंके भेद करनेसे सम्पूर्ण प्रकारके तत्त्वोंका संग्रह होजाता है। सातके कहनेसे चारके कहनेमें लाघव भी है। आचार्य समझारहे हैं कि इस प्रकार जो भी वादी कहरहे हैं वे भी इस उक्त कथन करके ही निराकृत होजाते हैं। क्योंकि अभी हमने बडी अच्छी युक्तियोंसे आस्रव आदिकोंके पृथक् पृथक् कहनेमें विशिष्ट प्रयोजनको कहदिया है। छह तत्त्वोंकी अपेक्षा चार तत्त्वोंको कहनेवाले लघुताके याचक वादियोंको यह भारी दोष उपस्थित होगा कि जीव और अजीव, तत्त्वका स्वतन्त्र रूपसे कथन न करनेपर सौगत, चार्वाक, ब्रह्माद्वैतवादी आदिके मतोंका निराकरण न बन सकेगा। क्योंकि सौगतजन बन्धहेतु (बन्धके कारण) तत्त्वमें अविद्या और तृष्णाको लेलेंगे। आत्माको वे मानते नहीं हैं। अतः बन्धके उपादान कारण आत्माका स्वीकार करना अनिवार्य न होगा। चार्वाक तो जीव, कर्म, बन्ध, और मोक्षको मानते ही नहीं है। न बन्ध है, न मोक्ष है। राजा, रईसोंके स्थान ही स्वर्ग हैं। कारागृह, रोगशय्या, दरिद्रकुटी ही नरक हैं। जन्मसे मरणपर्यन्त ही चैतन्यशक्ति विना उपादान कारणोंके पृथिवी आदि सहकारियोंसे उत्पन्न होजाती है। इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी बन्धका कारण अविद्या या

पापोंको मानते हैं। बन्ध होने योग्य अजीव पुद्गल द्रव्यको स्वीकार नहीं करते हैं। वे अजीव तत्त्वको मानते ही नहीं हैं। सब संसार जीवमय है। अतः पौद्गलिक कर्म, नोकर्म, को माननेके लिये अद्वैतवादी बाध्य न किये जासकेंगे। इस कारण नौ या छह अथवा चार तत्त्वोंको न मानकर जीव आदिक सात तत्त्व ही श्रद्धान करने योग्य हैं। मोक्षके उपयोगी सात तत्त्व ही तत्त्व होसकते हैं न्यून या अधिक नहीं। यहांतक सूत्रकी पहिली वार्त्तिकके अनुसार उठाये गये प्रकरणका समीचीन अकाट्य युक्तियोंसे उपसंहार करदिया गया है।

जीवादीनामिह ज्ञेयं लक्षणं वक्ष्यमाणकम्।
तत्पदानां निरुक्तिश्च यथार्थानतिलंघनात् ॥ १९ ॥

इस सूत्रमें कहे गये जीव, अजीव, आदि तत्त्वोंका निर्दोष लक्षण स्वयं ग्रन्थकारके द्वारा भविष्य ग्रन्थमें कहा जावेगा, सो समझ लेना चाहिये। द्वितीय अध्यायमें जीवका लक्षण उपयोग है ऐसा कहनेवाले हैं। पांचवेंमें अजीवोंका लक्षण कहा जावेगा। छठे, सातवें, अध्यायमें आस्रवका, आठवेंमें बन्धका, नौवेंमें संवर और निर्जराका तथा दशवें अध्यायमें मोक्षका लक्षण और विवरण कण्ठोक्त रूपसे ग्रन्थकार कहेंगे। तथा जीव आदिक पदोंका धातु, नाम, प्रत्यय, समास, इनके द्वारा निर्वचन करना भी वास्तविक अर्थका उल्लंघन न करनेसे (न करते हुए) समझ लेना चाहिये। भावार्थ—जीव आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति इस ढंगसे करना जिससे कि मुख्य अभीष्ट अर्थका अतिक्रमण न हो जावे और त्रुटि भी न रह जावे।

जीवस्य उपयोगलक्षणः सामर्थ्यादजीवस्यानुपयोगः, आस्रवस्य कायवाङ्मनःकर्मात्मको योगः, बन्धस्य कर्मयोग्यपुद्गलादानं, संवरस्यास्रवनिरोधः, निर्जरायाः कर्मैकदेशविप्रमोक्षः, मोक्षस्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष इति वक्ष्यमाणं लक्षणं जीवादीनामिह युक्त्यागमाविरुद्धमवबोद्धव्यम्।

मिले हुए पदार्थोंमेंसे जाननेके लिये विवक्षित पदार्थको पृथक् करनेवाला धर्म लक्षण कहा जाता है। जीवका लक्षण उपयोग है। जीवका लक्षण उपयोग करनेसे विना कहे हुए प्रकरणकी सामर्थ्य करके अर्थापत्तिके द्वारा ही यह ज्ञात हो जाता है कि अजीवका लक्षण अनुपयोग है अर्थात् जिसमें ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग शक्ति अथवा व्यक्तिरूपसे नहीं पाये जाते हैं वह अजीव है। आस्रवका लक्षण योग है। आत्माके साथ बन्धनेवाली और शरीर, वचन, मन के लिये उपयोगी होरहीं कारणरूप आहारवर्गणा या कार्माणवर्गणा और भाषावर्गणा या मनोवर्गणा इनका तथा पहिली सञ्चित वर्गणाओंसे बने हुए शरीर, वचन, मन, का अवलम्ब लेकर आत्माके प्रदेशकम्पस्वरूप योग उत्पन्न होता है, यह द्रव्ययोग है। तेजस्वर्गणाओंमें स्वतन्त्र योग पैदा करानेकी योग्यता नहीं है। जैसे हाथ, पाद छाती स्वतन्त्र रूपसे चलनेमें कारण होते हैं, नाक, ग्रीवा, कान,

तो पिछलगा होकर घिसटते जाते हैं। योगसे कर्म खिच आते हैं जैसे कि मोरके पंखको पुस्तकमें भींचकर खींच देनेसे आकर्षणशक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह पंख छोटे तृण, पत्र, आदिको खींच लेता है, तैसे ही आत्माके प्रदेशोंमें कम्प हो जानेसे कर्म, नोकर्म, का आकर्षण हो जाता है। इस द्रव्ययोगको आस्रव कहते हैं। तथा आत्माकी कर्म नोकर्मको आकर्षण करनेवाली शक्तिको भावयोग कहते हैं। अनादि कालसे प्रारम्भ कर तेरहवें गुणस्थान तक भावयोग नामकी पर्याय-शक्ति जीवमें बन बैठती है।

ज्ञानावरण आदि कर्मरूपपरिणत होने योग्य कार्माणवर्गणारूप पुद्गलको ग्रहण करना बन्धका लक्षण है। नोकर्मके बन्धकी यहां विवक्षा नहीं है। आस्रवका रुक जाना संवरका लक्षण है। सञ्चित कर्मोंका सदाके लिये और प्रागभाव रहित होकर एकदेश एकदेश रूपसे अच्छा क्षय हो जाना निर्जराका लक्षण है। सम्पूर्ण कर्मोंका वर्तमानमें और भविष्यके लिए भी ध्वंस हो जाना मोक्षका लक्षण है। इस प्रकार जीव आदिकोंके लक्षण इस शास्त्रके अग्रिम अध्यायोंमें कहे जावेंगे। वे लक्षण सभी युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हैं। अतः उन उन प्रकरणोंमें समझ लेना चाहिये। विशेष यह है कि कर्मोंके समान नोकर्मके भी आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा, और मोक्ष होते हैं, किंतु सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये नोकर्मका क्षय विशिष्ट उपयोगी नहीं है। कर्मोंका क्षय हो जानेसे नोकर्मका ध्वंस तो स्वतः ही हो जाता है। क्योंकि शरीर, वचन और मनके बनानेमें औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, अंगोपाङ्ग, स्वर, आदि नाम कर्मोंके उदय कारण हैं। कारणके अभाव होनेपर भविष्यके कार्यका भी अभाव हो जावेगा। संचितका नाश तो सुलभतासे हो ही रहा है। मनुष्य और तिर्यञ्चोंके एक बार मर जानेपर भी पूरे औदारिक शरीरका मोक्ष हो जाता है। कमसे कम दस सहस्र (हजार) वर्ष और अधिकसे अधिक तेतीस सागर पीछे वैक्रियिक शरीरका सर्वथा मोक्ष हो जाता है उस समय शरीरका एक अंश भी शेष नहीं रहता है। आहारक शरीरका अन्तर्मुहूर्तमें और तैजस शरीरका छ्यासठ (६६) सागरमें ध्वंस हो जाता है। हां, भारतवर्षमें मनुष्योंकी धाराके समान तैजसकी धारा बनी रहेगी अर्थात् वर्तमानके तैजस शरीरका एक टुकडा भी छ्यासठिसागर पीछे नहीं मिलेगा निराला ही तैजस शरीर दीख पडेगा। कार्माणशरीर ही प्रवाहरूप करके अनादिसे सम्बद्ध हो रहा है। विग्रह गतिमें जीवके पास केवल तैजस और कार्मणशरीर रह जाते हैं। सब सांसारिक सुख दुःखोंका मूल कारण कार्मणशरीर ही है। अतः कर्मोंके ही आस्रव, बन्ध, आदिका वर्णन किया है। यों तो प्रतिदिनके खाद्य, पेय, वायु, पदार्थोंमें भी आस्रव आदिकी व्यवस्था है। बुभुक्षित जीव भोजन करता है (जीव) बहुभाग आहारवर्गणायें जिनमें मिली हुयी हैं ऐसे मोदक, चावल, रोटी, दाल, दुग्ध, घृत, फल, घास, अमृत, मिट्टी, आदि पौद्गलिक पदार्थोंका भोजन किया जाता है (अजीव)। मुखके द्वारा भोज्य पदार्थोंका आहार करता है, कवलाहारके अतिरिक्त लेप, ओज आदि आहारोंको शरीरके अन्य अवयवोंके द्वारा भी ग्रहण करता है (आस्रव)। आहार

किये गये पदार्थका शरीरमें भीतर जाकर बन्ध हो जाता है, बन्ध हुए विना मोदक आदि पदार्थोंके रस, रुधिर आदि नहीं बन सकते हैं। चांदीकी चौअन्नी या पैसेको लील जानेसे मनुष्यमें उसके रस, रुधिर, आदिक नहीं बन पाते हैं। क्योंकि उनका उदरमें बन्ध नहीं हुआ है, सांपके विषको पसोंमें भर भी लिया जावे, तो, संयोगमात्रसे वह मूर्छा करने रूप अपने कार्यको नहीं करता है। हाथमें थोडीसी सुई प्रविष्ट कर दी जावे तो रक्तके साथ विषका बन्ध हो जानेसे बडी भारी क्षति हो जाती है। कोई कोई पदार्थ इतने शक्तिशाली होते हैं कि संयोग होते ही बन्ध जाते हैं और अपना फल दे देते हैं। अभिप्राय यह है कि जो भोज्य पदार्थ शरीरमें संयुक्त होनेके पीछे बन्ध जावेगा, उस पदार्थका फल अवयव बनाना या सुख, दुःखका अनुभव कराना हो जावेगा। संयोग और बन्धमें भारी अन्तर है। श्री सिद्ध भगवान्के साथ सिद्धक्षेत्रमें फैली हुई कार्मणवर्गणाओंका संयोग है, बन्ध नहीं है। कपोत (कबूतर) आदि पक्षियों करके खायी हुयी कङ्कडी और पथरीसे भी रस रुधिर आदिक बन जाते हैं। कोई कोई जीव लोहे चांदी आदिका आहार कर अपना शरीर बना लेते हैं। भिन्न भिन्न जीवोंका आहार्य पदार्थ भिन्न प्रकारका है, किंतु उन सबमें आहार वर्गणायें अवश्य हैं (बन्ध)। खाद्य या आहार्य पदार्थका कुछ समयों तक आस्रव होना रुक भी जाता है। वृक्ष, चींटी, मक्खी, डांस, पक्षी, मनुष्य, देव, नारकी जीव भी कुछ देर तक स्थूल खानेको रोक देते हैं (संवर)। उदाराग्निसे पचाकर निस्सार भागका एक देश क्षय होना भी होता है (निर्जरा)। मल, मूत्र, आदिके द्वारोंसे विशेष अवयवोंमें एकत्रित हुआ वह निस्सार खाद्य पदार्थ पूर्ण निकल जाता है। मृत्युके समय तो सम्पूर्ण स्थूल शरीरकी मोक्ष हो जाती है (मोक्ष)। यही क्रम भाषा वर्गणा तथा आहार वर्गणाके कुछ भागसे बने हुए वचन और श्वासमें भी लागू हो जाता है। किंतु स्वात्मलब्धिरूप मोक्षके प्रकरणमें कर्मोंके आस्रव, बन्ध आदिक तत्त्व ही प्रधानरूपसे लिये गये हैं। कर्मोंके संवर, निर्जरा, और मोक्ष होनेपर ही नोकर्मके संवर आदि भी ठीक हैं, अन्यथा किसी कामके नहीं।

निर्वचनं च जीवादिपदानां यथार्थानतिक्रमात्। तत्र भावप्राणधारणापेक्षायां जीवत्य जीवीज्जीविष्यतीति वा जीवः, न जीवति नाजीवीत् न जीविष्यतीत्यजीवः।

जीव आदिक पदोंका व्याकरण द्वारा प्रकृति प्रत्ययसे प्रयोग साधन तो यथार्थ आर्षमार्गका अतिक्रमण न करते हुए कर लेना चाहिए। तिनमें सबसे पहिले जीव शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है कि सुख, चैतन्य, सत्ता स्वरूप भावप्राणोंके धारण करनेकी अपेक्षा करते हुए जो जी रहा है जीवित रह चुका है और भविष्यमें जीवेगा वह जीव है। इस प्रकार " जीव प्राणधारणे " इस भ्वादि गणकी धातुसे कर्तामें क प्रत्यय करनेपर जीव शब्द निष्पन्न होता है। दस प्रकारके द्रव्य प्राणोंमेंसे यथायोग्य चार, छह, सात, आठ, नौ, दस प्राणोंका धारण करना यदि जीवका लक्षण कहा जाता तो अव्याप्ति दोष आता है। किन्तु भावप्राणोंको धारण करना लक्षण करनेसे सिद्ध भगवानोंके भी जीवका लक्षण घटित हो जाता है। जीवसे भिन्न तत्त्व कहे गये अजीवका लक्षण यह

है कि जो भावप्राणोंको नहीं धारण करता हुआ नहीं जी रहा है, न जी चुका है, और न जीवेगा इस कारण वह अजीव है। जीव शब्दके साथ नञ् पदका तत्पुरुषसमास करके अजीव शब्द बनाया गया है।

आस्रवत्यनेनास्रवणमात्रं वास्रवः, बध्यतेऽनेनबन्धमात्रं वा बन्धः, संव्रियतेनेन संवरणमात्रं संवरः, निर्जीर्यतेनया निर्जरणमात्रं वा निर्जरा, मोक्ष्यतेऽनेन मोक्षणमात्रं वा मोक्ष इति करणभावापेक्षया।

आस्रव आदि शब्दोंकी निरुक्ति तो करण और भावकी अपेक्षासे है। आत्मा जिस परिणाम करके कर्मोंका आस्रव करता है उसको या कर्मोंके केवल आनेको आस्रव कहते हैं। आङ् उपसर्गपूर्वक " स्रु गतौ " इस भ्वादिगणकी धातुसे अच् प्रत्यय करनेपर आस्रव शब्द बनता है। यह लक्षण भावास्रव और द्रव्यास्रव दोनोंमें चला जाता है। जिन परिणामों करके जीव बांधता है अथवा कर्म और जीवका क्षीरनीरके समान बन्धजाना ही बन्ध है। इस निरुक्तिसे भावबन्ध और उभयबन्धमें लक्षण घटित हो जाता है। " बन्ध बन्धने " इस क्र्यादि गणकी धातुसे करण या भावमें घञ् प्रत्यय करनेपर बन्ध शब्द गढा जाता है। संवरण किया जाय जिस करके अथवा संवरण यानी आनेवाले कर्मोंका रुक जाना मात्र संवर है। सम् उपसर्ग पूर्वक " वृञ् वरणे " इस स्वादि गणकी धातुसे करण या भावमें अप् प्रत्यय करनेपर संवर शब्द बना लिया जाता है, भाव संवर और द्रव्य संवर दोनों इसके लक्ष्य हैं। जिस परिणाम करके कर्मोंकी निर्जरा होती है अथवा आत्मासे कर्मोंका झडजाना मात्र निर्जरा है। निर उपसर्ग पूर्वक " जॄष् वयोहानौ " इस दिवादि गणकी धातुसे करण या भावमें अङ् प्रत्यय करनेपर स्त्रीत्वकी विवक्षामें टाप् प्रत्ययकर निर्जरा शब्द व्युत्पन्न होता है। यहां भी आत्माके परिणामरूप भावनिर्जरा तथा आत्मा और कर्म दोनोंमें रहनेवाले विभाग रूप द्रव्यनिर्जराका संग्रह हो जाता है। " मोक्ष असने " इस चुरादि गणकी धातुसे करण या भावमें घञ् प्रत्यय करनेपर मोक्षपद बनता है आत्माके जिन रत्नत्रयरूप परिणामों करके आत्मा मुक्तिलाभ कर लेता है वह मोक्ष है। अथवा प्रकृत जीव और पुद्गलद्रव्यका पूर्णरूपसे छूट जाना मात्र मोक्ष है। इस प्रकार आस्रव आदि शब्दोंकी करण और भावकी अपेक्षासे निरुक्ति करदी गयी है। शास्त्र परिपाटीसे चले आये हुए अर्थ इन शब्दोंके वाच्य हैं। प्रकृति, प्रत्यय, से जो कुछ आर्ष मार्गके अनुकूल अर्थ निकल आवे वह मध्यमें सेतमेंतका लाभ है। रूढि और पारिभाषिक शब्दोंमें व्याकरण के अनुसार निरुक्ति करना केवल शब्दोंकी साधुताका प्रयोजक है। अर्थसे उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् जीव आदिक शब्द बिगडे हुए या अपभ्रंश नहीं हैं। किन्तु व्याकरण शास्त्रसे संस्कार किये गये संस्कृत शब्द हैं।

क्रमो हेतुविशेषात्स्याद्द्वन्द्ववृत्ताविति स्थितेः।
जीवः पूर्वं विनिर्दिष्टस्तदर्थत्वाद्वचोविधेः ॥ २० ॥

अनेक शब्दोंका परस्परमें समास करनेपर समासविधायक सूत्रोंमें प्रथमा विभक्तिसे कहे गये पद पूर्वमें प्रयोग किये जाते हैं, जैसा कि चौराद् भयं=चौरभयं यहां " काभ्यादिभिः " इस सूत्र से ष (तत्पुरुष) समास हुआ है। सूत्रमें प्रथमा विभक्तिसे का (पञ्चमी) कही गयी है। अतः का विभक्तिवाला चौर शब्द प्रथम बोला जावेगा, किन्तु द्वन्द्वसमासमें समान विभक्ति वाले ही अनेक पद होते हैं। सबका परस्परमें समास (मिल जाना) है। ऐसी दशामें वहां किस शब्दका पहिले प्रयोग किया जावे इसके लिये व्याकरणमें अनेक विशेषसूत्र बनाये गये हैं, जैसे कि अल्प अच्वाला पद या स्वन्त (ध्यन्त) अथवा पूज्य पद पूर्वमें प्रयोग किया जावेगा। एक घडेमें जौ, चना, कङ्कडी और ज्वारके फला डालकर पुनः उस घडेको हिलाकर सब पदार्थोंको मिला दिया जावे, ऐसी दशामें भारी पत्थर या कंकडी सबसे नीचे मिलेगी। उससे हलकी वस्तु उसके ऊपर मिलेगी, सबसे ऊपर फला मिलेंगे, यह वस्तुस्थिति है। इसी प्रकार जीव, अजीव आदिक पदोंका द्वन्द्वसमास (एकत्र कर संचालन कर देना) कर देनेपर पहिले किस पदका प्रयोग करना चाहिये ? इसकेलिये आचार्य महाराज यों व्यवस्था करते हैं कि व्याकरण शास्त्रमें वृत्तियां पांच प्रकारकी मानी गयी हैं। कृत्, तद्धित, समास, धातु, एकशेष। यहां प्रकृतमें द्वन्द्वसमास नामक वृत्ति है। जीव और अजीव और आस्रव और (च) बन्ध और संवर और निर्जरा और मोक्ष ऐसा या आस्रव और बन्ध और जीव और मोक्ष और अजीव आदि रूप चाहे जैसा अंटसंट आगे पीछे पदोंका प्रयोग करनेपर ऐसी स्थितिमें विशेष हेतुओंकी सामर्थ्यसे सूत्रमें लिखे अनुसार पदोंकी आनुपूर्वीका ही क्रम ठीक बैठेगा। भोजन करते समय खीर, खिचडी, आम, अंगूर आदि आगे पीछे चाहे जितने पदार्थ जीमलें, पचते समय पेटमें ठीक ठीक क्रम बन जावेगा। घडेमें भरे हुए भिन्न पदार्थोंका भारीपन और लघुपन होनेके कारण पदार्थ शक्तिका जैसे उल्लंघन नहीं हो पाता है। कवि सम्प्रदायके अनुसार पुरुषका वर्णन ऊपरके अंगोंसे लेकर पावोंतक किया जाता है और काव्य पुराणोंमें स्त्रियोंका वर्णन पावोंसे लेकर उत्तमाङ्ग (सिर) पर्यन्त किया जाता है, इसमें भी ज्ञाता दृष्टाओंके परिणामानुसार व्यवस्था समझनी चाहिये। उत्तम पुरुषको पुरुष देखे या स्त्री देखे, उनकी दृष्टि सबसे प्रथम ऊपरके अङ्ग मस्तक, मुख, वक्षःस्थलपर जाती हुयी नीचे अंगोंतक पीछे पहुंचेगी। तथा स्त्रीजनोंको पुरुष देखे या स्त्री देखे, उन सबकी दृष्टि स्त्रीके पगोंकी ओर सबसे प्रथम जावेगी। पीछे नीचेसे प्रारम्भकर ऊपरके अवयवोंका चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा। वैसे ही पदोंका संकलन करनेपर शब्द शक्तिके अनुसार विशेष कारणोंसे उन पदोंका शास्त्रोक्त क्रम घटित हो जाता है। कोई पोल नहीं है कि चाहे जिस पदको अपनी इच्छानुसार चाहे जहां आगे पीछे बोल दिया। बुद्धिशाली पुरुषोंके उच्चारण किये गये आगे पीछेके वाक्योंमें रहस्य भरा रहता है। प्रकरणमें यह बात है कि सातों तत्त्वोंका द्वन्द्वसमास करनेपर सबसे पहिले जीव तत्त्वका विशेष रूपसे कथन किया गया है। क्योंकि सम्पूर्ण वचनोंकी या शास्त्रोंकी प्रवृत्ति होना उस जीवके लिये ही

है। सार्थक वचन जीवके समझानेके लिये ही कहे जाते हैं। अजीव, आस्रव, आदिकी विधि भी जीव नामक प्रभुके लिये ही है।

तदुपग्रहहेतुत्वादजीवस्तदनन्तरम् ।
तदाश्रयत्वतस्तस्मादास्रवः परतः स्थितः ॥ २१ ॥
बन्धश्चास्रवकार्यस्तत्तदनंतरमीरितः ।
तत्प्रतिध्वंसहेतुत्वात्संवरस्तदनन्तरम् ॥ २२ ॥
संवरे सति सम्भूतेर्निर्जरायास्ततः स्थितिः ।
तस्यां मोक्ष इति प्रोक्तस्तदनन्तरमेव सः ॥ २३ ॥

उस जीवके शरीर, मन, श्वासोच्छ्वास, गमन, स्थिति, अवगाह, वर्त्तना, रूप उपकारोंका कारण होनेसे उस जीवके अनन्तर अजीवका कथन किया है। यहां उपकार्य उपकारकभाव सम्बन्ध है। उन जीव और अजीवके आश्रयपनेसे आस्रव होता है। तिस कारण अजीवसे परली ओर आस्रव पद ठहरा हुआ है। यहां आश्रयण आश्रयिभाव सम्बन्ध है। तथा आस्रवका कार्य बन्ध है अतः सूत्रमें उस आस्रवके अनन्तर बन्ध कहा गया है आस्रव और बन्धमें कार्यकारण भाव संगति है। आस्रवके प्रतिकूल उस आस्रवके ध्वंसका अथवा बन्धके अभावका कारण होनेसे उस बन्धके पछि संवरका प्रयोग किया गया है। यहां प्रतिनारायण नारायणके समान अथवा राम रावणके सदृश प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भावसम्बन्ध है। संवरके हो जानेपर मोक्षके उपयोगी होरहा निर्जरातत्त्व भले प्रकार उत्पन्न होता है। तिस कारण तिस संवरके पीछे निर्जरा कही गयी है। यहांपर पूर्वापरभाव या प्रयोज्य प्रयोजकभाव सम्बन्ध व्यवस्थित है। उस निर्जराके हो जानेपर मोक्ष होती है। इस कारण उसके अनन्तर ही प्रसिद्ध मोक्ष तत्त्व कहा गया है। यहां कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार सात तत्त्वोंके क्रमसे कथन करनेमें सूत्रकारका स्वरस (अभिप्राय) प्रगट कर दिया है ।

जीवादिपदानां द्वन्द्ववृत्तौ यथोक्तः क्रमो हेतुविशेषमपेक्षतेऽन्यथा तन्नियमायोगात् । तत्र जीवस्यादौ वचनं तत्त्वोपदेशस्य जीवार्थत्वात् ।

जीव आदि पदोंकी द्वन्द्वसमास नामक वृत्तिके होनेपर शास्त्रमें यथार्थरूपसे कहा गया जो क्रम है (पक्ष) है सो विशेष हेतुओंकी अपेक्षा रखता है (साध्य) यदि ऐसा न माना जाकर दूसरे प्रकारसे माना जावेगा तो पदोंके ठीक ठीक आगे पीछे बोलनेका नियम नहीं नहीं बन सकेगा (हेतु)। अर्थात् कोई भी पद कहीं भी बोला जासकेगा। कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। एक व्याख्याता या वाक्कील (वकील) भी अपने वक्तव्य प्रमेयको ठीक संदर्भसे बोलता हुआ ही सुनने वालोंपर प्रभाव जमा सकता है। मोतियोंकी कण्ठीमें या रत्नमालामें योजना समीचीन होनी चाहिये।

तद्वत् शद्वसामर्थ्यसे उन जीव आदिक पदोंके उच्चारण करनेपर सबके आदिमें जीवका कथन करना होगा। क्योंकि जितना कुछ भी तत्त्वोंका उपदेश है वह सब जीवके लिये उपयोगी है। भावार्थ—तत्त्वोंके कहनेका, सुननेका और पालन करनेका अधिकार और स्वामित्व सब जीव तत्त्वको ही प्राप्त है।

प्रधानार्थस्तत्त्वोपदेश इत्ययुक्तं, तस्याचेतनत्वात् तत्त्वोपदेशेनानुग्रहासम्भवात् (द्र) घटादिवत्। सन्तानार्थः स इत्यप्यसारं, तस्यावस्तुत्वेन तदनुग्राह्यत्वायोगात्। निरन्वयक्षणिक-चित्तार्थस्तत्त्वोपदेश इत्यप्यसम्भाव्यं, तस्य सर्वथा प्रतिपाद्यत्वानुपपत्तेः, संकेतग्रहणव्यव-हारकालान्वयिनः प्रतिपाद्यत्वप्रतीतेः।

यहां कापिल (सांख्य) कहते हैं कि तत्त्वोंका उपदेश करना आत्माकोलिये नहीं है। किन्तु सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृतिके लिये है। प्रकृति ही उपदेश देती है। प्रकृति ही उपदेशको सुनती है। और प्रकृति ही अपनेमें ज्ञानको उत्पन्न करती है, फिर आप जैनोंने तत्त्वोपदेशको आत्माके लिये कैसे कहा ? बताओ। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार सांख्योंका कहना युक्तियोंसे शून्य है। क्योंकि वह प्रकृति अचेतन (जड) है। तत्त्वोपदेशसे जड पदार्थका उपकार होना घट, पट आदिके समान असम्भव है। वास्तवमें जीवके लिये ही उपदेश देना उपयोगी है।

बौद्ध कहते हैं कि वह तत्त्वोपदेश क्षणिक चित्तोंकी सन्तान (लडी) के लिये उपयोगी है। भलें ही व्यक्तियां नष्ट होजावें, किन्तु सन्तान तो बनी रहेगी। देशके सेवक अपने लिये नहीं किन्तु भविष्य सन्तानके लिये परोपकारमें लगरहे हैं। आचार्य बोलते हैं कि बौद्धोंका इस प्रकार कहना भी साररहित है। क्योंकि उस सन्तानको बौद्धोंने वास्तविक अर्थ नहीं माना है। अनेक पहिले पीछे उत्पन्न हुए और होनेवाले क्षणोंका समुदाय सन्तान है, किन्तु सौगत लोगोंने एक क्षणवर्ती स्वलक्षण या विज्ञानको ही वास्तविक तत्त्व माना है। अतः सन्तानको अवस्तुपना हो जानेके कारण उसको उपकार्यपना नहीं बनता है जो अश्वविषाणके समान है ही नहीं, उपकारक तत्त्वोपदेश उस असत्का भला क्या उपकार कर सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। पुनः बौद्ध कहते है कि कुछ भी अन्वय नहीं रहते हुए क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाले विज्ञानरूप चित्तके लिये तत्त्वोपदेश है। ग्रन्थकार बतलाते हैं कि यह कहना भी नहीं सम्भवता है। क्योंकि केवल एक समय ही जीवित रहनेवाले उस चित्तको प्रतिपाद्यपना (श्रोतापना) सभी प्रकारोंसे सिद्ध नहीं होता है। जो श्रोता संकेतकालसे लेकर व्यव-हार कालतक अन्वयरूपसे विद्यमान रहता है, उसको समझाने योग्यपना (शिष्यत्व) प्रतीत होरहा है। भावार्थ—अनुभवी वृद्धके निकट अन्य उपायोंसे " इस शद्वके द्वारा यह अर्थ समझ लेना चाहिये " इस प्रकार शद्व और अर्थके साथ वाच्यवाचक सम्बन्धको ग्रहण करनेका समय संकेत-काल कहा जाता है और संकेतग्रहणके अनुसार उस शद्वके द्वारा पीछे समयोंमें व्यवहार करनेको व्यवहारकाल कहते हैं। जिस मनुष्यने श्रृंग [सींग] सासना [गलकम्बल] वाली व्यक्तिमें

गो शब्दकी प्रवृत्ति होनेका संकेत किया है वह पुरुष व्यवहार करते समय विद्यमान होगा, तब तो गो शब्दसे गौ रूप अर्थकी प्रतीति हो सकेगी। किन्तु संकेतकर शीघ्र मरजानेवाले मनुष्यको पीछे उस शब्दसे अर्थकी प्रतीति नहीं होती है। देवदत्तके संकेत ग्रहणसे यज्ञदत्तको अर्थकी प्रतीति नहीं होपाती है। अतः सिद्ध होता है कि अनेक क्षणोंतक ठहरनेवाले आत्माके लिये ही तत्त्वोपदेश उपयोगी है।

चैतन्यविशिष्टकायार्थस्तत्त्वोपदेश इति चेत्, तच्चैतन्यं कायात्तत्त्वान्तरमतत्त्वान्तरं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, बन्धं प्रत्येकतामापन्नयोः कायचैतन्ययोर्व्यवहारनयाज्जीवव्यपदेशसिद्धेः, निश्चयनयात्तु चैतन्यार्थ एव तत्त्वोपदेशः, चैतन्यशून्यस्य कायस्य तदर्थत्वाघटनात्। द्वितीयपक्षे तु कायानर्थान्तरभूतस्य चैतन्यस्य कायत्वात्काय एव तत्त्वोपदेशेनानुगृह्यत इत्यापन्नं, तच्चायुक्तमतिप्रसंगात्। ततो जीवार्थ एव तत्त्वोपदेश इति नासिद्धो हेतुः॥

अब कोई चार्वाकका पक्ष लेते हुए कहते हैं कि चैतन्यसे सहित हो रहे शरीरके लिए तत्त्वोपदेश होता है। अतः शरीररूप अजीव तत्त्वका सूत्रमें सबसे पहिले प्रयोग करना चाहिये। जीवका नहीं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि आप शरीरको जिस चैतन्यसे सहित कह रहे हैं वह चैतन्य क्या शरीरसे भिन्न निराला स्वतंत्र तत्त्व है ? या शरीररूप ही चैतन्य है, अन्य तत्त्व नहीं ? बताओ। यदि आप पहिला पक्ष स्वीकार करेंगे तो आपके ऊपर सिद्धसाधन दोष होता है क्योंकि बन्धके प्रति एकताको प्राप्त हो रहे शरीर और चैतन्य दोनोंको व्यवहारनयसे जीव ऐसा नामकथन सिद्ध होरहा है। भावार्थ—जितने संसारी जीव हैं वे सभी शरीर और आत्मा दो द्रव्योंसे मिलकर बना हुआ अशुद्ध द्रव्यरूप पदार्थ है। दो द्रव्योंका बन्ध हो जानेपर दोनों अपने स्वभावसे च्युत हो जाते हैं और तीसरी ही दही, गुडके पिण्ड समान अवस्थाको धारण कर लेते हैं। सिद्धांत ग्रन्थोंमें कहा है कि 'बन्धं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं' बन्धकी अपेक्षासे दोनों द्रव्य एक हैं और लक्षणसे या निश्चय नयसे दोनों न्यारे न्यारे द्रव्य हैं। सिद्ध भगवान् शरीर न होनेके कारण न तो उपदेश देते हैं और वे उपदेशका श्रावण प्रत्यक्ष भी नहीं करते हैं। केवल ज्ञान द्वारा सबके ज्ञाता हैं। अतः शरीर सहित संसारी जीव ही उपदेश सुननेके पात्र हैं। संसारी जीवके कान, मन, संकेतको ग्रहण करना, आदि विद्यमान हैं। यों जैनसिद्धान्तके अनुसार चैतन्यविशिष्ट शरीरके लिए तत्त्वोपदेश करना होता है, यह हमको इष्ट है। अतः आप चार्वाक सिद्धका ही साधन कर रहे हैं [यह दोष हुआ]। हां ! निश्चयनयसे विचार किया जावे तब तो चैतन्य (आत्मा) के लिये ही तत्त्वोपदेश है। जो मृतशरीर चैतन्यसे रहित है उसकेलिये उपदेश सुननेकी योग्यता नहीं घटित होती है। अतः जीवके लिये ही तत्त्वोपदेश उपयोगी है। तभी तो जीवका आदिमें प्रयोग किया है। यदि आप चार्वाक दूसरा पक्ष लेंगे यानी चैतन्य और शरीरको अभिन्न मानेंगे तब तो कायसे अभिन्न मान लिये गये चैतन्यको ही कायपना होनेके कारण काय ही तत्त्वोप-

देशके द्वारा उपकृत होती है ऐसा कहना प्राप्त हुआ किन्तु वह कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि अतिप्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—जड शरीरके लिये ही तत्त्वोपदेश यदि उपयोगी होगा तो मृत शरीर अथवा घट, पट, गृह आदि भी उपदेशको प्राप्त करनेके पात्र बन जावेंगे। जो कि दोनों ओरसे उपदेशके योग्य नहीं माने गये हैं। तिस कारण सिद्ध होता है कि जीवके लिये ही तत्त्वोंका उपदेश होता है इस प्रकार जीव पदको आदिमें कहनेकेलिये दिया गया हमारा हेतु असिद्ध नहीं है। तत्त्वोपदेश जीवके लिये ही है यह बात अच्छे प्रकारसे सिद्ध कर दी गयी है।

जीवादनन्तरमजीवस्याभिधानं तदुपग्रहहेतुत्वात्। धर्माधर्माकाशपुद्गलाद्यजीवविशेषा असाधारणगतिस्थित्यवगाहवर्तनादिशरीराद्युपग्रहहेतवो वक्ष्यन्ते।

जीवसे अव्यवहित पीछे अजीवका कथन है। क्योंकि उस जीवका उपकार करनेवाला कारण अजीव पदार्थ है। जीवके पीछे अजीवको कहनेमें उपकार्य उपकारक भाव सम्बन्ध प्रयोजक है। अजीवके विशेष भेद तो धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और आदि पदसे काल ये पांच हैं। कालद्रव्यके असंख्यात और पुद्गलके अनन्त ये अवान्तर भेद हैं। धर्म द्रव्यका असाधारण उपकार जीव और पुद्गलकी गति करनेमें उदासीन कारण होता है। और अधर्म द्रव्यका असाधारण उपकार जीव आदि दो अथवा छहों द्रव्योंकी स्थिति रखनेमें उदासीन कारणपना है। तथा आकाश द्रव्यका उपकार सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाह देना है। कालद्रव्यका उपकार सम्पूर्ण द्रव्योंकी वर्त्तना कराना है। सम्पूर्ण द्रव्य स्वभावसे वर्त्तन करते हैं, किन्तु चाकके घूमनेमें कीलके समान सब द्रव्योंके वर्तनमें उदासीन प्रेरक काल द्रव्य है। प्रत्येक समयमें अपनी सत्ताका अनुभव करती हुयी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, से रहित होरहे द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायका परिवर्तनरूप परिणतिको वर्तना कहते हैं। परिणाम (अपरिस्पन्द) क्रिया (परिस्पन्द) परत्व, अपरत्व, (आयुष्यसे किया गया बडा छोटापन) ये भी काल (व्यवहार काल) के उपकार हैं, यह आदि पदका अर्थ समझा जाय। शरीर, वचन, आठ पत्तोंसे विकसित हुये कमलके समान हृदयमें बना हुआ द्रव्यमन, श्वास उत्श्वास, सुख दुःख आदि उपकार तो पुद्गलद्रव्यके द्वारा जीवको प्राप्त होते हैं। इन उपकारोंके कारण धर्म आदिक द्रव्य पांचवें अध्यायमें ग्रन्थकारके द्वारा स्वयं स्पष्टरूपसे निरूपित किये जावेंगे।

द्रव्यास्रवस्याजीवविशेषपुद्गलात्मककर्मास्रवत्वादजीवानन्तरमभिधानं, भावास्रवस्य जीवाजीवाश्रयत्वाद्वा तदुभयानन्तरम्।

पांचप्रकारके अजीवोंमें एक विशेषद्रव्य पुद्गल है। कर्म नोकर्मका आगमनरूप द्रव्यास्रव पुद्गल रूप है। कर्म, नोकर्म, पुद्गलरूप हैं। उनका आना उन्हींका पर्याय है। जैसे कि देवदत्तका आना देवदत्तका ही परिणाम है। पर्यायीसे पर्याय अभिन्न है। इस कारण अजीवके अनन्तर आस्रवतत्त्वका कथन किया है। और मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय अथवा काययोग, वचनयोग, मनोयोग ये भावास्रव हैं। जीव और अजीव दोनों द्रव्योंका आश्रय लेकर उक्त भाव उत्पन्न होते हैं इस कारणसे

भी उन जीव और अजीव दोनोंके अनन्तर आस्रवका निरूपण है। अजीवके पीछे आस्रवतत्त्वको कहनेमें एकदेश तदात्मक सम्बन्ध घटक है, अथवा आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है।

सत्यास्रवे बन्धस्योत्पत्तेस्तदनन्तरं तद्वचनं, आस्रवबन्धप्रतिध्वंसहेतुत्वात् संवरस्य तत्समीपे ग्रहणम्।

आस्रवके होनेपर बन्धकी उत्पत्ति होती है, अतः आस्रवके अव्यवहित पीछे बन्ध तत्त्वका प्ररूपण है। यहां कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। यद्यपि आस्रव और बन्धका एक समय है, फिर भी आगे पीछे होनापन है। विस्रसोपचयका या आत्माके उसी देशमें पडी हुई कार्मणवर्गणाओंका भी आस्रव होकर ही बन्ध हो पाता है, समान समयमें भी दीप और प्रकाशके समान कार्यकारणभाव क्वचित् मान लिया है। आस्रव और बन्ध इन दोनोंके नाशका कारण होनेसे उनके समीपमें संवर तत्त्वका ग्रहण किया है। यहां इतिरेतरयोगिकत्व या प्रतिमूलत्व हेतुका भी लक्षण है।

सति संवरे परमनिर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके निर्जरावचनं, सत्यां निर्जरायां मोक्षस्य घटनात्तदनन्तरमुपादानम्।

साधारणनिर्जरा भले ही चाहे जब हो जावे अथवा संवरके विना भी हो जावे किन्तु परम-निर्जरा तो संवरके होनेपर ही सिद्ध होती है, इस कारण उस संवरके निकट निर्जराका वचन किया है, यहां अन्यथानुपत्ति दोनों तत्त्वोंका घटकावयव (संयोजिका) है। विशिष्ट निर्जराके ही होनेपर मोक्षकी प्राप्ति घटित होती है। अतः उस निर्जराके पीछे मोक्षका ग्रहण किया है, यहां कार्य-कारणप्रत्यासत्ति है।

मोक्षपरमनिर्जरयोरविशेष इति चेतसि मा कृथाः, परमनिर्जरणस्यायोगकेवलिचरम-समयवर्त्तित्वात्तदनन्तरसमयवर्तित्वाच्च मोक्षस्य। य एवात्मनः कर्मबन्धविनाशस्य कालः स एव केवलत्वारव्यमोक्षोत्पादस्येति चेत् न, तस्यायोगकेवलिचरमसमयत्वविरोधात् पूर्वस्य समयस्यैव तथात्वापत्तेः, तस्यापि मोक्षत्वे तत्पूर्वसमयस्येति सत्ययोगकेवलिचरमसमयो व्यवतिष्ठेत, न च तस्यैव मोक्षत्वे अतीतगुणस्थानत्वं मोक्षस्य युज्यते चतुर्दशगुणस्थाना-न्तःपातित्वानुषङ्गात्।

यहां किसी की शंका है कि मोक्ष और परमनिर्जरामें कोई अन्तर नहीं है, सम्पूर्ण कर्मोंका झड जाना परमनिर्जरा है और मोक्ष भी सम्पूर्णकर्मोंका ध्वंस होजानारूप है। अतः इन दोनों तत्त्वोंमें कोई भिन्नता नहीं दीखती है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकारकी शंकाको चित्तमें नहीं करना, क्योंकि अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें परमनिर्जरा वर्ते है और उस समयके अव्यवहित पीछे समयमें मोक्ष वर्तती है। भावार्थ—चौदहवेंके अन्तमें परमनिर्जरा होती है और गुणस्थानोंके समयका अतिक्रमण कर पीछे झट मोक्ष होजाती है। परम निर्जरा और मोक्षमें एक समयका अन्तर है। निर्जरा कारण है और मोक्ष कार्य है। निर्जरा गुणस्थानोंमें होती

है और मोक्ष गुणस्थानोंसे अतीत है। यदि कोई यों कहे कि जो ही आत्मा सम्बन्धी कर्मबन्धोंके क्षयका काल है और वही काल तो पुद्गलसे सर्वथा भिन्न होकर अकेले केवल आत्माका रह जाना नामक मोक्षके उत्पादका भी है, अतः यों तो निर्जरा और मोक्षका एक ही समय सिद्ध होता है। आपने दो समय कैसे कहे ? बताओ। आचार्य समझाते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर तो अन्तकी निर्जराको अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें वर्तनेका विरोध हो जावेगा। शंकाकारके कथनानुसार चौदहवेंके अन्तमें यदि मोक्ष होना माना जावे तो उसके पूर्व समयको ही यानी उपान्त्य समयको ही तिस प्रकार परमनिर्जराका काल कहनेका प्रसंग हो जायगा। यदि उस उपान्त्य समयमें होनेवाली परमनिर्जराको भी मोक्ष कहा जावेगा तो उससे भी पहिले समयमें परमनिर्जरा कहनी पडेगी। क्योंकि कार्यसे कारण एक समय पूर्वमें रहना चाहिये। प्रतिबन्धकोंका अभावरूप कारण भले कार्यकालमें रहता होय, किन्तु प्रेरक या कारक कारण तो कार्यके पूर्व समयमें विद्यमान होने चाहिये, इस प्रकार द्विचरम, त्रिचरम, चतुश्चरम आदि समयोंमें मोक्ष होनेका प्रसंग हो जावेगा, कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अतः यही व्यवस्था होना ठीक है कि अयोगकेवलीका चरम समय ही परम निर्जराका काल है और उसके पीछेका समय (काल) मोक्षका है। यदि चौदहवेंके उस अन्त समयको ही मोक्षका काल कह दिया जावेगा तो मोक्षका भी चौदहवें या चौदह गुणस्थानोंके भीतर पड जानेका प्रसंग होगा। गुणस्थानोंसे अतिक्रान्तपना मोक्षको युक्त न हो सकेगा। परन्तु सिद्धान्तमें मोक्षका समय गुणस्थानोंसे बाहिर माना गया है। गोमट्टसार जीवकाण्डमें लिखा हुआ है कि " गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा। सेस णव मग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति " सिद्ध अवस्था ही मुक्त अवस्था है।

लोकाग्रस्थानसमयवर्तिनो मोक्षस्यातीतगुणस्थानत्वं युक्तमेवेति चेत्, परमनिर्जरातोन्यत्वमपि तस्यास्तु निश्चयनयादस्यैव मोक्षत्वव्यवस्थानात्। ततः सूक्तो जीवादीनां क्रमो हेतुविशेषः।

आक्षेपकार कहता है कि लोकमें सबसे ऊपर अग्रिम स्थान तनुवातवलयमें सवा पांचसे (५२५) धनुष मोटा और पैंतालीस लाख लम्बा चौडा गोल सिद्ध लोक है, मनुष्य लोकसे जाकर उस स्थानमें पहुंचनेका काल मोक्षका काल है। अतः मोक्षको गुणस्थानोंसे अतिक्रान्तपना युक्त ही है, हम भी मानते हैं। आचार्य बोलते हैं कि यदि इस प्रकार कोई कहेंगे तो इसी कारण उस मोक्षको परम निर्जरासे भिन्नपना भी हो जाओ। वास्तवमें देखा जावे तो निश्चय नयसे लोकके अग्रभागमें विराजमान होते समय ही मोक्षपनेकी व्यवस्था की गयी है और वह परम निर्जराके समयसे पीछे समयमें होनेवाला कार्य है। अतः परमनिर्जरासे मोक्ष तत्त्व भिन्न है, तिस कारण जीव आदिक सात तत्त्वोंके क्रमसे कथन करनेमें विशेषरूप करके हेतु अच्छे प्रकार कह दिये हैं। यहांतक उक्त चार वार्तिकोंका विवरण कर दिया है।

किं पुनस्तत्त्वमित्याहः—

फिर कोई जिज्ञासु कहता है कि वह तत्त्व एक वस्तु है ? समझाइये, इस प्रकार प्रश्नकर्ताकी सविनय अभिलाषा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं—

तस्य भावो भवेत्तत्त्वं सामान्यादेकमेव तत् ।
तत्सामान्याश्रयत्वेन जीवादीनां बहुत्ववाक् ॥ २४ ॥
भावस्य तद्वतो भेदात् कथञ्चिन्न विरुध्यते ।
व्यक्तीनां च बहुत्वस्य ख्यापनार्थत्वतः सदा ॥ २५ ॥

सब पदार्थोंमें सामान्यपनेसे वर्तनेवाले सर्वादिगणमें तत् शब्द कहा गया है। तत् शब्दसे कोई भी विवक्षित अर्थ पकडा जाता है। उसका भाव (परिणमन) है वह तत्त्व कहा जाता है। सामान्य अपेक्षासे वह तत्त्व एक ही है। व्याकरण शास्त्रमें और लोकमें भावको एकपना माना गया है, जैसे देवदत्त जिनदत्त और इन्द्रदत्तका जाना यहां व्यक्ति तो अनेक हैं, किन्तु उनका गमन करना एक समझा जाता है। अनेक छात्रोंका अध्ययन करना एक समझा जाता है, तैसे ही व्यक्तिरूपसे उन अनेक पदार्थोंका भावतत्त्व भी एक है। तत्त्व शब्द नपुंसकलिंग है, प्रथमा विभक्तिका एक वचन है, उसके सामान्यरूपसे आश्रय होजानेके कारण या समानाधिकरणपनेसे जीव, अजीव आदि अनेकोंके बहुपनेको कहनेवाले प्रथमा विभक्तिके जस् प्रत्ययसे युक्त पदका प्रयोग किया गया है। अच्छी बात तो यह है कि वचन, लिंग, और विभक्ति इन तीनोंका ही उद्देश्य और विधेय दलोंमें सामानाधिकरण्य बन जावे, जैसे कि देवाश्वतुर्णिकायाः, द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः। किन्तु जो शब्द अजहल्लिंग हैं यानी बहुव्रीहिसमासके अतिरिक्त कहीं भी अपने लिंगको छोडते नहीं हैं अथवा भावप्रत्ययान्त शब्द हैं, जो कि प्रायः एकवचन ही बोले जाते हैं, उस स्थलपर वचन और लिंगके समानाधिकरणपनेका नियम नहीं घट सकता है। हां ! समान विभक्ति अवश्य होनी चाहिये। यहां उद्देश्य और विधेय दलमें प्रथमा विभक्ति पडी हुयी है। किन्तु उद्देश्य वाक्य पुल्लिंग है और विधेयपद नपुंसकलिंग है तथा उद्देश्य बहुवचन है और विधेय एक वचन है। प्रकृत सूत्रमें भावकी भाववान्से कथञ्चिद् अभेदविवक्षा करनेपर समानाधिकरणपना विरुद्ध नहीं पडता है। अन्य स्थानोंमें यही प्रसिद्ध नियम लागू होगा कि भावका भावके साथ समानाधिकरणपना है जैसे कि " सम्यग्ज्ञानत्वं प्रमाणत्वम् " औष्ण्यमग्नित्वम् " अर्थात् सम्यग्ज्ञानपना ही प्रमाणपना है। उष्णता ही अग्निपना है। तथा भाववान्का भाववान्के साथ समानाधिकरण्य है। जैसे कि ज्ञानवान् आत्मा है, सींग सास्नावाली गौ है। जहां ही आत्मा है, वहां ही ज्ञानवान् है। जिस भूतलरूप अधिकरणमें गौ है उसी भूतलमें सींग सास्नावाली व्यक्ति भी है। स्याद्वादके विना धर्म और धर्मीका सामानाधिकरण्य नहीं बनता है। जैसे कि ज्ञान आत्मामें है और आत्मा शरीरमें है। उष्णता अग्निमें है और अग्नि

चूल्हेमें है, किन्तु जैनसिद्धान्तमें नैयायिकोंके समान भाव और भाववान् में सर्वथा भेद नहीं माना जाता है। अतः उष्णता और अग्निका तथा ज्ञान या आत्माका भी एकार्थ (समानाश्रयत्व) पना बन जाता है। तैसे ही भाववाची तत्त्व शब्दका भाववान्को कहनेवाले जीव आदिके साथ समानाश्रयता हो जाती है। कोई भी विरोध नहीं है। द्रव्यके गुण, पर्याय और स्वभाव उस आश्रयभूत द्रव्यसे अभिन्न हैं। फिर भी कथञ्चित् भेद है। घटत्व, पटत्व, आत्मत्व, आदि जातियां एकपनेसे ही प्रसिद्ध होरही हैं। अतः विधेय दलके तत्त्वशब्दको एक वचनान्त कहा है और देवदत्त, इन्द्रदत्त, घट, पट, पुस्तक आदि व्यक्तियें बहुतरूपसे सदा प्रसिद्ध हैं। इस कारण व्यक्तियोंका बहुपना प्रसिद्ध करनेके प्रयोजनकी अपेक्षासे समासके अन्तमें पडे हुए मोक्षपदको बहुवचन कहा है।

तस्य भावस्तत्त्वमिति भावसामान्यस्यैकत्वात्समानाधिकरणतया निर्दिश्यमानानां जीवादीनां बहुत्ववचनं विरुध्यत इति चेत् न, भावतद्वतोः कथञ्चिदभेदादेकानेकयोरपि समानाधिकरण्यदर्शनात् सदसती तत्त्वमिति जातेरेकत्ववत्। सर्वदा व्यक्तीनां बहुत्वख्यापनार्थत्वाच्च तयोरेकवचनबहुवचनाविरोधः प्रसिद्धयति।

यहां कोई शंका करता है तिस अर्थका जो भाव है वह तत्त्व है। इस प्रकार जातिरूप समानपना भाव एक हुआ, अतः सामान्यवाची एक तत्त्वके समानाधिकरणपनेसे सूत्रमें कहे गये जीव आदिकोंका बहुत्व प्रतिपादक बहुवचनान्तपना कहना विरुद्ध हो जाता है। आचार्य बताते हैं कि ऐसा कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि भाव और भाववान्में कथञ्चित् भेद करनेसे एक और अनेक पदार्थोंमें भी समानाधिकरणपना देखा जाता है। जैसे कि सत् (भाव) और असत् (अभाव) दो ही तत्त्व हैं, यहां वैशेषिकोंने उद्देश्यदलमें द्विवचनान्त शब्द कहा है। और विधेयको एकवचनान्त कहा है। मीमांसकोंने " वेदाः प्रमाणम् " यहां चार वेदोंको उद्देश्य दलमें और सामान्यरूपसे एक प्रमाणको विधेयदलमें कहा है। इस प्रकार जैसे जातिमें एकपना अभीष्ट है, गेहूं अच्छा है, चना मन्दा है, पाप बुरा है, इस धनिकके पास पैसा है। सभीने यहां जातिकी अपेक्षासे एकवचन इष्ट किया है। तभी तो तत्त्वका एकवचनान्त प्रयोग है। उसीके समान घोडा, भैंसा आदि व्यक्तियोंका सदा बहुतपना है। उसी बातको समझानेके लिये जीव आदिकोंका बहुवचनान्त कहा है। उन उद्देश्य और विधेयको एकवचन तथा बहुवचन होनेसे जैनसिद्धांतके अनुसार कोई विरोध नहीं आता है। इस बातका विश्वास कर लेना चाहिये, यही बात पहिले सूत्रमें भी समझ लेनी चाहिये।

जीवत्वं तत्त्वमित्यादि प्रत्येकमुपवर्ण्यते।
ततस्तेनार्यमाणोऽयं तत्त्वार्थः सकलो मतः ॥ २६ ॥

जीवका जो आत्मीय सम्पूर्ण परिणाम है वह जीवत्व तत्त्व है। अजीवका जो परिणमन है वह अजीवत्व है, इत्यादि। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्वमें वर्णन कर लेना चाहिये। तिस कारण उस

जीवत्व आदि तत्त्व करके प्राप्त करने योग्य या जानने योग्य यह जीव आदि अर्थ है । सो सम्पूर्ण ही तत्त्वार्थ माना गया है । जीवका स्वांश छूटना नहीं चाहिये । और परद्रव्यका बालाग्र भी ग्रहण न होना चाहिये ।

तस्य जीवस्य भावो जीवत्वं, अजीवस्य भावो अजीवत्वं, आस्रवस्य भावः आस्रवत्वं, बन्धस्य भावो बन्धत्वं, संवरस्य भावः संवरत्वं, निर्जरायाः भावो निर्जरात्वं, मोक्षस्य भावो मोक्षत्वम् । तत्त्वमिति प्रत्येकमुपवर्ण्यते, सामान्यचोदनानां विशेषेष्ववस्थानप्रसिद्धेः । तथा च जीवत्वादिना तत्त्वेनार्यत इति तत्त्वार्थो जीवादिः सकलो मतः श्रद्धानविषयः ।

उस जीवरूप तत्का भाव जीवत्व है । अजीवका स्वभाव अजीवत्व है । आस्रवका परिणाम आस्रवत्व है । बन्धकी परिणति बन्धत्व है । संवरका भाव संवरपना है । निर्जराका पर्याय होना निर्जरात्व है । और मोक्षका सामान्य भाव मोक्षत्व है । तत्पना ऐसा प्रत्येक पदार्थमें कह दिया जाता है । सामान्यके लिये कहे गये प्रेरक वाक्योंका विशेष व्यक्तियोंमें अवस्थित होकर चरितार्थ होना प्रसिद्ध हो रहा है । विद्यार्थी विनीत होते हैं, इस कथनसे भिन्न भिन्न विद्यार्थियोंमें विनय गुण प्रतिष्ठित किया जाता है और तैसा होनेपर फलितार्थ यह निकलता है कि जीवत्व, अजीवत्व आदि तत्त्वों करके जो गम्य होता है यों वह तत्त्वार्थ है । इस निरुक्ति करके संपूर्ण जीव आदिक सात तत्त्व सम्यग्दृष्टि जीवके श्रद्धानके विषय माने हैं । दूसरे सूत्रके आदि भागका भी वही निष्कर्ष (सार) है ।

जीव एवात्र तत्त्वार्थ इति केचित्प्रचक्षते ।
तदयुक्तमजीवस्याभावे तत्सिध्ययोगतः ॥ २७ ॥
परार्था जीवसिद्धिर्हि तेषां स्याद्वचनात्मिका ।
अजीवो वचनं तस्य नान्यथान्येन वेदनम् ॥ २८ ॥

इस प्रकरणमें अकेला जीव ही तत्त्वार्थ है, ऐसा कोई वादी प्रकर्षताके साथ बखान रहे हैं । उस ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि अजीव तत्त्वका अभाव मानने पर उस जीव तत्त्व (परब्रह्म) की सिद्धि होनेका अयोग है । अद्वैतवादी अपने मनमें स्वयं जीव रूप बनकर तो सन्तोष कर नहीं सकता है । अपने अन्य शिष्य और श्रोताओंको भी ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि करानेके लिये और उनको तदात्मक होनेके लिये प्रयत्न अवश्य करेगा । अन्यथा उसके गुरु, माता, पिता, शिष्य जन, आदिमें (को) तद्रूप ब्रह्मकी सिद्धि न हो सकेगी । अतः उन ब्रह्माद्वैत वादियोंकी दूसरोंके लिये जीवतत्त्वकी ही सिद्धि करना वचनस्वरूप ही होगी । उसका वचन तो अजीव (जड) पदार्थ है अन्यथा यानी वचनको भी जीवरूप माना जावेगा तो अन्य आत्माओंके

द्वारा शब्दोंका ज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि चेतनात्मक पदार्थ तो सर्वज्ञके अतिरिक्त विवक्षित एक ही आत्मा करके स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाने जाते हैं कान, चक्षु आदिकसे नहीं। जो बहिरिन्द्रियोंसे जाने गये हैं वे चेतनात्मक नहीं हैं। अचेतन पदार्थोंपर अनेक जीवोंको समानरूपसे जाननेका अधिकार प्राप्त है, चेतनात्मक पदार्थोंपर नहीं। देवदत्तके चेतनात्मक ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, चारित्र, ब्रह्मचर्य, सत्यव्रत आदिकोंका ज्ञान या अनुभव स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे देवदत्तको ही होता है, जिनदत्तको उनका प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान या आगमज्ञान भले ही कोई कर लें। सर्वज्ञ भी केवलज्ञानसे उनको भले ही जान लेवें। किन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे नहीं जान पाते हैं। अतः घट, पट, वचन आदि पदार्थ पौद्गलिक हैं। तभी तो अनेकोंके द्वारा प्रत्यक्षसे जाने जा रहे हैं।

अस्त्यजीवः परार्थजीवसाधनान्यथानुपपत्तेः। परार्थजीवसाधनं च स्यादजीवश्च न स्यादिति न शंकनीयं, तस्य वचनात्मकत्वाद्वचनस्याजीवत्वात् जीवत्वे परेण संवेदनानुपपत्तेः। स्वार्थस्यैव जीवसाधनस्य भावात्।

अजीव पदार्थ (पक्ष) है (साध्य) दूसरोंके लिए जीवकी सिद्धि करना अजीवके विना नहीं बन सकता है (हेतु)। यहां कोई साध्य और साधनमें अनुकूल तर्कका अभावरूप दोष उठाता है कि अन्योंके लिए जीव पदार्थकी सिद्धि हो जावे यानी हेतु रह जावे और अजीव पदार्थ न मानना पडे, अर्थात् साध्य न रहे। आचार्य समझाते हैं कि यह शंका तो नहीं करनी चाहिये। क्योंकि अन्योंके प्रति जीवको सिद्ध करानेवाला वचन (शब्द) रूप ही पदार्थ है और वह वचन अजीव पदार्थ है। यदि वचनको भी जीवतत्त्व माना जावेगा तो दूसरोंके द्वारा संवेदन होना न बन सकेगा। केवल अपने ही लिए जीव स्वरूप पदार्थ (वचन) से जीवकी सिद्धि होती रहेगी, जो कि व्यर्थ है। चेतनस्वरूप पदार्थ उसी एक ही जीवको ज्ञान करा सकते हैं, अन्यको नहीं। घट अचेतन है, पुष्पकी गन्ध अचेतन है। तभी तो अनेक जीव उनका चाक्षुष या घ्राणज प्रत्यक्ष कर लेते हैं। देवदत्तके सुखका, इच्छाका सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य जीव प्रत्यक्ष क्यों नहीं कर पाते ? इसका कारण यही है कि सुख आदिक परिणाम चेतनस्वरूप हैं। अतींद्रियदर्शी या स्वयं ही सुख आदिकोंका प्रत्यक्ष कर पाता है। इतर आत्मामें उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं।

परार्थं जीवसाधनमसिद्धमिति चेत्, कथं परेषां तत्त्वप्रत्यायनम् ? तदभावे कथं केचित्प्रतिपादकास्तत्त्वस्य परे प्रतिपाद्यास्तेषामिति प्रतीतिः स्यात्।

यदि कोई यों कहे कि दूसरोंके लिए जीवको सिद्ध करना असिद्ध है। यानी यह हेतु अजीव रूप पक्षमें नहीं वर्तता है, हमें दूसरोंके लिये जीवको सिद्ध ही नहीं करना है, ऐसा कहनेपर तो अद्वैतवादियोंके प्रति हमें कहना है कि तब दूसरेके प्रति अपने अभीष्ट होरहे ब्रह्मतत्त्वको कैसे समझाओगे ? बताओ। सभी लोग पेटमेंसे निकलते ही तो ब्रह्माद्वैतको स्वयं नहीं समझ लेंगे। अन्तमें वचन ही तो सबके समझानेका मुख्य उपाय है। उस समझाने और समझनेका भी अभाव यदि

आप मानेंगे तो कोई व्यास, गुरु, पिता, आदि तो ब्रह्मतत्त्वके बखाननेवाले प्रतिपादक हैं, शेष दूसरे अल्पबुद्धि शिष्य उनके उत्पन्न करने योग्य प्रतिपाद्य हैं, इस प्रकारकी प्रतीति उन अद्वैत वादियोंको कैसे होयगी ? जिससे कि वे नियत व्यक्तियोंको प्रतिपादक और कतिपय नियत जीवोंको प्रतिपाद्य कह सकें।

न जीवा बहवः सन्ति प्रतिपाद्यप्रतिपादकाः।
भ्रान्तेरन्यत्र मायादिदृष्टजीववदित्यसत् ॥ २९ ॥

अद्वैतवादी कहते हैं कि जगत्में जीवतत्त्व बहुत नहीं हैं। समझाने योग्य प्रतिपाद्य और समझानेवाले प्रतिपादक ऐसे भिन्न भिन्न जीव कोई नहीं हैं। भ्रमरूप विपर्ययज्ञानमें भले ही भेद दीखे या भिन्न जीव न्यारे न्यारे जाने जावें, जैसे कि तमारारोग वालेको एक आकाशके कैई पिण्डरूप खण्ड दीखते हैं, किन्तु वस्तुतः आकाश एक ही है। तैसे ही भ्रांतिज्ञानके अतिरिक्त समीचीन ज्ञानोंमें ब्रह्माद्वैत ही प्रतीत होता है। संसारी जीवोंके अविद्या लगी हुयी है। इन्द्रजालिया या हस्तकौशलसे मायाचारी पुरुष जैसे एक ही कटोरेमें रखे हुए फलको किसीके लिये रुपया समझा देता है, अन्यको घडी, बिच्छू, गहना, आदिका ज्ञान करा देता है। स्वप्नमें या ग्रहावेश होनेपर एवं तीव्र रोगकी अवस्थामें भिन्न भिन्न अनेक असत् पदार्थ दीख जाते हैं। यों माया आदिसे दिखा दिये गये वे जीव जैसे नाना नहीं हैं वैसे ही इन्द्रदत्त, देवदत्त, आदि भी न्यारे न्यारे जीवतत्त्व नहीं हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार अद्वैतवादियोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है। असत्य है।

एक एव हि परमात्मा प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपतयानेको वा प्रतिभासते अनाद्यविद्याप्रभावात्। न पुनर्बहवो जीवाः सन्ति भ्रान्तेरन्यत्र मायास्वप्नादिजीववत् तेषां पारमार्थिकतानुपपत्तेः। तथाहि। जीवबहुत्वप्रत्ययो मिथ्या बहुत्वप्रत्ययत्वात् स्वप्नादिदृष्टजीवबहुत्वप्रत्ययवदिति कश्चित्, तदनालोचितवचनम्।

उक्त कारिकाका भाष्य इस प्रकार है कि जिस कारण वह परमात्मा ब्रह्म एक ही है। किन्तु अनादि कालकी लगी हुयी अविद्याके प्रभावसे प्रतिपाद्य प्रतिपादक अथवा पितापुत्र, कार्यकारण, आदि रूपों करके अनेक होता हुआ जाना जा रहा है, जैसे कि अखण्ड एक आत्मामें " मेरे सिरमें पीडा है " " मेरे उदरमें सुख है " आदि खण्डकल्पनायें कर ली जाती हैं, वैसे ही अविद्याके वश जीवोंने एकमें अनेकपना मान लिया है। वास्तवमें फिर विचारा जावे तो जीव बहुत नहीं हैं। सिवाय भ्रमके, अर्थात् भ्रान्तिसे अतिरिक्त ज्ञानोंमें जीव एक ही सिद्ध है। जैसे माया, इन्द्रजाल, स्वप्न, मंत्रमुग्ध, मत्त आदि अवस्थाओंमें जीव अनेक जाने जाते हैं किन्तु यह सब धोका है, क्योंकि माया, इन्द्रजाल आदिको और उनसे जाने गये पदार्थोंको वास्तविकपना नहीं बन सकता है। माया आदि या भ्रमज्ञान ये सब अविद्या हैं। उक्त बातको अनुमानसे भी सिद्ध कर दिखाते हैं कि जीवको जीवमें

बहुपनेका ज्ञान मिथ्या है (प्रतिज्ञा) बहुपनेको जाननेवाला ज्ञान होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्न आदिमें देखे गये घोडे, हाथी, मनुष्य, आदि जीवोंके बहुपनेका ज्ञान मिथ्या है (दृष्टान्त)। इस ढंगसे कोई ब्रह्माद्वैतवादी कह रहा है। परन्तु वह कहना उसके विना विचार किये गये वचन हैं। निस्तत्त्व हैं।

अद्वयस्यापि जीवस्य विभ्रान्तत्वानुषङ्गतः।
एकोऽहमिति संवित्तेः स्वप्नादौ भ्रमदर्शनात् ॥ ३० ॥

यदि स्वप्न आदिका दृष्टान्त देकर जीवके नानापनके ज्ञानको भ्रान्त कहोगे तो जीवके अद्वैत यानी जीवके एकपनेके ज्ञानको भी बढिया भ्रान्तज्ञानपनेका प्रसंग हो जावेगा। क्योंकि स्वप्नमें केवल बहुपनेका ज्ञान ही भ्रमरूप नहीं है। किन्तु मैं एक हूं, ब्रह्म एक है, इस प्रकार एकत्वको जाननेवाले ज्ञान भी स्वप्न, अपस्मार आदि अवस्थाओंमें भ्रमरूप देखे जाते हैं। अर्थात् स्वप्नमें अपनेको एकपनेका ज्ञान भी झूंठा है, तथा च स्वप्न आदिके दृष्टान्तसे एकत्व (अद्वैत) का ज्ञान भी अविद्या द्वारा किया गया भ्रमरूप सिद्ध होता है। वास्तवमें देखा जावे तो यह जैनसिद्धान्त अच्छा है कि जो अवस्तुमें होनेवाला ज्ञान है, चाहे वह एकपनेको जाने और भले ही वह नानापनको जानें सर्व मिथ्या हैं और जो वस्तुभूत पदार्थोंमें होनेवाला ज्ञान है चाहे वह एकपने या अनेकपनेको विषय करे सब प्रमाणरूप ज्ञान हैं।

शक्यं हि वक्तुं जीवैकत्वप्रत्ययो मिथ्या एकत्वप्रत्ययत्वात् स्वप्नैकत्वप्रत्ययवदिति। एकत्वप्रत्ययश्च स्यान्मिथ्या च न स्याद्विरोधाभावात्। कस्यचिदेकत्वप्रत्ययस्य मिथ्यात्वदर्शनात् सर्वस्य मिथ्यात्वसाधनेऽतिप्रसंगादिति चेत् समानमन्यत्र।

आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि हम भी आपके सदृश इस अनुमान द्वारा आपके प्रति यों कह सकते हैं कि जीवके अद्वैतपनेका ज्ञान (पक्ष) मिथ्या है (साध्य) एकपनेको जाननेवाला ज्ञान होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्नमें जाने गये एकपनेका ज्ञान मिथ्या है (दृष्टान्त)। इस प्रकार सच्चे अनेक अनुमान बनाये जासकते हैं। इस अवसरमें अद्वैतवादी हमारे हेतुको अप्रयोजक कहते हैं कि एकत्वका ज्ञान होवे और मिथ्यापना न होवे कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जैनोंका हेतु रहजावे और साध्य न रहे, कोई क्षति नहीं दीखती। यदि किसी स्वप्नके एकत्वज्ञानको मिथ्यापन देखनेसे सभी ज्ञानोंको मिथ्यापना साधा जावेगा, तब तो अतिप्रसंग होगा, यानी स्वप्नके घोडे, नदी, अग्नि सब झूठे हैं। एतावता सत्य व्यवहारके भी अश्व, आदि अवस्तुरूप होजावेंगे। अब जैन कहते हैं कि यदि अद्वैतवादी यों उक्त प्रकार कहें तब तो बहुत ही अच्छा है। दूसरे पक्षकी ओर नानापनमें भी यही न्याय समानरूपसे लगा लेना चाहिये। अर्थात् स्वप्न या भूतावेशके नानापनको मिथ्या देखकर सभी वस्तुभूत अनेक पदार्थोंमें स्थित होरहे नानापनको भी यदि मिथ्या साधा जावेगा तो भी अति-

प्रसंग होगा। " तुम्हारी रुपिछी और मेरा कलदार चेहरासाई बढिया रुपैया " इस कूटनीतिका न्यायमार्गपर चलनेवाले बुद्धिमान् सज्जन उपयोग नहीं करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अभ्रान्तज्ञानके विषय होगये एकत्व और अनेकत्व सब सत्य हैं।

व्यभिचारविनिर्मुक्तेः संविन्मात्रस्य सर्वदा।
न भ्रान्ततेति चेत्सिद्धा नानासन्तानसंविदः ॥ ३१ ॥
यथैव मम संवित्तिमात्रं सत्यं व्यवस्थितम्।
स्वसंवेदनसंवादात्तथान्येषामसंशयम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि शुद्ध प्रतिभास सामान्यका सदा ही संवेदन होता है। जो कुछ देवदत्त, इन्द्रदत्त, बाग, उद्यान आदि जाने जाते हैं वे सब प्रतिभास स्वरूप हैं, तभी तो घट प्रतिभास रहा है, यह ज्ञान या चैतन्यके समानाधिकरणपनेसे घटकी प्रतीति हो रही है शुद्ध प्रतिभासका कोई व्यभिचार दोष नहीं है। अतः एकपना या नानापना इन विशेषणोंको छोडकर केवल प्रतिभासमात्र तत्त्वमें कोई भ्रान्तपना नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि अद्वैतवादी ऐसा कहेंगे तब तो अनेक सन्तानोंके अनेक संवेदन भी सिद्ध हो जावेंगे, जैसे ही एक विवक्षित पुरुष ऐसा अनुभव करता है कि संवादी स्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे मेरा केवल सम्वेदन सत्यरूप करके व्यवस्थित है, तिसी प्रकार अन्य जिनदत्त, इन्द्रदत्त आदि अनेक जीवोंके भी संशय रहित होकर प्रमाणात्मक स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपनी अपनी संवित्तिओंका ज्ञान होरहा है। इस कारण एक सम्वेदनके समान अनेक संवेदन [प्रतिभास] भी सिद्ध हो जाते हैं।

बहुत्वप्रत्ययवदेकत्वप्रत्ययोपि मिथ्यास्तु तस्य व्यभिचारित्वात् स्वप्नादिवत्। स्वसंविन्मात्रस्य तु परमात्मनो निरुपाधेर्व्यभिचारविनिर्मुक्तत्वात् सर्वदा संवादान्न मिथ्यात्वमिति वदतां सिद्धाः स्वसंविदात्मनो नानासन्तानाः। स्वस्येव परेषामपि संविन्मात्रस्याव्यभिचारित्वात्। तथाहि। नानासन्तानसंविदः सत्याः सर्वदा व्यभिचारविनिर्मुक्तत्वात् स्वसंविदात्मवदिति न मिथ्या प्रतिपाद्यप्रतिपादका, यतः परार्थं जीवसाधनमभ्रान्तं न सिध्येत्।

अद्वैतवादी कह रहे हैं कि बहुपनेके ज्ञान समान एकपनेका ज्ञान भी मिथ्या रहो, क्योंकि एकपना, बहुपना, आदि विशेषणोंसे युक्त ज्ञान व्यभिचारी हो जाता है। जैसे कि स्वप्न, इन्द्रजाल, अपस्मार आदि अवस्थाओंमें होनेवाले और एकत्व, बहुत्व, मेरापन, तेरापन आदिको विषय करनेवाले ज्ञान मिथ्या हैं। हम शुद्ध ब्रह्माद्वैतवादी हैं। सम्पूर्ण उपाधिरूप विशेषणोंसे रहित शुद्धप्रतिभास मात्रको ही तो हम परब्रह्म स्वीकार करते हैं। यह शुद्ध प्रतिभास व्यभिचारोंसे सर्वथा रहित हैं और पूर्वज्ञानको प्रामाण्य उत्पन्न करानेवाले उत्तरकालवर्ती संवादोंसे सभी कालोंमें उसको प्रमाणपना

सिद्ध हो रहा है। उस शुद्ध चैतन्यमें मिथ्यापना किसी भी प्रकारसे नहीं है। आचार्य बोल रहे हैं कि इस प्रकार कहते हुए अद्वैतवादियोंके यहां स्वसंवेदनस्वरूप अनेक सन्तानें भी सिद्ध हो जाती हैं, अपनी केवल शुद्ध संवित्तियोंका जैसे अपनेको कभी व्यभिचार होना नहीं प्रतीत होता है तैसे ही दूसरे इन्द्रदत्त, गौ, अश्व, आदिको भी अपने अपने केवल संवेदनका व्यभिचार रहितपना प्रसिद्ध है। उसी बातको अनुमान द्वारा कह कर स्पष्ट दिखलाते हैं कि अनेक सन्तानोंकी भिन्न भिन्न रूपसे हो रहीं अनेक संवित्तियां (पक्ष) सत्य हैं, यानी परमार्थभूत हैं (साध्य)। व्यभिचार आदि दोषोंसे सर्वथा रहित होनेके कारण (हेतु)। जैसे कि स्वसंवेदनप्रत्यक्षके द्वारा स्वयं अपने अनुभवमें आ रही संवित्ति स्वरूप हमारा आत्मतत्त्व (दृष्टान्त)। भावार्थ— अपने अनुभवमें आ रहा अपना प्रतिभास जिस प्रकार वास्तविक है उसी प्रकार अन्य जीवोंको अपने अपने अनुभवमें आये हुए अनेक प्रतिभास भी वास्तविक हैं। इस प्रकार अनेक आत्माओंके सिद्ध हो जानेपर कोई आत्मा प्रतिपाद्य है, शिक्षा प्राप्त करने योग्य है और अन्य आत्मा प्रतिपादक है शिक्षक है। अतः प्रतिपाद्य और प्रतिपादकरूप अनेक आत्माएं झूंठी नहीं हैं जिससे कि दूसरे प्रतिपाद्यके लिये प्रतिपादक द्वारा जीव पदार्थकी सिद्धि करना अभ्रान्त (प्रामाणिक) सिद्ध न होवे। अर्थात् दूसरोंके लिये जीव तत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) को सिद्ध करना अनिवार्य है। वह वचनरूप अजीवके विना न हो सकेगा, अतः अद्वैतवादियोंको भी अजीव तत्त्व मानना आवश्यक हुआ। घट, पट, ग्राम, उद्यान, आदि पदार्थ अहंपने या चैतन्यके समानाधिकरणपनेको प्राप्त नहीं हैं, अतः वे भी अजीव हैं।

अन्ये त्वत्तो न सन्तीति स्वस्य निर्णीत्यभावतः।
नान्ये मत्तोपि सन्तीति वचने सर्वशून्यता ॥ ३३ ॥
तस्याप्यन्यैरसंवित्तेर्विशेषाभावतोऽन्यथा।
सिद्धं तदेव नानात्वं पुसां सत्यसमाश्रयम् ॥ ३४ ॥

सम्भव है अद्वैतवादी यों कहें कि मुझसे भी अतिरिक्त अन्य कोई जिनदत्त, इन्द्रदत्त, आदि आत्मा हैं ही नहीं। इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि तुझसे भिन्न कोई आत्मायें जगत्में नहीं हैं ऐसा निर्णय स्वयं तुमको नहीं हो सकता है। फिर भी विना विचारे यदि तुम यह आग्रह करोगे कि मुझसे भिन्न संसारमें कोई आत्मायें नहीं हैं ऐसा कहनेपर तो सर्व पदार्थ शून्यरूप हो जावेंगे, क्योंकि अजीव पदार्थोंको आप प्रथमसे ही नहीं मानते हो तथा अपनेसे अतिरिक्त अन्य जीवोंका भी तुमने निषेध कर दिया है अकेले तुम ही एक तत्त्व अवशेष रहे हो सो अपनी भी सत्ता (खैर) मत समझो! जैसे कि तुमको अन्य जीवोंकी संवित्ति नहीं होती है, उसी प्रकार अन्य जीवों करके उस तुम्हारी भी संवित्ति नहीं होगी। इस प्रकार चालनी न्यायसे तुम्हारा भी अभाव हो जाता है। गोल चलनीमें चाहे कोनसा भी छेद हो भिन्न भिन्न स्थानोंसे गिननेपर सौवां, पचासवां, आदि हो

सकता है, उसी प्रकार देवदत्त यदि जिनदत्तका निषेध करेगा तो जिनदत्त भी देवदत्त इकेले ठूंठका निषेध कर देगा। जिस प्रकार तुम दूसरेको देखोगे, उसी प्रकार वह तुमको देखेगा। अन्य सबका तुम निषेध करते रहो और वे तुम्हारा निषेध न करें, ऐसे पक्षपातयुक्त नियम करनेमें कोई विशेषता नहीं है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार मानोगे यानी अपना अस्तित्व अवश्य स्वीकार करोगे, तब तो अन्य आत्माएं भी अपने अपने अस्तित्वका स्वयं संवेदन कर लेवेंगी, वही तो जीवोंका नानापन सिद्ध हो गया। सत्य पदार्थकी व्यवस्थाका भले प्रकार आश्रय लेनेपर युक्तियोंके द्वारा जीव आत्माओंका अनेकपना सिद्ध हो जाता है। किसी एक उद्भ्रान्त चित्तवाले व्यक्तिकी अपेक्षासे जगत्के पदार्थ व्यवस्थित नहीं हैं, किन्तु समीचीन प्रमाणोंसे उनकी सत्ता निर्णीत है।

मत्तोऽन्येपि निरुपाधिकं स्वरूपमात्रमव्यभिचारि संविदन्तीति निर्णीतेरसम्भवात् तत्र प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेरव्यभिचारिणो लिंगस्याभावादनुमानानुत्थानादिति वचने सर्वशून्यतापत्तिः। त्वत्संविदोपि तथान्यैर्निश्चेतुमशक्तेः सर्वथा विशेषाभावात्। यदि पुनरपरैरनिश्चयेपि तथा स्वसंविदः स्वयं निश्चयात् सत्यत्वसिद्धिस्तदा त्वया निश्चेतुमशक्यानामपि तथा परसंविदां सत्यत्वसिद्धेः सिद्धं पुंसां नानात्वं पारमार्थिकम्।

यदि अद्वैतवादि यों कहेगा कि मुझसे अतिरिक्त दूसरे जीव भी विशेषणोंसे रहित माने गये केवल प्रतिभासरूप विधिको ही व्यभिचार आदि दोषोंसे रहित होकर संवेदन कर रहे हैं। इस प्रकारसे दूसरे जीवोंका निर्णय करना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि अन्य अनेक आत्माओंके जाननेमें प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति तो है नहीं, और व्यभिचार, विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित हो रहा कोई ज्ञापक हेतु भी नहीं है। अतः अन्य आत्माओंके शुद्ध प्रतिभासको जाननेवाले अनुमान प्रमाणका भी उत्थान नहीं हो सकता है। अद्वैतवादियोंकी ओरसे ऐसा कहे जानेपर तो सर्व पदार्थोंके शून्यपनका प्रसंग होगा, अर्थात् शून्यवाद हो जावेगा, सब का अभाव हो जावेगा, जैसे अन्यके प्रतिभासोंका तुमको निर्णय नहीं हो पाता है, तिसी प्रकार अन्य जीवों करके तुम्हारे संवेदनका भी निर्णय नहीं किया जा सकता है, सभी प्रकारोंसे कोई भी अन्तर नहीं है। यदि फिर आप अद्वैतवादी यों कहेंगे कि दूसरोंके द्वारा हमारी संवित्तिका निर्णय भले ही न होवे तो भी मुझको तो तिस प्रकार स्वयं अपनी संवित्ति (परब्रह्म) का संवेदन हो रहा है, अतः मेरे अकेले ब्रह्मको सत्यपना सिद्ध है। इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो तुम्हारे द्वारा दूसरोंके ब्रह्मका निश्चय करना भले ही अशक्य होवे फिर भी उन उन भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा अपने अपने चैतन्यका तिसी प्रकार स्वयं संवेदन हो रहा है, अतः अन्य चैतन्योंको भी सत्यपना सिद्ध हो जाता है। इस कारण भिन्न भिन्न पुरुषोंको अनेकपना वास्तविक सिद्ध हुआ।

आत्मानं संविदन्त्यन्ये न वेति यदि संशयः।
तदा न पुरुषाद्वैतनिर्णयो जातु कस्यचित् ॥ ३५ ॥

यदि अद्वैतवादी यों कहें कि मुझको अपनी आत्माका पूर्ण निर्णय है, अतः मैं ही अकेला ब्रह्म हूं। अन्य जीव अपनी अपनी आत्माका संवेदन करते हैं अथवा नहीं करते हैं इसका मुझको संशय है। अतः मैं दूसरे आत्माओंकी सत्ताको नहीं स्वीकार करता हूं। इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि तब तो किसी एक व्यक्तिको कभी पुरुषाद्वैतका निर्णय न हो सकेगा। अर्थात् अन्य आत्माएं रूप परोक्ष पदार्थोंके निर्णय करनेका उपाय जब तुम्हारे पास नहीं है। तब तो अद्वैत परब्रह्मका निर्णय न कर सकोगे, ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य आत्माओंके अभावका निर्णय किये विना अद्वैत (एकपने) का निश्चय नहीं हो सकता है। अन्य आत्माओंका संशय (सत्ताकी सम्भावना) बने रहनेपर उन संदिग्ध आत्माओंका सर्वथा अभाव कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है।

मत्तः परेष्यात्मनः स्वसंविदन्तो न सन्त्येवेति निर्णये हि कस्यचित्पुरुषाद्वैते निर्णयो युक्तो न पुनः संशये तत्रापि संशयप्रसंगात्।

मुझसे भिन्न अपना अपना संवेदन करते हुए दूसरे आत्मायें भी जगत्में कोई नहीं ही ह, ऐसा निर्णय होनेपर ही तो चाहे किसी व्यक्तिको ब्रह्माद्वैतमें निर्णय करना युक्तिसहित हो सकता है। किन्तु अन्य आत्माओंके चैतन्यका संशय होनेपर फिर किसी भी प्रकारसे अकेले ब्रह्मका निर्णय होना नहीं बनता है, क्योंकि ऐसा माननेपर तो उस ब्रह्माद्वैत में संशय होनेका प्रसंग हो जावेगा। अकेले घटका निर्णय तब हो सकता है जब कि घटके अतिरिक्त अन्य पट, पुस्तक आदिकोंके अभावका निर्णय होय। किंतु पट आदिकोंके संशय होनेपर अकेले घटकी ही सत्ताका भी संशय हो जावेगा। प्रकृतमें भी अन्य चैतन्योंका संशय होनेपर शुद्ध ब्रह्माद्वैतका भी संशय बना रहेगा।

"पुरुष एवेदं सर्वं" इत्यागमात्पुरुषाद्वैतसिद्धिरिति चेत् "सन्त्यनन्ताजीवा" इत्यागमान्नानाजीवसिद्धिरस्तु।

आचार्य आक्षेप करते हैं कि आपको यह जितना भर भी जगत् दीख रहा है सबका सब परब्रह्मरूप है। इस प्रकार वेदवाक्यरूप आगमसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धि करते हैं "एकमेवाद्वयं ब्रह्म नो नाना" एक ही परब्रह्म तत्त्व है। अनेक कोई वास्तविक तत्त्व नहीं हैं आदि ऐसी वेदकी श्रुतियोंसे यदि अद्वैतकी सिद्धि करोगे, तब तो ऐसे भी प्रामाणिक आगमोंके वाक्य विद्यमान हैं कि जगत्में अनन्तजीव हैं "अत्थि अणंता जीवा" संसारिणो मुक्ताश्च "लोअग्ग णिवासिणो सिद्धा" जीव अनन्तानन्त हैं, अनेक जीव संसारी हैं, और अनेक जीवोंने मोक्षको प्राप्त कर लिया है, अनन्तानन्त जीव लोकके अग्रभागमें विराज रहे हैं, इन आगमवाक्योंसे अनेक जीवोंकी सिद्धि भी होजाओ।

पुरुषाद्वैतविधिस्वागमेन प्रकाशनात् प्रत्यक्षस्यापि विधातृतया स्थितस्य तत्रैव प्रवृत्तेस्तेन तस्याविरोधात् ततः पुरुषाद्वैतनिर्णय इति चेत्, नानात्वागमस्यापि तेनाविरोधान्नानाजीवनिर्णयोऽस्तु। तथाहिः—

अद्वैतवादी कहते हैं कि पुरुषाद्वैतकी विधिको सर्जनेवाले वेदरूप आगमकरके एकत्वका ही प्रकाश हो रहा है और निषेधको सर्वथा नहीं जानता हुआ प्रत्यक्षप्रमाण भी विधायक होकर प्रतिष्ठित होता हुआ तिस एकत्वके ही विधान करनेमें प्रवृत्ति कर रहा है। तिस विधान करनेवाले प्रत्यक्षकरके एकत्वको प्रकाश करनेवाले उस आगमका विरोध नहीं है। भावार्थ—एकत्वको ज्ञापित करनेवाले वेदरूप आगमका संवादक प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित है। तिस आगम और प्रत्यक्षसे ब्रह्माद्वैतका निर्णय हो जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो अनेकपनेके प्रतिपादक आगमका भी उस प्रत्यक्षसे कोई विरोध नहीं है। अतः अनेक जीवोंका भी निर्णय होजावे, अर्थात् अनेकका अर्थ एकका निषेध नहीं है, किन्तु एक जैसे भावपदार्थ है तैसे ही बहुतसे एकोंका समुदायरूप अनेक भी भावपदार्थ हैं। अतः आपके मतानुसार माना गया पदार्थोंकी विधिको ही प्रकाश करनेवाला प्रत्यक्षज्ञान अनेक जीवोंके ज्ञापक आगम प्रमाणका भी सम्वादक हो जाता है। इसी बातको स्पष्टरूपसे कहकर दिखलाते हैं।

आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेध्दृविपश्चितः।
न नानात्वागमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते ॥ ३६ ॥
तेनानिषेधताऽन्यस्याभावाभावात् कथञ्चन।
संशीतिगोचरत्वाद्वान्यस्याभावाविनिश्चयात् ॥ ३७ ॥

अद्वैत मतानुसार पण्डितजन प्रत्यक्ष प्रमाणको विधान करनेवाला कहते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाणको निषेध करनेवाला नहीं मानते हैं। भावार्थः—पदार्थोंकी सत्ताका बोधक प्रत्यक्ष प्रमाण है। अभावोंको या पदार्थोंके निषेधको प्रत्यक्ष नहीं जानता है, जहां गौ है और अश्व नहीं है, वहां गौकी सत्ताका विधान प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे हो जावेगा और अश्वका निषेध प्रत्यक्षसे न हो सकेगा। मीमांसक लोग तो अभावको जाननेके लिये स्वतन्त्र अभाव प्रमाणको मानते हैं। किन्तु अद्वैतवादी तो पदार्थोंके अभावको और अभाव प्रमाणको ही मूलसे नहीं स्वीकार करते हैं। जैनसिद्धांत और नैयायिकके मतमें अभावका ज्ञान प्रत्यक्षसे भी होता हुआ माना गया है। यदि कुछ देरके लिये इस सिद्धांतको भी मान लिया जावे कि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल विधान करनेवाला ही है। निषेधक नहीं है तो भी तिस प्रत्यक्ष करके नानापनको प्रतिपादन करनेवाले आगमका कोई भी विरोध नहीं आता है। प्रत्युत प्रत्यक्ष प्रमाण अनेक जीवोंके प्रतिपादक करनेवाले आगमका सहकारी हो जाता है। निषेध को नहीं करनेवाले उस प्रत्यक्ष करके अन्य पदार्थोंका अभाव सिद्ध करना किसी भी प्रकारसे नहीं सम्भव है। आप अद्वैतवादियोंके मतानुसार भी वह प्रत्यक्ष सबकी विधिको ही जतावेगा। जो प्रत्यक्ष प्रमाण अन्यका अभाव नहीं करता है, वह अनेकपनको अवश्य सिद्ध कर देवेगा। अथवा अन्य पदार्थोंके अभावका विशेष रूपसे निश्चय न हो जानेके कारण वे पदार्थ संशयज्ञानके

विषय हो जावेंगे। अन्य अनेक पदार्थोंका संशय बने रहनेपर सर्वथा अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती है। किसी पदार्थका संशय बना रहनेपर उसका सर्वथा निषेध कर देना सर्वथा अन्याय है। जीवितपनेकी संदिग्ध अवस्था होनेपर मृत सारिखे शरीरका अग्नि संस्कार कर देना महान् पाप है। ऐसी क्रिया करनेसे राजपुरुष [illegible] निश्चित दण्ड प्राप्त होता है। " आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते। " इस ब्रह्मवादिओंकी कारिकाके उत्तरमें कटाक्षरूप छत्तीसवीं वार्तिक आचार्योंने कही है।

भवतु नाम विधातृप्रत्यक्षमनिषेद्धृ च तथापि तेन नानात्वविधायिनो नागमस्य विरोधः सम्भवत्येकत्वविधायिन इव विधायकत्वाविशेषात्।

अद्वैतवादी या जैमिनिके मतानुसार यह सिद्धान्त भलें ही रहो कि प्रत्यक्षप्रमाण पदार्थोंकी सत्ताका केवल विधान करता है। और वह किसीका निषेध नहीं करता है। अतः अद्वैतवादी कहते हैं कि प्रत्यक्षप्रमाण एकत्वका विधान करनेवाला है तो भी हम जैन कहते हैं कि उस प्रत्यक्ष करके अनेकपनेको विधान करनेवाले आगमका कोई विरोध नहीं सम्भवता है। क्योंकि प्रत्यक्ष जैसे एकत्वका विधान करनेवाला है तैसे ही अनेकत्व (बहुत्व) का भी विधान करनेवाला है, दोनों प्रत्यक्षोंमें विधायकपनेसे कोई अन्तर नहीं है।

कथमेकत्वमनिषेधत्प्रत्यक्षं नानात्वमात्मनो विदधातीति चेत्, नानात्वमनिषेधदेकत्वं कथं विदधीत ?।

अद्वैतवादी कहते हैं कि एकपनेको नहीं निषेध करता हुआ प्रत्यक्ष भला जीवोंके नानापनको कैसे विधान कर देता है ? बताओ। अर्थात् एकपना अनेकपनेसे विरुद्ध है, जैनलोग हमारे माने हुए एकपनेको प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया गया स्वीकार कर चुके हैं, ऐसी दशामें आप जैन उस एकपनेका निषेध न करते हुए उससे विरुद्ध कहे गये नानापनका आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष द्वारा कैसे विधान करा सकेंगे। अद्वैतवादियोंके ऐसा कहनेपर तो हम आर्हत भी कहते हैं कि नानापनको नहीं निषेध करता हुआ प्रत्यक्ष भला आत्माके एकपनेका भी कैसे विधान कर लेवेगा ? कहिये। भावार्थ—अद्वैतवादियोंने प्रत्यक्षको सर्व प्रकारसे विधान करनेवाला माना है, तब तो प्रत्यक्ष नानापनेका भी विधान करेगा, ऐसी दशामें नानापनको नहीं निषेध करता हुआ प्रत्यक्ष उससे विरुद्ध एकपनका विधान कैसे कर सकेगा ? इसका आप भी उत्तर दीजिये।

तस्यैकत्वविधानमेव नानात्वप्रतिषेधकत्वमिति चेत्, नानात्वविधानमेवैकत्वनिषेधनमस्तु।

यदि अद्वैतवादी यों कहें कि उस प्रत्यक्षका आत्माके एकपनेको विधान करना ही परिशेषन्यायसे आत्माके नानापनको निषेध करनेवालापन है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि प्रत्यक्षका आत्माको नानापनका विधान ही गम्यमान न्यायसे एकपनेका निषेध करना समझ लो। न्याययुक्त बातमें पक्षपात करना ठीक नहीं है।

किं पुनः प्रत्यक्षमात्मनो नानात्वस्य विधायकमिति चेत् तदेकत्वस्य किम् ? न ह्यस्मादिप्रत्यक्षांमींन्द्रियजं मानसं वा स्वसंवेदनमेक एवात्मा सर्वं इति विधातुं समर्थं नानात्मभेदेषु तस्य प्रवृत्तेः योगिप्रत्यक्षं समर्थमिति चेत्, पुरुषनानात्वमपि विधातुं तदेव समर्थमस्तु तत्पूर्वकागमश्चेत्यविरोधः ।

अद्वैतवादी स्याद्वादियोंसे पूंछते हैं कि आत्माके नानापनको विधान करनेवाला फिर आपके पास कौनसा प्रत्यक्ष है ? ऐसा प्रश्न करनेपर तो हम भी अद्वैतवादियोंसे पूंछते हैं कि उस आत्माके एकत्वका विधान करनेवाला भी तुम्हारे पास कौनसा प्रत्यक्ष है ? कहिये न । हम सरीखे छद्मस्थ लोगोंका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष अथवा मन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, एवं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ये तीन तो " सभी पदार्थ एक आत्मारूप ही हैं " इस बातको विधान करनेके लिये समर्थ नहीं हैं । क्योंकि इन तीनों प्रत्यक्षोंकी अनेक आत्माओंके भेद प्रभेदोंको जाननेमें प्रवृत्ति हो रही है । भावार्थ— स्थूलपनेसे प्रत्यक्षके अन्यवादियोंमें चार भेद प्रसिद्ध हैं, तिनमेंसे इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ये तीनों प्रत्यक्ष तो आत्माके अनेकपनको सिद्ध करते हैं, एकपनेको नहीं । यदि अद्वैतवादी यों कहें कि चौथा अतीन्द्रियदर्शियों (केवलज्ञानियों) का योगिप्रत्यक्ष आत्माके एकपनेको जाननेके लिये समर्थ है ऐसा कहनेपर तो हम कहते हैं कि वह योगियोंका प्रत्यक्ष ही आत्माओंके अनेकपनको भी विधान करनेके लिये समर्थ होवे । और दूसरी बात यह है कि उन अतीन्द्रिय दर्शियोंको कारण मानकर उत्पन्न हुआ श्रेष्ठ आगम भी आत्माके अनेकपनका विधान करनेमें समर्थ है । इस प्रकार आत्माके अनेकपनको सिद्ध करनेमें कोई भी विरोध नहीं है ।

" स्वसंवेदनमेवास्मदादेः स्वैकत्वस्य विधायकमिति चेत्, तथान्येषां स्वैकत्वस्य तदेव विधायकमनुमन्यताम् । कथम् ? "

अद्वैतवादी कहते हैं कि हम आदि सरीखे संसारी जीवोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही अपने आत्माके एकत्वका विधान करनेवाला है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तिसी प्रकार अन्य जीवोंके भी वे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही अपनी अपनी आत्माके एकत्वका विधान करनेवाले हैं, यह स्वीकार कर लो ! अर्थात् प्रत्येक जीवोंके स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अपनी अपनी आत्माके एकत्वका विधान कर रहे हैं । बहुतसे एकत्वोंके समुदायको अनेकत्व (नानात्व) कह देते हैं । यहां प्रश्न है कि अनेक जीवोंके स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपने अपने एकत्वका विधान कैसे कर लेवेंगे ? बताओ । अब इसका उत्तर सुनो ।

यथैव च ममाध्यक्षं विधातृ न निषेद्धृ वा ।
प्रत्यक्षत्वात्तथान्येषामन्यथैतत्तथा कुतः ॥ ३८ ॥

जैसे ही मेरा प्रत्यक्ष मेरी आत्माकी विधिको करनेवाला है । निषेधको करनेवाला नहीं है

तैसे ही अन्य आत्माओंका प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्षपना होनेके कारण आत्माका विधान करनेवाला ही होगा। निषेध करनेवाला नहीं। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरी प्रकार मानोगे तो यह प्रत्यक्ष तिस प्रकार विधान करनेवाला ही कैसे बन सकेगा ? कहिये न। अर्थात् सर्वके प्रत्यक्ष अपनी अपनी न्यारी आत्माओंकी विधि करते हैं।

परेषां प्रत्यक्षं स्वस्य विधायकं परस्य न निषेधकं वा प्रत्यक्षत्वान्मम प्रत्यक्षवत्। विपर्ययो वा अतिप्रसंगविपर्ययाभ्यां प्रत्यात्मस्वसंवेदनस्यैकत्वविधायित्वासिद्धेरात्मबहुत्वसिद्धिरात्मैकत्वासिद्धिर्वा।

जैसे कि मेरा प्रत्यक्ष अपनी आत्माका विधायक है, निषेधक नहीं, तैसे ही प्रत्यक्षपन हेतुसे सिद्ध होता है कि अन्य जीवोंका प्रत्यक्ष भी अपना या अपनी आत्माका विधायक ही है। दूसरेका निषेधक नहीं है। क्योंकि वह भी तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। अथवा यदि ऐसा न मानोगे तो विपरीत नियम भी किया जासकता है। यानी अन्यके प्रत्यक्षोंको निषेध करनेवाला स्वीकार करनेपर अपना प्रत्यक्ष भी आत्माका निषेधक बन जावेगा। प्रत्येक आत्मामें होने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षको आत्माके एकपनेका ही विधान करनेवालापन सिद्ध नहीं होता है। भावार्थ—अपने अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपनी अपनी आत्माऐं जानी जारही हैं, वे अनेक हैं। अतिप्रसंग या प्रसंगसे आत्माओंके बहुपनेकी सिद्धि होजाती है और विपर्ययसे आत्माके एकत्वपनेकी सिद्धि नहीं होपाती है। इसका विवरण इस प्रकार है कि " साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत् प्रसंगसाधनम् "। साध्य और साधनके व्याप्यव्यापकभावके सिद्ध होजानेपर व्याप्यका स्वीकार करना नियमसे व्यापकके स्वीकार करनेसे अविनाभावी है। यह जहां दिखलाया जाता है उसको प्रसंग कहते हैं, जैसे कि कोई शिंशपा और वृक्षके व्याप्यव्यापकभावको सिद्ध कर चुका है, अब विपरीतज्ञानके वश व्याप्यभूत शिंशपापनको तो ग्रहण करता है, किन्तु वह वृक्षत्वरूप व्यापकको स्वीकार नहीं करता है, ऐसी दशामें उसको समझाया जाता है कि शिंशपापनका स्वीकार करना वृक्षपनेके स्वीकार करनेसे नान्तरीयक (न अन्तरे भवति=व्यापकके न रहनेपर न रहनेवाला) है। अथवा कोई गंवार तीन बीसीको स्वीकार करे और साठ (६०) संख्याको न माने, उसको भी प्रसंगसे साठपना सिद्ध कर दिया जाता है। स्वभाव हेतु तो जाने गये पदार्थमें विशेष व्यवहार कराने वाले माने गये हैं, सर्वथा अज्ञात पदार्थके ज्ञापक नहीं। अद्वैतवादी अन्य पुरुषोंके प्रत्यक्षमें व्याप्यरूप प्रत्यक्षपनेको तो स्वीकार करते हैं, और अपनी अपनी आत्माके विधायकपने रूप व्यापकको स्वीकार नहीं करते हैं, सो ठीक नहीं है। क्योंकि विधायकपनारूप व्यापकके रहते हुए ही प्रत्यक्षपना रूप व्याप्य रह सकता है। अतः इस प्रसंगके द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाणसे अपने अपने आत्माओंका विधान होजानेसे आत्माओंके बहुत्वकी सिद्धि होजाती है। दूसरी बात यह है कि " व्यापकनिवृत्तौ च अवश्यभाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः " व्यापककी निवृत्ति होनेपर व्याप्यकी निवृत्ति अवश्य

हो जावेगी। यह अनुमान प्रकरणमें माने हुए विपर्ययका पारिभाषिक अर्थ है, जैसे कि कोई मनुष्य अपने पास चांदीके न्यारे न्यारे पचास रुपयेके अभावको तो स्वीकार करे किन्तु पृथक् पृथक् सौ (१००) रुपयोंका अभाव न माने, उस मूढको समझाया जाता है कि पचासके विना सौ नहीं हो सकते हैं पचास ही नहीं तो भला सौ कैसे हो सकते हैं ? जो मनुष्य ही नहीं वह ब्राह्मण कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार अद्वैतवादी पण्डित अन्य पुरुषोंके प्रत्यक्षमें अपनी अपनी न्यारी न्यारी आत्माओंका विधायकपनारूप व्यापकका तो अभाव मानते हैं। किन्तु व्याप्यरूप प्रत्यक्षपनेका अभाव नहीं मानते हैं, उनको व्यापककी निवृत्ति होनेपर व्याप्यकी निवृत्तिका अवश्य होना सुझाया जाता है। व्यापकका अभाव व्याप्य होता है, और व्याप्यका अभाव व्यापक होता है। जैसे कि वह्निका अभाव व्याप्य (अल्प देशवृत्ति) है। और धूमका अभाव व्यापक (बहुदेशवृत्ति) है। अतः विपर्ययके द्वारा आत्माके एकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। भावार्थ—प्रत्येक आत्मामें स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अपने अपने न्यारे न्यारे ब्रह्मको जान रहे हैं। अतः आत्माओंके अनेकपनेकी सिद्धि हो जाती है। अथवा आत्माके एकपनकी सिद्धि कैसे भी नहीं हो सकती है।

न च विधायकमेव प्रत्यक्षमिति नियमोऽस्ति, निषेधकत्वेनापि तस्य प्रतीयमानत्वात्। तथाहि—

और अद्वैतवादियोंका इस प्रकार नियम करना कि प्रत्यक्षप्रमाण विधायक ही है, निषेधक नहीं है, ठीक नहीं है। क्योंकि वह प्रत्यक्षप्रमाण निषेधकपने करके भी प्रतीत होरहा है। घटरहित भूतलमें घटके निषेधको भी प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया जाता है। इसी बातको युक्तियोंसे सिद्ध कर कहते हैं, एकाग्रचित होकर सुनिये।

विधात्रहं सदैवान्यनिषेध्दृ न भवाम्यहम्।
स्वयं प्रत्यक्षमित्येवं वेत्ति चेन्न निषेध्दृकम् ॥ ३९ ॥

यदि प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं इस प्रकार जानता है कि मैं सदा ही आत्माका विधान करनेवाला हूं। अन्यका निषेध करनेवाला नहीं होता हूं। ऐसा कहनेपर तो वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं निषेध करनेवाला होगा ! अर्थात् निषेध करनेवाला नहीं हूं यही तो निषेध है। निषेध करनेवालेपनका निषेध भी निषेधक प्रमाणसे होगा। सर्वथा विधायकसे नहीं। ऐसी दशामें प्रत्यक्षको निषेधकपना प्राप्त होजाता है।

विधातृ च नान्यनिषेध्दृप्रत्यक्षमिति न प्रमाणान्तरान्निश्चयो द्वैतप्रसंगात्। स्वत एव तथा निश्चये सिद्धं तस्य निषेधकत्वं परस्य निषेध्दृहं न भवामीति स्वयं प्रतीतेः।

हम अद्वैतवादियोंसे पूंछते हैं कि आपका माना हुआ प्रत्यक्ष विधिको करनेवाला है और अन्यका निषेध करनेवाला नहीं है। इस बातको आप प्रत्यक्षप्रमाणसे अतिरिक्त दूसरे प्रमाणोंसे तो निश्चय नहीं कर पावेंगे। क्योंकि दूसरे प्रमाण माननेपर तो आपको द्वैत माननेका प्रसंग होगा।

अतः स्वयं प्रत्यक्षसे ही इस यथोक्त बातका निश्चय किया जावेगा कि प्रत्यक्ष विधानका करनेवाला है निषेधका नहीं। ऐसी दशामें तो उस प्रत्यक्षको निषेधकपना सिद्ध होजाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष स्वयं ही इस प्रमेयको जान रहा है कि मैं दूसरेका निषेध करनेवाला नहीं होता हूं। निषेधकपनेका निषेध करना ही निषेधकपन है, तब तो अपने निषेधकपनेको प्रत्यक्षप्रमाण स्वयं प्रतीत कर रहा है।

सन्ति सत्यास्ततो नाना जीवाः साध्यक्षसिद्धयः।
प्रतिपाद्याः परेषां ते कदाचित्प्रतिपादकाः ॥ ४० ॥

तिसकारण अनेक जीवतत्त्व परमार्थरूपसे सत्यभूत हैं, वे जीव अपने अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपनी होती हुयी सिद्धिसे सहित हैं। उन अनेक जीवोंमें कोई कोई जीव तो शिक्षा प्राप्त करने योग्य प्रतिपाद्य हैं और कतिपय जीव दूसरोंको शिक्षा देते हुए किसी समय प्रतिपादक हो जाते हैं। अथवा जो पहिले प्रतिपाद्य शिष्य हैं वे ही ज्ञानाभ्यास करते करते प्रतिपादक गुरु हो जाते हैं, उस समय अन्य आत्माएं प्रतिपाद्य हैं।

यतश्चैवं प्रमाणतो नानात्मनः सिद्धास्ततो न तेषां प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो मिथ्या येन परार्थं जीवसाधनमसिद्धं स्यात्।

जिस कारणसे कि इस प्रकार अनेक आत्माएं प्रमाणसे सिद्ध हो चुकी हैं, तिस कारण उन जीवोंको प्रतिपाद्यपना और प्रतिपादकपन झूंठा नहीं है, जिससे कि दूसरोंके लिये जीव पदार्थकी सिद्धि करना असिद्ध माना जावे। भावार्थ—इस सूत्रकी अट्ठाईसवीं (२८) वार्त्तिकके अनुसार दूसरे जीवोंके लिये वचनरूप अजीवके द्वारा जीवकी सिद्धि करना युक्त है।

परार्थं निर्णयोपायो वचनं चास्ति तत्त्वतः।
तच्च जीवात्मकं नेति तद्वदन्यच्च किं न नः ॥ ४१ ॥

परमार्थरूपसे देखा जावे तो दूसरोंके लिये जीवतत्त्वका निर्णय करानेके लिये उपाय वचन ही है और वह वचन जीवस्वरूप नहीं है। इस कारण जैसे वचन अजीव तत्त्व है उसीके समान अन्य धर्म, आकाश, काल आदि अजीव पदार्थ हमारे यहां क्यों नहीं माने जा सकेंगे ?। भावार्थ—वचनके अतिरिक्त पौद्गलिक शरीर, मन, घट, पुस्तक, गृह या अमूर्त्त आकाश, काल आदि अजीव तत्त्व भी हैं।

न ह्युपायापाये परार्थसाधनं सिध्यति तस्योपेयत्वादन्यथातिप्रसक्तेरिति। तस्योपायोऽस्ति वचनमन्यथानुपपत्तिलक्षणलिङ्गप्रकाशकम्।

उपायके न होनेपर दूसरे जीवोंके लिये आत्मतत्त्वका साधन करना नहीं सिद्ध हो पाता है। क्योंकि वह आत्मतत्त्व उपायोंके द्वारा जानने योग्य उपेय है। अन्यथा यानी उपायके विना ही उपेय तत्त्वोंका जानना यदि बन जावेगा तो अतिप्रसंग होगा। सूक्ष्म और व्यवहित पदार्थोंको भी

उपायोंके विना जान लिया जा सकेगा। इस प्रकार निर्णीत होता है कि उस आत्मतत्त्वके ज्ञापन करनेका उपाय वचन ही है। साध्यके न होनेपर हेतुका न रहना, यह अन्यथानुपपत्ति है। अविनाभाव, अन्यथानुपपत्ति और नान्तरीयक तथा व्याप्ति ये चारों पर्यायवाची (एकार्थ) शब्द हैं। जिस हेतुमें अन्यथानुपपत्ति नामका लक्षण चला जाता है वह सद्धेतु है, अपने साध्यका प्रकाशक है। दूसरोंके प्रति आत्मतत्त्वको सिद्ध करानेवाला श्रेष्ठ लक्षणसे युक्त ऐसा वचनरूप हेतु है। हिताहितको विचारनेवाले वचनोंके उच्चारणसे उस व्यक्तिमें आत्मतत्त्वकी सिद्धि कर ली जाती है। जीवोंके कण्ठ, तालु आदिके व्यापाररूप प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाले सार्थक या अनर्थक शब्दोंसे भी द्वीन्द्रिय आदिक जीवोंमें आत्माका अनुमान कर लिया जाता है। अथवा समझानेवाला प्रतिपादक दूसरोंके प्रति अपने वचनों द्वारा जीवसिद्धि कराता है।

जीवात्मकमेव तदित्ययुक्तं, प्रतिपादकजीवात्मकत्वे तस्य प्रतिपाद्यासंवेद्यत्वापत्तेः। प्रतिपाद्यजीवात्मकत्वे प्रतिपादकाद्यसंवेद्यतानुपपत्तेः, सत्यजीवात्मकत्वे प्रतिपाद्यप्रतिपादकासंवेद्यत्वासंगात्। प्रतिपादकाद्यशेषजीवात्मकत्वे तदनेकत्वे विरोधादेकवचनात्मकत्वेन तेषामेकत्वसिद्धेः।

यदि कोई अद्वैतवादी यों कहे कि जीवको सिद्ध करनेवाला वह वचन भी जीव, स्वरूप ही है, अजीव तत्त्व नहीं, आचार्य समझाते हैं कि उनका यह कहना युक्तिशून्य है। क्योंकि उस वचनको यदि उपदेश देनेवाले प्रतिपादक जीवसे तदात्मक माना जावेगा यानी वचनको प्रतिपादकका स्वभाव माना जावेगा, तब तो समझनेके पात्र हो रहे प्रतिपाद्य या श्रोताजन एवं उदासीन तटस्थ बैठे हुये सामान्य जनों करके उस वचनका संवेदन न हो सकनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—गुरुके सुख, दुःख, ज्ञान आदि चेतनात्मक पदार्थोंका गुरुको ही प्रत्यक्ष हो सकता है। अतिनिकटवर्ती भी शिष्यजन गुरुकी आत्माके साथ तादात्म्य रखनेवाले भावोंका प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। सर्वज्ञके सिवाय अन्य जीव दूसरोंके चेतन पदार्थोंका अनुमान या आगमज्ञान भले ही कर लेवें। ऐसी दशामें वक्ताकी आत्मासे तादात्म्य रखनेवाले वचनका पार्श्ववर्ती श्रोताओंको भला संवेदन (प्रत्यक्ष) कैसे हो सकता है? तथा आप अद्वैतवादी वचनको यदि सुननेवाले प्रतिपाद्यके जीवसे तदात्मक हो रहा मानोगे, ऐसी दशामें प्रतिपाद्य तो अपने जीवस्वरूप वचनोंका प्रत्यक्ष कर ही लेगा। किंतु प्रतिपादक और अन्य श्रोता तथा सभाके जनों आदिको उस वचनका संवेदन न हो सकेगा। चेतनात्मक पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान सर्वज्ञ और स्व के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता है। सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शीके उस समय शब्दसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान स्वीकार नहीं किया है। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि सभामें बैठे हुए जीवोंकी आत्मास्वरूप वे वचन हैं तब तो सभाके जन उन वचनोंका संवेदन कर लेवेंगे। किंतु मुख्य प्रतिपादक और प्रधान शिष्य द्वारा वे

वचन संवेद्य न हो सकेंगे, यह बडा बुरा प्रसंग प्राप्त हुआ। यदि इन सब झगडोंकी निवृत्तिके लिये ब्रह्माद्वैतवादी उन वचनोंको प्रतिपादक आदि सम्पूर्ण जीवस्वरूप मानेंगे तो ऐसी दशामें हम पूछते हैं कि वे प्रतिपादक, प्रतिपाद्य और सभ्य अनेक जीव हैं, तथा वचन उनसे अभिन्न हैं, तब तो वचन भी अनेक मानने पडेंगे। अनेक पुरुष और अनेक वचनोंके स्वीकार करनेपर आपको अपने अद्वैतवादसे विरोध आवेगा। अनेक आत्माओंके चेतनात्मक पदार्थोंका परस्परमें सांकर्य हो जावेगा। यानी चाहे जिसके सुख, दुःखका अन्य आत्माओंमें संवेदन किया जा सकेगा। यदि वचनोंको एकरूप माना जावे और एक वचनसे प्रतिपाद्य आदि अभिन्न हैं तब तो उन प्रतिपाद्य आदिकोंको एकपना सिद्ध होता है जो कि अनिष्ट है। यहां अद्वैतवादी इष्टापत्ति नहीं कर सकते हैं, कारण कि कोई जीव प्रतिपादक हैं, अन्य जीव प्रतिपाद्य हैं, तथा तीसरे प्रकारके सभासद जन उदासीन बैठे हैं। इस प्रकारका भेद उन जीवोंका एकपना सिद्ध न होने देगा। वादी प्रतिवादियोंके सिद्धान्तोंको निष्पक्ष होकर सुनना या अनावश्यक समझकर सुनना यहां उदासीनपना है।

सत्यमेक एवात्मा प्रतिपादकादिभेदमास्तिष्णुते अनाद्यविद्यावशादित्यप्युक्तोत्तरप्रायमात्मनानात्वसाधनात्।

अद्वैतवादी यों कहते हैं कि सत्यरूपसे देखा जावे तो एक ही आत्मा है। "अविनाशी वा अरे अयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिवाक्यसे सत्यरूप एक ब्रह्म माना गया है। संसारी जीवोंके अनादि कालसे लगी हुयी अविद्याके वशसे वह एक ही ब्रह्म प्रतिपादक, प्रतिपाद्य आदि भेदोंको व्याप्त कर लेता है। अब आचार्य कहते हैं कि इसका भी उत्तर पहिले प्रकरणोंमें हम प्रायः कह चुके हैं। आत्माके नानापनको भले प्रकार सिद्ध कर दिया गया है।

कथं चात्मनः सर्वथैकत्वे प्रतिपादकस्यैव तत्र सम्प्रतिपत्तिर्न तु प्रतिपाद्यस्येति प्रतिपद्येमहि। तस्यैव वा विप्रतिपत्तिर्न पुनः प्रतिपादकस्येति तथा तद्भेदस्यैव सिद्धेः।

आत्माको सर्वथा एकपना माननेपर प्रतिपादकको ही उस आत्मामें भले प्रकार प्रमिति होरही है। किन्तु प्रतिपाद्य (शिष्य) को परब्रह्मकी पहिलेसे प्रमिति नहीं होरही है। इस बातको हम कैसे समझ सकते हैं? जब कि ब्रह्मतत्त्व एक है तो प्रतिपाद्य प्रतिपादक भी एक ही हैं। फिर क्या बात है कि गुरुको आत्मतत्त्वका निर्णय होवे और चेलाको न होवे। यों तो गुरुका छात्रको समझानेके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। अथवा उस प्रतिपाद्यको ही ब्रह्मतत्त्वके समझनेके लिये संशयरूप विवाद होवे। किन्तु फिर प्रतिपादकको ब्रह्मतत्त्वमें जिज्ञासाके लिये विवाद न होवे, यह कैसे समझा जासकता है? देवदत्तके मुखने तृप्तिपूर्वक भोजन कर लिया है तो देवदत्तके पेट, हाथ, छाती आदि भी तृप्त हो जाते हैं, उदर तृप्त हो जावे और हाथ भूखे रहें ऐसा नहीं होता है। तथा यों तो अद्वैतवादियोंके यहां पतिव्रतापन और अचौर्यव्रतकी भी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। यदि एकको प्रतिपाद्य अन्यको प्रतिपादक अथवा एकके ब्रह्मतत्त्वकी जिज्ञासा होना दूसरेके समझा देनेकी शक्तिका

होना माना जावेगा, यों तिस प्रकारसे तो गुरु शिष्य आदिकोंके भेदकी ही सिद्धि हो जावेगी। अद्वैत तत्त्व हाथसे निकल जावेगा।

यदि पुनरविद्याप्रभेदात्तथा विभागस्तदा साप्यविद्या प्रतिपादकगता कथं प्रतिपाद्यादिगता न स्यात् ? तद्गता वा प्रतिपादकगता तदभेदेपीति साश्चर्यं नश्चेतः।

यदि फिर अद्वैतवादी यों कहें कि गुरु, शिष्य, जिज्ञासा, निर्णय, आदिका तिस प्रकार विभाग करना अविद्याके भेद प्रभेदोंसे हो रहा है। हम तब भी पूछेंगे कि वह अविद्या भी प्रतिपादकमें प्राप्त हुयी क्यों नहीं प्रतिपाद्य या साधारण मनुष्यों आदिमें प्राप्त हो जावेगी। जिससे कि वे सभी प्रतिपादक बन सकें। अथवा उन शिष्य या सामान्य श्रोताओंमें पडी हुयी अविद्या प्रतिपादकमें क्यों नहीं प्राप्त हो जावे, जिससे कि वह प्रतिपादक भी शिष्य बन जावे। जब कि एक ब्रह्मपनेसे उन प्रतिपाद्य आदिमें कोई भेद ही नहीं है ऐसा अभेद होनेपर भी वह अविद्या विशिष्ट आत्माओंमें प्राप्त होकर प्रतिपाद्य आदिके भेदको कैसे कर देती है ? कहिये न। इस विषयमें हमारा चित्त अतीव आश्चर्यसे सहित होरहा है। भावार्थ—जो अविद्या ब्रह्मके जिस अंशमें गुरुपनेकी कल्पना कराती है वहां शिष्यपनेकी कल्पना क्यों न करा देवे ? अनेक गुरु अपने प्रिय शिष्यको या पुत्रको प्रकाण्ड विद्वान् बनाना चाहते हैं, किन्तु मन्दबुद्धियोंसे कुछ वश नहीं चलता है। कोई शिष्य भी अपने प्राचीन पढानेवाले अल्पज्ञ गुरुको कृतज्ञतावश व्युत्पन्न करना चाहते हैं। किन्तु स्थूल बुद्धिवाले वृद्ध गुरु या पितासे वश नहीं चलता, आपके पास इस अविद्याका नियम करनेवाला कोई भी कारण नहीं है, अतः आपकी तत्त्वव्यवस्थापर हमको आश्चर्य हो रहा है। यहां एक दृष्टान्त है कि एक श्रमार्त्त घसखोदा गंवारने हृष्ट, पुष्ट, वैष्णव साधुको देखकर कहा कि महाराज ! मुझे भी अपना चेला बनालो। तिसपर साधुने पूछा कि तू क्या कार्य करना जानता है, गंवारने घास खोदना बताया। तब परिग्रही साधुने अपने घोडेके लिये घास मगानेकी स्वीकारता लेकर उसे चेला बना लिया। गंवार फिर भी अपने कर्मको कोसता हुआ दुःखी रहने लगा। एक दिन चेलाने गुरुसे कहा कि चेलापनेमें महान् दुःख है, अब तो महाराज मुझे तुम अपना गुरु बनालो। इसपर गुरुने क्रुद्ध होकर गंवारको निकाल बाहर कर दिया। अद्वैतवादिओंको इस दृष्टान्तसे कुछ शिक्षा लेनी चाहिये।

प्रतिपादकगतेयमविद्या प्रतिपाद्यादिगतेयमिति च विभागसंप्रत्ययोनाद्यविद्याकृत एवेति चेत्, किमिदानीं सर्वोऽप्यविद्याप्रपञ्चः। सर्वात्मगतस्तत्त्वतोस्तु सोऽप्यविद्यावशात्तथेति चेत्, तर्हि तत्त्वतो न कचिदविद्याप्रपञ्च इति न तत्कृतो विभागः, परमार्थतः एव प्रतिपादिकादिजीवविभागस्य सिद्धेः।

अद्वैतवादी कहते हैं कि अविद्यामें अनेक भेद होना भी अविद्यासे ही हैं, यह प्रतिपादकमें रहनेवाली अविद्या है और यह प्रतिपाद्यमें प्राप्त हुयी अविद्या है। एवं यह जिज्ञासा करानेवाली अविद्या है। चौथी निर्णय करानेवाली अविद्या है। पांचमी उदासीन श्रोतापनेकी अविद्या है। इत्यादि

प्रकारसे अविद्याओंका विभाग कर भले प्रकार विश्वास करना भी अनादि कालसे लगी हुयी अविद्यासे किया गया ही है। ऐसा कहोगे तो हम जैन पूंछते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् भी क्या इस समय अविद्याका ही प्रपञ्च (झझंट) है ? इस प्रकार तो सम्पूर्ण आत्माओंमें अविद्याका प्रपञ्च वास्तविक रूपसे प्रविष्ट होरहा मानलो। अर्थात् सर्व व्यापक एक ब्रह्म मानना भी अविद्यासे है और सम्पूर्ण आत्मतत्त्वोंको स्वीकार करना भी अविद्यासे है। ऐसी दशामें अविद्या कोई दोष न समझा जा सकेगा। यदि आप यों कहें कि वह अविद्याका प्रपञ्च भी अविद्याके अधीन होकर ही है। ऐसा कहोगे तब तो यह सिद्ध हो जाता है कि वास्तवमें देखा जावे तो कहीं भी अविद्याका प्रपञ्च नहीं है। भावार्थ—यदि अविद्या अविद्यारूप हो जावे तो वास्तविक पदार्थ कह दिया जाता है। जैसे असत्यको असत्य कह देना सत्य हो जाता है, इस प्रकार उस अविद्याके द्वारा किये गये प्रतिपाद्य प्रतिपादकोंकी अविद्याके विभाग नहीं हो सकते हैं। प्रतिपाद्यपने आदि की अविद्याको भी अविद्यासे कल्पित माना जावेगा तो वास्तविक रूपसे ही प्रतिपादक, प्रतिपाद्य, सभ्य, आदि जीवोंके विभाग सिद्ध हो जावेंगे, जो कि अद्वैत के विघातक हैं।

ततो नैकात्मव्यवस्थानं येन वचसोशेषजीवात्मकत्वे यथोक्तो दोषो न भवेदिति न जीवात्मकं वचनम्। तद्वच्छरीरादिकमप्यजीवात्मकमस्माकं प्रसिध्यत्येव।

तिस कारण अद्वैतवादियोंके द्वारा एक ही आत्मतत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकी, जिससे कि वचनको सम्पूर्ण जीवोंसे तदात्मक माननेपर हमारा पहिले कहा हुआ दोष लागू न होवे। अर्थात् पूर्वमें कहे अनुसार प्रतिपादक आदिकोंके अनेक होनेपर विरोध दोष है। एक वचनके साथ अनेक प्रतिपादक आदिकोंका अभेद माननेपर इन सबको एकपना सिद्ध हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार अब तक सिद्ध हुआ कि वचन जीवस्वरूप पदार्थ नहीं हैं। किन्तु पौद्गलिक अजीवरूप तत्त्व है। उसके समान शरीर, श्वास, उत्श्वास, घट, आकाश आदिक भी हम स्याद्वादियोंके यहां अजीवतत्त्वरूप प्रसिद्ध हो ही रहे हैं। प्रसिद्ध पदार्थोंको विपरीतपनेसे कहना समुचित नहीं है।

बाह्येन्द्रियपरिच्छेद्यः शब्दो नात्मा यथैव हि।
तथा कायादिरर्थोपि तदजीवोऽस्ति वस्तुतः ॥ ४२ ॥

जिस कारणसे कि शब्द बहिरंग कर्ण इन्द्रियसे जाना जाता है, इस कारण जैसे शब्द आत्मारूप पदार्थ नहीं है तैसे ही बहिरिन्द्रियोंसे जानने योग्य होनेके कारण शरीर, श्वास, घट आदि अर्थ भी जीव नहीं हैं, किन्तु वे सब वास्तवपनेसे अजीव ही हैं, यानी वास्तविक अजीव तत्त्व हैं।

न केवलं प्रतिपादकस्य शरीरं लिप्यक्षरादिकं वा परप्रतिपत्तिसाधनं वचनवत् साक्षात् परसंवेद्यत्वादजीवात्मकम्। किं तर्हि ? बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाच्च। जीवात्मकत्वे तदनुपपत्तेरिति सूक्तं परार्थसाधनान्यथानुपपत्तेरजीवास्तित्वसाधनम्।

प्रतिपादक वक्ताके वचनोंके समान उसका हाथ हिलाना, मस्तक डुलाना, चेष्टा करना आदि क्रियाओंसे युक्त होरहा शरीर अथवा पत्र, पट्टी, पत्थर, तांबा, ताडपत्रपर लिखे हुए अकार आदि अक्षर लिपि तथा संकेतित अव्यक्त सिट, गिरगिट आदि शब्द, या कमल आदिका इंगित करना, ये सम्पूर्ण पदार्थ भी अजीवात्मक हैं, जो कि दूसरे ज्ञाताओंको प्रतिपत्ति होनेके साधन हैं। क्योंकि दूसरोंके द्वारा अव्यवहित रूपसे साक्षात् शीघ्र जान लिये जाते हैं, इस बातको हम कह चुके हैं। यहां यह कहना है कि प्रतिपादकके वचन, शरीर आदिकोंको अजीव तत्त्वपना केवल परसंवेद्यत्व हेतुसे ही सिद्ध नहीं है। किन्तु दूसरा हेतु भी अजीवपनेको सिद्ध करनेके लिये विद्यमान है तो वह कौनसा हेतु है ? सो सुनो। बहिरंग इन्द्रियोंसे जो ग्रहण करने योग्य हैं वे भी अजीवात्मक हैं। जैसे रूप, रस, पुद्गल, घट आदि। यदि वचन, शरीर आदिकोंको जीवस्वरूप मान लिया जावेगा तो बहिरंग इन्द्रियोंसे ग्राह्यपना नहीं बन सकेगा। इस प्रकार हमने पहिले अट्ठाईसवीं कारिकामें बहुत अच्छा कहा था कि दूसरोंके लिये जीवतत्त्वको सिद्ध करना अजीव तत्त्वको माने विना नहीं बन सकता है। इस कारण यहांतक अजीव तत्त्वके अस्तित्वकी सिद्धि कर दी गयी है। इस ढंगसे जीवके एकान्तका खण्डन कर अब अजीवके एकान्तका निरास करते हैं।

योपि ब्रूते पृथिव्यादिरजीवोध्यक्षनिश्चितः।
तत्त्वार्थ इति तस्यापि प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥ ४३ ॥

जो भी चार्वाक स्पष्टरूपसे यह कहता है कि जीव तत्त्व कोई नहीं है। पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चार अजीवतत्त्व ही प्रत्यक्ष प्रमाणसे निश्चित किये गये तत्त्वरूप अर्थ हैं। इस प्रकार कहनेवाले उस चार्वाकको भी प्रायः करके हम पहिले प्रकरणोंमें उत्तर दे चुके हैं। सूत्रके अवतार प्रकरणमें चार्वाकके प्रति भिन्नतत्त्वपनेसे जीवतत्त्वकी सिद्धि करादी गयी है।

अस्ति जीवः स्वार्थाजीवसाधनान्यथानुपपत्तेः पृथिव्यादिरजीव एव तत्त्वार्थ इति न स्वयं साधनमन्तरेण निश्चेतुमर्हति कस्यचिदसाधनस्य निश्चयायोगात्। सत्त्वात्तथा निश्चय इति चेत् न, तस्याचेतनत्वात् चेतनत्वे तत्त्वान्तरत्वसिद्धेस्तस्यैव जीवत्वोपपत्तेः।

अनुमानसे जीव तत्त्वको सिद्ध करते हैं कि जीवतत्त्व (पक्ष) है (साध्य)। अपने लिये अजीवका साधन करना जीव तत्त्वको माने विना अन्य प्रकारसे नहीं बनता है (हेतु)। पृथ्वी आदिक चार ही अजीव तत्त्वपनेसे निर्णीत अर्थ हैं, इस अपने सिद्धान्तको चार्वाक अपने लिये तो साधनके विना निश्चय करनेके लिये समर्थ (योग्य) नहीं है। अथवा पृथ्वी आदि अजीव द्रव्य अपनी सिद्धि स्वयं करलें, यह अयोग्य है, किसी भी वस्तुका साधन रहित होकर निश्चय नहीं होता है। भावार्थ—आत्मतत्त्वके होने पर ही चार्वाकका अजीवको साधन करना बन सकता है। चक्षुरादि इन्द्रियोंसे अजीव तत्त्वको जाननेवाला आत्मा है। यदि सत्त्व हेतुसे पृथिवी आदिक अजीवोंको

तिस प्रकार तत्त्वार्थपनेका निर्णय कर लेंगे जीवकी आवश्यकता नहीं है, आप चार्वाक ऐसा कहोगे सो तो ठीक नहीं है, क्योंकि वह सत्ता अचेतन पदार्थ है। अचेतनसे अचेतनका निर्णय नहीं हो सकता है। यदि उस सत्ताको चेतन मानोगे तो चार तत्त्वोंसे निराला पांचवां चेतनतत्त्व सिद्ध होता है, और उसको ही जीवपना युक्तियोंसे प्रसिद्ध हो जावेगा। भावार्थ—दूसरोंके लिये अजीवकी सिद्धि भले ही वचन आदि अजीव पदार्थोंसे हो जावे, किन्तु स्वके लिये अजीवकी सिद्धि आत्मतत्त्वको माननेपर ही हो सकती है। आत्मा ही तो अजीवोंका प्रत्यक्ष कर रहा है। जैसे कि भक्ष्य पदार्थ भोक्ता आत्माके होनेपर ही अपने लिये होते हैं। अथवा अजीव पदार्थ स्वयं तो अपनी सिद्धिको नहीं कर सकता है, क्योंकि वह जड है। जीवके होनेपर ही अजीवकी सिद्धि हो सकेगी, जैसे कि जीवके होनेपर ही जड शरीर कार्यकारी है मृत शरीर अध्ययन,सामायिक, विचार करानेमें उपयोगी नहीं है।

स्यान्मतमजीवविवर्तविशेषश्चेतनात्मकं प्रत्यक्षं न पुनर्जीव इति। तदसत्। चेतनाचेतनात्मकयोर्विवर्तविवर्तिभावस्य विरोधात् परस्परं विजातीयत्वाज्जलानलवत्।

सम्भव है कि चार्वाकोंका यह मन्तव्य होवे कि चेतनस्वरूप प्रत्यक्षप्रमाण भी पृथ्वी, आदिक अजीव तत्त्वोंकी विशिष्ट पर्यायरूप है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण कोई जीव पदार्थ नहीं है। इस प्रकार चार्वाकोंका वह कहना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि अचेतन पृथिवी आदिकोंके परिणाम चेतन नहीं होते हैं चेतन और अचेतन स्वरूप पदार्थोंके परिणाम और परिणामी भाव होनेका विरोध है। क्योंकि वे परस्परमें भिन्न भिन्न जातिवाले हैं, जैसे कि जल और अग्नि। जलका परिणाम अग्नि नहीं है और अग्निकी पर्याय जल नहीं है। तभी तो जल और अग्नि तत्त्व भिन्न माने गये हैं। यह दृष्टान्त चार्वाकमतकी अपेक्षासे उन्हींके लिये दिया गया है। जैन मतानुसार तो जलसे अग्नि और अग्निसे जल भी उत्पन्न हो सकता है, ये दोनों पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं, किन्तु जड और चेतन पदार्थोंमें उपादान उपादेयभाव कैसे भी नहीं हो पाता है।

सुवर्णरूप्यवद्विजातीयत्वेऽपि तद्भावः स्यादिति चेन्न, तयोः पार्थिवत्वेन सजातीयत्वात् लोहत्वादिभिश्च। तर्हि चेतनाचेतनयोः सत्त्वादिभिः सजातीयत्वात्तद्भावो भवत्विति चेन्न भवतो जलानलाभ्यामनेकान्तात्।

चार्वाककी ओरसे कोई यों कहे है कि जैसे सोने और रूपेमें भिन्न जातीयपना होते हुए भी वह परिणाम परिणामी भाव है। वैसे ही विजातीय जडका परिणाम चेतन भाव हो सकता है। रसायन प्रक्रियासे औषधियोंका संसर्ग होनेपर सुवर्णधातु रूपा बन जाती है। और रूपा धातु भी सोना बन जाती है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि सोने और रूपेको पृथ्वीका विकारपना धर्मसे समान जातीयपना है। सोना पृथ्वीकाय है और रूपा भी उसी जातिका पृथ्वीकाय है। चार्वाक मतमें भी दोनोंको पृथ्वीका विकार माना गया है तथा मेदिनी कोषकारके अनुसार चांदी, सोना, तांबा, आदि सर्व ही धातुओंको लोहा कहा जासकता है। लोहत्व,

अग्नि संयोगजन्यद्रवत्व, धातुपने, आदिसे भी सोने और रूपेमें सजातीयता है। अतः इनमें उपादान उपादेय भाव बन जाता है। यदि चार्वाक यों कहें कि तब तो पृथ्वी आदि अचेतन और चैतन्य, सुख, ज्ञान आदि चेतन पदार्थोंका भी सत्यता, पदार्थपना, वस्तुपना, आदि धर्मों करके सजातीयपना होनेसे वह परिणामपरिणामी भाव हो जाओ। यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उपादान उपादेयभावकी व्यवस्था करनेमें यदि सत्त्व या वस्तुत्व धर्मों करके सजातीयता पकडी जावेगी तब तो आपके माने गये जल और अग्नि तत्त्वसे व्यभिचार होगा। अर्थात् जल और अग्नि दोनों वस्तु और सत् मानी गयी हैं। उनमें भी उपादान उपादेयभाव होजावेगा। तब तो चार तत्त्वोंके स्थानमें तीन ही तत्त्व रह जावेंगे। वे तीन भी सत् हैं। वस्तु हैं, पदार्थ हैं, अतः उनमें भी विवर्त्त विवर्ति-भाव हो जावेगा। एवं एक ही तत्त्व आपके हाथ लगेगा। इससे सिद्ध है कि जल और अग्निमें सत्त्व आदिकपनेसे सजातीयपना होते हुए भी आप उपादान उपादेय भाव नहीं मानते हैं। तैसे ही जड और चेतनमें भी मति मानो।

तयोरद्रव्यान्तरत्वात्तद्भाव इति चेन्न, असिद्धत्वात्। तयोरपि द्रव्यान्तरत्वस्य निर्णयात्तद्भावायोगात्।

तिन अचेतन और चेतनको भिन्नद्रव्यपना या भिन्न तत्त्वपना नहीं है, इस कारण उनका वह परिणाम परिणामीभाव बन जाता है, इस प्रकार चार्वाकोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि जड और चेतनमें द्रव्यान्तर रहितपना यानी एकतत्त्वपना असिद्ध है। उन चेतन और अचेतन दोनोंको भी भिन्न द्रव्यपनेका निर्णय हो रहा है, अतः उस विवर्त्तविवर्त्तीभावके होनेका अयोग है।

निर्णेष्यते हि लक्षणभेदाच्चेतनाचेतनयोर्द्रव्यान्तरत्वमिति न तयोर्विवर्तविवर्तिभावो येन चेतनात्मकं प्रत्यक्षं जीवद्रव्यस्वरूपं न स्यात्। प्रायेण दत्तोत्तरं च चेतनस्याद्रव्यान्तरत्ववचनमिति न जीवमन्तरेण स्वार्थजीवसाधनमुपपद्यते।

लक्षणके भेदसे चेतन और अचेतनमें भिन्न द्रव्य (तत्त्व) पना है, इस बातका आगेके अध्यायोंमें अवश्य निर्णय कर देवेंगे। चेतनका लक्षण उपयोग है और अचेतनके रूप, गतिहेतुत्व, आदि लक्षण हैं। इस प्रकार एकद्रव्यप्रत्यासत्ति न होनेके कारण उन जड और चेतनमें परिणाम परिणामी भाव नहीं बनता है, जिससे कि चेतनस्वरूप (चेतनाके साथ है तादात्म्य जिसका) प्रत्यक्षप्रमाण जीवतत्त्व स्वरूप न होवे। भावार्थ—प्रत्यक्षका उपादानकारण चेतन जीव ही है और हम कई स्थलोंपर प्रायः करके इस कटाक्षका उत्तर दे चुके हैं कि पृथ्वी आदिकोंसे चेतन तत्त्व द्रव्यान्तर नहीं कहा गया है। यों चार्वाकोंके पूर्व पक्ष करनेपर पृथ्वी आदिकोंसे जीव द्रव्यका तत्त्वान्तरपना उत्तरमें कहा जा चुका है। अतः यहां चार्वाकसिद्धान्तका खण्डन करनेके लिये पुनः आयोजन नहीं किया जाता है। इस पद्धतिसे सिद्ध हो जाता है कि जीव तत्त्वको माने विना अपने लिये अजीव पदार्थकी सिद्धि करना नहीं बन सकता है। भावार्थ—प्रत्यक्ष प्रमाणसे अजीव पदार्थोंकी

सिद्धि करना आत्माके लिये ही उपयोगी हो सकता है। जडकी सिद्धि जडके लिये उपयोगी नहीं है और हो भी नहीं सकती है। जड पदार्थ अपने आप अपनी सिद्धिको नहीं कर सकता है, जैसे कि शब्द स्वयं अपना अर्थ—व्याख्यान नहीं कर सकते हैं।

एतेन स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुमानादिकं गौणपृथिव्याद्यजीवसाधनं स्वार्थं जीवमन्तरेणानुपपन्नमिति निवेदितं, तस्यापि चेतनद्रव्यस्वरूपत्वाविशेषात् प्रधानादिरूपतया तस्य प्रतिविहितत्वात्।

चार्वाकोंने पहिले अपना यह मन्तव्य प्रकट किया था कि हमसे माना गया प्रत्यक्ष प्रमाण भी अजीव तत्त्वोंका ही विवर्त है। उसीके समान स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान, प्रतिभा, तर्क, आदि भी गौणरूपसे पृथ्वी आदि अजीव तत्त्वके विवर्त सिद्ध हैं। घट, पट, पर्वत, आदि मुख्य पृथिवी—तत्त्व हैं। तथा पृथिवी तत्त्वके कभी कभी होनेवाले स्मृति आदि गौणरूपसे पृथिवीके परिणाम हैं। इस प्रकार स्मृति आदिकोंको अजीवरूप सिद्ध करते हुए स्वार्थ मानते हैं और पृथिवी, स्मृति आदि गौण अजीव तत्त्वोंके लिये मुख्य पृथ्वी आदि तत्त्वोंकी सिद्धि कर दी जावेगी। अतः अजीवके लिये अजीवका सिद्ध करना बन जाता है। इस प्रकार चार्वाकोंका कथन भी इस उक्त कथन करके नहीं सिद्ध होने पाता है। इसको हम निवेदन कर ही चुके हैं। अचेतनका परिणाम स्मृति आदि चेतनरूप नहीं हो सकता है। परमार्थरूपसे आत्मास्वरूप जीवको माने विना अजीवकी सिद्धि अपने लिये अपने आप नहीं हो सकती है। क्योंकि उन स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान आदिकोंको भी चेतनद्रव्यस्वरूपपना विशेषताओंसे रहित (सामान्य) है, वे चेतन जीवके स्वात्मभूत स्वभाव हैं। कापिलोंके मतानुसार उन स्मृति आदिकोंको प्रधानरूपपने करके और बौद्धोंके मतानुसार अविद्यारूपपने करके भी उन स्मृति आदिकोंका हम खण्डन कर चुके हैं। भावार्थ—स्मृति आदि चेतनधर्म तो जड माने गये प्रधान आदिके धर्म नहीं हैं, किन्तु आत्माके हैं। अतः उनके लिये भी अजीवतत्त्व सिद्धि करना जीवको माने विना न हुयी। स्मृति आदिको जडस्वरूप माना जावेगा तो जड अपनी सिद्धि स्वयं नहीं कर सकता है अन्यथा विवाद ही न होवे। गौण पृथिवी स्वयं चिल्लाकर अपना साधन अपने आप नहीं कर रही है। अतः जीवतत्त्वका मानना अनिवार्य है।

न कायादिक्रियारूपो जीवस्यास्त्यास्रवः सदा।
निःक्रियत्वाद्यथा व्योम्न इत्यसत्तदसिद्धितः॥ ४४॥
क्रियावान् पुरुषोऽसर्वगतद्रव्यत्वतो यथा।
पृथिव्यादिः स्वसंवेद्यं साधनं सिद्धमेव नः॥ ४५॥

जीव और अजीव तत्त्वका विचार कर अब आस्रव तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये विचार चलाते हैं। तहां प्रथम ही आस्रव तत्त्वको नहीं माननेवाले नैयायिक या वैशेषिकका पूर्वपक्ष है कि जीवके

शरीर, वचन और मनकी क्रियारूप आस्रव होना सर्वदा (कभी भी) नहीं सम्भवता, क्योंकि आत्मा तो क्रियासे रहित है जो जो क्रियाओंसे रहित है उस द्रव्यके आस्रव नहीं होता है। जैसे कि आकाशके। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकोंका कहना झूंठा है। क्योंकि आत्माके उस क्रियारहितपनेकी सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रत्युत आत्माको क्रियावान् सिद्ध करनेका यह अनुमान है कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है (साध्य)। सर्वत्र नहीं वर्त्त रहा अव्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु)। जैसे पृथ्वी, जल आदि अव्यापक द्रव्य हैं (अन्वयदृष्टान्त) अतः क्रियायुक्त है। इस अनुमानमें हमारी ओरसे दिया गया अव्यापक द्रव्यपनारूप हेतु स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे सिद्ध ही है। भावार्थ—सभी जीव अपनी अपनी आत्माको शरीरके अनुसार लम्बा, चौडा, मोटा, परिमाणवाला जान रहे हैं। जो मध्यम परिमाणवाले या अणुपरिमाणवाले पदार्थ हैं वे देशसे देशान्तर जानारूप या कम्परूप क्रियाको कर सकते हैं। हां ! जो व्यापक आकाश द्रव्य है या लोकाकाशमें व्यापक धर्म,अधर्म द्रव्य हैं, वे अवश्य क्रियारहित हैं, आत्मा तो क्रियासहित है ।

न हि क्रियावत्त्वे साध्ये पुरुषस्यासर्वगतद्रव्यत्वं साधनमसिद्धं तस्य स्वसंवेद्यत्वात् पृथिव्यादिवत् ।

आत्माको क्रियावान्पना सिद्ध करनेमें दिया गया अव्यापक द्रव्यपना हेतु कैसे भी असिद्ध नहीं है। अर्थात् आत्मस्वरूप पक्षमें अव्यापक द्रव्यपना रह जाता है । उसका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ज्ञान कर लेते हैं, जैसे कि चक्षुः, स्पर्शन, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे घट, पट आदि पृथिवियोंका कटोरे या सरोवरके पानीका अथवा अग्नि, वायु द्रव्योंका अव्यापकपना जान लेते हैं।

भ्रान्तमसर्वगतद्रव्यत्वेनात्मनः संवेदनमिति चेत् न, बाधकाभावात् । सर्वगत आत्माऽमूर्तत्वादाकाशवदित्येतद्बाधकमिति चेन्न, अस्य प्रतिवादिनां कालेनानेकान्तात् । कालोऽपि सर्वगतस्तत एव तद्वदिति नात्र पक्षस्यानुमानागमबाधितत्वम् । तथाहि—

वैशेषिक कहते हैं कि सभी आत्माएं व्यापक द्रव्य हैं। अतः आत्माको अव्यापक द्रव्यपने करके जानना भ्रान्त ज्ञान है। आचार्य समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि भ्रान्त ज्ञान वे होते हैं जिनके विषयको बाधनेवाला उत्तरकालमें बाधक प्रत्यय उत्पन्न होजाता है। जैसे कि सीपमें उत्पन्न हुए चांदीके ज्ञानका बाधक उत्तरकालमें " यह चांदी नहीं " ऐसा बाधक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। बाधकके द्वारा बाधे गये ज्ञानको भ्रान्त ज्ञान कहते हैं। किन्तु यहां आत्माके अव्यापकपनेको जाननेवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहें कि आत्मा (पक्ष) व्यापक है (साध्य)। अमूर्त होनेसे (हेतु) आकाशके समान (दृष्टान्त) इस प्रकार यह अनुमान उस स्याद्वादियोंके प्रत्यक्षका बाधक है। ग्रन्थकार बोलते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि इस हेतुका प्रतिवादी जैनोंके द्वारा माने गये कालद्रव्यसे व्यभिचार हो जाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श स्वरूप मूर्तिसे रहित होनेके कारण कालद्रव्य अमूर्त है, किन्तु वह सर्व

व्यापक नहीं है। कालद्रव्य तो परमाणुके बराबर है वे असंख्यात द्रव्य हैं। दूसरी बात यह है कि अमूर्तपना तो रूप आदि गुण या कर्म आदिकमें रह जाता है। अर्थात् रूप, रस, आदिसे विशिष्टपना-स्वरूप मूर्तत्व या अपकृष्ट परिमाणस्वरूप मूर्तत्वका अभावरूप अमूर्तत्व तो गुण, कर्म, आदिमें भी पाया जाता है। गुण आदिमें पुनः दूसरे गुण नहीं माने हैं। किन्तु उनमें सर्वगतत्व साध्य नहीं रहा, अतः व्यभिचार दोष भी आया। यदि फिर आप वैशेषिक उस आकाशके समान उस ही अमूर्तपने हेतुसे कालद्रव्यको भी सर्वव्यापक सिद्ध करोगे, सो यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि इस अनुमानमें दिये गये "काल सर्वगत है" इस प्रतिज्ञारूप पक्षकी अनुमान और आगमरूप प्रमाणोंसे बाधा उपस्थित होती है। अतः कालको सर्वगतत्व सिद्ध करनेमें दिया गया हेतु बाधित हेत्वाभास (कालात्यापदिष्ट) है। तिसी प्रकार पहिले इसके बाधक अनुमानको हम जैन स्पष्ट कर दिखलाते हैं, आत्मा और काल दोनोंको अव्यापक द्रव्यसिद्ध करते हैं, सो सुनो।

आत्मा कालश्चासर्वगतो नानाद्रव्यत्वात् पृथिव्यादिवत्। कालो नानाद्रव्यत्वेनासिद्ध इति चेन्न, युगपत्परस्परविरुद्धनानाद्रव्यक्रियोत्पत्तौ निमित्तत्वात्तद्वत्।

आत्मा और कालद्रव्य (पक्ष) अव्यापक हैं (साध्य), अनेक द्रव्यपना होनेसे (हेतु), जैसे कि पृथ्वी, जल आदि द्रव्य या इनके परमाणु (दृष्टान्त)। यदि यहां वैशेषिक यों कहें कि कालद्रव्य तो एक है। अतः नानाद्रव्यपनेसे कालद्रव्य असिद्ध है। अर्थात् नानाद्रव्यपना हेतु काल-द्रव्यरूप पक्षमें नहीं ठहरता है, अतः असिद्ध हेत्वाभास है आचार्य समझाते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमानसे कालद्रव्यको नानापना सिद्ध है। सुनिये। कालद्रव्य अनेक हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि एक ही समय परस्परमें विरुद्ध हो रहे अनेक द्रव्योंकी क्रियाओंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण हो रहे हैं (हेतु)। जैसे कि वे ही पृथ्वी आदिक द्रव्य (अन्वय दृष्टान्त)। भावार्थ—कालद्रव्यके निमित्तसे कहीं कोई रोगी हो रहा है, उसी समय कोई नीरोग हो रहा है। कोई वृद्ध हो रहा है, कहींपर रोगको बढानेवाले कारण बन रहे हैं, अन्यत्र वनमें रोगको नष्ट करनेवाली औषधियां हो रही हैं। कहीं ज्वारके अंकुर ही निकले हैं, दूसरे देशमें ज्वार पक चुकी है। किसी स्थानपर ज्येष्ठ मासमें उग्र संताप हो रहा है, अन्यत्र शीत प्रदेशोंमें शीत हो रहा है। किसी जीवको कालद्रव्य निगोदसे निकाल कर व्यवहारराशिमें लानेका उदासीन कारण है, तो कहीं अन्य जीवको व्यवहारराशिसे हटाकर निगोदमें पटकनेका हेतु हो जाता है। संसारी जीवके कर्म बन्धमें भी काल कारण है और उसी समय मुक्तिगामी जीवके कर्मक्षयमें भी कारण काल है। किसीको आर्थिक हानि (टोटा) के उत्पादक विचारोंको काल उत्पन्न कराता है, उसी समय अन्य जीवके आर्थिक लाभके उत्पादक विचारोंका सहकारी कारण काल हो जाता है। वनस्पतिरूप औषधियोंको पुरानी कर कालद्रव्य उनकी शक्तिका नाशक हो जाता है और मकरध्वज, चन्द्रोदय, आदि रस स्वरूप औषधियोंके पुराने पडनेपर उनकी शक्तिका वर्धक हो रहा है। इत्यादि जीवन मरण, पण्डित मूर्ख,

युवा वृद्ध, यशः अपयश, अनेक प्रकारके विरुद्ध कार्य एक समयमें होते हुए जाने जा रहे हैं। वे सब एक ही काल द्रव्यसे नहीं हो सकते हैं, जैसे कि एक ही पृथिवीकी परमाणुसे उसी समय घट, पट, पुस्तक, सुगन्ध दुर्गन्धवाले पदार्थ, लोहा, चांदी, आदि पदार्थ नहीं बन सकते हैं। अतः अनेक परमाणु स्वीकार करने पडते हैं, तैसे ही एक समयमें अनेक विरुद्ध क्रियाओंको करनेवाले कालद्रव्य भी अनेक स्वीकार करने चाहिये।

खेन व्यभिचारीदं साधनमिति चेन्न, तस्यावगाहनक्रियामात्रत्वेन प्रसिद्धेस्तत्रानिमित्तत्वात्। निमित्तत्वे वा परिकल्पनानर्थक्यात् तत्कार्यस्याकाशादेवोत्पत्तिघटनात्। परापरत्वपरिणामक्रियादीनामाकाशनिमित्तकत्वविरोधादवगाहनवत्।

वैशेषिक कहते हैं कि कालद्रव्यको अनेकपन सिद्ध करनेके लिये दिया गया एक समयमें अनेक विरुद्ध क्रियाओंके करनेका सहकारी कारणपनारूप यह आप जैनोंका हेतु तो आकाश करके व्यभिचारी है। अर्थात् आकाशमें अनेक क्रियाओंको करानारूप हेतु रह जाता है और अनेकपना साध्य नहीं रहता है। आप जैन भी आकाशको एक ही द्रव्य स्वीकार करते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो न कहो। क्योंकि वह आकाश केवल अवगाहक्रियाका ही निमित्त कारणपनेसे प्रसिद्ध हो रहा है। कालके द्वारा की गयी उन अनेक विरुद्ध क्रियाओंमें आकाशनिमित्त कारण नहीं है। तथा यदि उन अनेक विरुद्ध क्रियाओंमें और संपूर्ण द्रव्योंको अवगाह देना रूप क्रियामें आकाशको ही निमित्त माना जावेगा तो स्वतंत्र कालद्रव्यकी चलाकर दृढतासे कल्पना करना व्यर्थ पडेगा। क्योंकि उस कालद्रव्यसे किये जानेवाले कार्योंकी आकाश द्रव्यसे ही उत्पत्ति होना घटित हो जावेगा। जैसे कि सब द्रव्योंको अवगाह देना आकाशका कार्य है तैसे ही अवस्था (उम्र) द्वारा किये गये परत्व (जेठापन) और अपरत्व (कनिष्ठपना) परिणाम (अपरिस्पन्दरूप भाव) क्रिया (हलन चलन परिस्पन्दरूप भाव) और मुख्य कालका मुख्य कार्य वर्तना (नवसे जीर्ण करना) ये जो कालद्रव्यके उपकार माने हैं इन सबका निमित्त कारण आकाश मान लेना चाहिये, कोई विरोध नहीं है।

परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिंगः कालोन्य एवाकाशादिति चेत्, स्यादेवं यदि परत्वादिप्रत्ययनिमित्तत्वमाकाशस्य विरुध्येत। शब्दलिंगत्वादाकाशस्य तन्निमित्तत्वं विरुध्यत एवेति चेन्न, एकस्यापि नानाकार्यनिमित्तत्वेन दर्शनात् स्वयमीश्वरस्य तथाभ्युपगमाच्च।

औलूक्य दर्शनवाले कहते हैं कि हम वैशेषिकोंके मतमें कणादसूत्रके अनुसार कालकृत परत्व, अपरत्व की बुद्धि होना युगपत्पनेका ज्ञान होना, क्रमपनेका ज्ञान होना, अतिविलम्ब और शीघ्रपनेका प्रत्यय होना ये कालद्रव्यके व्यापकचिन्ह (हेतु) माने गये हैं। "अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"। आकाश द्रव्य तो जगत्का केवल आधार है। आकाशमें अवगाह

क्रियाका ही निमित्तपना, है वैसा परत्व, अपरत्व, आदि क्रियाओंके निमित्तपनेका विरोध है। अतः पर अपरपने आदिके ज्ञानसे अनुमित किया गया कालद्रव्य तो आकाशसे भिन्न ही है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकोंका यह कहना तो तब सिद्ध हो सकेगा कि परत्व आदि ज्ञानोंका निमित्त-कारणपना आकाशके विरुद्ध होवे, किंतु जब आकाशसे आप अनेक क्रियानिमित्तपना हेतुका व्यभिचार देते हैं तब तो प्रतीत होता है कि आप एक आकाशके द्वारा अनेक क्रियाओंका होना स्वीकार करते हैं। यदि पुनः आप वैशेषिक यों कहे कि शद्वका समवायीकरण आकाश है। " परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य " इस कणाद सूत्रके अनुसार आकाशका ज्ञापक हेतु शद्व है। शद्वका कारण हो जानेसे उन परत्व, यौगपद्य, आदिके ज्ञान करानेमें आकाशको निमित्तपना विरुद्ध ही है, यह कहो सो भी तो ठीक नहीं है। क्योंकि आपके पूर्वोक्त कथनसे और कणाद सिद्धान्तसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि एक द्रव्यको भी अनेक कार्योंका निमित्तपना देखा जाता है और स्वयं आपने एक ईश्वरको तैसा अनेक कार्योंका निमित्तकारण स्वीकार भी किया है। अतः अभीतक आपका काल द्रव्य मानना व्यर्थ ही रहा। उसके साध्य कार्य सभी आकाश द्वारा सम्पादित हो जावेंगे।

यदि पुनरीशस्य नानार्थसिसृक्षाभिसम्बन्धान्नानाकार्यनिमित्तत्वमविरुद्धं तदा नभसोपि नानाशक्तिसम्बन्धात्तदविरुद्धमस्तु विशेषाभावात्। तथा चात्मादिककालाद्यशेषद्रव्यकल्पनमनर्थकं तत्कार्याणामाकाशेनैव निर्वर्तयितुं शक्यत्वात्।

यदि फिर तुम यों कहो कि ईश्वर भले ही एक है, किन्तु अनेक अर्थोंको रचनेकी उसकी इच्छाएं अनेक हैं। अतः अनेक इच्छाओंसे चारों ओर सहित होरहे ईश्वरको नाना अर्थोंके करनेमें निमित्तपना सिद्ध हो जाता है, कोई भी विरोध नहीं है। इसपर हम जैन कहते हैं कि तब तो अकेले आकाश द्रव्यको भी अनेक शक्तियोंके सम्बन्धसे उन परत्व आदि और अवगाहन क्रियाके करनेमें भी निमित्तपना अविरुद्ध हो जाओ! इस अंशमें ईश्वरसे आकाशमें कोई अन्तर नहीं है दोनों समान हैं। तिसी प्रकार आत्मा, दिशा, काल, वायु, मन, आदि सम्पूर्ण आठ द्रव्योंकी कल्पना करना भी व्यर्थ ही पडेगा। क्योंकि उनके माने गये अनेक कार्य, ज्ञान, यह इससे पूर्व है, पश्चिम है, या दैशिक परत्व, अपरत्व, कालिक परत्व अपरत्व, वृक्ष आदिकोंका कंपाना, एक समयमें अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न न होने देना आदि कार्योंका आकाशके द्वारा ही सम्पादन किया जा सकता है। अब तो आपके ऊपर और भी अधिक आपत्ति आयी।

अथ परस्परविरुद्धबुध्यादिकार्याणां युगपदेकद्रव्यनिवर्त्यत्वविरोधात्तन्निमित्तानि नानात्मादिद्रव्याणि कल्प्यन्ते तर्हि नानाद्रव्यक्रियाणामन्योन्यविरुद्धानां सकृदेककालद्रव्यनिमित्तत्वानुपपत्तेस्तन्निमित्तानि नानाकालद्रव्याण्यनुमन्यध्वं, तथा च नासिद्धं नानाद्रव्यत्वमात्मकालयोरसर्वगतत्वसाधनम्।

अब यदि आप यों कहें कि परस्परमें विरुद्ध हो रहे ऐसे बुद्धि, सुख, दुःख, थोडी आयुवाले

भी पुरुषके दूर देशमें रहनेकी अपेक्षासे दैशिक परत्व, और वृद्ध पुरुषका निकट देशमें रहनेके कारण दैशिक अपरत्व, एवं बुड्ढेके अतिनिकट होते हुए भी कालिक परत्व, और छोटे भाईके दूर देशमें रहनेपर भी कालिक अपरत्व, तथा प्राण वायु, कँपानेवाली वायु, विचार करना, आदि कार्योंका एक समयमें एक आकाश द्रव्यसे सम्पादन होना विरुद्ध है। अतः उन भिन्न भिन्न कार्योंके निमित्तकारण अनेक आत्मा, एक दिशा, एक काल और अनेक वायु आदि अनेक द्रव्योंकी कल्पना करनी पडती है। तब तो हम जैन कहेंगे कि आप अब ठीक मार्गपर आगये हैं। प्रकृतमें भी अनेक द्रव्योंसे होनेवाली परस्परविरुद्ध अनेक क्रियाओंका एक समयमें एक ही कालद्रव्यको निमित्तपना नहीं बन सकता है। अतः उन अनेक क्रियाओंके निमित्तकारण कालद्रव्य भी तैसे ही अनेक स्वीकार करलो ! तिस कारण कालमें नानाद्रव्यपना सिद्ध हो गया। एवं आत्मा और कालमें अव्यापकपनेको सिद्ध करनेवाला अनेक द्रव्यपना हेतु भी रह गया। हमारा नानाद्रव्यत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

नापि पृथिव्यादिदृष्टान्तः साधनधर्मविकलः पृथिव्यप्तेजोवायूनां धारणक्लेदनपचनस्पन्दनलक्षणपरस्परविरुद्धक्रियानिमित्तत्त्वेन सकृदुपलभ्यमानत्वात्। नापि साध्यधर्मविकलस्तेषां कथंचिन्नानाद्रव्यत्वसिद्धेरित्यनुमानविरुद्धं पक्षं कालात्मसर्वगतत्वासाधनं, लोकाकाशप्रदेशेषु प्रत्येकमेकैकस्य कालाणोरवस्थानाद्रत्नराशिवत्। कालाणवोऽसंख्याताः स्वयं वर्तमानानामर्थानां निमित्तहेतवः इत्यागमविरुद्धं पक्षं च।

कालको अव्यापक द्रव्य सिद्ध करनेमें अनेकद्रव्यपना हेतु दिया था और पृथिवी आदिकका दृष्टान्त दिया था। वहां नाना द्रव्यत्वरूप हेतुको असिद्ध दोषकी सम्भावना होनेपर उस नाना द्रव्यपने हेतुको साध्यकोटिमें लाये और एक समय परस्परविरुद्ध अनेक द्रव्य क्रियाओंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण होनेसे पृथ्वी आदिके समान ही कालमें भी नानाद्रव्यत्वको सिद्ध किया। इस पिछले अनुमानमें दिया गया पृथिवी आदिक दृष्टान्त भी साधनरूपी धर्मसे विकल नहीं है। अर्थात् पृथिवी, जल, आदिकमें अनेक द्रव्यक्रियाओंके प्रति निमित्तकारणता है। पृथ्वी अनेक द्रव्योंको धारण करना रूप क्रियाओंको कर रही है। जल गीला करना रूप क्रियाओंको करा रहा है। अग्नि पकाने रूप क्रियाओंमें निमित्तकारण हो रही है। वायु वृक्ष आदिकोंके कंपानेका निमित्त है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अनेक क्रियाओंके निमित्तपने करके पृथिवी, जल, तेज, और वायुका एक समयमें उपलम्भ (प्रत्यक्ष) किया जा रहा है। तथा पृथिवी आदिकरूप दृष्टान्त नानाद्रव्यपना रूप साध्य धर्मसे रहित भी नहीं है। क्योंकि उन पृथिवी आदिकोंको कथञ्चित् अवयव और अवयवी रूप या शुद्ध अशुद्ध स्वरूप द्रव्यकी अपेक्षासे अनेक द्रव्यपना प्रसिद्ध है। पृथिवीपरमाणु या घट, पट, गृह आदि अनेक पृथिवी हैं। अनेक जल हैं। अनेक तेज, वायु हैं। ये चारों भी चार रूप अनेक हैं। इस प्रकार निर्दोष हेतुसे नानाद्रव्यपना सिद्ध हो गया, और नाना द्रव्यपने हेतुसे काल

और आत्माको अव्यापकपना अनुमान द्वारा सिद्ध हो गया। इस प्रकार नैयायिकोंके द्वारा आत्मा और कालको व्यापकपना सिद्ध करनेवाला प्रतिज्ञारूपी पक्ष हमारे इस अनुमानसे विरुद्ध पडता है। अतः उनका अमूर्त्तत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है, काल और आत्माका व्यापकपन नहीं साध सकता है। तथा सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आये आगममें पूज्यचरण श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने लिखा है कि " लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का। रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंख दव्वाणि ॥ १ ॥ वट्टणहेदू कालो वट्टणगुणमविय दव्वणिचयेसु। कालाधारेणेव य वट्टंति हु सव्व-दव्वाणि ॥ २ ॥ विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदू ॥ लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशोंपर एक एक काल अणु रत्न राशिके समान स्थित हैं, वे कालाणुयें असंख्यात द्रव्य हैं। अर्थात् जगत्श्रेणीके घनप्रमाण संख्यावाले कालद्रव्य हैं और एक एक कालपरमाणुमें अनन्तगुण और पर्याय विद्यमान हैं। प्रधान कारण मानी गयी अपनी द्रव्यशक्तिके द्वारा स्वयं अपने आप वर्त्तना करते हुए पदार्थोंके वे कालाणुद्रव्य वर्त्तना करानेमें निमित्तकारण हैं। कालके अवलम्बसे ही सर्वद्रव्य वर्त्तना करते हैं। इस आगम प्रणाणसे भी आपका माना गया कालको व्यापकपनेका पक्ष (प्रतिज्ञा) विरुद्ध पडता है। अतः नैयायिकोंका हेतु कालात्यापदिष्ट है और व्यापकपनारूप साध्यसे विरुद्ध होरहे अव्यापकपनेके साथ भी अमूर्त्तत्व हेतु व्याप्ति रखता है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास भी हो सकता है। पक्ष शब्द पुल्लिंग होना चाहिये।

न चायमागमोऽप्रमाणं सर्वथाप्यसम्भवद्बाधकत्वादात्मादिप्रतिपादकागमवत्। ततः सिद्धमसर्वगतद्रव्यत्वमात्मनः क्रियावत्वं साधयत्येव।

हां जो ! यह हमसे कहा गया आगमवाक्य अप्रमाण नहीं है, क्योंकि सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंके उत्थित होनेकी यहां सम्भावना नहीं है। जो ज्ञान सर्वदेश, सर्वकाल, और सर्वजीव सम्बन्धी बाधाओंसे रहित है वह प्रमाण स्वरूप है। जैसे कि आत्मा, आकाश, परमाणु आदि द्रव्योंके प्रतिपादन करने वाले आगम हम तुम दोनों या लौकिक और परीक्षकोंको प्रमाण हैं। तिस कारण कालसे हुए असिद्ध दोषको और आकाशसे हुए व्यभिचारको दूर करके आत्माको अव्यापक द्रव्य-पना सिद्ध होगया। वह हेतु आत्माके क्रियावान्पनेको सिद्ध करा ही देता है।

कालाणुनानैकान्तिकमिति चेन्न, तत्रासर्वगतद्रव्यत्वस्याभावात्। सर्वगतद्रव्यत्वप्रतिषेधे हि तत्सदृशेऽन्यत्र सकृज्ज्ञानादेशसम्बन्धिनि सम्प्रत्ययो न पुनर्निरंशे कालाणौ। " नञ्जिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिरिति वचनात्, प्रसज्यप्रतिषेधानाश्रयणात्।

असर्वगतद्रव्यपना हेतुसे क्रियावान्पनेको सिद्ध कर देनेमें कोई नैयायिक कालपरमाणुओंसे व्यभिचार देता है। अर्थात् कालाणुओंमें अव्यापक द्रव्यपना हेतु विद्यमान है, किन्तु जैनमतके भी अनुसार उन कालाणुओंमें क्रियारूप साध्य नहीं माना गया है। अतः असर्वगत द्रव्यपना हेतु अनै-कान्तिक हेत्वाभास है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस

कालाणुमें हेतु ही नहीं रहता है, हेतुके न रहनेपर साध्य यदि न रहा तो व्यभिचार दोष नहीं है। असर्वगतद्रव्यपनेमें व्यापक द्रव्यपनेका अभाव किया गया है। यहां नञ्का अर्थ प्रसज्य नहीं, किन्तु उससे भिन्न उसके सदृश पदार्थको ग्रहण करनेवाला पर्युदास है। तभी तो सर्व व्यापक द्रव्य होनेके निषेध करनेपर उसके सदृश अन्य एक समय नाना देशों (सर्वत्र नहीं किन्तु बहुतसे) में सम्बन्ध करने वाले पदार्थमें ज्ञान होता है। किन्तु फिर सर्वथा अंशोंसे रहित माने गये कालाणुओंमें ज्ञान नहीं होता है। भावार्थ—यहां परिमाणके निषेध करनेपर मध्यम परिमाण लिया जाता है। अणु परिमाण नहीं। यह परिभाषारूपसे वचन समुचित है कि नञ्के समान पर्युदास पक्षमें उससे भिन्न उसके सदृश अधिकरणमें नियमसे तिसी प्रकार भावरूप अर्थका ज्ञान होता है। यहां भावका सर्वथा निषेध करनेवाले प्रसज्य प्रतिषेधका आश्रय नहीं लिया है। वैशेषिकोंसे माने गये तुच्छ अभावको हम स्वीकार नहीं करते हैं। अतः मध्यम परिमाणसे अवच्छिन्न द्रव्यपना हेतु कालाणुमें नहीं है। अतः साध्यके नहीं रहनेसे व्यभिचार दोष नहीं आता है।

असंख्येयभागादिषु जीवानामिति जीवावगाहस्य नानालोकाकाशप्रदेशवर्तितया वक्ष्यमाणत्वात्। तथा च कतिपयप्रदेशव्यापिद्रव्यत्वादिति हेत्वर्थः प्रतिष्ठितः।

इसी तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थके पांचवें अध्यायमें कहेंगे कि जीव द्रव्योंमेंसे एक जीवकी स्थिति लोकके असंख्यातवें भाग, या संख्यातवें भाग, तीनसौ तेतालीस (३४३) भागोंमेंसे छह, आठ आदि भागोंमें है। केवली समुद्घातकी लोकपूरण अवस्थामें पूर्ण लोकाकाश भी घेर लिया जाता है। फिर भी अलोकाकाशमें जीवके प्रदेश नहीं है। सबसे छोटा सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव घनांगुलके असंख्यातवें भागरूप असंख्यात प्रदेशोंको अवश्य घेर लेता है। इससे कम एक, सौ, पांच सौ, या संख्यात प्रदेशों, में तो कोई जीव नहीं रहता है। इनसे अधिक प्रदेशोंमें ही ठहर सकेगा और लोकसे अधिक अलोकमें कोई जा न सकेगा। अतः जीव सर्वव्यापक द्रव्य नहीं है। लोकाकाशके अनेक प्रकार असंख्यात प्रदेशोंमें ही जीवका अवगाह होना वर्त रहा है, ऐसा आगे कहा जावेगा। तिस कारण हमारे असर्वगतद्रव्यपने हेतुका कितने ही प्रदेशोंमें व्याप्त होनेवाला द्रव्यपना यह अर्थ हमने प्रतिष्ठित किया है। व्याख्यान करनेसे पदार्थकी विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है। असर्वगत द्रव्यपनेसे सर्व अनन्तप्रदेशोंमें ठहरने और एक ही प्रदेशमें ठहरनेका निवारण कर दिया जाता है।

न च कालाणुः स्याद्वादिनां कतिपयप्रदेशव्यापिद्रव्यं यतस्तेन हेतोर्व्यभिचारः। कालादन्यत्वे सत्यसर्वगतद्रव्यत्वादिति स्पष्टं साधनमव्यभिचारि वाच्यमिति चेन्न, किंचिदनिष्टमीदृगर्थस्य हेतोरिष्टत्वात्। परेषां तु कालस्य सर्वगतद्रव्यत्वेनाभिप्रेतत्वात्तेन व्यभिचारचोदनस्यासम्भवाद्वार्तिके तथा विशेषणाभावः।

स्याद्वादियोंके यहां एक ही प्रदेशमें रहनेवाली कालाणुको कुछ संख्यात या असंख्यात प्रदेशोंमें व्यापनेवाला द्रव्य नहीं माना है, जिससे कि उस कालाणुसे असर्वगतद्रव्यपने हेतुका व्यभिचार हो

जावे। कोई झंझटोंसे डरनेवाला अतिवृद्ध पुरुष यहां कहता है कि नञ्का अर्थ आपको पर्युदास करना ही पडता है। इससे यही अच्छा है कि हेतु दलमें कालद्रव्यसे भिन्नपना होते हुए असर्वगत द्रव्यपना इस प्रकार व्यभिचार दोषसे रहित समीचीन हेतुका स्पष्टरूपसे निरूपण कर दिया जावे तो अच्छा है। ऐसे कहनेपर तो गम्भीर आचार्य महाराज कहते हैं कि इसमें हमको कोई अनिष्ट नहीं है। जो जो कालसे भिन्न अव्यापक द्रव्य हैं वे वे क्रियावान् हैं, इस प्रकार हेतुका अर्थ हमको अभीष्ट है। सम्भव है कभी पुद्गलको भी पक्षकोटिमें डाल दिया जावे तो पुद्गलपरमाणुमें भी हेतु रह गया। अतः भागासिद्ध होनेकी सम्भावना नहीं रही, चलो! अच्छी बात हुयी। दूसरे नैयायिक और वैशेषिकोंके यहां तो कालको सर्व व्यापकद्रव्य इष्ट किया है, इस कारण तिस कालसे व्यभिचार देनेकी उनके द्वारा प्रेरणा करना असम्भव है। तभी तो इस सूत्रकी पैंतालीसवीं (४५) वार्तिकमें तैसा कालभिन्नत्व विशेषण हमने नहीं दिया है। केवल असर्वगत द्रव्यपनेसे आत्मामें क्रियाको सिद्ध कर लिया है। आत्मामें देशसे देशान्तरको जानारूप क्रिया विद्यमान है। रही पुद्गलपरमाणुमें क्रिया सिद्ध करनेकी बात, सो दूसरे हेतुओंसे क्रिया सिद्ध कर दी जावेगी। एक समयमें एक परमाणु मन्द गतिसे एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशतक ही जाता है और तीव्र गतिसे चौदह राजू चला जाता है।

एवं च निरवद्यात्साधनादात्मनः क्रियावत्त्वसिद्धेः कायादिक्रियारूपोऽस्यास्रवः प्रसिध्यत्येव, कायालंबनाया जीवप्रदेशपरिस्पन्दनक्रियायाः कायास्रवत्वाद्वागालम्बनाया वागास्रवत्वान्मनोवर्गणालम्बनाया मानसास्रवत्वात्।

तथा इस प्रकार निर्दोष हेतुसे आत्माके क्रियावान्पना सिद्ध होजानेके कारण इस आत्माका शरीर आदि यानी शरीर, वचन और मनकी क्रियारूप आस्रवतत्त्व प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो ही जाता है। शरीर या स्थूल शरीरके उपयोगी आहारवर्गणा अथवा सूक्ष्म शरीरके उपयोगी कार्माण-वर्गणाको अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुयी आत्माके प्रदेशोंकी कम्परूप क्रियाको कायास्रव कहते हैं। वचन या भाषावर्गणाको अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुयी आत्माके प्रदेशकम्परूप क्रियाको वचनास्रव कहते हैं और संचित या आनेवाली मनो वर्गणाका अवलम्ब लेकर उत्पन्न हुए आत्मप्रदेशकम्पको मानस आस्रव कहते हैं। इस प्रकार स्थूलरूपसे तीन योग और व्याख्यानसे श्रेणीके असंख्यातमें भागरूप असंख्यात योग आस्रवतत्त्व हैं। इस आस्रवतत्त्वका श्रद्धान करना मोक्षकेलिये अति उपयोगी है।

बन्धः पुंधर्मतां धत्ते द्विष्टत्वान्न प्रधानके।
केवलेऽसम्भवात्तस्य धर्मोऽसौ नावधार्यते॥ ४६॥

अब बन्ध तत्त्वका विचार करते हैं कि बन्ध पदार्थ पुरुषके धर्मपनेको धारण करता है, यानी बन्ध आत्माका धर्म (भाव) है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि वह बांधनेवाले [आत्मा] और बन्धने योग्य

[कर्म] इन दो में रहता है [हेतु]। जैसे कि विभाग, द्वित्व संख्या, पृथक्त्व ये भाव दो आदि पदार्थोंमें रहते हैं (दृष्टांत)। सांख्योंके मतानुसार केवल [अकेले] प्रधान में ही उस बन्धका रहना असम्भव है। अतः वह बन्ध उस प्रधानका ही धर्म है ऐसा अवधारण (एवकार) नहीं किया जा सकता है। अर्थात् पुद्गल और जीवात्मा इन दोनोंका धर्मबन्धतत्त्व है, अकेले पुद्गल (प्रकृति) का नहीं।

न हि प्रधानस्यैव धर्मो बन्धः सम्भवति तस्य द्विष्ठत्वादिति। जीवस्यापि धर्मः सोवधार्यते सर्वथा पुरुषस्य बन्धाभावे बन्ध फलानुभवनायोगात्।

जब कि अकेली सत्त्वरजस्तमोगुणरूप प्रकृतिका ही धर्म बन्धतत्त्व नहीं सम्भवता है, क्योंकि वह दो में रहता है, इस कारण जीवका भी वह धर्म है ऐसा निर्णय कर लेना चाहिये। यदि सांख्य मती सभी प्रकारोंसे आत्माके बन्ध होना न मानेंगे यानी आत्माको जलसे कमलपत्रके समान निर्लेप मानते हुए प्रकृतिके ही बन्ध कर्त्तापन, ज्ञान, और सुखकी व्यवस्था करेंगे तो प्रकृतिको ही बन्धके फलका अनुभव होगा। आत्माको बन्ध फलका अनुभव नहीं हो सकेगा, यानी सांसारिक भोगोंका भोक्ता आत्मा न हो सकेगा।

बन्धवत्प्रकृतिसंसर्गाद्बन्धफलानुभवनं तस्येति चेत्, स एव बन्धविवर्तात्मिकया प्रकृत्या संसर्गः पुरुषस्य बन्धः इति सिद्धः कथञ्चित्पुरुषधर्मः संसर्गस्य द्विष्ठत्वात्।

बन्धसे युक्त होरही प्रकृतिका आत्माके साथ संसर्ग हो जानेके कारण उस आत्माको भी बन्ध फलका अनुभव होगा। क्योंकि नीति भी है कि " संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति " अर्थात् दोषोंके संसर्गसे दोष और गुणोंके संसर्गसे गुण अन्य आत्माओंमें भी हो जाते हैं। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय रूप प्रकृतिका संसर्ग आत्मासे हो रहा है। अतः बन्धफलका संचेतन आत्माके माना गया है, यदि कपिल ऐसा कहेंगे तब तो हम कहते हैं कि बन्धपर्यायसे तदात्मक परिणमी हुयी प्रकृतिके साथ पुरुषका जो संसर्ग है वही तो बन्धतत्त्व है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि वह संसर्गरूप बन्ध पदार्थ किसी न किसी प्रकारसे पुरुषका भी धर्म है, क्योंकि संसर्ग दो में रहा करते हैं, दोसे कमतीमें नहीं। एक तीर (किनारे) की कोई नदी नहीं हो सकती है। यों मुमुक्षुको बन्ध तत्त्वकी प्रतीति करना भी अत्यावश्यक है।

संवरो जीवधर्मः स्यात् कर्तृस्थो निर्जरापि च।
मोक्षश्च कर्मधर्मोपि कर्मस्थो बन्धवन्मतः ॥ ४७ ॥
धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तभेदमितीरितम्।
श्रद्धेयं ज्ञेयमाध्येयं मुमुक्षोर्नियमादिह ॥ ४८ ॥

संवरतत्त्व और निर्जरातत्त्व ये दोनों भी जीवके धर्म हैं। ये दोनों अपने कर्त्ता आत्मामें ठहरते हैं, कर्ममें नहीं। आत्माके गुप्ति, समिति, तपस्या, शुक्लध्यान, क्षपकश्रेणीरूप भाव ही संवर

और निर्जरा हैं, वे आत्माके ही परिणाम हैं। पुद्गलके नहीं। अथवा संवर तो आत्माका ही धर्म है। किन्तु निर्जरा तत्त्व तो आत्मा और कर्म दोनोंमें रहनेवाला धर्म है। आत्मासे बिछुडे हुए कर्मोंमें भी निर्जरा रहती है, द्रव्यनिर्जरा तो विभागरूप ही है। तथा मोक्षतत्त्व जीवका धर्म है और बन्धके समान पौद्गलिक कर्ममें रहनेवाला भी धर्म माना गया है। भावार्थ—जैसे बन्ध, जीव और पुद्गल दोनोंमें रहता है। तैसे ही मोक्ष भी जीव और पुद्गल दोनोंमें रहनेवाला भाव है। इस प्रकार धर्मी और धर्मस्वरूप तत्त्वोंके सात भेद सूत्रमें कहे गये हैं। यहां मोक्षमार्गके प्रकरणमें मोक्षके चाहनेवाले जीवको उन सातोंका नियमसे श्रद्धान करना चाहिये और सातों तत्त्वोंका समीचीन ज्ञान करना चाहिये। तथा उन सात ही तत्त्वोंका भले प्रकार ध्यान (चारित्र) करना चाहिये।

जीवाजीवौ हि धर्मिणौ तद्धर्मास्त्वास्रवादय इति धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तविधमुक्तं मुमुक्षोरवश्यं श्रद्धेयत्वाद्विज्ञेयत्वादाध्येयत्वाच्च सम्यग्दर्शनज्ञानध्यानविषयत्वान्निर्विषयसम्यग्दर्शनाद्यनुपपत्तेस्तद्विषयान्तरस्यासम्भवात्। सम्भवे तत्रैवान्तर्भावात्।

जिसमें अनेक गुण, पर्याय, आपेक्षिकधर्म, अविभागप्रतिच्छेद ये स्वभाव रहते हैं वह धर्मी है। जो धर्मीमें वर्तता है वह धर्म है। इन सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव दो तत्त्व तो नियम से धर्मी हैं। तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पांच तो उन जीव तथा अजीवोंके धर्म हैं। इस प्रकार दो धर्मी स्वरूप और पांच धर्मस्वरूप ये सात प्रकारके तत्त्व उमास्वामी महाराजने कहे हैं। मोक्ष चाहनेवाले भव्यजीवको इन्हीं सात तत्त्वोंका अवश्य श्रद्धान करना चाहिये। और समीचीन ज्ञान करना चाहिये। तथा आत्मनिष्ठारूप चारित्रके द्वारा इन्हींका ध्यान करना चाहिये। क्योंकि ये ही श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान करने योग्य हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और ध्यानके विषय ये सात तत्त्व हैं। विषयोंके विना सम्यग्दर्शन आदिक बन नहीं सकते हैं। जैसे कि कोई खा रहा है, वहां खाने योग्य पदार्थ अवश्य है। पका रहा है, वहां पकने योग्य पदार्थ अवश्य है। तैसे ही श्रद्धान करना, जानना और ध्यान करनारूप क्रियाओंके विषयभूत पदार्थ जीव आदिक सात हैं। उन सातोंसे अतिरिक्त अन्य विषयोंका असम्भवपना है। यदि पुण्य, पाप गुप्ति, आदिको निराला मानने की सम्भावना भी की जावे सो उनका भी उन सातोंमें ही अन्तर्भाव हो जावेगा। सातसे भिन्न तत्त्वोंके माननेकी आवश्यकता नहीं पडेगी।

न च तत्त्वान्तराभावस्तत्त्वमष्टममासजेत्।
सप्ततत्त्वास्तितारूपो ह्येषोऽन्यस्याप्रतीतितः ॥ ४९ ॥
तत्त्वं सतश्च सद्भावोऽसतोऽसद्भाव इत्यपि।
वस्तुन्येव द्विधा वृत्तिर्व्यवहारस्य वक्ष्यते ॥ ५० ॥

यथा हि सप्तसु सत्त्वेषु नेदं [illegible]।
तथा सदन्तरे सिद्धमसत्त्वेन प्रवेदनम् ॥ ५१ ॥
असद्रूपप्रतीतिर्हि नावस्तुविषया क्वचित्।
भावांशविषयत्वात् स्यात् सितत्वादिप्रतीतिवत् ॥ ५२ ॥
भावांशो सत्सदाभावविशेषणतयेक्षणात्।
सर्वथाभावनिमुर्क्तस्याद्दृष्टेः पाटलादिवत् ॥ ५३ ॥

कोई वादी यहां प्रसंग देता है कि तत्त्व सात ही हैं, तत्त्वान्तर नहीं हैं। ऐसी दशामें अन्य तत्त्वोंका अभावरूप एक आठवें तत्त्वको माननेका प्रसंग आवेगा। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह आपादन करना ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे जहां घट है, वहां घटसे अतिरिक्त पट आदि पदार्थोंका अभाव भी है। वह पट आदिकोंका अभाव घटस्वरूप ही है, तैसे ही तत्त्वान्तरोंका अभाव भी सात तत्त्वके अस्तित्वस्वरूप ही है। उनसे अन्य यह तत्त्वांतराभावरूप आठवां तत्त्व नहीं प्रतीत होता है। इस कारण सात ही तत्त्व सिद्ध हुए। सत् पदार्थके विद्यमान भावको तत्त्व कहते हैं। असत् पदार्थका असत्पना भी यही है। इससे न्यारा नहीं। अकेले घटके विद्यमान होनेपर अन्य पट आदिकोंका असद्भाव घटसत्तारूप ही है, अतिरिक्त नहीं। दोनों प्रकारके व्यवहारकी प्रवृत्ति वस्तुमें ही कही जावेगी। अवस्तुमें या तुच्छ अभावमें नहीं। जैसे ही इसी सत् पदार्थमें सत्पने करके ज्ञान होना निर्दोषरूपसे सिद्ध है तैसे ही अन्य दूसरे सत्में निर्दोषरूपसे असत्पने करके अच्छा ज्ञान होना भी सिद्ध है, यानी प्रकृत घट सत्पनेकी अपेक्षासे सत् है। वही अन्य सत्पदार्थोंकी अपेक्षासे असत्रूप है। वैशेषिकोंके समान हमारे यहां अभाव पदार्थ स्वतन्त्रतत्त्व नहीं है। किन्तु भावोंका विशेषण है। तभी तो कहीं भी असत् आकारवाली प्रतीतिका विषय अवस्तु नहीं माना गया है। किन्तु अभावोंको जाननेवाली प्रतीति भी भावके अंशोंको ही विषय करती (जानती) है। जैसे कि शुक्लपना, पण्डितपना, धनाढ्यपना आदिको जाननेवाली प्रतीतियां हैं। अर्थात् शुक्ल वस्तुमें काले, नीले आदि वर्णोंका अभाव है, वह शुक्लस्वरूप ही है। अन्य अभावरूप कोई न्यारा तुच्छ पदार्थ नहीं। तथा मूर्खपना, मत्तपना, आदिका अभाव पण्डितपनारूप ही है। अन्य स्वतन्त्र अभावतत्त्व नहीं। और दरिद्रपने, रिक्तताका अभाव धनाढ्यपना रूप ही है। स्वतन्त्रतत्त्व नहीं। अथवा शुक्लता, मधुरता, सुगन्ध आदि धर्म जैसे भावके विशेषण ही देखे जा रहे हैं, तैसे ही असत् (अभाव) भी भावपदार्थका अंश है। असत् भी सदा सत् (भाव) का विशेषण होकर देखा (जाना) जा रहा है। जैसे भूतलमें घटाभाव, पुद्गलमें ज्ञानका अभाव, आत्मामें रूपका अभाव। यहां भाव पदार्थ विशेष्य हैं और अभाव पदार्थ विशेषण हैं। विशेष्यको अपने अनुसार रंगता हुआ विशेषण विशेष्यके साथ तदात्मक हो

जाता है। सभी प्रकार भावोंसे रहित होता हुआ स्वतन्त्र अभाव पदार्थ देखा नहीं गया है। जैसे कि श्वेत और लाल रंगसे मिला हुआ पाटल रंग या हरा पीला रंग, खट्टा मीठा रस, सुगन्ध, शीत उष्ण स्पर्श ये स्वभाव सभी प्रकार भावोंसे रहित होते हुए नहीं देखे जाते हैं। अतः सात तत्त्वोंके विशेषण रूप अभाव पदार्थ उन सातोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। आठवें, नौवें आदि अतिरिक्त तत्त्व माननेकी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् विशेषण और विशेष्यका कथञ्चित् अभेद होता है। संयुक्त अवस्थामें दण्डीपनसे पुरुषपनका अभेद है। सर्व कार्य द्रव्यों या पर्यायोंके अनादिपनेका प्रसंग तथा अनन्तपनेका प्रसंग और एक द्रव्यको अन्य द्रव्यरूप हो जानेका प्रसंग, एवं एक द्रव्यजातिकी पर्यायोंका परस्पर संकर होनेका प्रसंग आवेगा, इन प्रसंगोंके निवारणार्थ तत्त्वोंमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये प्रतिजीवी गुण स्वरूप अभाव अंश माने जाते हैं। परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिपन सिद्ध करनेमें भी इनका उपयोग है। वस्तुके अंशभूत अभावोंकी भित्तिपर नास्तित्व धर्म कल्पित किया जाता है। अनुजीवी, प्रतिजीवी, पर्यायशक्तिरूप और आपेक्षिक (वस्तुकी भित्तिपर कल्पित) धर्म इन चार प्रकारके गुणोंका समुदायरूप (पिण्ड) ही वस्तु है। प्रमेयकमलमार्तण्डमें अग्निके दाहकत्व, पाचकत्व, आदि पर्यायशक्तिरूप गुण और आपेक्षिक स्थूलपना, छोटापना आदि गुणोंको भी वस्तुभूत माना है। युक्तियोंसे ये बातें अन्य न्याय शास्त्रोंमें भी पुष्ट की गयी हैं।

न ह्यभावः सर्वथा तुच्छः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते यतोस्य सर्वदा भावविशेषणतया दर्शनमप्रसिद्धं स्यात् तत्प्रसिध्यदभावस्य भावांशत्वं साधयति सितत्वादिवत्। ततो न क्वचिदवस्तुनि कस्यचिदसत्त्वप्रतीतिर्वस्तुन्येव तत्प्रतीतेस्तत्त्वान्तराभावस्य सप्ततत्त्वविप्रकर्षभावस्य सिद्धेरन्यमततत्त्वासंभवनैवेति सर्वसंग्रहः।

वैशेषिकोंके द्वारा माना गया सभी प्रकारोंसे तुच्छ (निरुपाख्य) स्वतन्त्र अभाव पदार्थ प्रत्यक्षप्रमाणसे नहीं जाना जाता है, और अनुमान प्रमाणसे भी नहीं ज्ञात होता है। जिससे कि इस अभावको सदा भावका विशेषण होकर दीखना अप्रसिद्ध या असिद्ध हो सके। भावार्थ—स्वतंत्र अभाव तत्त्व जाना नहीं जा रहा है। जो कुछ ज्ञात हो रहा है वह अभाव तो भावोंका विशेषण होकर ही दीख रहा है। अभावको वह भाव विशेषणपना सिद्ध होता हुआ उसको भावका अंशपना सिद्ध करा देता है। जैसे कि शुक्ल पटमें शुक्लता पटद्रव्य (अशुद्ध) का विशेषण है। या गुड, खांड और मिश्रीमें मधुरता, मधुरतमता ये विशेषण गुड, खांड, मिश्रीके होते हुए उनके ही अंश हैं, तिस कारण सिद्ध हुआ कि किसी भी अवस्तु [तुच्छ] में किसी प्राणीको असत्पनेकी प्रतीति नहीं होती है। यानी अश्वविषाणके समान सर्वथा असत् माने गये अभाव पदार्थमें असत्पनेकी प्रतीति नहीं होती है। किन्तु वस्तुमें ही असत्पनेकी प्रतीति होती है। भावितीर्थङ्कर श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि " प्रक्रियाके विपर्यय करनेसे वस्तु ही अवस्तु हो जाती है " " वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् "। अतः तत्त्वान्तरोंके अभावको सात तत्त्वोंमें ही

व्यवधायकरूपसे पडे हुए भावांशपनेकी सिद्धि है। वह अतिरिक्त तत्त्व नहीं है और अन्य नैयायिक, वैशेषिक आदिके मन्तव्यानुसार माने हुए तत्त्वोंकी सम्भावना तो है ही नहीं। इस प्रकार सभी वास्तविक तत्त्वोंका इन सातोंमें ही संग्रह हो जाता है।

प्रमाणाद्य एव स्युः पदार्था षोडशेति तु।
ब्रुवाणानां न सर्वस्य संग्रहो व्यवतिष्ठते ॥ ५४ ॥
तत्रानध्यवसायस्य विपर्यासस्य वाऽगतेः।
नास्याप्रमाणरूपस्य प्रमाणग्रहणाद्गतिः ॥ ५५ ॥
संशीतिवत्प्रमेयान्तर्भावे तत्त्वद्वयं भवेत्।
संशयादेः पृथग्भावे पृथग्भावोऽस्य किं ततः ॥ ५६ ॥

जैनोंके अनुसार माने गये सात तत्त्वोंमें तो सर्व पदार्थोंका अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु प्रमाण आदिक ही सोलह पदार्थ है इस प्रकार कहनेवाले नैयायिकोंके यहां तो सर्व ही तत्त्वोंका संग्रह होना व्यवस्थित नहीं हो पाता है। नैयायिकोंने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ माने हैं। तिनमें मिथ्याज्ञानका एक भेद संशय ही लिया है, उससे अकेले संशयकी ज्ञप्ति हो सकती है। अनध्यवसाय और विपर्ययज्ञानकी ज्ञप्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात् दो मिथ्या ज्ञानोंका संग्रह नहीं हुआ। प्रमाणके ग्रहणसे तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण पकडे जा सकते हैं। अप्रमाण रूप अनध्यवसाय और विपर्यासका प्रमाण तत्त्वके कहनेसे संग्रह या परिज्ञान नहीं हो सकता है, जैसे कि संशयका प्रमाणमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। तभी तो संशयको स्वतन्त्र तीसरा पदार्थ माना है। यदि अनध्यवसाय और विपर्ययका प्रमेयतत्त्वमें अन्तर्भाव करोगे, तब तो प्रमाण और प्रमेय दो ही तत्त्व हो जावेंगे। सभी तत्त्वोंका इनमें गर्भ हो सकता है। शिष्यकी बुद्धिको विशद करनेके लिये यदि संशय, प्रयोजन आदिको पृथक् तत्त्वपने करके निरूपण करोगे तो क्या अनध्यवसायका या विपर्ययका उन संशय आदिकसे भेदभाव है? भावार्थ—शिष्यकी व्युत्पत्ति बढानेके लिये विपर्यय अनध्यवसायका भी तत्त्वोंमें स्वतन्त्ररूपसे निरूपण करना चाहिये। अथवा संशयके समान अनध्यवसाय और विपर्ययका भी पृथग्भाव रूपसे क्यों न निर्देश किया जावे?।

प्रमाणविधिसामर्थ्यादप्रमाणगतौ यदि।
तत्रानध्यवसायादेरन्तर्भावो विरुध्यते ॥ ५७ ॥

संशयस्य तदात्रैव नान्तर्भावः किमिष्यते ।
प्रमाणाभावरूपत्वाविशेषात्तस्य सर्वथा ॥ ५८ ॥

प्रमाण तत्त्वकी विधिके सामर्थ्यसे अप्रमाण ज्ञानोंकी निषेध्यकोटिमें स्वयं अर्थापत्तिसे इति हो जाती है, यदि ऐसा कहोगे यानी प्रमाणतत्त्वके कहनेसे ही अप्रमाणोंका अन्तर्भाव करोगे, तब तो उस प्रमाणमें अनध्यवसाय, विपर्ययरूप अप्रमाण ज्ञानोंका अन्तर्भाव होना विरुद्ध पडता है। सम्यग्ज्ञानमें मिथ्याज्ञानका प्रवेश करना कैसे भी ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है कि तब तो इस प्रकरणमें ही संशयका भी अन्तर्भाव क्यों नहीं माना जाता है। क्योंकि नैयायिकके मतानुसार अप्रमाणको प्रमाणमें प्रविष्ट किया जारहा है। सभी प्रकारोंसे प्रमाणोंका अभाव-रूपपना उस संशयको अन्तररहित समान है। भावार्थ—जैसे ही विपर्यय, अनध्यवसाय अप्रमाणरूप हैं वैसे ही संशय भी अप्रमाणरूप है। फिर क्या कारण है कि संशयका तत्त्वोंमें पृथक् निरूपण किया जारहा है और शेष मिथ्याज्ञानोंका नहीं।

प्रमाणवृत्तिहेतुत्वात् संशयश्चेत् पृथक्कृतः ।
तत एव विधीयेत जिज्ञासादिस्तथा न किम् ॥ ५९ ॥

प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका कारण संशय है। अर्थात् पर्वत वह्निवाला है या नहीं। ऐसा संशय होनेपर अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। किसी पदार्थका तरतमरूप करके प्रत्यक्ष करना, विशेष विशेषांशोंका निर्णय करना, अथवा ईहाज्ञान करना, इन ज्ञानोंके पूर्वमें संशय वर्तता है। आप जैनोंने भी सप्तभंगीके उत्थान होनेमें संशयको कारण माना है। अतः प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका मुख्य कारण होनेसे संशयका पृथक् निरूपण किया है। शेष दो मिथ्याज्ञानोंका प्रमाण तत्त्वके अभावमें अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे कि वैशेषिक मतके अनुसार तेजोद्रव्यके अभावमें अन्धकार का संग्रह हो जाता है। यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारण यानी प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका मुख्य हेतु होनेसे ही जिज्ञासा, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति, प्रश्न आदिका निरूपण भी तैसे ही संशयके सदृश क्यों नहीं किया जावे ? प्रमाणकी प्रवृत्तिमें संशयसे अधिक जिज्ञासाको कारणपना प्रसिद्ध है, इसको हम पूर्व प्रकरणोंमें समझा चुके हैं।

अभावस्याविनाभावसम्बन्धादेरसंग्रहात् ।
प्रमाणादिपदार्थानामुपदेशो न दोषजित् ॥ ६० ॥

वैशेषिकोंके सात पदार्थोंमें अभाव पदार्थको स्वीकार किया है, नैयायिकोंका वैशेषिकोंके साथ मित्रताका सम्बन्ध है। किन्तु दूनेसे अधिक भी पदार्थोंको मान लेनेपर नैयायिकोंके सोलह पदार्थोंमें प्रागभाव आदि अभावोंका संग्रह नहीं हो पाया है। तथा अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति), स्मरण,

सामान्य आदि पदार्थोंका भी सोलह पदार्थोंमें गर्भ नहीं हो सकता है। अतः सम्पूर्ण तत्त्वोंके संग्रह न हो सकनेके कारण नैयायिकोंके प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंका अक्षपाद (गौतम) ऋषिके द्वारा उपदेश देना दोषोंको जीतनेवाला (निर्दोष) नहीं है। अर्थात् सोलह पदार्थोंके माननेमें अधिक कहने और न्यून कहनेका दोष आता है।

द्रव्यादिषट्पदार्थानामुपदेशोऽपि तादृशः।
सर्वार्थसंग्रहाभावादनाप्तोपज्ञमित्यतः ॥ ६१ ॥

कणाद ऋषिके द्वारा कहे गये वैशेषिकोंके द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय-रूप भावात्मक छह पदार्थोंका उपदेश भी तैसा ही है, यानी नैयायिकोंके सोलह पदार्थ सरीखा ही है सातवां पदार्थ तुच्छ अभाव मिलनेपर भी पूर्णता नहीं आती। अतः वह उपदेश सम्पूर्ण पदार्थोंका संग्रह न हो जानेके कारण निर्दोष नहीं है। प्रत्यभिज्ञान, तदात्मक सम्बन्ध, अवच्छेदकत्व, निरूपकत्व, आदि पदार्थोंका अन्तर्भाव न होनेसे प्रतीत होता है कि वह सर्वज्ञ सत्यवक्ता आप्तके आयज्ञान द्वारा उपदिष्ट नहीं है। अतः रथ्यापुरुषके वचन समान आप्तोपज्ञ न होनेसे इस प्रकारका उपदेश मुमुक्षुपुरुषोंको श्रद्धान करने योग्य नहीं है।

सूत्रेऽवधारणाभावाच्छेषार्थस्यानिराकृतौ।
तत्त्वेनैकेन पर्याप्तमुपदिष्टेन धीमताम् ॥ ६२ ॥

यदि नैयायिक और वैशेषिक यों कहें कि हमने तत्त्वोंकी संख्या करनेवाले सूत्रोंमें उन्हीं ही उतने ही तत्त्वोंका अवधारण करनेवाला एवकार तो नहीं लगा दिया है। अतः बचे हुए अविनाभाव, जिज्ञासा, और प्रत्यभिज्ञान, तादात्म्य, निष्ठत्व, मोक्ष आदि पदार्थोंका निराकरण नहीं हो पाता है। भावार्थ—जैनोंके परिणामिक भावोंमें अन्य कर्तृत्व, प्रदेशवत्त्व, अस्तित्व, नित्यत्व आदि भावोंका जैसे समुच्चय हो जाता है, तैसे ही हमारे यहां भी कोई पदार्थ शेष नहीं रहता है। अनन्त पदार्थोंकी गिनती कहांतक गिनायी जावे। जगदीश पण्डितजीने स्वरचित जागदीशीमें यही प्रगट किया है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो एक ही तत्त्वके उपदेश देनेसे बुद्धिमानोंको पूर्णता प्राप्त हो जावेगी। सोलह और छह सात तत्त्वोंको बढाकर कहनेसे कोई प्रयोजन नहीं सधता है। पदार्थ, या भाव कह देनेसे अथवा प्रमाणतत्त्व या द्रव्यतत्त्व कहनेसे ही अवधारण न करते हुए अखिल प्रमेय, संशय आदि या गुण, कर्म आदिका समुच्चय हो जावेगा।

प्रमाणादिसूत्रे द्रव्यादिसूत्रे वावधारणाभावादनध्यवसायविपर्ययजिज्ञासाद्यविनाभावविशेषणविशेष्यभावसागभावादयः संगृहीता एवेति सर्वसंग्रहे प्रमाणं तत्त्वं द्रव्यं तत्त्वमिति

चोपदेशः कर्तव्यस्तत्रानवधारणादेव प्रमेयादीनां गुणादीनां वानध्यवसायादिवत्संग्रहोपपत्तेरित्याकुलत्वादनाप्तमूल एवायं प्रमाणाद्युपदेशो द्रव्याद्युपदेशो वा प्रकृत्याद्युपदेशवत्।

" प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः " इस न्यायदर्शनके सूत्रमें और " धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् " इस कणाद ऋषिसे कहे गये वैशेषिक दर्शनके सूत्रमें इतने ही तत्त्वोंका अवधारण (एवकार) नहीं कर दिया है। अतः नैयायिकोंके यहां अनध्यवसाय, विपर्यय, जिज्ञासा, प्रश्न आदिक तथा अविनाभाव, विशेष्यविशेषण भाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि पदार्थोंका संग्रह किया जाचुका हो ही जाता है। ऐसे ही वैशेषिकोंके यहां भी अवच्छेदकत्व, निरूपकत्व, मोक्ष, बन्ध, आदिका भी संग्रह हो ही जाता है। यदि इस प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वोंका संग्रह करोगे तब तो आप नैयायिकोंको प्रमाणतत्त्व है ऐसा ही उपदेश करना चाहिये। और वैशेषिकोंको द्रव्यतत्त्व है ऐसा उपदेश देना चाहिये। क्योंकि उन दोनों सूत्रोंमें एक ही तत्त्वका नियम करना रूप अवधारण नहीं करनेसे ही प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदिका और वैशेषिकोंके गुण, कर्म, सामान्य आदिका संग्रह होना बन सकता है। जैसे कि अनध्यवसाय, विपर्यय आदिका आपने संग्रह कर लिया है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि उपदेश देते समय आपके दर्शनकार व्याकुल (घबडाये हुए) हैं। आकुलित होनेसे दिया गया यह प्रमाण आदिकका उपदेश और द्रव्य आदिकका उपदेश दोनों ही आप्त पुरुषको मूल मानकर नहीं हुए हैं। जैसे कि कापिल ऋषिके द्वारा प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियां, पांच भूत, और एक आत्मा इन पच्चीस (२५) तत्त्वोंका दिया गया उपदेश सर्वज्ञ सत्यवक्ताको मूल कारण मानकर नहीं हुआ है। सूक्ष्म, विप्रकृष्ट, व्यवहित इन अतीन्द्रिय तत्त्वोंका उपज्ञ (आद्य ज्ञान) सर्वज्ञको ही होता है। वे सम्पूर्ण पदार्थोंका केवलज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष कर भव्यजीवोंको उपदेश देते हैं। अर्हन्तदेवके कहे हुए सात तत्त्वोंमें कोई वास्तविक पदार्थ छूटता नहीं है। अतः जीव और अजीव आदि सात तत्त्वोंका उपदेश ही सर्वज्ञमूलक है। शेष नहीं।

नन्वेवं सप्ततत्त्वार्थवचनेनाप्यसंग्रहात्।
रत्नत्रयस्य तद्ध्येऽप्ययुक्तत्वमितीतरे ॥ ६३ ॥

यहां किसीकी शंका है कि इस प्रकार तो जीव आदिक सात तत्त्वार्थोंके कथन करनेसे भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रयका संग्रह नहीं हो पाता है। इस कारण सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आये हुए वे श्रीउमास्वामीके वचन भी अयुक्त हैं। यदि ये आप्त मूलक होते तो अत्यावश्यक रत्नत्रय तत्त्वका असंग्रह क्यों हो जाता ? इस प्रकार अन्य कोई विद्वान् सकटाक्ष कह रहे हैं।

न हि रत्नत्रयं जीवादिष्वन्तर्भवत्यद्रव्यत्वादास्रवादित्वाभावच्च । तस्य तत्त्वान्तरत्वे कथं सप्तैव तत्त्वानि यतो जीवादिसूत्रेण सर्वतत्त्वासंग्रहात्, तदप्ययुक्तं न भवेदिति केचित् ।

उक्त शंकाको व्याख्याके द्वारा कोई पुष्ट कर रहे हैं कि रत्नत्रयका जीव आदिक तत्त्वोंमें अन्तर्भाव नहीं हो पाता है । क्योंकि वे द्रव्य नहीं है और आस्रव आदि रूपपना भी उस रत्नत्रयमें नहीं है । अर्थात् आपने रत्नत्रयको आत्माके स्वाभाविक परिणाम माना है । अतः द्रव्यरूप जीव और पुद्गल, धर्म आदि अजीव द्रव्योंमें रत्नत्रयरूपी भाव गर्भित नहीं हो सकते हैं । तथा योग, गुप्ति, तपः, रुकना, निर्झरना, क्षय होना रूप न होनेसे आस्रव आदिरूप भी रत्नत्रय नहीं है । यदि उस रत्नत्रयको आप जैन लोग सात तत्त्वोंसे निराला तत्त्व स्वीकार करोगे तो सात ही तत्त्व हैं यह सिद्धान्त कैसे ठहर सकेगा ? जिससे कि "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" इस सूत्र करके सम्पूर्ण तत्त्वोंका संग्रह न हो जानेसे वह आपका सूत्र कहना भी अयुक्त न होवे । भावार्थ—रत्नत्रयका संग्रह न होनेसे आप जैनोंका तत्त्व प्रतिपादक सूत्र भी अयुक्त है । सर्वज्ञोक्त नहीं है । इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं । अब आचार्य कहते हैं कि—

तदसत्तस्य जीवादिस्वभावत्वेन निर्णयात् ।
तथा पुण्यास्रवत्वेन संवरत्वेन वा स्थितेः ॥ ६४ ॥
जीवाजीवप्रभेदानामनन्तत्वेऽपि नान्यता ।
प्रसिद्ध्यत्यास्रवादिभ्य इत्यव्याप्त्याद्यसम्भवः ॥ ६५ ॥

सो शंकाकारका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है । क्योंकि उस रत्नत्रयका जीव तत्त्व, संवर, निर्जरातत्त्व आदिके स्वभावपनेसे निर्णय कर दिया है । अर्थात् जीवद्रव्यके अनन्तगुण, अनन्तानन्त पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, आपेक्षिक धर्म इन सबका अखण्ड पिण्ड ही जीवतत्त्व है । संवर और निर्जरा भी रत्नत्रयसे भिन्न तत्त्व नहीं है । तथा तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग आदि पुण्यप्रकृतियोंका प्रवृत्ति–मार्गमें युक्त होरहे रत्नत्रयवाले जीवके ही आस्रव होता है । अतः पुण्यास्रवरूप तत्त्वपनेसे भी रत्नत्रयका निर्णय अथवा निवृत्तिमार्गमें लगे हुए जीवके संवर तत्त्वपने करके भी रत्नत्रयकी स्थिति हो ही रही है । अतः रत्नत्रय संवररूप है । निर्जरा और मोक्ष भी निश्चय नयसे रत्नत्रयरूप ही है । अतः जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सब रत्नत्रयका ही न्यूनाधिक परिकर है । जीव अजीवके भेद प्रभेद अनन्त हैं तो भी वे आस्रव, बन्ध आदिकोंसे भिन्न होते हुए प्रसिद्ध नहीं हो रहे हैं । जीवोंके अनेक भावोंका आस्रव आदिकमें

अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव आदि दोषोंकी सम्भावना नहीं है।

न हि जीवो द्रव्यमेव पर्याय एव वा येन तत्पर्यायविशेषाः सम्यग्दर्शनादयः तद्ग्रहणेन न गृह्यन्ते, द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवत्वस्याभिप्रेतत्वात्। ततो नाद्रव्यत्वेऽपि रत्नत्रयस्य जीवेऽन्तर्भावाभावः। तथास्रवादित्वाभावोऽप्यसिद्धस्तस्य पुण्यास्रवत्वेन संवरत्वेन च वक्ष्यमाणत्वात् इति नास्रवादिष्वनन्तर्भावः।

श्रीउमास्वामी महाराजके कहे गये सूत्रमें जीवतत्त्वसे जीव द्रव्य ही या जीवकी पर्यायों ही का ग्रहण नहीं है, जिससे कि उस जीवकी विशेष पर्यायरूप सम्यग्दर्शन आदिकोंका जीवके ग्रहणसे ग्रहण न होता। किन्तु द्रव्य और पर्यायोंसे तदात्मक होती हुयी जीव वस्तु जीवतत्त्वसे अभिप्रेत हो रही है। तिस कारण जीव द्रव्यसे कथञ्चित् भिन्न होते हुए भी रत्नत्रय भावोंका जीवद्रव्यमें अन्तर्भाव न होना नहीं बनता है। भावार्थ—जीवके पर्यायस्वरूप रत्नत्रयका जीवतत्त्वमें अन्तर्भाव है। तथा आप द्वारा अभी कहा गया रत्नत्रयको आस्रव आदिपनेका अभाव भी असिद्ध है। क्योंकि उस रत्नत्रयको पुण्यास्रवपने करके और संवरपने करके छठे, सातवें और नौवें अध्यायमें आगे कहनेवाले हैं। इस प्रकार रत्नत्रयका आस्रव आदिकोंमें अन्तर्भाव न होने, यह सिद्धान्त

येऽपि च जीवाजीवयोरनन्ताः प्रभेदास्तेऽपि जीवस्य पुण्यागमस्य हेतवः पापागमस्य वा पुण्यपापागमननिरोधिनो वा तद्बन्धनिर्जरणहेतवो वा मोक्षस्वभावा वा, गत्यन्तराभावात्। इति नास्रवादिभ्योऽन्यतां लभ्यन्ते येनाव्याप्तिरतिव्याप्त्यसम्भवौ तु दूरोत्सारितावेवेति निरवद्यं जीवादिसप्ततत्त्वप्रतिपादकं सूत्रं, ततस्तदाप्तोपज्ञमेव।

तथा जो भी जीव और अजीवके अनन्तभेद प्रभेदरूप तत्त्व हैं, वे सभी जीवके पुण्य आगमनके कारण या जीवके पापास्रवके कारण अथवा पुण्य पाप दोनोंके आगमनको रोकनेवाले, एवं उनकी बन्ध और निर्जराके कारण तथा मोक्षके स्वभावरूप परिणाम भी सब जीव अजीवोंके ही भेद हैं, दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार रत्नत्रयस्वरूप भाव या जीवके अन्य कोई भी वास्तविक भाव इन आस्रव आदिक तत्त्वोंसे भिन्नताको प्राप्त नहीं होते हैं, जिससे कि रत्नत्रयके नहीं संग्रह होनेसे अव्याप्ति दोष होता, तथा "जीवाजीवास्रव" आदि सूत्रमें अतिव्याप्ति और असम्भव दोष तो दूर ही से फैंक (भगा) दिये जाते हैं। इस प्रकार जीव आदिक सात तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाला यह प्रकृत सूत्र निर्दोष होकर सिद्ध हो गया। तिस कारण वह सर्वज्ञके आप्तज्ञान द्वारा ही आम्नायसे चला आया हुआ आचार्य महाराज श्रीउमास्वामीने कण्ठोक्त कहा है।

——=×*×=——

चतुर्थसूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंका संक्षिप्त निर्देशके अनुसार प्ररूपण इस प्रकार है कि मोक्ष चाहनेवाले जीवको श्रद्धान करने योग्य सात ही तत्त्व हैं। तभी तो सर्वज्ञदेवने सातही तत्त्वोंका भाषण किया और उसीके अनुसार श्रीउमास्वामी महाराजने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें सात ही तत्त्वोंका निरूपण किया है। जो कोई मध्यमरुचिवालोंकी अपेक्षासे सात ही तत्त्वोंका उपदेश देना सिद्ध करते हैं वे सूत्रकारके अभिप्रायको अन्तस्तलस्पर्शी होकर नहीं जानते हैं। मध्यम रुचिवालोंके लिए तो दो, छह, दस, तीस, आदि तत्त्वोंका भी सूत्रण हो सकता था। ग्रन्थकारने बडी विद्वत्ताके साथ इस ग्रन्थिको सुलझाया है कि मुमुक्षुको सात ही तत्त्व उपयोगी हैं। दो, छह, नौ आदि नहीं। सातोंके श्रद्धानकी अत्यावश्यकताको पुष्टकर पुण्य, पाप पदार्थोंको बन्ध और आस्रव तत्त्वका ही भेद (विकल्प) इष्ट किया है। केवल अक्षर और मात्राओंके संक्षेपको चाहनेवालों करके माने गये छह, चार तत्त्वोंसे कार्य नहीं चल सकेगा। मोक्षके कारण और बन्धके कारण तत्त्वोंका व्यक्तिमुद्रासे स्वतन्त्र कण्ठोक्त कहना न्याय्य है इसमें गहरा तत्त्व बतलाया है। जीव आदिक शब्दोंकी निरुक्ति करके उनका लक्षण अग्रिम ग्रन्थमें कहा जावेगा ऐसा संतोष देकर द्वन्द्व समासमें पडे हुए जीव आदिकोंका शाब्दबोध प्रक्रियाके अनुसार संगति दिखलाते हुए क्रम सिद्ध किया है। तत्त्वों का उपदेश जीवके लिए ही है। जड प्रकृति, निरन्वय विज्ञान या उसकी कल्पित सन्तानके लिए नहीं हैं। जड शरीरको भी तत्त्वोपदेश लाभदायक नहीं है। चैत्यन्यका चैतन्यमें चैतन्यके लिये तत्त्वोपदेश होता है। इसके पीछे अजीव, आस्रव, आदिके निरूपणमें स्वरस बतलाया है। तत्त्वका निर्दोष लक्षणकर भाव और भाववान्के साथ हुए सामानाधिकरण्यको तर्क द्वारा सिद्ध किया है। विशिष्टाद्वैतवादियोंके परब्रह्मरूप एक जीवतत्त्वके ही एकान्तका विशिष्ट युक्तियोंसे खण्डन कर अनेक जीवोंको सिद्ध करते हुए शुद्धाद्वैतवादियोंके प्रति भी अनेक सन्तानोंको सिद्ध करा दिया है। अद्वैतवादियोंके अनुमान, आगम और प्रत्यक्षका प्रतिविधान कर अनेकत्वको सिद्ध करनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमोंको समीचीनपना दिखलाया है। यदि प्रत्यक्षप्रमाणको वस्तुका सद्भाव साधनेवाला ही माना जावे, निषेधक न माना जावे तो भी कथञ्चित् निषेधकपना उसमें आ ही जाता है। अनेक आत्माओंका विधायकपना भी उनके ही प्रत्यक्षसे चौडेकर दिखला दिया है। दूसरोंके प्रति आत्मतत्त्वको समझानेके लिये प्रशस्त उपाय वचनतत्त्व ही हो सकता है। वह वचन अजीव है। उपेयसे उपाय भिन्न है। चेतनात्मक पदार्थोंका सर्वज्ञ और स्वव्यक्तिके अतिरिक्त किसी अन्य जीवको प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु वचन, प्रतिपाद्यका शरीर, लिपिअक्षर, घट, आदिका अनेक पुरुषोंको बहिरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो रहा है। अतः ये सब

अजीव तत्त्व हैं, जीवात्मक नहीं हैं। अविद्याको भी अविद्या हो जानेसे विद्यापन आजाता है। असत्य यदि असत्य हो जावे तो वह सत्य हो जाता है। इसके आगे जीवको न मानकर अकेले जडतत्त्वको ही माननेवाले चार्वाकका खण्डन कर जड और चैतन्यके उपादान उपादेय भावका निरास किया है। कई वादी आस्रवतत्त्वको स्वीकार नहीं करते हैं। व्यापक आत्माके कोई क्रिया नहीं हो सकती है। इसका प्रत्याख्यान कर आत्मा और कालद्रव्यका अव्यापकपना सिद्ध किया है। आकाश, काल, धर्मद्रव्य, और अधर्मद्रव्य इनको स्वतन्त्र तत्त्व मानना आवश्यक है। सर्वव्यापक एक कालद्रव्यसे परस्पर विरुद्ध अनेक क्रियायें न हो सकेंगी। अतः परमाणुके समान आकारवाले असंख्यात काल-द्रव्योंको सिद्ध कर दिया है। जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशोंमें रहता है। लोक और अलोकमें व्यापक नहीं है। अतः अव्यापक आत्मामें क्रिया हो जानेसे क्रियारूप आस्रवतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। बन्ध होना भी आत्माका विभावभाव है। वह जीव पुद्गल दोनोंमें रहता है। संसारी जीव निर्लेप नहीं हैं। किन्तु बहिरंग पुद्गलसे बन्धकर तन्मय हो रहा है। इसके आगे संवर और निर्जराको अकेले जीवका ही भाव इष्ट किया है। बन्धके समान मोक्ष भी जीव पुद्गल दोनोंका धर्म है, इस प्रकार धर्मी और धर्म रूप सातों तत्त्वोंका मुमुक्षुको श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान करना चाहिये। इन सातों तत्त्वोंसे आठवां, नौवां अन्य कोई तत्त्व नहीं है। इनसे न्यून तत्त्व माननेमें भी मोक्षके लिये त्रुटि रहेगी। अभावरूप धर्म वस्तुके ही प्रतिजीवी अंश हैं। जीव और अजीवतत्त्वोंमें अनुजीवी, प्रतिजीवी, आपे-क्षिक, आदि सभी अंशोंका तादात्म्य हो रहा है, अभाव तुच्छ पदार्थ कोई नहीं है। प्रकाशके समय अन्धेरेका अभाव प्रकाशरूप ही है और अन्धेरेके समय प्रकाशका अभाव भी अन्धेरारूप है। नैयायिक और वैशेषिकोंके तत्त्व सर्वज्ञोक्त नहीं हैं। मोक्षकी सिद्धिमें भी उनका विशेष उपयोग नहीं होता है। सोलह तत्त्वोंसे अनेक उपयोगी तत्त्व अवशेष रह गये हैं और उनमें दृष्टान्त, छल, निग्रहस्थान आदि निस्तत्त्व पदार्थ भर लिये गये हैं। जिनका कि भद्र मोक्षगामियोंको कभी उपयोग भी नहीं पडता है। वैशेषिकोंसे माने हुए छह पदार्थों या अभाव सहित सात पदार्थोंका उपदेश भी अव्याप्ति अतिव्याप्ति, आदि दोषोंसे रीता नहीं है। किन्तु सर्वज्ञ अर्हन्तदेवकी आम्नायसे आये हुए सात तत्त्वोंका उपदेश निर्दोष है। रत्नत्रय सात पदार्थोंसे भिन्न नहीं है, प्रवृत्ति और निवृत्तिमें उपयोगी रत्नत्रयजीव, आस्रव और संवरतत्त्वोंमें ही गतार्थ हो जाता है। जीवके सम्पूर्ण अंश जीवतत्त्वरूप हैं। अतः इन्हीं जीव आदि सात तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र सर्वज्ञोक्त होता हुआ हमको बहुत अच्छा लगा है। सात तत्त्वोंमें जीव, अजीव ये दो धर्मी हैं, आस्रव तत्त्व अशुद्ध द्रव्यका गुण है, शेष तत्त्व पर्यायें हैं। द्रव्य, गुण और पर्यायके अतिरिक्त जगत्में कोई अन्य पदार्थ नहीं है। सह-भावी और क्रमभावी पर्यायोंका अखण्डपिण्ड ही द्रव्य है। जैसे कि नव देवताओंमें अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ये पांच चेतनद्रव्य हैं। जिनबिम्ब और जिन चैत्यालय ये दो जडद्रव्य हैं, जिनधर्म आत्मद्रव्यका स्वाभाविक परिणाम है। तथा ज्ञानरूप जिनागम जीवद्रव्यका

गुण है और शद्वमय द्रव्यश्रुत पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है, तैसे ही सात तत्त्वोंका द्रव्य, गुण और पर्यायरूपसे गुम्फन हो रहा है। विचारशील भव्यहंसोंके मानसमें उनका अविकल आकलन हो जाता है। यह जैनशासन सदा जयशील बढता रहे।

मुमुक्षुश्रद्धाविषयाः सप्तैवेति प्रबोधयत्।
जीवादयो मनीषिभ्यो जीयात्कौ श्लोकवार्त्तिकम् ॥ १ ॥

—=x=—

नन्वेते जीवादयः शद्वब्रह्मणो विवर्ताः शद्वब्रह्मैव नाम तत्त्वं नान्यदिति केचित्। तेषां कल्पनारोपमात्रत्वात्। तस्य च स्थापनामात्रमेवेत्यन्ये, तेषां द्रव्यान्तःप्रविष्टत्वात्। तद्व्यतिरेकेणासम्भवात् द्रव्यमेवेत्येके। पर्यायमात्रव्यतिरेकेण सर्वस्याघटनाद्भाव एवेत्यपरे। तन्निराकरणाय लोकसमयव्यवहारेष्वप्रकृतापाकरणाय प्रकृतव्याकरणाय च संक्षेपतो निक्षेपप्रसिद्ध्यर्थमिदमाह—

अग्रिम सूत्रके लिये शंका करते हुए अवतरण उठाते हैं कि ये जीव आदिक सात तत्त्व शद्व ब्रह्मकी पर्याय हैं, शद्वब्रह्म ही नाम तत्त्व है। अन्य स्थापना, द्रव्य, भाव कोई पदार्थ नहीं हैं, संसारके सभी पदार्थ शद्वब्रह्मरूप हैं। शद्वब्रह्म अनादि अनिधन है। शद्वब्रह्मसे जिसका तादात्म्य नहीं है उसका ज्ञान भी नहीं हो सकता है। अव्यक्त और व्यक्त रूपसे सभी पदार्थ नाम रूप ही हैं। स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपके अभिधेय पदार्थोंमें अन्तर्जल्प, बहिर्जल्परूप संज्ञा करना लगा हुआ है। शद्वोंके वाच्यार्थसे अधिक गुणपन न्यून गुणपन भी देखा जाता है। संसारमें अनभिलाप्य पदार्थ कोई भी नहीं है, तभी तो अभिधेय और प्रमेयका सहचरभाव है, सर्वत्र नाम निक्षेपका ही दोड दौरा है। अतः एक नाम निक्षेप ही मानना आवश्यक है। जगत्की प्रक्रियाका प्रधान कारण एक शद्व ब्रह्म ही है। उसीके परिणाम जीव आदिक पदार्थ हैं, ऐसा कोई कह रहे हैं। दूसरोंका यह मन्तव्य है कि जीव आदिक सात पदार्थ मुख्यरूप नहीं हैं। उनका केवल कल्पनासे जीवपना, अजीवपना आदि आरोप कर लिया जाता है। अतः उस कल्पनाके आरोपकी केवल स्थापना ही कर ली जाती है। इन्द्र नामके पुरुष या काष्टके इन्द्र इन दोनोंके समान सुधर्मा सभामें बैठनेवाले पहिले स्वर्गके मुख्य इन्द्रमें भी परम ऐश्वर्यपनेकी स्थापना ही है। तथा भावरूप मुख्य घटमें चेतनमें होनेवाली चेष्टा करनेकी स्थापना है। भविष्यमें राजा होनेवाले राजपुत्रमें भी सूर्य या चन्द्रमें रहनेवाली दीप्तिकी स्थापना है। नाम निक्षेपमें भी शद्वानुपूर्वीके द्वारा स्थापना की गयी है। संसारमें पुत्र, मित्र, धन, गृह, कुटुम्ब आदिमें सर्वत्र स्थापना (कल्पना) का ही साम्राज्य है। इस कारण स्थापना ही उपाय तत्त्व है। अन्य नाम, द्रव्य, भाव ये तीन नहीं, ऐसा कोई अन्य एकान्तवादी कह रहे हैं। तीसरोंका कहना है कि उन नाम, स्थापना, भाव, तीनोंका द्रव्यके अन्तरंगमें प्रवेश हो जाता है। सभीमें भविष्यके परिणमन होनेकी शक्ति विद्यमान है। द्रव्यसे भिन्नपने करके कोई नाम, स्थापना, भाव ये तीन तत्त्व नहीं संभवते हैं।

नाम निक्षेपवाले पदार्थ उसके वाच्य अर्थके अनुसार भूत, भविष्यमें परिणमन होनेकी शक्ति रखते हैं। मूर्ख अज्ञानी जीव कर्म फल चेतनाके समय अजीवके समान है। अजीव कर्म, शरीर भी आत्माके सम्बन्धसे चेतनवत् हो जाते हैं, घरघुल्ली या भौंरी शब्द करते करते मृत झींगुर या गिडारोंको अपना बच्चा बना लेती है। तीन चार दिनके लिये बना लिये गये सभापतिपनकी स्थापना पहिले और पीछे समयोंमें उन गुणोंकी निष्ठापक हो जाती है। वर्तमानकी भावरूप पर्यायोंसे आक्रान्त होरहे पदार्थका भूत भविष्यत् कालमें वैसा परिणमन करना प्रसिद्ध ही हो रहा है। अतः द्रव्य ही एक निक्षेप है। ऐसा कोई एक प्रतिवादी कह रहे हैं। चौथेका यह भाव है कि केवल पर्यायोंसे भिन्न नाम, स्थापना, द्रव्य इन सबकी घटना (सिद्धि) नहीं हो सकती है। नाम निक्षेपके वाच्य अर्थके अनुसार कुछ देरके लिये उसका वैसा परिणाम हो जाता है। आलसी शिष्यको मूर्ख कह देनेसे अल्पकालके लिये वह वक्ताकी ओरसे मूर्खत्व धर्मका आश्रय बन जाता है। तभी तो सुंदर, भव्य, और पवित्र नाम रखनेका उपदेश है। स्थापनामें तो तदनुसार परिणाम हो ही जाते हैं। इस बातको मूर्तिपूजक जन समझते हैं। द्रव्यमें शक्तिरूपसे वर्तमानमें भी भाव शक्तियां विद्यमान हैं। वस्तुका अर्थक्रियाकारीपन लक्षण भावोंमें ही समीचीन घटता है। सर्वत्र भावका प्रभाव है, अतः भाव ही एक न्यास है। इस प्रकार कोई अन्य वादी कह रहे हैं। उन चारों एकान्तवादियोंके निराकरण करनेके लिये और सम्पूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध संकेतके अनुसार होते हुए व्यवहारोंमें अप्रकरण प्राप्तके दूर करनेके लिये तथा प्रकरणगत पदार्थके व्युत्पादनके लिये संक्षेपसे निक्षेपतत्त्वकी प्रसिद्धके अर्थ श्रीउमास्वामी महाराज इस सूत्रको कहते हैं।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेपसे उन जीव आदिक पदार्थोंका न्यास होता है। अर्थात् जगत्के अनन्त पदार्थोंकी इति होनेमें प्रधान कारण ज्ञान है। इससे उतरता हुआ दूसरा प्रधान कारण शब्द ही है। शब्दके द्वारा पदार्थोंमें प्रतिपाद्यपना नाम आदि चारनिक्षेपोंसे होता है। वाच्य पदार्थके अतिरिक्त बहुभाग अवाच्य पदार्थोंमें भी नाम आदिका अवलम्ब लेकर न्यास किया जाता है। लोकप्रसिद्ध व्यवहारोंमें नाम आदिक निक्षेपोंकी विषयविधि अत्युपयोगी है। अतः जीव आदिक पदार्थोंको समझने और समझानेके लिये नाम, स्थापना, द्रव्य और भावोंसे उनका न्यास (प्रतिपादित्व) करना अनिवार्य है।

न नाममात्रत्वेन स्थापनामात्रत्वेन द्रव्यमात्रत्वेन भावमात्रत्वेन वा संकरव्यतिरेकाभ्यां वा जीवादीनां निक्षेप इत्यर्थः। तत्र—

केवल नामपनेसे ही या अकेले स्थापनापनेसे ही अथवा कोरे द्रव्यपनेसे ही एवं केवल भाव तत्त्वसे ही जीव आदिकोंका न्यास नहीं होता है, किन्तु चारोंसे होता है। पूर्वमें कह दिये गये

एकान्तवादियोंके माने गये सर्वथा एकांतोंमें अव्याप्ति दोष आता है। तथा संकर और व्यतिरेकसे भी जीव आदिकोंका निक्षेप नहीं है। इसका भावार्थ—यों है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थके संकर (एक दूसरेके गुणपर्यायोंका मिल जाना) से भी नहीं समझाया जाता है और व्यतिरेक (कोरे अभावोंसे अथवा एक दूसरेमें विषयगमन करनेसे) से भी बोद्धव्य नहीं है, इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। इसका अभिप्राय यही है कि चारोंसे ही भिन्न भिन्न पदार्थोंका अपने अपने स्वरूपमें ज्ञानके उपयोगी लोकव्यवहार होता है। तहां सबसे पहिले नाम निक्षेपका लक्षण करते हैं—

संज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव निमित्तान्तरमिष्टितः।
नामानेकविधं लोकव्यवहाराय सूत्रितम् ॥ १ ॥

दूसरे निमित्तोंकी नहीं अपेक्षा करके ही केवल वक्ताकी इच्छासे लोक व्यवहारके लिये अनेक प्रकारकी संज्ञा करना, नामनिक्षेप है। ऐसे नामको प्रकृत सूत्रमें गूंथा है।

न हि नाम्नोऽनभिधाने लोके तद्व्यवहारस्य प्रवृत्तिर्घटते येन तन्न सूत्र्यते। नापि तदेकविधमेव विशेषतोऽनेकविधत्वेन प्रतीतेः।

नाम निक्षेपका कथन न करने पर लोकमें उस इन्द्रदत्त, जिनदत्त आदि नामोंके व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं घटित होती है जिससे कि उस नामको सूत्रमें न कहा जावे, अर्थात् नामके द्वारा व्यवहारकी प्रवृत्तिके लिये सूत्रमें सबसे पहिले नाम निक्षेपका कथन करना आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि वह नाम एक प्रकारका ही नहीं है। किन्तु विशेषोंकी अपेक्षासे अश्व, गौ, महिष, देवदत्त, वीरदत्त, ग्राम, दुर्ग, विद्यालय, आदि अनेक प्रकारोंसे प्रतीत होरहा है।

किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम यथा डित्थ इति, किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति, किंञ्चिदेकाजीवनाम यथा घट इति, किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति, किञ्चिदेकजीवैकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति।

कोई कोई नाम तो ऐसा निश्चित हो रहा है कि वह एक ही जीवका नाम है, जैसे कि एक विशेष पुरुषका नाम डित्थ रख दिया है यह एक ही जीवका नाम है, अन्य जीव या अजीव पदार्थ तो डित्थ नामसे नहीं कहे जा सकते हैं। काठके हाथीपनरूप निमित्तकी नहीं अपेक्षा कर किसी व्यक्तिका नाम डित्थ रख दिया है। ऐसे ही जयचन्द्र, नेमीचन्द्र, आदि शब्द हैं। तथा कोई कोई नाम ऐसा है जिससे कि अनेक जीव कहे जाते हैं, जैसे कि अनेक हाथियोंका झुण्ड यूथ है यूथ शब्द एक है। किन्तु उसके वाच्यार्थ अनेक जीव हैं। ऐसे ही सेना, जनता आदि शब्द हैं। तथा कोई एक अजीवका वाचक नाम है, जैसे कि घट। इसी प्रकार थाली, दण्ड आदि भी एक अजीवके वाचक नाम हैं। और कोई अनेक अजीवोंका वाचक एक नाम है, जैसे कि प्रासाद (हवेली, कोठी,

महल) एक सुन्दर गृहमें ईंट, चूना, पत्थर, लोहा, काठ आदि अनेक अजीव पदार्थ हैं। सबको मिलाकर बनाये हुए संयुक्त द्रव्यको महल शब्दसे कहा जाता है। इसी प्रकार दुकान, यन्त्रालय, गोदाम, आदि भी अनेक अजीवोंके वाचक एक एक शब्द हैं। तथा कोई शब्द एक जीव और एक अजीवका नाम है, जैसे कि प्रतीहार पद है। स्वामीसे मिलानेवाला द्वारपर खडा हुआ द्वारपालिया द्वार और व्यक्तिकी अपेक्षासे अथवा प्रतीहारपनेके दण्ड, तलवार, बन्दूक, चपरास इनमें से किसी भी चिन्ह और पुरुषकी अपेक्षासे एक जीव और एक अजीव ये दो हैं। इसी प्रकार पत्रवाहक, न्यायकर्ता आदि शब्द भी एक जीव और एक अजीवके वाचक हैं।

किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम यथा काहार इति, किञ्चिदेकाजीवानेकजीवनाम यथा मन्दुरेति, किञ्चिदेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति तत्तिविषयमवान्तरभेदाद्बहुधा भिद्यते संव्यवहाराय नाम लोके। तच्च निमित्तान्तरमनपेक्ष्य संज्ञाकरणं वक्तुरिच्छातः प्रवर्तते।

कोई नाम तो एक जीव और अनेक अजीवोंका वाचक है, जैसे कि काहार यानी थोडा भोजन, यहां एक भोक्ता पुरुष है, खाद्य जड पदार्थ अनेक हैं। इसी प्रकार कठपुतलियोंसे खेल दिखलाने वाला बाजीगर या बहुरूपिया अथवा अनेक भूषण वस्त्रोंसे शोभित देवदत्त आदि शब्द भी हैं। एवंच कोई शब्द एक अजीव पदार्थ और अनेक जीव पदार्थके समुदायको कहते हैं, जैसे कि मन्दुरा यानी घुडसाल एक गृह है, उसमें अनेक घोडे रहते हैं। इसी प्रकार विद्यालय, सभागृह आदि नाम भी हैं। कोई कोई वाचक शब्द अनेक जीव और अनेक अजीव पदार्थोंके नाम हैं जैसे कि नगर। देखिये, एक नगरमें अनेक गृह, घट, पट, स्तम्भ, आदि अनेक जडरूप सामग्री है और अनेक मनुष्य, पशु भी नगरमें विद्यमान हैं। ऐसे ही उद्यान, समुद्र, ग्राम आदि शब्द हैं। इस रीतिके अनुसार प्रत्येक वाच्य अर्थके मध्यवर्ती भेद प्रभेदोंसे बहुत प्रकार नाम शब्द समीचीन व्यवहारके लिये लोकमें न्यारा न्यारा हो रहा है। वह नाम निक्षेप विचारा प्रकृति, प्रत्यय और उनके अर्थ अथवा अन्य लौकिक निमित्तोंकी नहीं अपेक्षा करके मात्र वक्ताकी इच्छासे यथेच्छ किसीकी संज्ञा कर देनारूप प्रवर्त रहा है।

किं पुनः नाम्नो निमित्तं किं वा निमित्तान्तरम् ? इत्याह—

यहां किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि उस नामनिक्षेपका फिर निमित्त क्या है और उस नामका निमित्तान्तर यानी दूसरा निमित्त क्या हो सकता है। जिसकी कि नहीं अपेक्षा करके वक्ताकी इच्छा मात्रसे नामकी प्रवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार दो प्रश्नोंके उत्तरमें आचार्य महाराज वार्तिकको कहते हैं। अनन्यचित्त होकर सुनिये।

नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम् ।
तस्मादन्यत्तु जात्यादिनिमित्तान्तरमिष्यते ॥ २ ॥

नाम निक्षेपका सम्पूर्ण कारण वक्ताका अभिप्राय कहा गया है । पिता जैसे अपने पुत्रका नाम चाहे जो रख देता है। उसी प्रकार वक्ता लोकव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिये गुणोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ अपनी इच्छासे पदार्थोंमें नाम निक्षेप कर लेता है । और उस अभिप्रायसे भिन्न जाति, गुण, क्रिया, संयोगीद्रव्य, समवायीद्रव्य ये सब तो निमित्तान्तर माने गये हैं ।

जातिद्वारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते ।
जातिहेतुः स विज्ञेयो गौरश्वः इति शब्दवत् ॥ ३ ॥
जातावेव तु यत्संज्ञाकर्म तन्नाम मन्यते ।
तस्यामपरजात्यादिनिमित्तानामभावतः ॥ ४ ॥

अव्यभिचारी सदृशपने करके अनेक अर्थोंका पिण्डरूप अर्थ जाति है । व्यक्तियोंसे अभिन्न होरहे सादृश्यरूप तिर्यक्सामान्यसे अनेक पदार्थोंका संग्रह कर लेना जातिका प्रयोजन है । इस जातिके द्वारा जो शब्द नियम करके द्रव्य, गुण, पर्यायों आदिमें वर्त रहे हैं, वह शब्द जातिको निमित्त मानकर व्यवहृत हो रहा समझ लेना चाहिये । जैसे कि गौ, अश्व, गेहूं, चना, इन शब्दोंमें कहनेसे इन जातियोंसे युक्त पदार्थोंका ग्रहण हो जाता है । जातिमें ही जो संज्ञाकर्म किया जाता है। वह तो जाति नामनिक्षेप माना जाता है । यहां जाति शब्दको केवल स्वकीय अंशरूप जातिके अभिप्रायकी अपेक्षा है । इससे भिन्न दूसरे बहिरंग जाति, गुण आदि निमित्तोंकी अपेक्षाका अभाव है । उस जातिमें पुनः दूसरी जातिकी आकांक्षा नहीं है ।

गुणे कर्मणि वा नाम संज्ञा कर्म तथेष्यते ।
गुणकर्मान्तराभावाज्जातेरप्यनपेक्षणात् ॥ ५ ॥
गुणप्राधान्यतो वृत्तो द्रव्ये गुणनिमित्तकः ।
शुक्लः पाटल इत्यादिशब्दवत्संप्रतीयते ॥ ६ ॥
कर्मप्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निबुध्यते ।
चरति प्लवते यद्वत् कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥ ७ ॥

गुणमें अथवा क्रियामें नामनिक्षेपरूप संज्ञा कर्म किया जाता है। वह तिसी प्रकार गुणशद्ब और क्रियाशद्ब इष्ट किये गये हैं। गुणशद्बमें अपनी प्रवृत्तिके कारण गुणके अभिप्रायकी अपेक्षा है। अन्य बाहिरके गुण और कर्मोंके निमित्तकारणपना नहीं है, जातिकी भी अपेक्षा नहीं है। ऐसे ही क्रियावाचक शद्बोंमें भी वक्ताके अभिप्रायरूप क्रियाकी आकांक्षा है। अन्य वास्तविक क्रिया, गुण और जातिकी अपेक्षा नहीं है। गुण, क्रिया, जाति, संयोग, समवाय आदिके अखण्ड पिण्डरूप द्रव्यमें गुणकी प्रधानतासे प्रवृत्त हो रहा शद्ब गुणशद्ब कहा जाता है। वह गुणके अभिप्रायको निमित्त मानकर वक्ता द्वारा व्यवहारमें आरहा है। जैसे कि शुक्लरंगकी अपेक्षासे शुक्ल शद्ब है। श्वेतरंगसे मिला हुआ लालरंग पाटल कहा जाता है। मीठे रसकी अपेक्षासे मधुर रस है। सुरभि, शीत, कठोर, ज्ञान, सुख, चारित्र इत्यादि शद्बोंके समान गुण शद्ब समीचीन व्यवहारमें प्रतीत हो रहे हैं। तथा क्रियाकी प्रधानतासे उस अखण्ड पिण्डरूप द्रव्यमें प्रवृत्त हो रहे शद्ब क्रियाशद्ब कहे जाते हैं। उनमें वक्ताका क्रियाकी ओर लक्ष्य देनेवाला अभिप्राय कारण है। इन शद्बोंमें क्रिया निमित्त जाना जारहा है, जैसे कि गमन करता है, भक्षण करता है, ऐसा चरतिक्रिया स्वरूप शद्ब है। तैर रहा है, या गमन कर रहा है, इस अभिप्रायको कहनेवाला प्लवते यह शद्ब नामनिक्षेप है। ऐसे ही और कोई भी पाचक, पाठक, लावक इत्यादि शद्ब भी परिस्पन्दरूप पकाना, पढाना, छेदना, रूप क्रियाके अवलम्बसे क्रियाशद्ब बोले जाते हैं। इस प्रकार इन नाम शद्बोंसे व्यवहारमें निक्षेप कर पदार्थोंका अधिक निश्चय किया जा रहा है।

द्रव्यान्तरमुखे तु स्यात्प्रवृत्तो द्रव्यहेतुकः।
शद्बस्तद्द्विविधस्तज्ज्ञैर्निराकुलमुदाहृतः ॥ ८ ॥
संयोगिद्रव्यशद्बः स्यात् कुण्डलीत्यादिशद्बवत्।
समवायिद्रव्यशद्बो विषाणीत्यादिरास्थितः ॥ ९ ॥
कुण्डलीत्यादयः शद्बा यदि संयोगहेतवः।
विषाणीत्यादयः किं न समवायनिबन्धनाः ॥ १० ॥

दूसरे द्रव्योंकी प्रधानता होनेपर व्यवहारमें प्रवृत्त हुआ शद्ब तो द्रव्य शद्ब है। इसके प्रचलित होनेमें कारण युतसिद्धि और अयुतसिद्धिसे सहित होरहा द्रव्य है। उस शद्बकी शक्तिको जानने वाले विद्वानोंने आकुलता रहित होकर उस द्रव्य शद्बको दो प्रकारका निरूपण किया है। कुण्डलयुक्त देवदत्त है। दण्डसहित जिनदत्त है, इत्यादि प्रयोगोंमें कुण्डली, दण्डी आदि शद्ब तो संयोगी द्रव्य शद्ब हैं, देवदत्तमें कुण्डलका संयोग सम्बन्ध है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे संयोग सम्बन्ध ही होता है। अतः संयोगवाले द्रव्यकी मुख्यतासे संयोगी द्रव्य शद्ब प्रसिद्ध हो रहा है। द्रव्य शद्बका

दूसरा भेद समवायीद्रव्य शद्ब है। जैसे कि सींगवाला बैल है, शाखावाला वृक्ष है, ज्ञानवान् आत्मा है। ये विषाणी, शाखी, ज्ञानी इत्यादि शद्ब समवायी द्रव्य शद्ब निर्णीत हो चुके हैं। नैयायिकोंने गुण और गुणीका तथा अवयव और अवयवीका समवाय सम्बन्ध इष्ट किया है। यह समवाय सम्बन्ध कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्धसे भिन्न नहीं ठहरता है। अतः कोई विरोध नहीं किया जाता है। गौकर और सींगका [illegible] होनेसे समवाय सम्बन्ध है। वैशेषिकोंके सिद्धान्तानुसार अवयवोंमें अवयवी समवाय सम्बन्धसे रहता है, अवयवीमें अवयव नहीं। किन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार अवयवोंमें भी समवाय सम्बन्धसे अवयवी रह जाता है और अवयवीमें भी अवयव समवाय सम्बन्ध (कथञ्चित् तादात्म्य) से ठहरते हैं। नैयायिकोंने स्कन्ध की उत्पत्ति संघातसे ही मानी है। भेद (विश्लेष) से नहीं, परन्तु आर्हतोंने भेद, संघात और दोनोंसे स्कन्धकी उत्पत्ति मानी है परमाणुकी तो भेदसे ही उत्पत्ति होती है। भलें ही अनन्तानन्त परमाणु ऐसे हैं जो अभीतक स्कन्ध अवस्थामें प्राप्त नहीं हुए हैं, वे अनादिसे परमाणुरूप हैं। फिर भी जो स्कन्ध होकर पुनः परमाणुरूप हो गये हैं उनकी उत्पत्ति स्कन्धके विश्लेषणसे ही हुयी है। नैयायिकोंका मत है कि दो परमाणुओंसे द्यणुक बनता है, तीन द्यणुओंसे त्र्यणुक बनता है, चार त्र्यणुकोंसे एक चतुरणुक बनता है और पांच चतुरणुकोंसे एक पंचाणुक बनता है, तथा छह पंचाणुकोंसे एक षडणुक निष्पन्न होता है। ऐसे ही कपाल कपालिका और घटकी उत्पत्तितक यही व्यवस्था चली जाती है। नैयायिकोंका अनुभव है कि सृष्टिके आदिमें ईश्वरकी इच्छासे द्यणुक बननेके लिये सभी परमाणुओंमें क्रिया हो जावेगी तो वे दो दो मिलकर सब द्यणुक बन जावेंगे, एक भी परमाणु शेष न बचेगा। इसी प्रकार सभी द्यणुकोंके तीन तीन मिलकर त्र्यणुक बन जावेंगे। तब एक भी परमाणु तथा एक भी द्यणुक न बचेगा। ऐसे ही आगे महापिण्डपर्यन्त सृष्टि बन जावेगी। हां ! फिर कभी नाशका प्रकरण उपस्थित यदि होवे, तब कहीं भलें ही परमाणु और द्यणुक मिल सकें। यही दशा कच्चे घडेको अवामें पकाकर लाल होनेके पूर्वमें होती है, अग्नि संयोगसे क्रिया, क्रियासे विभाग, विभागसे पूर्वसंयोग-नाश, उत्तरदेश संयोग आदि लम्बी प्रक्रिया होकर पुनः द्यणुक, त्र्यणुक, आदि क्रमसे नवीन रक्त घट बनता माना है। यों पीलुपाकवादी या पिठर पाकवादी नैयायिक वैशेषिकोंने मान रक्खा है। किन्तु जैनसिद्धान्तमें इस उक्त व्यवस्थाका खण्डन किया है। दो परमाणुओंसे द्यणुक बनता है। तीन अणु या एक द्यणुक और एक अणुसे त्र्यणुक बन जाता है। एवं चार अणु या दो द्यणुक अथवा एक त्र्यणुक और एक अणुसे भी चतुरणुक हो जाता है। ऐसे ही पञ्चाणुक आदिको समझ लेना। नाशमें भी चतुरणुकमेंसे एक परमाणुके निकल जानेपर या एक द्यणुकके बिछुड जानेपर अथवा एक त्र्यणुकके निकल जानेपर चतुरणुकका नाश हो जाता है। चतुरणुकका नाश (भेद) होनेपर एक अणु और एक त्र्यणुक बन जाता है, या द्यणुकरूप भेद होनेपर दो द्यणुक बन जाते हैं। वैशेषिकोंकी मानी हुयी नाशप्रक्रिया अयुक्त है। वैशेषिकोंका यह सिद्धान्त है कि एक सौ गज लम्बे

वस्त्रके थानमें एक सूत यदि मिलाया जावेगा, तो शीघ्र ही उस वस्त्रका अवयवोंके नाशक्रमसे सर्वथा नाश हो जावेगा। पीछे मिलाये हुए उस सूत (तन्तु) को अनेक अवयवोंमें सम्मिलित कर उन अवयवोंमें क्रिया उत्पन्न होगी, फिर विभाग, पूर्वसंयोगनाश और उत्तरदेशसंयोग होते हुए द्यणुक, त्र्यणुकके क्रमसे बडा थान बन जावेगा। ऐसे ही सौ गज लम्बे थानमेंसे एक छोटासा सूत भी यदि निकाल लिया जावे तो भी सब थान नष्ट हो जावेगा। बडे छोटे अवयवोंका नाश होते होते केवल थानके परमाणु रह जावेंगे। निकाले हुए सूतसे अवशिष्ट रहे परमाणुओंमें क्रिया, विभाग आदि होकर द्यणुक, त्र्यणुकके क्रमसे एक सूत कम नवीन थान उत्पन्न होगा। किन्तु जैनसिद्धान्त ऐसा नहीं है। थानमें एक सूत मिलानेसे या निकालनेसे अशुद्धद्रव्यकी व्यंजनपर्याय दूसरी हो (बदल) जाती है। वहां अवयवक्रमसे पूर्व थानका नाश और नवीन थानका उत्पाद होना नहीं प्रतीत होता है। वैशेषिकोंका मानना प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही विरुद्ध पडता है। ऐसी उत्पाद और विनाशकी अयुक्त प्रक्रियाका ढोल पीटना निस्सार है। अतः थोथे कल्पित कणाद सिद्धान्तोंके हम परवश नहीं हैं। इस कारण अवयवीमें अवयवोंका समवाय भी हम इष्ट कर लेते हैं। विषाणी, ज्ञानी, शाखावान् आदि शब्द समवायी द्रव्यशब्द हैं। कुण्डली, छत्री, गृही, धनवान् आदिक शब्द यदि संयोगको हेतु मानकर प्रवृत्त हो रहे हैं तो विषाणी, सुखी, रूपी, बुद्धिमान् आदि शब्द समवायको कारण मानते हुए क्यों नहीं प्रवृत्त हो सकेंगे ? यानी अवश्य प्रवर्त रहे हैं।

तथा सति न शब्दानां वाच्या जातिगुणक्रियाः।
द्रव्यवत्समवायेन स्वसम्बन्धिषु वर्तनात् ॥ ११ ॥
यथा जात्यादयो द्रव्ये समवायबलात् स्थिताः।
शब्दानां विषयस्तद्वत् द्रव्यं तत्रास्तु किञ्चन ॥ १२ ॥
संयोगबलतश्चैवं वर्तमानं तथेष्यताम्।
द्रव्यमात्रे तु संज्ञानं नामेति स्फुटमीक्ष्यते ॥ १३ ॥
तेन पञ्चतयी वृत्तिः शब्दानामुपवर्णिता।
शास्त्रकारैर्न बाध्येत न्यायसामर्थ्यसंगता ॥ १४ ॥

और तैसा होते सन्ते द्रव्यके समान सम्बन्ध करके अश्वत्व, गोत्व आदि जातियां या शुक्ल, रक्त, मधुर आदि गुण अथवा चलना, तैरना, पढना आदि क्रियायें उन शब्दोंके वाच्य नहीं हैं। भले ही वे जाति आदिक अपने अपने सम्बन्धियोंमें समवाय सम्बन्धसे वर्तती हैं। किन्तु उन अर्थोंपर नामनिक्षेपका लक्ष्य नहीं है। जैसे जाति, गुण और कर्म ये समवाय सम्बन्धकी साम-

र्थ्यसे द्रव्यमें स्थित हो रहे शद्वोंके विषय हैं, तैसे कोई कोई द्रव्य भी तो तिस द्रव्यमें समवायसे स्थित हो रहा है । वृक्षद्रव्य अपने अवयव विटप, शाखा, पत्र आदि द्रव्योंमें समवाय सम्बन्धसे रहता है तथा पटद्रव्य [अशुद्ध पुद्गलद्रव्य] तन्तुद्रव्योंमें समवाय सम्बन्धसे ठहरता है और तैसे ही संयोग सम्बन्धकी शक्तिसे दण्डी, छत्रीरूप द्रव्यके ज्ञान हो जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य सामान्यमें दो प्रकारसे वर्तरहा तो ज्ञान हो जाना इष्ट किया है। इस रीतिपर संयोग समवाय सम्बन्ध की शक्ति करके स्पष्ट रूपसे द्रव्यशद्व व्यवहारमें आते हुए देखे जाते हैं जो कि नाम निक्षेप है। भावार्थ—गति आदिक निमित्तान्तरोंकी नहीं अपेक्षा करके केवल वक्ताके अभिप्रायसे व्यवहारमें नामकी प्रवृत्ति हो रही है, नामका निक्षेप करनेमें जाति, गुण आदि द्वार हो जाते हैं। तिस कारण शद्वोंकी जाति, गुण, क्रिया, संयोगीद्रव्य, समवायीद्रव्य इस प्रकार पांच अवयव वाली शद्वोंकी प्रवृत्ति लोकमें कही गयी है वह न्यायकी सामर्थ्यसे अच्छी तरह घटित होती हुयी शास्त्रकारोंके द्वारा भी बाधित नहीं होती है। भावार्थ—हम पांच ही प्रकारके शद्वोंका एकान्त नहीं करते हैं इनके अतिरिक्त पारिभाषिक शद्व, यदृच्छा शद्व, तांत्रिक शद्व और अपभ्रंश शद्व भी हैं। तथा द्वीन्द्रिय आदिक जीवोंके अव्यक्त शद्व भी प्रयोजनोंसे सहित हैं। किन्तु लोकमें जाति आदि पांच प्रकारके शद्व माने हैं। अतः हम शास्त्रमें उनका विरोध भी नहीं करते हैं। न्यायके बलसे प्राप्त हुए सिद्धान्तको मान लेना ही बुद्धिमत्ता है। यहांतक नामनिक्षेपके निमित्तान्तर माने गये जाति आदिका निरूपण कर दिया गया है।

वक्तुर्विवक्षायामेव शब्दस्य प्रवृत्तिस्तत्प्रवृत्तेः सैव निमित्तं न तु जातिद्रव्यगुणक्रियास्तदभावात्। स्वलक्षणेऽध्यक्षतस्तदनवभासनात्, अन्यथा सर्वस्य तावतीनां बुद्धीनां सकृदुदयप्रसंगात्। प्रत्यक्षपृष्टभाविन्यां तु कल्पनायामवभासमाना जात्यादयो यदि शद्वस्य विषयास्तदा कल्पनैव तस्य विषय इति केचित्।

यहां बौद्ध कह रहे हैं कि वक्ता जीवके बोलने की इच्छा होनेपर ही शद्व की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः उस शद्व की प्रवृत्तिका निमित्त कारण वक्ताकी इच्छा ही है। किन्तु जाति, द्रव्य, गुण, क्रियायें तो शद्वके निमित्त नहीं है, क्योंकि इनको निमित्त मानकर वह शद्वोंकी प्रवृत्ति नहीं हो रही है। अतः ये निमित्तान्तर (दूसरे निमित्त) भी नहीं हैं। जगत्में वस्तुभूत पदार्थ स्वलक्षण है, घट, पट, गृह, गौ, अश्व आदि स्थूल अवयवी पदार्थ तो कल्पित हैं। क्षणिक परमाणुरूप निर्विकल्पक स्वलक्षण ही परमार्थभूत है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे केवल स्वलक्षण जाना जाता है, तभी तो ज्ञानका नाम भी निर्विकल्पक होगया है। प्रत्यक्षसे जाने गये स्वलक्षणमें उन जाति, गुण आदिका प्रतिभास नहीं होता है। अन्यथा यानी प्रत्यक्षमें जाति आदिका प्रतिभास स्वीकृत कर लिया जावेगा तो सभी जीवोंको जाति आदिकोंसे सहित उतनी अनेक बुद्धियोंका एक समयमें उत्पन्न होनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—जो वस्तुभूत धर्म हैं, उनका वस्तुके

देखनेपर ही अन्यकी अपेक्षा विना ज्ञान हो जाता है। मिश्री सबके लिए मीठी है। बच्चा, पशु, गूंगा, बहरा, अन्धा आदिके मुंहमें प्राप्त हुयी मिश्री मीठी लगती है। चन्द्रमाको देखकर उसके रूपका ज्ञान पशु या उत्पन्न हुआ उसी दिनका बच्चा, अथवा मक्खीतकको हो जाता है। किन्तु पदार्थोंको देखते, सूंघते चाटते, ही विकल्प पनाओंसे रहित रूप, गन्ध, रसका निरपेक्ष होकर जीवोंको जैसे ज्ञान हो जाता है, वैसे जाति, गुण, मेरा, तेरा आदिपनेका ज्ञान नहीं होता है। भूभवन (तलघर) में उत्पन्न हुए बच्चेको रूप आदिकका ज्ञान हो जाता है। किन्तु गोत्व, अश्वत्व, आदि जातियोंका ज्ञान नहीं हो सकता है। आमको खाकर रसका ज्ञान हो जाता है। किन्तु यह आम आज टूटा है। एक आनेका है। इसको देवदत्त लाया। चार दिन तक ठहर सकता है। इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं हो पाते हैं। अन्यथा सभी देखनेवालोंको होने चाहिये। आपके जैनसिद्धान्तमें भी इनको श्रुतज्ञानका ज्ञेय माना है। प्रत्यक्षज्ञान विचार करनेवाला नहीं है, वैसे ही हम लोगोंके निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें जाति द्रव्य आदिका उल्लेख नहीं है। हां! प्रत्यक्ष ज्ञानके पीछे मिथ्यावासनाओंके अधीन होनेवाली कल्पना (मिथ्याज्ञान) में तो वे जाति आदिक प्रतिभासित हो जाती हैं। ऐसी दशामें यदि वे शब्दके विषय माने जावेंगे तब तो उस शब्दका विषय कल्पना ही हुआ। अतएव हम मानते हैं कि शब्द-जन्य ज्ञान कल्पित पदार्थको ही विषय करता है। तभी तो हम (बौद्ध) आगमको प्रमाण नहीं मानते हैं। इस प्रकार कोई बौद्ध मतानुयायी कह रहे हैं।

तेप्यनालोचितवचनाः। प्रतीतिसिद्धत्वाज्जात्यादीनां शब्दनिमित्तानां वक्तुरभिप्राय-निमित्तान्तरतोपपत्तेः। सदृशपरिणामो हि जातिः पदार्थानां प्रत्यक्षतः प्रतीयते विसदृशप-रिणामाख्यविशेषवत्। पिण्डोयं गौरयं च गौरिति प्रत्ययात् खण्डोयं मुण्डोयमिति प्रत्ययवत्।

अब आचार्य कहते हैं कि उनके ये कहे हुए वचन भी विना विचारे हुए हैं अथवा उन्होंने शब्दसिद्धान्त और शाब्दबोध प्रणालीका विचार नहीं किया है। क्योंकि जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया आदि ये सब प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहे हैं। नाम शब्दका निमित्त कारण वक्ताका अभिप्राय है। किन्तु शब्दके निमित्तसे अतिरिक्त निराले कारण जाति आदि हैं। जैनसिद्धान्तमें नैयायिकोंके समान नित्य, व्यापक, एक और अनेकमें रहनेवाली ऐसी जाति नहीं मानी है, जिस कारणसे कि अनेक पदार्थोंका सदृश परिणाम रूप जाति प्रत्यक्ष प्रमाणसे जानी जा रही है। अनेक गौओंमें सींग, सास्ना, पशुत्व, ककुद् (ढांट), पूंछके प्रान्तमें इकट्ठे बाल होना, आदिकी समानतारूप सदृश परिणाम देखा जा रहा है। जैसे कि विजातीय भैंस, घोडे, ऊंट आदिसे तथा सजातीय अन्य गौओंकी अपेक्षासे प्रकृत एक गौमें विभिन्न परिणाम नामका विशेष पदार्थ प्रमाणों द्वारा देखा जाता है। आप बौद्ध अन्योंकी अपेक्षासे रहनेवाले विशेष परिणामको वस्तुमें जैसे स्वीकार करते हैं, वैसे सादृश्यपरिणामरूप सामान्यको भी स्वीकार कीजिये। अर्थात् विशेष और सामान्य इन दोनोंसे तदात्मक हो रहा वस्तु ही प्रमाणका विषय है। जैसे यह खण्ड गौ व्यक्ति है। यह न्यारी मुण्ड गौ है। इस प्रकार विशेष अंशको

जाननेवाले ज्ञान होते हैं, तैसे ही ये समुदित गौ हैं। यह भी गौ है। यह भी गौ है। इस प्रकार न्यारी गौ व्यक्तियोंमें अन्वय अंशको विषय करता हुआ सामान्यका ज्ञान होता है। " गोवलीवर्द " न्यायके अनुसार गाय कहनेसे बैल और बैल कहनेसे गाय भी समझी जाती है। भिन्न भिन्न प्रकारकी गौओंको देखकर गाय हैं, गाय हैं, ऐसी अन्वय प्रतीति होती है। उसका विषय गोत्व जाति है। ऐसे ही अनेक प्रकारके घोडोंको देखकर यह घोडा है, यह भी घोडा है। ऐसे प्रत्ययसे घोडोंके सदृश परिणामको विषय करनेवाला अश्वत्व जातिका ज्ञान होता है। उस जातिको अवलम्ब करनेवाले जातिशब्द हैं।

भ्रान्तोऽयं सादृश्यप्रत्ययः इति चेत् विसदृशप्रत्ययः कथमभ्रान्तः ? सोऽपि भ्रांत एव स्वलक्षणप्रत्ययस्यैवाभ्रान्तत्वात् तस्य स्पष्टाभत्वादविसंवादकत्वाच्चेति चेत्, नाक्षजस्य सादृश्यादिप्रत्ययस्य स्पष्टाभत्वाविशेषादभ्रान्तत्वस्य निराकर्तुमशक्तेः। सादृश्यवैसदृश्यव्यतिरेकेण स्वलक्षणस्य जातुचिदप्रतिभासनात्। सदृशेतरपरिणामात्मकस्यैव सर्वदोपलम्भात्। सर्वतो व्यावृत्तानंशक्षणिकस्वलक्षणस्य प्रत्ययविषयतया निराकरिष्यमाणत्वात्।

बौद्ध कहते हैं कि सदृशपनको विषय करनेवाला यह ज्ञान भ्रान्तिस्वरूप है। अर्थात् मिथ्याज्ञानसे जाना हुआ विषय वास्तविक नहीं कहा जा सकता है। अब आचार्य उत्तर देते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो बतलाओ ! तुम्हारा विलक्षणपनको विषय करनेवाला विशेषज्ञान अभ्रान्त (प्रमाण) कैसे है ?। इसपर आप बौद्ध यदि यों कहें कि विशेषपनेको जाननेवाला ज्ञान भी भ्रान्त ही है। विशेषपना असाधारणपना, अस्थिरपना, अणुपना ये भी तो एक प्रकारकी कल्पनायें ही हैं। सर्व कल्पनाओंसे रहित अकेले शुद्ध स्वलक्षणको विषय करनेवाला निर्विकल्पक प्रत्यक्षही अभ्रान्त है। क्योंकि वह विशदरूपसे अपने विषयका आभास करता है। तथा वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अविसंवादी भी है। ज्ञानसे जिसको जाना जावे, उसीको प्राप्त किया जावे, वह ज्ञान अविसंवादी कहा जाता है। विशेषपना और सामान्यपना ये दोनों धर्म कल्पित हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय नहीं हैं। ग्रन्थकार कह रहे हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि सदृशपना (सामान्य) विसदृशपना (विशेष) स्थूलपना, स्थिरता आदिका भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास हो रहा है, कोई अन्तर नहीं है अर्थात् प्रमाणरूप प्रत्यक्षसे जैसे स्वलक्षण जाना जा रहा है तैसे ही सामान्य, विशेष भी जाने जा रहे हैं। सामान्य या विशेषको जाननेवाले ज्ञानके अभ्रान्तपनेका निराकरण नहीं किया जा सकता है। सामान्य और विशेषको छोडकर अकेले स्वलक्षणका कभी एकबार भी ज्ञान नहीं होता है। सदृशपने और विसदृशपने परिणामोंसे तदात्मक हुये पदार्थका ही सदा प्रतिभास हो रहा है। आप बौद्ध लोगोंने सभी धर्मोंसे पृथग्भूत और अंशोंसे सर्वथा रहित तथा क्षणमें ही नष्ट होनेवाला ऐसा स्वलक्षण पदार्थ मान रखा है, वह तो किसी भी ज्ञानका विषय नहीं होता है। धर्म और अंशोंसे सहित तथा कुछ कालतक ठहरनेवाले पदार्थ ही ज्ञानके विषय होते हैं। श्री

अकलङ्कदेवने जायते, अस्ति विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षयते, विनश्यति, ये भावोंकी छह परिणतियां मानी हैं। अश्वविषाणके समान आपके माने हुए स्वलक्षणका ज्ञानमें विषय पडनेपनेसे खण्डन कर दिया जावेगा। अर्थात् वह किसी भी ज्ञानमें विषय नहीं हो सकता है। वह स्वलक्षण पदार्थ जगत्में वस्तुभूत है भी तो नहीं। तो फिर ज्ञान किसका ?।

सविकल्पप्रत्यक्षे सदृशपरिणामस्य स्पष्टमवभासनात् सर्वथा बाधकाभावात्। वृत्तिविकल्पादिदूषणस्यात्रानवतारात्। न हि सदृशपरिणामो विशेषेभ्योऽत्यन्तं भिन्नो नाप्यभिन्नो येन भेदाभेदैकान्तदोषोपपातः। कथञ्चिद्भेदाभेदात्। न च तेषु तस्य कथञ्चित्तादात्म्यादन्या वृत्तिरेकदेशेन सर्वात्मना वा यतः सावयवत्वं सादृश्यपरिणामस्य व्यक्त्यन्तरा वृत्तिर्वा स्यात्।

प्रमाणरूप सविकल्पक प्रत्यक्षमें सदृशपरिणाम (सामान्य) का स्पष्ट रूपसे प्रकाश हो रहा है। सभी प्रकारोंसे इसमें बाधक प्रमाणोंका अभाव है। वह सामान्य अपने आधारभूत वस्तुमें किस सम्बन्धसे तथा कहां किस प्रकार ठहरेगा। ऐसे वृत्ति (सम्बन्ध) के विकल्प उठाना आदि दोषोंका यहां अवतार नहीं है। हम स्याद्वादीजन विशेष व्यक्तियोंसे सदृश परिणामको सर्वथा भिन्न नहीं मानते हैं, और व्यक्तियोंसे सर्वथा अभिन्न भी नहीं मानते हैं, जिससे कि नैयायिकोंके ऊपर भेदके एकान्त माननेपर आये हुए दोष हमारे ऊपर भी लागू हो जावें। अथवा कापिलोंके ऊपर अभेद वादके अनुसार आये हुए दोष हमारे ऊपर भी गिर सकें। निर्णय यह है कि हम लोग कथञ्चित् भेद अभेदसे व्यक्तियोंमें सादृश्यस्वरूप जातिकी वृत्ति मानते हैं, इसीका नाम कथञ्चित् तादात्म्य है। उन विशेष व्यक्तियोंमें उस सदृशपरिणामरूप जातिका वर्तना (सम्बन्ध) कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धसे निराला नहीं है। यदि सादृश्य परिणामकी एकदेश (अंश) करके भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें वृत्ति मानी जावेगी ऐसी दशामें तो सदृश परिणामको सावयवपनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—जैसे कि सीधे (जीमने) हाथके पञ्चागुलको डेरे हाथके पञ्चागुलके ऊपर रखा जाता है, तो वह एक एक अंगुलीरूप अंशसे दूसरे हाथकी अंगुलियोंके ऊपर ठहरता है। ऐसी दशामें आधेयरूप सीधे हाथका पञ्चांगुल सावयवरूप है। अथवा एक अंगरखा भिन्न भिन्न अवयवोंसे शरीरके अनेक अवयवोंपर संयुक्त होरहा है, अतः वह अंगरखा सावयव है। ऐसे ही गोत्वका कुछ अंश आगरेमें बैठी हुयी गौमें माना जावे और अन्य अंश सहारनपुरकी गौमें स्थित रहे, तीसरा अंश पटनाकी गौमें रहे, ऐसा माननेपर नैयायिकोंके सामान्यमें अवश्य अवयव सहितपनेका प्रसंग आता है। किन्तु हम जैन लोगोंके ऊपर नहीं। क्योंकि आगरेकी गौका सामान्य वहींकी गौमें है और सहारनपुरकी गौका सदृशपरिणाम सहारनपुरकी गौमें ही है, अन्वयज्ञान हो जानेसे सदृशपनेका व्यवहार है। सुन्दर मुखके धर्म मुखमें ही हैं, चन्द्रमामें नहीं और चन्द्रमाके स्वभाव चन्द्रमामें ही हैं, मुखमें नहीं। गोलपना और आल्हादकपनेसे मुखकी उपमा चन्द्रमासे है, वस्तुतः सामान्य धर्म व्यक्तिरूप ही है।

अतः सदृश परिणाम (जाति) को भिन्न भिन्न देशोंमें अंशरूपसे रहनेवाले अवयव सहितपनेका प्रसंग नहीं है। तथा आप वैशेषिकोंकी मानी गयी एक गोत्वजातिको सम्पूर्ण स्वरूपसे एक व्यक्तिमें ही वृत्ति मान लिया जावे तो अन्य व्यक्तियोंमें गोपना नहीं वर्त सकेगा। ऐसी दशामें एक गौ व्यक्ति तो गौ बनी रह सकेगी। अन्य गौ व्यक्तियां अगो हो जावेंगी। एकान्तवादियोंके यहां ये दोष अवश्य आते हैं। किन्तु कथञ्चित् भेदाभेद पक्षमें नहीं। प्रकृत गौमें गोपना है और अन्य गौमें उसका गोपना है। संग्रहनयकी अपेक्षासे अनेक सदृश परिणामोंको एक भी कह सकते हैं। जैसे कि अनेक अवान्तर सत्ताओंके समुदायको महासत्ता कह देते हैं।

न चास्य सर्वगतत्वं येन कर्कादिषु गोत्वादिप्रत्ययसांकर्यं, नापि स्वव्यक्तिषु सर्वात्मैक एव येनोत्पित्सुव्यक्तौ पूर्वाधारस्य त्यागेनागमने तस्य निःसामान्यत्वं तदागमेनागतौ सावयवत्वं प्रागेव तद्देशेऽस्तित्वे स्वप्रत्ययहेतुत्वं प्रसज्यते, विसदृशपरिणामेनैव सदृशपरिणामेनाक्रान्ताया एवोत्पित्सुव्यक्तेः स्वकारणादुत्पत्तेः।

नैयायिकोंके समान इस सदृश परिणाम (जाति) को हम सर्वव्यापक नहीं मानते हैं। जिससे कि धौला घोडा, रोझ, गेंडा आदि मध्यवर्तियोंमें गोपना, महिषपना आदिके ज्ञानोंका सांकर्य हो जावे। अर्थात् गोत्वको व्यापक माननेसे गौके सदृश शुक्ल घोडेमें भी गोत्वके विद्यमान रह जानेपर गोबुद्धि हो जावेगी। किन्तु स्याद्वादसिद्धान्तमें गोत्वको व्यापक नहीं माना है। एक, एक गोव्यक्तिमें न्यारा न्यारा सदृश गोत्व रहता है। शुक्ल घोडेमें वह गोत्व नहीं है। तथा अपनी सभी गोव्यक्तियोंमें वह गोत्व सामान्य एक ही रहता है यह भी नहीं समझना, जिससे ये तीन दोष आ सकें कि उत्पन्न होनेवाली एक गोव्यक्तिमें पहिले आधारको छोडकर उस गोत्वका आगमन माना जावेगा तो उस पहिली गो व्यक्तिको सामान्य रहितपनेका प्रसंग होगा। तथा यदि पहिले आधारको न छोडकर वह गोत्व नवीन उत्पन्न हुयी गौमें आ जावेगा, तब तो गोत्वको अवयव सहितपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि कतिपय अंशोंसे गोत्व पहिले आधारमें स्थित रहा और उसके दूसरे कतिपय अवयव अन्य स्थलमें उत्पन्न हुए नवीन गौमें आगये हैं, वैशेषिकोंने द्रव्यमें ही क्रिया मानी है। जातिमें तो आना, जानरूप क्रिया नहीं बन सकती हैं। तथा नवीन गौके उत्पन्न होनेवाले उस प्रदेशमें पहिलेसे ही गोत्वका अस्तित्व माना जावेगा तो वह आधार विना ठहरा कहां? तथा गौ उत्पत्तिके पूर्वकालोंमें भी अपने गोपनेके ज्ञान होनेकी कारणताका प्रसंग तीसरा होता है। न्यायदीपिकामें कहा है कि " न याति न च तत्रास्ति, न पश्चादस्ति नाशवत्। जहाति पूर्वं ना धारमहो व्यसनसन्ततिः "। न तो कहीं जाती है। न वहां है। व्यक्ति नष्ट हो जानेके पीछे वहां रहती भी नहीं, तथा पहिले आधारको छोडती भी नहीं। फिर भी नित्य एक जातिको मानते रहना यह व्यसनियोंका कोरा आग्रह है। वास्तवमें बात यह है कि उत्साह सहित उत्पन्न हो जानेवाली व्यक्ति जो अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हो रही है, वह जैसे विशेष परिणामसे सनी हुयी उपज रही है,

तैसे ही समान परिणामसे आक्रान्त होकर ही उत्पन्न हो रही है। भावार्थ—विशेष और सामान्य दोनों धर्मोंसे युक्त व्यक्ति अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हो रही है, सामान्य और विशेष दोनों एक मातासे जाये हुए भाई हैं, दोनों वस्तुभूत हैं।

कथमेवं नित्या जातिरुत्पित्समव्यक्तिवदिति चेत्, द्रव्यार्थादेशादिति ब्रूमः, व्यक्तिरपि तथा नित्या स्यादिति चेत् न किञ्चिदनिष्टं, पर्यायार्थादेशादेव विशेषपर्यायस्य सामान्यपर्यायस्य वाऽनित्यत्वोपगमात्।

यहां कोई पूंछता है कि सदृश परिणामरूप जातिको आप अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ मानेंगे तो इस प्रकार माननेपर भला जाति नित्य कैसे रह सकेगी ? जैसे उत्पन्न होनेवाली व्यक्ति अनित्य है, वैसे ही जाति अनित्य हो जावेगी। फिर जातिके नित्यपनेकी प्रसिद्धिका जैनोंके यहां निर्वाह कैसे होगा ? ऐसा कहनेपर तो हम इस प्रकार स्पष्ट कहते हैं कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जाति नित्य है। भावार्थ—व्यक्तिके उत्पन्न होनेपर उससे अभिन्न जाति भी उत्पन्न हो जाती है। किन्तु द्रव्यदृष्टिसे जाति पदार्थ नित्य है। जातिनामक परिणामके परिणामी पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य आदि नित्यपदार्थ हैं। यदि कोई यों कहें कि तिस प्रकार द्रव्यदृष्टिसे तो घट, पट, गौ आदि व्यक्तियां भी नित्य हो जावेंगी। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि व्यक्तियोंको भी नित्य हो जाने दो ! हम स्याद्वादियोंको कुछ भी अनिष्ट नहीं है। हमने पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे ही विशेषरूप पर्यायको और सामान्यरूप पर्यायको अनित्यपने करके स्वीकार किया है। द्रव्यदृष्टिसे तो सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं ही।

नोत्पत्तिमत्सामान्यमुत्पित्सुव्यक्तेः पूर्वं व्यक्त्यंतरे तत्प्रत्ययादिति चेत्। तत एव विशेषोप्युत्पत्तिमान्मा भूत्। पूर्वो विशेषः स्वप्रत्ययहेतुरन्य एवोत्पित्सुविशेषादिति चेत्, पूर्वव्यक्तिसामान्यमप्यन्यदस्तु।

यहां कोई वादी कहता है कि सामान्य (जाति) नित्य है। यानी सामान्य उत्पत्तिवाला नहीं है। क्योंकि उत्पन्न होनेके लिये उत्सुक हो रही व्यक्तिके पहिले भी अन्य व्यक्तियोंमें उस सामान्यका ज्ञान हो रहा है। अर्थात् सामान्यकी यदि उत्पत्ति मानी जावेगी तो उत्पत्तिके पहिले सामान्यका ज्ञान नहीं होना चाहिये, किन्तु होता है। अतः सिद्ध है कि सामान्य नित्य है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो उस ही कारणसे विशेष भी उत्पत्तिवाला न हो सकेगा। क्योंकि विशेषसहित उत्पन्न हो रही व्यक्तिके पूर्व समयोंमें अन्य व्यक्तियोंमें भी विशेषका ज्ञान हो रहा है। यदि यों कहोगे कि वह पहिला विशेष इस उत्पन्न हो रहे विशेषसे भिन्न होता हुआ ही अपने ज्ञानका हेतु है। यानी विशेष पदार्थ अनेक हैं, उत्पन्न हो रहे विशेषसे पहिले उत्पन्न हो चुका विशेष न्यारा है। गौका विशेष भिन्न है, और महिषका विशेष निराला है। आचार्य समझाते हैं कि ऐसा कहनेपर तो सामान्यको भी ऐसा ही मान लो ! उत्पन्न हो रहे सामान्यसे पहिली व्यक्तियोंका सामान्य न्यारा ही है। सामान्य भी अनेक हैं।

तर्हि सामान्यं समानप्रत्ययविषयो न स्यात् व्यक्त्यात्मकत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवदिति चेत् न, सदृशपरिणामस्य व्यक्तेः कथञ्चिद्भेदप्रतीतेः। प्रथममेकव्यक्तावपि सदृशपरिणामः समानप्रत्ययविषयः स्यादिति चेत् न, अनेकव्यक्तिगतस्यैवानेकस्य सदृशपरिणामस्य समानप्रत्ययविषयतया प्रतीतेः विशेषप्रत्ययविषयतया वैसदृशपरिणामवत्।

यहां कोई कहते हैं कि तब तो यह इसके समान है, यह इसके समान है, इस प्रकार समान ज्ञानका विषय सामान्य पदार्थ न हो सकेगा। क्योंकि वह सामान्य व्यक्तियोंसे तदात्मक है। जैसे कि व्यक्तिका अपना व्यक्तिस्वरूप आत्मा सर्वथा एक व्यक्ति होनेसे अन्वयरूप करके समानज्ञानका विषय नहीं है। एक घटव्यक्ति अनेक घटोंमें अपने डीलसे अन्वित नहीं हो सकती है। ऐसे ही व्यक्तिरूप सामान्य भी अन्वय ज्ञान न करा सकेगा। ग्रन्थकार बोलते हैं कि इस प्रकारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि सदृश परिणामका व्यक्तिसे कथञ्चित् भेद प्रतीत हो रहा है। यानी व्यक्ति और सदृशरूप पर्यायका सर्वथा अभेद नहीं है। भावार्थ—एक व्यक्ति व्यक्त्यन्तरमें भले ही अन्वित न होवे। किन्तु व्यक्तिसे कथञ्चित् भिन्न सामान्य अनेक व्यक्तिओंमें ओतप्रोत होकर रह सकता है। यहां कोई यों कहे कि यदि व्यक्तिरूप ही जाति मानी जावेगी तो अकेली विशेष व्यक्तिमें भी पहिले से ही वह सादृश्यपरिणामरूप जाति समानज्ञानका विषय हो जावे यानी केवल एक ही व्यक्तिके देखनेपर यह समान है। ऐसा ज्ञान हो जाना चाहिए। क्योंकि आप जैनोंके सन्तव्यानुसार एक व्यक्तिमें पूरा सदृशपरिणामरूप समान्य पहिलेसे ही विद्यमान है। अब आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि आप बौद्ध या नैयायिकोंने भी विसदृश परिणाम रूप विशेषको एक व्यक्तिमें ही रहनेवाला स्वीकार किया है। फिर भी अन्य की अपेक्षासे ही यह इससे विशेष है। यह इससे विलक्षण है। ऐसे ही विसदृश परिणामको विशेष ज्ञानके विषयपनेसे स्वीकार किया है। तैसे ही यहां अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाले न्यारे न्यारे अनेक विशेष, जैसे विशेष ज्ञानके विषय हैं तैसे ही अनेक व्यक्तियोंमें निज निज सम्बन्धी प्राप्त हुए अनेक सदृश परिणामोंकी समान ज्ञानके विषयपनेसे प्रतीति हो रही है। भावार्थ—अनेक सामान्य ही अनेक व्यक्तियोंमें समान है, या इसके समान है, ऐसा ज्ञान कराते हैं। एक सामान्य नहीं। वैशेषिकोंने द्वित्व संख्याको समवाय सम्बन्धसे एक एक व्यक्तिमें न्यारा रहता माना है। फिर भी दो व्यक्तियोंके होने पर ही "दो" ऐसा ज्ञान होगा, अकेले में नहीं।

ननु च प्रतिव्यक्तिभिन्नो यदि सदृशपरिणामः परं सदृशपरिणाममपेक्ष्य समानप्रत्ययविषयस्तदा व्यक्तिरेव परां व्यक्तिमपेक्ष्य तथास्तु विशेषाभावादलं सदृशपरिणामकल्पनयेति चेत् न, विसदृशव्यक्तेरपि व्यक्त्यन्तरापेक्षया समानप्रत्ययविषयत्वप्रसंगात्, तथा च दधिकरभादयोपि समाना इति प्रतीयेरन्।

यहां कोई दूसरी शंका करता है कि आप जैन यदि प्रत्येक व्यक्ति में न्यारा न्यारा सदृश परिणामरूप सामान्य मानेंगे, तब तो वह व्यक्तिस्वरूप हुआ और व्यक्ति तो दूसरे सदृश परिणामकी अपेक्षा करके समान इत्याकारक ज्ञानका विषय होती है। अतः वह सदृशपरिणाम भी दूसरे व्यक्तिरूप ही ठहरेगा, तब तो एक एक व्यक्ति ही दूसरी व्यक्तिकी अपेक्षा करके तिसी प्रकार समानज्ञानका विषय हो जाओ ! व्यक्ति और सदृश परिणाममें कोई विशेषता नहीं है। अतः सदृश परिणामकी कल्पनासे कुछ भी प्रयोजन नहीं सधा, व्यक्तिके ऊपर व्यक्तिरूप सदृश परिणामका बोझ लादनेसे कुछ लाभ नहीं है। अर्थात् मूल व्यक्तियोंसे ही समान ज्ञान या अन्वयज्ञान हो जावे। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो नहीं कहना। क्योंकि यदि व्यक्तिसे भिन्न एक सदृश परिणामकी कल्पना न की जावेगी तो विलक्षण व्यक्तिको भी अन्य व्यक्तिओंकी अपेक्षासे समान ज्ञानके विषयपनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—गौ व्यक्ति है, महिष भी एक अन्य व्यक्ति है। यदि व्यक्ति ही समान ज्ञान करा देवेगी तो भैंस गौके समान है, यह ज्ञान भी हो जावेगा। और तिसी प्रकार दही, ऊंटका बच्चा रासभ आदि व्यक्तियां भी समान हैं, इस प्रकार निर्णीत कर ली जावें। भावार्थ—" चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति " दही खाओ ! इस निर्देशसे प्रेरित हुआ पुरुष ऊंटकी ओर क्यों नहीं भागता है। भिन्न भिन्न व्यक्ति होनेसे उनमें भी अनेक दधिव्यक्तियोंके तुल्य समान ऐसा ज्ञान हो जाना चाहिये। किन्तु दही और ऊंटमें समान ऐसा समीचीन ज्ञान नहीं होता है। अतः अनुमित होता है कि व्यक्तिसे कथञ्चित् भिन्न सदृशपरिणाम ही समानज्ञानका विषय है, वह दहीका समान परिणाम ऊंटमें नहीं है। ऊंटमें ऊंटोंका समान परिणाम है और दधिमें अन्य दधि व्यक्तियोंका समान परिणाम है।

ननु चैकस्यां गोव्यक्तौ गोत्वं सदृशपरिणामो गोव्यक्त्यन्तरसदृशपरिणाममपेक्ष्य यथा समानप्रत्ययविषयस्तथा सत्त्वादिसदृशपरिणामं कर्कादिव्यक्तिगतमपेक्ष्य स तथास्तु भेदाविशेषात्तदविशेषेपि शक्तिः तादृशी तस्य तया किञ्चिदेव सदृशपरिणामं सन्निधाय तथा न सर्वमिति नियमकल्पनायां दधिव्यक्तिरपि दधिव्यक्त्यन्तरापेक्ष्य दधित्वप्रत्ययतामियर्तु तादृशशक्तिसंधानात्करभादीनपेक्ष्य मास्मेय इति चेत् सा तर्हि शक्तिर्व्यक्तीनां कासाञ्चिदेव समानप्रत्ययत्वहेतुर्यद्येका तदा जातिरेवैकसादृश्यवत्। तदुक्तं जातिवादिना। " अभेदरूपं सादृश्यमात्मभूताश्च शक्तयः। जातिपर्यायशब्दत्वमेषामभ्युपवर्ण्यते" इति। अथ शक्तिरपि तासां भिन्ना सैव सदृशपरिणाम इति नाममात्रं भिद्यते।

फिर किसीकी शंका है कि एक विशेष गोव्यक्तिमें सदृश परिणामरूप गोत्व यदि अन्य गो व्यक्तियोंके सदृश परिणामरूप गोत्वकी अपेक्षा करके जैसे समान ज्ञानका विषय है, तैसे ही श्वेत घोडा, रोझ, आदि व्यक्तियोंमें प्राप्त हुए उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत्त्व या अस्तिपना, वस्तुपना, प्रमेयपना, आदि स्वभावोंकी अपेक्षा करके वह सदृश परिणाम तिस प्रकार हो जाओ ! यानी

सत्त्व, प्रमेयत्व आदि धर्मोंकी अपेक्षासे श्वेत अश्व, रोझ, महिष आदि भी सदृश हैं। अतः यहां भी समानपनेका ज्ञान हो जाना चाहिये। अनेक गोव्यक्तियोंके सदृश कर्क आदिकोंमें भी भेद वैसा ही है कोई अन्तर नहीं है। उसका अन्तर न होते हुए भी उस सदृश परिणामकी तैसी एक शक्ति मानोगे जिस शक्तिसे कि कोई विवक्षित ही सदृशपरिणामको निकट कारण मानकरके तिस प्रकार समान ज्ञान होता है। सभी यहां वहांके सदृश परिणामोंकी अपेक्षा करके समान ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार नियमकी कल्पना करनेपर तो दहीरूप व्यक्ति भी अन्य दहीरूप अनेक व्यक्तियोंकी अपेक्षा करके दधिपनेके ज्ञानकी विषयताको प्राप्त हो जाओ! क्योंकि तैसी शक्तिका मेल दधि व्यक्तियोंमें ही है, ऊंट, रोझ आदिमें नहीं। अतः ऊंट आदिकोंको अपेक्षा करके दहीके समान ज्ञानकी विषयता नहीं है। अतः शक्तिसे ही कार्य निर्वाह हो जावेगा, सदृश परिणाम मानना व्यर्थ है। यदि इस प्रकार तुम शंकाकार कहोगे तब तो हम जैन पूंछते हैं कि किन्हीं ही व्यक्तियोंका समान ज्ञान करानेकी वह कारणरूप शक्ति यदि एक है तब तो वह शक्ति जाति ही है। नित्य और एक होती हुयी अनेकोंमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाली जो वस्तु है वह जाति ही हो सकती है। जैसे कि अनेकोंमें रहनेवाला एक सादृश्य वैशेषिकोंके यहां जातिरूप ही माना गया है। वैशेषिक लोग सादृश्यको सात पदार्थोंसे अतिरिक्त नहीं मानते हैं। मुख और चन्द्रमामें रहनेवाली आल्हादकत्व जातिको सादृश्य माना है। तैसे ही किन्हीं विवक्षित व्यक्तियोंमें समान ज्ञान करानेवाली शक्ति भी एक जाति रूप ही पडेगी। जातिको माननेवाले नैयायिक या वैशेषिकने उसी बातको अपने ग्रन्थमें इस प्रकार कहा है कि अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाला अभेदरूपी एक सादृश्य और पदार्थोंकी एक आत्मारूप शक्तियां तथा जाति इन तीनोंको पर्यायवाची शब्दपना स्वीकार किया जाता है। यदि अब आप यों कहें कि उन व्यक्तियोंकी शक्ति भी भिन्न भिन्न हैं एक नित्य जातिरूप नहीं है। तब तो वही हमारे यहां सदृशपरिणाम माना गया है। आप उसको शक्ति कहते हैं, हम उसको सदृश परिणाम कहते हैं, इस प्रकार यहां केवल शब्दसे भेद है। अर्थसे नहीं। आपने भी अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाली नाना शक्तियों (सामान्यों) को भिन्न भिन्न स्वीकार कर लिया है। हमने भी सामान्यको वैसा ही व्यक्तियों स्वरूप माना है।

कथं नियतव्यक्त्याश्रयाः केचिदेव सदृशपरिणामाः समानप्रत्ययविषया इति चेत्, शक्तयः कथं काश्चिदेव नियतव्यक्त्याश्रयाः समानप्रत्ययविषयत्वहेतव? इति समः पर्यनुयोगः। शक्तयः स्वात्मभूता एव व्यक्तीनां स्वकारणात्तथोपजाता इति चेत् सदृशपरिणामास्तथैव संतु।

यहां कोई कहता है कि नियमित विशेष व्यक्तिरूप आधारमें रहने वाले कोई ही आधेयभूत सदृश परिणाम भला समान ज्ञानके विषय कैसे हो जाते हैं ? बताओ। भावार्थ—उष्ट्र, महिष, आदि भी विशेष व्यक्तियां हैं। अनेक ऊंटोंमें ऊंटपनेसे समानज्ञान होता है और अनेक गौओं में गोपनेसे समानज्ञान होता है। किन्तु गौका ऊंटमें समान ज्ञान क्यों नहीं होता है ? भिन्न भिन्न

व्यक्तियोंमें रहने वाला समान परिणाम तो वहां है ही। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो तुम ही बतलाओ कि तुम्हारी मानी हुयीं नियमित व्यक्तियोंमें रहनेवाली ही कोई कोई शक्तियां कैसे समानज्ञानके विषयपनेकी कारण है ? इस प्रकार तुम्हारे ऊपर भी हमारी ओरसे प्रश्न करनेका अवसर समान है। यदि तुम कहोगे कि शक्तियां तो व्यक्तियोंके निजात्मस्वरूप हो रहीं सन्ती ही अपने अपने कारणसे तिस प्रकारकी उत्पन्न हो गयीं हैं। ऐसा कहने पर तो हमारे माने हुए सदृश परिणाम भी तिस ही प्रकार अपने कारणोंसे उत्पन्न हुए समानज्ञानके हेतु हो जाओ। अर्थात् जिन कारणोंसे गौ उत्पन्न होती है उन्ही कारणोंसे गौके सदृश परिणाम भी उत्पन्न हो जाते हैं। वे गौओं में समानज्ञान करानेमें कारण हैं, विसमान व्यक्तियोंमें नहीं।

ननु च यथा व्यक्तयः समाना एता इति प्रत्ययस्तत्समानपरिणामविषयस्तथा समानपरिणामा एते इति तत्र समानप्रत्ययोपि तदपरसमानपरिणामहेतुरस्तु। तथा चानवस्थानम्। यदि पुनः समानपरिणामेषु स्वसमानपरिणामाभावेऽपि समानप्रत्ययस्तदा खण्डादिव्यक्तिषु किं समानपरिणामकल्पनया। नित्यैकव्यापिसामान्यवत्तदनुपपत्तेरिति चेत् कथमिदानीमर्थानां विसदृशपरिणामा विशेषप्रत्ययविषयाः ? स्वविसदृशपरिणामान्तरेभ्य इति चेदनवस्थानम्। स्वत एवेति चेत्सर्वत्र विसदृशपरिकल्पनानर्थक्यम्।

पुनः किसीकी शंका है कि जैसे कि ये (अनेक गौ) व्यक्तियां समान हैं, इस प्रकारका ज्ञान समानपरिणतिको विषय करनेवाला है, तैसे ही ये (अनेक गौओंमें रहनेवाले) समान परिणाम हैं। इस प्रकारका उन समानपरिणामोंमें होनेवाला समान ज्ञान भी उनसे न्यारे दूसरे समानपरिणामोंको कारण मान कर होगा और उन दूसरे समान परिणामोंमें भी समानज्ञान तीसरे समानपरिणामोंको कारण मानकर होगा। तैसा होते होते अनवस्था दोष हो जावेगा। अनवस्था दोषके निवारणके लिये फिर यदि समान परिणामोंमें अन्य अपने समान परिणामोंके विना भी समानज्ञान हो जाना मान लोगे तब तो खण्ड, मुण्ड, शाबलेय, बाहुलेय आदि गौव्यक्तियोंमें भी अपने समान परिणामके विना ही समानज्ञान हो जावेगा। ऐसी दशामें सादृश्यरूप समान परिणामकी कल्पनासे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं। जैसे वैशेषिकोंका माना गया गया नित्य एक और अनेक व्यक्तियोंमें व्यापक माना गया सामान्य (जाति) पदार्थ नहीं बनता है, उसीके समान आप जैनोंसे माना गया वह सदृशपरिणाम भी सिद्ध नहीं हो पाता है। अब ग्रन्थकार समझाते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि इस समय पदार्थोंके विसमानपरिणामज्ञानके हेतुरूप विशेष कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? ये व्यक्तियां परस्परमें विशेषतायुक्त हैं, विशिष्ट हैं, विलक्षण हैं, जिस प्रकार विशेषज्ञानके लिये विसदृश परिणामोंकी आवश्यकता है। उसी प्रकार विसदृशपरिणामोंको भी परस्परमें विशेषता लानेके लिये अपनेसे अतिरिक्त दूसरे विसदृश परिणामोंकी आकांक्षा होगी। वे विसदृशपरिणाम भी अन्य तीसरे विसदृश परिणामोंसे ही विशेषतायुक्त हो सकेंगे।

ऐसा माननेपर तो तुमको भी अनवस्था दोष होगा। उस अनवस्थाके वारणके लिये विशेष परिणामोंकी विशिष्टताको अपने आप ही होता हुआ मानोगे, तब तो सभी विशेष व्यक्तियोंमें विसदृश परिणामकी लम्बी कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि विसदृश परिणामके माने विना भी अपने आप विशेष ज्ञान हो जावेगा, अर्थात् जैसे आपने समान परिणामको माननेमें हमको दोष दिया है, वैसा ही अनवस्था और वैयर्थ्यदोष आपके विसदृश परिणाममें भी लागू होते हैं।

स्वकारणादुपजाता एवार्थाः विसदृशप्रत्ययविषयाः स्वभावत एवेति चेत्, समानप्रत्ययविषयास्ते स्वभावतः स्वकारणादुपजायमानाः किं नानुमन्यंते तथा प्रतीत्यपलापे फलाभावात्। केवलं स्वस्वभावो विशेषप्रत्ययविषयोऽर्थानां विसदृशपरिणामः, समानप्रत्ययविषयः सदृशपरिणाम इति व्यपदिश्यते न पुनरव्यपदेश्यः। सामर्थ्यं वा तत्तादृशमिति पर्यन्ते व्यवस्थापयितुं युक्तं, ततो लोकयात्रायाः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण अर्थ विचारे स्वभावसे ही विसदृशज्ञानके विषय हो रहे हैं, ऐसा कहोगे तो अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हो रहे वे गौ, घट, आदि पदार्थ भी स्वभावसे ही समान इस ज्ञानके विषय हैं, यह क्यों नहीं मान लिया जाता है। तैसी प्रसिद्ध प्रतीतिके छिपानेमें कोई फल नहीं है, बात इतनी ही है कि विशेष परिणामके समान सादृश्य परिणाम भी अपने ज्ञानका विषय हो रहा है। सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तुके निज स्वभाव हैं। केवल वस्तुका अपना स्वभाव जो पदार्थोंके विशेषज्ञानका विषय हो रहा है वह अंश विसदृश परिणाम है, और जो वस्तुका अपना तदात्मक स्वभाव पदार्थोंके समानज्ञानका गोचर हो रहा है वह अंश सदृश परिणाम, ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह स्वभाव फिर सर्वथा अवाच्य नहीं है जैसा कि बौद्ध लोगोंने विशेष पदार्थको अवाच्य माना है वैसा विशेषपदार्थ या सामान्यपदार्थ अवाच्य नहीं है। मीमांसकोंके द्वारा मानी गयी वह वैसी सामर्थ्य (शक्ति) समानज्ञान करा देती है, इस प्रकार भी अन्तमें जाकर व्यवस्था करना युक्त नहीं है, क्योंकि उससे लोकयात्रा (व्यवहार) की प्रवृत्ति न बन सकेगी। मीमांसक लोग गो इस पदकी शक्ति गोत्व जातिमें स्वीकार करते हैं, यानी गो शब्दका वाच्य गोत्व जाति है, किन्तु लोकमें देखा जाता है कि बोझ लादना, गाडी खींचना, दूध देना, व्याना आदि क्रियाओंमें गो व्यक्ति उपयोगी है। गोत्व जाति नहीं। शब्दजन्य सम्पूर्ण व्यवहार सादृश्यकी भित्ति पर डटे हुए हैं, एकको जान लेनेपर सदृश शब्द द्वारा अनेकोंका ज्ञान हो जाता है। धूम आदि हेतु भी सादृश्य रखते हुए वह्निज्ञानके साधन हैं, अतः बौद्ध और मीमांसकोंको लोकप्रवृत्तिके अनुसार सादृश्यको वास्तविक और वाच्य मानते हुए पदका अर्थ जान लेना चाहिये अन्य उपाय नहीं है।

सन्निवेशविशेषस्तत्प्रत्ययविषयो व्यपदिश्यत इति चेत्, स कथं परिमितास्वेव व्यक्तिषु न पुनरन्यासु स्यात्। स्वहेतुवशादिति चेत् स एव हेतुस्तत्प्रत्ययविषयोऽस्तु किं सन्निवेशेन,

सोऽपि हेतुः कुतः परिमितास्वेव व्यक्तिषु स्यादिति समानः पर्यनुयोगः स्वहेतोरिति चेत्सोपि कुत इत्यनिष्ठानं ।

नैयायिक लोग जाति, आकृति और व्यक्ति इन तीनको पदका वाच्य अर्थ मानते हैं। " जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः " गो शब्दसे गोत्व जाति तथा गौका आकार (रचना विशेष) और गो व्यक्ति कही जाती हैं। केवल आकृतिको ही पदका वाच्य अर्थ मानने वाले कहते हैं कि उस अन्वय सहित समानज्ञानका विषय तो रचना विशेष कहा जाता है। ऐसा कहने पर तो हम जैन पूंछेगे कि वह रचनाविशेष परिमित ही व्यक्तियोंमें कैसे है ? किन्तु फिर अन्य व्यक्तिओंमें क्यों नहीं है ? बताओ। अर्थात् वह गौकी रचना अनेक सजातीय गौओंमें है। रोझ, ऊंट, आदिमें क्यों नहीं है। उत्तर दीजिये। इसके उत्तरमें यदि आप यों कहेगे कि अपने अपने कारणोंके वश वह विशेष रचना परिमित व्यक्तियोंमें ही हुयी है अन्य सबमें नहीं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि वह अपना अपना हेतु ही उस समान ज्ञानका विषय हो जाओ ! बीचमें सन्निवेशके माननेसे क्या लाभ है ? सिरके चारों ओर हाथको घुमाकर नाक पकडनेसे सीधे ढंगसे नाक पकडना अच्छा है। दूसरी बात यह है कि उस रचना विशेषका कारण वह हेतु भी गिनती की गई हुयी ही कुछ व्यक्तियोंमें क्यों है ? अन्य महिष आदिक व्यक्तियोंमें क्यों नहीं। इस प्रकारका प्रश्न उठाना तुम्हारे ऊपर भी समानरूपसे लागू होता है। पुनः उस हेतुके लिये भी अपने अन्य हेतुको नियामक मानोगे तो फिर भी वही प्रश्न उठाया जावेगा। यानी वह हेतु भी किससे और क्यों विशिष्ट हेतुका जनक है ! कहिये। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी।

पर्यन्ते नित्यो हेतुरुपेयते, अनवस्थानपरिहरणसमर्थ इति चेत् प्रथमत एव सोऽभ्युपेयतां सन्निवेशविशेषप्रसवाय। सोपि कुतः परिमितास्वेव व्यक्तिषु सन्निवेशविशेषं प्रसूते न पुनरन्यास्विति वाच्यम्। स्वभावात्तादृशात्सामर्थ्याद्वा व्यपदेश्यादिति चेत् तर्हि तेन वाग्गोचरातीतेन स्वभावेन सामर्थ्येन वा वचनमार्गावतारिवस्तुनिबन्धना लोकयात्रा प्रवर्तत इति। समभ्यधायि भर्तृहरिणा " स्वभावो व्यपदेश्यो वा सामर्थ्यं वावतिष्ठते। सर्वस्यान्ते यतस्तस्माद्व्यवहारो न कल्पते " इति। तस्माद्वाग्गोचरवस्तुनिबन्धनं लोकव्यवहारमनुरुध्यमानैर्व्यपदेश्यैव जातिः सदृशपरिणामलक्षणा स्फुटमेषितव्या।

कुछ कोटि चलते हुए अन्तमें जाकर अनवस्था दोषके परिहार करनेमें समर्थ होरहे नित्य हेतुको हम स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा कहोगे तो विशेष रचनाको उत्पन्न करनेके लिये पहिलेसे ही वह नित्य हेतु स्वीकार कर लिया जावे। जातिरूप नित्य हेतुके माननेपर भी हमारा वही प्रश्न चल सकता है कि वह नित्य हेतु भी परिमाण की गयीं कुछ नियत व्यक्तियों (गो मात्र) में ही रचना विशेषको क्यों उत्पन्न करता है ? किन्तु फिर अन्य व्यक्तिओंमें क्यों नहीं उत्पन्न

करता है ? इसका उत्तर आपको कहना चाहिये । यदि आप यों कहेंगे कि उस नित्यहेतुमें तिस प्रकारका एक स्वभाव है । अथवा वचनसे नहीं कही जाय ऐसी विशेष सामर्थ्य है, जिससे कि वह नित्य कारण विचारा परिमित व्यक्तियोंमें ही विशेष रचनाको बनाता है । ऊंट, भैंसा आदिमें नहीं । ऐसा कहनेपर तब तो यही आया कि उस वचनके विषयपनसे अतिक्रान्त हो रहे उस स्वभाव करके अथवा शक्ति करके वचनके मार्गमें उतारी हुयी वस्तुको कारण मानकर वचनव्यवहार सम्बन्धी लोकयात्रा प्रवर्त रही है । इसी बातको भर्तृहरीने भी बहुत अच्छे ढंगसे कहा था कि जिस कारण सब हेतुओंके अन्तमें जाकर पदार्थका नहीं कहने योग्य स्वभाव अथवा विशेष सामर्थ्य ही हेतुपनेसे व्यवस्थित होता है । तिस कारण निर्विकल्पक स्वभावोंसे लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता है, अर्थात् वस्तु निर्विकल्पक है । फिर भी लोकयात्राके अनुरोधसे वस्तुके कतिपय अंश शब्दके द्वारा वाच्य माने गये हैं । अथवा यह उपहास वचन है अवक्तव्य पदार्थोंसे लोक व्यवहार नहीं प्रवृत्त हो सकता है । तिस कारण सिद्ध होता है कि वचनके गोचर वस्तुको कारण मानकर उत्पन्न हुए लोक व्यवहारके अनुकूल चलनेवाले पुरुषों करके सदृश परिणाम स्वरूप जाति शब्दोंके द्वारा कही गयी ही जाती है यह स्पष्ट रूपसे मान लेना चाहिये । भावार्थ—गौ, अश्व आदि जातिके प्रतिपादक शब्दोंसे सदृश परिणामरूप जाति कही जाती है ।

तत्साध्यस्य कार्यस्य तदधिकरणेन साधयितुमशक्तेः । पुरुषे दण्डीतिप्रत्ययवद्दण्ड-सम्बन्धेन साध्यस्य तदधिकरणेन पुरुषमात्रेण वा साधयितुमशक्यत्वात् । दण्डोपादित्सया दण्डीतिप्रत्ययः साध्यते इति चायुक्तं, ततो दण्डोपादित्सावानिति प्रत्ययस्य प्रसूतेः अन्यथास्यापीच्छाकारणैः संस्तवोपकारगुणदर्शनादिभिः साध्यत्वप्रसंगात् ।

उस जातिसे साधने योग्य कार्यका उसके अधिकरण हो रही विशेष व्यक्ति करके साधन नहीं हो सकता है । जैसे दण्डयुक्त पुरुषमें दण्डवाला ऐसा ज्ञान होना दण्डका कार्य है, दण्डके सम्बन्ध करके बनाये गये कार्यकी उस दण्डके आधारभूत केवल पुरुष करके साधन करनेके लिए अशक्यता है । यदि यों कहें कि यह दण्डवाला ऐसा ज्ञान तो दण्डके ग्रहण करनेकी इच्छासे भी साधा जा सकता है । फिर आप उसको केवल दण्डके सम्बन्धसे ही साध्य होना कैसे कहते हैं ? आचार्य समझाते हैं कि किसीका इस प्रकार कहना तो युक्तियोंसे रहित है । क्योंकि उस दण्डके ग्रहण करनेकी इच्छासे दण्डके ग्रहणकी इच्छावाला है, इस प्रकारके ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । " दण्डवान् है " इस आकारवाला ज्ञान नहीं उत्पन्न हो पाता है, अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार मानोगे तो " दण्ड ग्रहणकी इच्छावाला है " इस ज्ञानको भी इच्छाके कारण माने गये स्तुति करना, उपकार दिखलाना, गुण दर्शन कराना, निर्दोषता, आदि करके साध्यपनेका प्रसंग हो जावेगा । भावार्थ—किसी किसी ज्ञानमें इच्छा निमित्त कारण है, किन्तु नियत नहीं । ज्ञानका अवलम्ब कारण विषय ही माना है । यदि दण्डज्ञानमें दण्डकी इच्छाको कारण कह दोगे तो

दण्ड इच्छाके ज्ञानमें इच्छाके निमित्त कारण स्तुति, उपकार, गुणदर्शन आदि भी उसके कारण बन बैठेंगे, जो कि किसीने नहीं माने हैं।

ततः सर्वस्य स्वानुरूपप्रत्ययविषयत्वं वस्तुनोऽभिप्रेयता समानपरिणामस्यैव समानप्रत्ययविषयत्वमभिप्रेतव्यम्। एकत्वस्वभावस्य सामान्यस्यैकत्वप्रत्ययविषयत्वप्रसंगात्। स एवायं गौरित्येकत्वप्रत्यय एवेति चेत् न, तस्योपचरितत्वात्। स इव स इति तत्समाने तदेकत्वोपचारात् स गौरयमपि गौरिति समानप्रत्ययस्य सकलजनसाक्षिकस्यास्खलद्रूपतयानुपचरितत्वसिद्धेः।

तिस कारण सर्व पदार्थों (वस्तुओं) को अपने अपने अनुकूल ज्ञानका विषयपना इष्ट करते हो तो वस्तुके सदृश परिणामको ही समान इस ज्ञानका विषयपना मान लेना चाहिये। वे समान परिणाम प्रत्येक व्यक्तिमें रहनेवाले एक एक होकर अनेक हैं। यदि वैशेषिकोंके समान सामान्यका एकपना स्वभाव माना जावेगा तो एकपनेके ज्ञानकी विषयताका प्रसंग होगा यानी एकपनेका ज्ञान भले ही हो जावे। किन्तु " यह खण्ड गौ इस मुण्ड गौके समान है " ऐसे सदृश परिणामको विषय करनेवाला ज्ञान न हो सकेगा। यदि यहां कोई यों कहे कि " यह गौ वही है " इस प्रकारके एकपनेको जाननेवाला ही ज्ञान होता है, समानताका ज्ञान नहीं होता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक गौओंमें " यह वही गौ है " इस प्रकार एकत्वको विषय करनेवाला वह ज्ञान उपचरित है। वस्तुतः चितकबरी गौको देखकर धौली गौको देखनेवाले पुरुषको उसके समान यह गौ है ऐसा ज्ञान होना चाहिये। किन्तु यह भी गौ है, और वह भी गौ थी, इस प्रकार गोत्वधर्मसे एकत्वका उपचार (आरोप) कर लिया जाता है। जैसे कि उस देवदत्तके समान वह जिनदत्त था ऐसा उसके समान पुरुषमें या यमलकमें उसके एकपनेका कल्पित व्यवहार कर लिया जाता है। यदि परमार्थरूपसे विचारा जावे तो वह बैल था। यह भी वृषभ (बैल) है। इस प्रकार सदृशपनेको विषय करनेवाला ज्ञान सम्पूर्ण मनुष्योंके सम्मुख (गवाही होते हुए) बाधारहित स्वरूप करके मुख्यपने रूपसे सिद्ध हो रहा है। भावार्थ—जाति ज्ञानका विषय एकत्व नहीं है प्रत्युत सदृश परिणाम है यह बात सिद्ध हो गयी।

कश्चिदाह–दण्डीत्यादिप्रत्ययः परिच्छिद्यमानदण्डसम्बन्धादिविषयतया नार्थान्तरविषयः कल्पयितुं शक्यः समानप्रत्ययस्तु परिच्छिद्यमानव्यक्तिविषयत्वाभावादर्थान्तरविषयस्तच्चार्थान्तरं सामान्यं प्रत्यक्षतः परिच्छेद्यमन्यथा तस्य यत्नोपनेयप्रत्येयत्वाघटनात् नीलादिवदिति, तदसत्।

यहां कोई वैशेषिक मतानुयायी कह रहा है कि दण्डवान्, छत्रवान्, कुण्डलवाला इत्यादि ज्ञान तो परिमित दण्डका सम्बन्ध, जाने गये छत्रका संयोग, इत्यादि नियत पदार्थोंको विषय करते हैं। अतः दण्ड, छत्र आदिकसे दूसरे अन्य अर्थोंको विषय नहीं कर पाते हैं। जो परिमित पदार्थोंको

जानता है उस ज्ञानका विषय अन्य व्यापकरूप अर्थ नहीं कल्पना किया जासकता है। किन्तु यह इसके समान है ऐसा ज्ञान तो व्यापक वस्तुको विषय करता है, यानी अनेक व्यक्तियोंमें हो जाता है। कुछ थोडीसी ही परिमित व्यक्तियोंको विषय नहीं करता है। अतः व्यक्तिसे भिन्न किसी दूसरे अर्थको विषय करने वाला हो जावेगा और वह व्यक्तियोंसे भिन्न दूसरा पदार्थ तो नित्य जाति ही है। वह जातिरूप सामान्य पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी जाना जाता है। अन्यथा यानी सामान्यका प्रत्यक्षसे ज्ञान होना नहीं माना जावेगा तो उस सामान्यको प्रयत्नके पीछे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे प्रत्यय किया जानापन नहीं घटित होगा। जैसे नील, पीत आदिक गुण पुरुषार्थ करके प्रत्यक्षसे जान लिये जाते हैं, तैसे ही प्रयत्न करनेपर सामान्यका ज्ञान हो जाता है। अर्थात्—यदि सामान्य नील, पीत स्वरूप ही मान लिया जावेगा तो उसको जाननेके लिये आत्माको न्यारा प्रयत्न न करना पडेगा। जिस ज्ञानसे नीलको जाना है उसीसे घटत्व, नीलत्व आदि सामान्यको भी जान लेगा, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। नीलको जान चुकनेपर भी पीछेसे विशेष प्रयत्न करके सामान्यको जान पाते हैं या उसी समय विशेष पुरुषार्थसे जातिको जानते हैं। अतः सामान्य पदार्थ विशेषोंसे भिन्न है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उन वैशेषिकोंका कहना सत्य नहीं है कारण कि—

सामान्यस्य विशेषवत्प्रत्यक्षत्वेऽपि यत्नोपनीयमानप्रत्ययत्वाविरोधात्। प्रमाणसंप्लवस्यैकत्रार्थे व्यवस्थापनात्।

सदृशपरिणामरूप सामान्यको विशेष व्यक्तिके समान प्रत्यक्षका विषयपना मानते हुए भी प्रयत्नके द्वारा चलाकर जान लेने की विषयताका कोई विरोध नहीं है। क्योंकि नैयायिक, जैन, मीमांसक ये सब प्रमाणसंप्लवको स्वीकार करते हैं। "एकस्मिन्नर्थे विशेषविशेषांशावगाहिनां बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्तिः प्रमाणसंप्लवः" एक अर्थमें बहुतसे अपूर्वार्थग्राही प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना प्रमाणसंप्लव कहलाता है। नील या घटको जानकर उससे अभिन्न सदृश परिणामरूप सामान्यको जाननेके लिये प्रयत्नपूर्वक दूसरा ज्ञान उठाया और उसके द्वारा वस्तुसे अभिन्न माने गये सामान्यको पुनः जान लिया। इतनेसे ही वह सामान्य अर्थान्तर नहीं हो जाता है। एक अग्निमें आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष इन तीन प्रमाणोंके प्रवृत्त हो जानेसे अग्नि भिन्न भिन्न नहीं हो जाती है। हां! स्वभावभेद भले ही हो जावें। एक अर्थमें अनेक प्रमाणोंके प्रवृत्त होनेकी व्यवस्था मानी गयी है। अतः पुरुषार्थ करके भले ही जातिको स्वतन्त्ररूपसे जान लो। किन्तु एतावता वह चौथा निराला पदार्थ (तत्त्व) नहीं माना जा सकता है, वह व्यक्तियोंसे अभिन्न है। वस्तुमें तदात्मक होकर गुंथरही असंख्य अर्थपर्यायें भी विवक्षितज्ञानसे नहीं जानी जारही हैं। क्या करें।

सामान्यमेव परिच्छिद्यमानस्वरूपं न विशेषास्तेषां व्यावृत्तिप्रत्ययानुमेयत्वादिति वदतो निषेद्धुमशक्तेः।

यदि आप दण्डी, नील, पीत, आदिके ज्ञानोंमें विशेषको ही जानने योग्य वस्तुका स्वरूप

मानेंगे और सामान्यको अर्थान्तर स्वीकार करेंगे तो कोई यों भी कह सकता है कि सामान्य ही जानने योग्य वस्तुका स्वरूप है विशेष पदार्थ कोई नहीं हैं। काली गौ धौली गौसे पृथक् है। भैंससे गौ पृथक् है, इत्यादि व्यावृत्तिको जाननेवाले ज्ञानोंसे उन विशेषोंका पीछे अनुमान कर लिया जाता है, विशेषोंका प्रत्यक्ष नहीं होने पाता है, ऐसे कहनेवालोंका भी तुम निषेध नहीं कर सकते हो। नये नये स्वरचित सिद्धान्तोंको गढनेवालोंका मुंह नहीं पकडा जा सकता है।

न हि वस्तुस्वरूपमेव व्यावर्तमानाकारप्रत्ययस्य निबन्धनं अपि तु तत्संसर्गिणोर्थास्ते च भेदहेतवो यदा सकलास्तिरयन्ते तदा सद्वस्तु पदार्थ इति वा निरुपाधिसामान्यप्रत्ययः प्रसूते, यदा तु गुणकर्मभ्यां भेदहेतवो अतिरोभूताः शेषास्तिरोधीयन्ते तदा द्रव्यमिति बुद्धिरेवमवान्तरसामान्येष्वशेषेष्वपि बुद्धयः प्रवर्तन्ते भेदहेतूनां पुनराविर्भूतानां वस्तुना संसर्गे तत्र विशेषप्रत्ययः। तथा च सामान्यमेव वस्तुस्वरूपं विशेषास्तूपाधिबलावलम्बिन इति मतान्तरमुपतिष्ठेत।

वस्तुका जानने योग्य स्वरूप ही पृथग्भूत हुए आकारका उल्लेख करानेवाले ज्ञानका कारण है। अतः विशेष पदार्थ ही वस्तुका तादात्मकरूप है, सामान्य वस्तुभूत नहीं है, यह नहीं समझ बैठना, किन्तु उस वस्तुस्वरूपसे सम्बन्ध रखनेवाले जो पदार्थ (काला, नीला, मतिज्ञान, घटज्ञान आदि) हैं, वे सर्व पदार्थ भी तो भेद (व्यावृत्ति) के कारण हैं। जिस समय भेदके कारण संपूर्ण छिप जाते हैं तब सामान्यधर्मोंकी अपेक्षासे सत् है, वस्तु है, पदार्थ है, प्रमेय है। इस प्रकारका निर्विशेष सामान्यज्ञान उत्पन्न हो जाता है। किन्तु जिस समय गुण और क्रियासे भेदके कारण प्रगट हो जाते हैं, तथा शेष शुद्ध, व्यापक, सामान्य छिप जाते हैं, तब तो द्रव्य है, जीव है, इस प्रकारकी उपाधि-सहित बुद्धि ही उत्पन्न होती है। इसके मध्यवर्ती सम्पूर्ण सामान्योंमें भी तैसी तैसी बुद्धियां प्रवर्तती रहती हैं। फिर प्रगट हुए भेदके कारणोंका वस्तुके साथ सम्बन्ध हो जानेपर वहां विशेष ज्ञान हो जाता है। अतः विशेषको जाननेके लिये चलाकर यत्नसे ज्ञान करनेकी आवश्यकता है। सामान्यको जाननेके लिये बाहिरके पुंछल्ले लगानेकी आवश्यकता नहीं है। तिस कारण यों सिद्ध होता है कि सामान्य ही वस्तुके गांठका स्वरूप है। और विशेष तो इधर उधरके विशेषणोंके सामर्थ्यका अवलम्ब रखते हुए औपाधिक भाव आ कूदे हैं, वास्तविक नहीं। इस प्रकारका भी एक भिन्नमत (सिद्धान्त) उपस्थित हो जावेगा। किसी भी धर्मकी पुष्टि करानेके लिये उसके विरुद्ध माने हुए धर्मका खण्डन कर देना अच्छा उपाय है। अतः अन्तमें जाकर आपको विशेषके समान सामान्य भी वस्तुका तदात्मक रूप इष्ट करना पडेगा।

वस्तुविशेषा नोपाधिका यत्नोपनेयप्रत्ययत्वाभावात् स्वयं प्रतीयमानत्वादिति चेत् तत एव सामान्यमौपाधिकं माभूत्। सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वभावत्वे सर्वत्रोभयप्रत्यय-प्रसक्तिरिति चेत् किं पुनस्तयोरेकतरप्रत्यय एव क्वचिदस्ति ?

बौद्ध फिर भी बोलते हैं कि वस्तुके विशेष वास्तविक हैं। जपाकुसुमके सम्बन्धसे स्फटिकमें आयी हुयी लालिमाके समान औपाधिक नहीं है। क्योंकि विशेषोंके जाननेके लिये चलाकर प्रयत्नसे ज्ञान करना नहीं देखा जाता है, वे वस्तुमें स्वयं ही झटिति प्रतीत हो जाते हैं। आचार्य समझाते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तब तो तिस ही कारण सामान्य भी औपाधिक न होवे। क्योंकि सामान्य भी परिश्रमसे उठाए हुए नवीन ज्ञानके द्वारा नहीं जाना जाता है। किन्तु स्वयं उदित ज्ञानसे बिना प्रयत्नके ही वस्तुमें शीघ्र जान लिया जाता है। यदि कोई यों कहे कि सामान्य और विशेष दोनोंको वस्तुका स्वभाव मानोगे तब तो सर्व ही विषयोंमें सामान्य और विशेष दोनोंके ज्ञान होनेका प्रसंग होगा। ऐसा कहनेपर तो हम पूंछते हैं कि फिर क्या उन दोनोंमेंसे एक हीका कहीं ज्ञान होना देखा गया है? बताओ न। भावार्थ—सभी स्थलोंपर दोनोंका ही एक साथ ज्ञान हो जाता है। अकेले अकेलेका नहीं, अतः दोनों ही वस्तुके तदात्मक अंश हैं।

दर्शनकाले सामान्यप्रत्ययस्याभावाद्विशेषप्रत्यय एवास्तीति चेत् न, तदापि सद्द्रव्यत्वादिसामान्यप्रत्ययस्य सद्भावादुभयप्रत्ययसिद्धेः। प्रथममेकां गां पश्यन्नपि हि सदादिना सादृश्यं तत्रार्थान्तरेण व्यवस्यत्येव अन्यथा तदभावप्रसंगात्।

बौद्ध कहते हैं कि स्वलक्षणको जाननेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप दर्शनके समयमें सामान्य को जाननेवाले ज्ञानका अभाव है। अतः वहां केवल विशेषका ही ज्ञान होता है। फिर आप जैनोंने कैसे कहा था कि दोनोंमेंसे एकका ज्ञान कहीं होता है क्या? ग्रन्थकार बोलते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उस समय भी सत्पने, द्रव्यपने, पदार्थपने आदि सामान्योंको जाननेवाला ज्ञान विद्यमान है। अतः सामान्य और विशेष दोनोंको जान लेना निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें भी सिद्ध हो जाता है। सबसे पहिले एक गौको देखनेवाला पुरुष भी सत्पना, द्रव्यपना, पदार्थपना आदि धर्मों करके दूसरे घट, अश्व आदि पदार्थोंके साथ सादृश्यका वहां निश्चय कर ही लेता है। अन्यथा उस सदृशपनेके अभावका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—गौको जानने वाला पुरुष भले ही मुखसे गौ गौ ऐसा कहता रहे, किन्तु साथमें उस गौकी विशेषताओंको जैसे जान लेता है, वैसे ही अन्य गौओंके साथ सदृशपने और सत्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व करके भैंस, घोडे आदिके सादृश्यको भी श्रुतज्ञानसे जान लेता है। यों तो सामान्यधर्म और विशेषधर्मोंका पिण्ड ही वस्तु है। अतः सामान्यका प्रत्यक्ष ही हो जाता है। फिर भी सामान्यपनेकी विकल्पनासे सादृश्य भी जान लिया जाता है। अर्थापत्ति, अनुमान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञानके विषयोंका परस्परमें संकलन हो जाता है। प्रत्येक ज्ञानमें सामान्य, विशेष दोनोंका ही प्रतिभास होता है। भले ही एकका मुख्यरूपसे और दूसरेका गौणरूपसे ज्ञान होवे। अकेलेका ज्ञान कहीं नहीं होता है। हम जैनोंके द्वारा माने गये चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शनमें केवल सत्ताका आलोचन होता है, विशेषोंका नहीं। किन्तु वे तो दर्शन हैं, ज्ञान नहीं हैं। हम तो ज्ञानसे सामान्य, विशेष दोनोंके जाननेका

नियम कर रहे हैं, दर्शनके द्वारा नहीं। ज्ञानका कार्य आलोचन करना नहीं है और दर्शनका कार्य जान लेना नहीं है। दोनों भिन्न पर्यायें हैं। दोनोंके ज्ञेय और दृश्य विषय भी न्यारे नियत हैं।

प्रथममवग्रहे सामान्यस्यैव प्रतिभासनान्नोभयप्रत्ययः सर्वत्रेति चायुक्तं, वर्णसंस्थानादिसमानपरिणामात्मनो वस्तुनोऽर्थान्तराद्विसदृशपरिणामात्मनश्चावग्रहे प्रतिभासनात्।

कोई कटाक्ष करता है कि जैनोंके यहां सबसे प्रथम हुए अवग्रहमें वस्तुके सामान्य धर्मोंका ही प्रतिभास होता है विशेषोंका नहीं। अतः सभी ज्ञानोंमें दोनोंकी प्रतीति नहीं हुयी। अब आचार्य कहते हैं कि हम जैनोंके ऊपर किसीका यह कहना अयुक्त है। क्योंकि रूप, रस, तथा आकृति, रचना आदि समान परिणामस्वरूप वस्तुका और अन्य पदार्थोंकी अपेक्षासे प्राप्त हुए विसदृश परिणाम स्वरूप उसी वस्तुका अवग्रहमें प्रतिभास होता है। अवग्रहके द्वारा एक मनुष्यको जाननेपर उसके रूप, आकार, सिर, वक्षःस्थल आदि जो कि अन्य मनुष्योंमें भी वैसे पाये जायं ऐसे सदृश परिणामोंको हम जान लेते हैं और उसी समय गौ, [illegible] पुरुषोंकी अपेक्षासे विशेषपना भी उस मनुष्यमें जान लिया जाता है। अतः गौ या मनुष्यके अवग्रह करनेपर सामान्य और विशेष दोनों धर्म युगपत् प्रतीत हो जाते हैं। किसी भी ज्ञानमें अकेले सामान्यका या केवल विशेषका तो प्रतिभास होता ही नहीं है, इसका विश्वास रखो। संशयज्ञानमें भी यथायोग्य दोनों प्रतिभासते हैं। बोलो अब क्या चाहिये ?।

क्वचिदुभयप्रत्ययासत्त्वेपि वा न वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वविरोधः, प्रतिपुरुषं क्षयोपशमविशेषापेक्षया प्रत्ययस्याविर्भावात्। यथा वस्तुस्वभावं प्रत्ययोत्पत्तौ कस्यचिदनाद्यन्तवस्तुप्रत्ययप्रसंगात् परस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादिनिर्णयानुपपंगात्।

किसी किसी अप्रमाणरूप ज्ञानमें या चलाकर एकको ही जाननेवाले उठाये गये झूंठे आहार्य ज्ञानमें यदि सामान्य और विशेष दोनोंकी प्रतीति न होवे तो भी वस्तुके सामान्य और विशेष दोनों धर्म स्वरूपपनेका विरोध नहीं है। प्रत्येक जीवमें विशिष्ट क्षयोपशमकी अपेक्षासे भिन्न भिन्न प्रकारके ज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जाती है। एक भींतका परला भाग न दीखनेसे उस भित्तिके परभागका अभाव नहीं हो जाता है। चाहे जिस भोंदू जीवके ज्ञानकी अपेक्षासे वस्तुभूत अर्थोंकी व्यवस्था नहीं मानी है। प्रमाणज्ञानोंसे प्रमेयकी व्यवस्था होती है। शश (खरगोश) के आंख मींच लेनेपर उसके विचारानुसार दृश्य जगत्का अभाव नहीं सिद्ध हो जाता है। हम अनेक प्रकार जीवोंके ज्ञानोंको कहांतक सम्हालते रहेंगे। कोई सीपको चांदी जानता है और कोई पीतलको सुवर्ण जान रहा है। एतावता वस्तुभूत पदार्थका परिवर्तन नहीं हो जाता है। ज्ञेयके अधीन ज्ञानका होना नहीं है। किन्तु क्षयोपशमोंके अधीन झूंठा सच्चा ज्ञान है। प्रत्येक जीवमें विशेष क्षयोपशमकी अपेक्षासे ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं। वस्तुके स्वभावोंका अतिक्रमण नहीं करके यदि ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जावेगी, यानी जैसी वस्तु होगी वैसा हूबहू ज्ञान उत्पन्न होवे तब तो चाहे जिस

किसीको अनादि अनन्त वस्तुके ज्ञान होनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—अतीत, अनागत, अनन्त परिणमनोंके अविष्वग्भाव सम्बन्धरूप पिण्डको वस्तु कहते हैं। किसी भी वस्तुको देखकर उसके अनादि अनन्तपर्यायोंका ज्ञान हो जाना चाहिये। बौद्धोंके सिद्धान्तानुसार दान करनेवाले जीवोंमें स्वर्गको प्राप्त करानेवाली शक्ति मानी गयी है, क्षणिकत्वशक्ति भी पदार्थमें विद्यमान है और भी अनेक अतीन्द्रिय धर्म हैं। किन्तु चित्त (आत्मा) का प्रत्यक्ष करते समय इन अतीन्द्रिय शक्तियोंका तो प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। तभी तो बौद्ध जन शक्तियोंको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण उठाते हैं। यदि जैसी वस्तु है ठीक वैसा ही उसका ज्ञान माना जावेगा तो दूसरे यानी बौद्धोंको निर्विकल्पक प्रत्यक्षद्वारा ही स्वर्गप्रापणशक्ति तथा हिंसा करनेवाले चित्तकी नरकप्रापणशक्ति आदिका भी निर्णय उसी समय हो जाना चाहिये। जो कि दूसरोंने माना नहीं है। और यों तो संसारसे सर्व मिथ्याज्ञान उठ जावेंगे। जैसी वस्तु होगी वैसा ही सबको ज्ञान हो सकेगा।

ततो विशेषप्रत्ययाद्विशेषमुररीकुर्वता समानप्रत्ययात्सामान्यमुररीकर्तव्यमिति प्रतीति प्रसिद्धा जातिर्निमित्तान्तरं तथा द्रव्यं वक्ष्यमाणं गुणाः क्रिया च प्रतीतिसिद्धेति न तन्निमित्तान्तरत्वसिद्धं वक्त्रभिप्रायात् येन कल्पनारोपितानामेव जात्यादीनां शब्दैरभिधानात् कल्पनैव शब्दानां विषयः स्यात्, पंचतयी वा शब्दानां प्रवृत्तिरबाधिता न भवेत्।

तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि विशेषको जाननेवाले ज्ञानकी सामर्थ्यसे विशेष पदार्थको स्वीकार करनेवाले बौद्धों करके समीचीन समानज्ञानसे निर्णीत किये गये सामान्य (सादृश्य) को भी स्वीकार कर लेना चाहिये। इस प्रकार प्रतीतियोंसे प्रसिद्ध हुयी जाति (सदृश परिणाम) नाम निक्षेपका निमित्तान्तर हो जाती है। अतः वक्ताके अभिप्रायको निमित्त पाकर और सदृश परिणाम रूप जातिको निमित्तान्तर मानकर गौ, अश्व, मनुष्य आदि शब्द प्रवृत्त हो रहे हैं। तैसे ही भविष्यमें कहे जाने योग्य सत् रूप द्रव्य और सहभावी परिणामरूप गुण तथा परिस्पन्दरूप क्रियायें भी प्रामाणिक प्रतीतियोंसे प्रसिद्ध हैं इस कारण निमित्तरूप वक्ताके अभिप्रायसे निराले द्रव्य, गुण और क्रियाओंको द्रव्यशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्दोंका निमित्तान्तरपना असिद्ध नहीं है, जिससे कि शब्दको प्रमाण न माननेवाले बौद्धोंके मतानुसार कल्पनामें आरोपित किये गये ही जाति, द्रव्य, गुण, और क्रियाओंका शब्दोंके द्वारा कथन किये जानेसे कल्पना ही शब्दोंका विषय होती और शब्दोंकी पांच प्रकारसे हो रही प्रवृत्ति बाधा रहित न होने पाती। अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, संयोगी-समवायीद्रव्य यदृच्छा ये सब वास्तविक पदार्थ हैं, उनको कहनेवाले पांच प्रकारके शब्दोंकी निर्बाध प्रवृत्ति हो रही है। यहांतक सदृश परिणामरूप जातिको सिद्ध करते हुए शब्दोंकी प्रवृत्तिका मुख्य कारण माने गये वास्तविक जाति, द्रव्य, आदिकका निरूपण कर दिया है।

जातिः सर्वस्य शब्दस्य पदार्थो नित्य इत्यसन्।
व्यक्तिसम्प्रत्ययाभावप्रसंगाद्ध्वनितः सदा ॥ १५ ॥

मीमांसक मतके अनुसार किसीका कहना है कि सर्व ही शब्दोंका अर्थ जाति स्वरूप नित्य पदार्थ है अर्थात् घटशब्द घटत्व जातिको और गो शब्द गोत्व जातिको कहता है। तभी तो एक व्यक्तिमें संकेतग्रहण कर सम्पूर्ण वैसी व्यक्तियोंको जान जाते हैं। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना सत्य नहीं है। क्योंकि यों तो शब्दोंसे सदा ही विशेष व्यक्तियोंके ज्ञान हो जानेके अभावका प्रसंग होगा। यानी गो शब्दके द्वारा गोत्व जातिको जाना जावेगा तो गो व्यक्तिका गो शब्दसे कभी ज्ञान न हो सकेगा।

कश्चिदाह–जातिरेव सर्वस्य शब्दस्यार्थः सर्वदानुवृत्तिप्रत्ययपरिच्छेद्ये वस्तुस्वभावे शाद्धव्यवहारदर्शनात्। यथैव हि गोरिति शब्दोनुवृत्तिप्रत्ययविषये गोत्वे प्रवर्तत इति जातिस्तथा शुक्लशब्दस्तथाविधे शुक्लत्वे प्रवर्तमानो न गुणशब्दः। चरतिशब्दश्चरणसामान्ये प्रवृत्तो न क्रियाशब्दः, विषाणीति शब्दोऽपि विषाणित्वसामान्ये वृत्तिमान्नसमवायिद्रव्यशब्दः, दण्डीति शब्दश्च दण्डित्वसामान्ये वृत्तिमुपगच्छन्न संयोगिद्रव्यशब्दः, डित्थशब्दोपि बालकुमारयुवमध्यस्थविरडित्थावस्थासु प्रतीयमाने डित्थत्वसामान्ये प्रवर्तमानो न यदृच्छाशब्दः।

यहां कोई प्रतिवादी लम्बा पूर्वपक्ष करता हुआ कहता है कि द्रव्यशब्द, गुणशब्द आदि सर्व ही शाब्दोंका अर्थ जाति ही है। सर्व ही कालोंमें वैसाका वैसा ही अनुवृत्ति ज्ञानके द्वारा जाने गये जातिस्वरूप वस्तु स्वभावमें शब्दसे जन्य व्यवहार होता हुआ देखा जाता है। जिस कारणसे कि जैसे ही गौ यह शब्द तो गौ है, गौ है, गौ है, ऐसे वैसे के वैसे ही पीछे वर्त्तनेवाले ज्ञानोंके विषय होरही गोत्व जातिमें प्रवर्त्त रहा है, इस कारण आप जैन उसको जाति शब्द कहते हैं, तैसे ही आप जैनोंका गुणशब्दपने करके माना गया शुक्लशब्द भी तिसी प्रकारकी शुक्लत्व जातिमें प्रवर्त रहा है। शुक्ल गुणमें भी जाति रहती है, एक शुक्लको देखकर अनेक शुक्ल वर्णोंका ज्ञान हो जाता है। अतः शुक्ल शब्दको भी जाति शब्द मानो ! गुण शब्द नहीं। तथा गमन करना, भक्षण करना, रूप क्रियाको कहनेवाला चरति शब्द भी चरनारूप सामान्यमें प्रवृत्त हो रहा है। क्रियामें भी सामान्य (जाति) रहता है। अतः चरति, गच्छति आदि क्रिया शब्द भी जातिशब्द हैं। स्वतन्त्र क्रिया शब्द नहीं। विषाणी (सींगवाला बैल) यह शब्द भी विषाणित्व जातिमें वर्त्त रहा है, अतः जाति शब्द है, समवायवाले द्रव्यको कहनेवाला समवायीद्रव्य शब्द नहीं है। और दण्डी यह शब्द भी दण्डित्वरूप जातिमें वृत्तिको प्राप्त हो रहा है, अतः जाति शब्द है, संयोगीद्रव्य शब्द नहीं। इस प्रकार किसी एक मनुष्यको कहनेवाला डित्थ शब्द भी उस डित्थ जीवकी बालक, कुमार, युवा, मध्य,

वृद्धपनेकी अवस्थाओंमें व्यवहार किया गया प्रतीत हो रहा है, यही है, न कि वैशेषिक मत अनुसार जाति अनेकोंमें रहनी चाहिये सो यहां भी अनेक अवस्थाओंमें रहना बन जाता है। अतः डित्थत्व जातिमें प्रवृत्ति करता हुआ डित्थ शद्ब भी जातिशद्ब है, एक व्यक्तिमें रहनेवाला धर्म जाति नहीं होता है, किन्तु एक व्यक्तिकी नाना अवस्थाओंमें रहनेवाला डित्थत्व धर्म जाति बन जाता है। अतः डित्थ शद्ब कोरी इच्छाके अनुसार कल्पित किया गया यदृच्छाशद्ब नहीं है किन्तु जाति शद्ब है। यों जातिशद्ब, गुणशद्ब, क्रियाशद्ब, समवायीशद्ब, संयोगीशद्ब, यादृच्छिकशद्ब, ये सभी शद्ब जाति शद्ब ही माने जाय।

कथं जातिशद्दो जातिविषयः स्याज्जातौ जात्यन्तरस्याभावादन्यथानवस्थानुषंगादिति च न चोद्यं, जातिष्वपि जात्यन्तरस्योपगमाज्जातीनामानन्त्यात्। यथाकांक्षाक्षयं व्यवहारपरिसमाप्तेरनवस्थानासम्भवात्।

प्रतिवादीके ऊपर किसीका कटाक्ष है कि वैशेषिक और नैयायिकोंने तो जातिमें पुनः अन्य जाति नहीं स्वीकार की है। " व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं, संकरोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो, जातिबाधकसंग्रहः " ॥ व्यक्तिकी एकता उसमें रहनेवाली जातिकी बाधक है, यानी एक व्यक्तिमें जाति नहीं रहती है, तभी तो आकाशत्व जाति नहीं है। घटत्व और कलशत्वमें तुल्यत्व दोष होनेके कारण लाघवसे घटत्व जाति है, समान ही व्यक्तियोंमें वर्त्तनेवाली किन्तु अक्षरोंसे बडी ऐसी कलशत्व जाति नहीं मानी गयी है। परस्परमें समानाधिकण्य होते हुए परस्परके अभावका समानाधिकरणपना सांकर्य दोष है, पृथिवी, अप्, तेजः, वायु और मनः ये पांच मूर्तद्रव्य हैं तथा वैशेषिकोंके यहां पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश ये पांच भूत माने गये हैं। भूतत्वको छोडकर मूर्तपना मनमें है एवं मूर्तपनेको छोडकर भूतपना आकाशमें है। दोनों मूर्तत्व और भूतत्वका समावेश पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार द्रव्योंमें है। यों संकर दोष होनेके कारण भूतत्वको जाति नहीं माना है। किन्तु सखण्डोपाधि है। नव्य नैयायिक यहां सांकर्यको दोष नहीं मानते हैं, अतः भूतत्व और मूर्त्तत्व दोनों जाति हैं। अनवस्था दोष हो जानेके कारण सत्तात्व जाति नहीं मानी गयी है,एक माने गये घटत्वमें रहनेवाली घटत्वत्वको जाति होनेका निरास तो एक व्यक्तिमें वर्तनेके कारण ही हो जाता है, किन्तु दो चार जाति या कुछ जातिमान् पदार्थोंमें रहनेवाले धर्मको अनवस्था होनेके कारण जातिपना नहीं है। जैसे घटत्व, गुणत्व, कर्मत्व और सत्ता इनमें सत्तात्त्व मान लिया जावे अथवा गुणत्वत्व, सत्तात्व, कर्मत्वत्व, इनमेंसे सत्तात्वत्व माना जावे इत्यादि। तथा जातिमान् पदार्थोंका जातिके द्वारा ही पृथक्करण होता है। विशेष पदार्थ स्वतः व्यावृत्त हैं। यदि विशेषोंमें भी विशेषत्व जाति मानली जावेगी तो विशेषोंके स्वयं व्यावर्त्तकपने स्वरूपकी हानि हो जावेगी। अतः रूपहानि हो जानेके कारण विशेषत्व जाति नहीं मानी है। एवं समवाय पदार्थमें प्रतियोगिता अनुयोगिता, इन दोनोंमें से किसी भी सम्बन्ध करके समवाय नहीं ठहरता है, किन्तु जाति जहां रहती है वहां समवाय सम्बन्धसे ही रहती

है। अतः असम्बन्ध होनेके कारण समवायत्व जाति नहीं मानी है। किन्तु नित्यसम्बन्धपना रूप सखण्डोपाधि है। इस प्रकार ये छह धर्म जातिके बाधक माने गये हैं। एक व्यक्तिमें रहनेके कारण जातिमें पुनः दूसरी जाति नहीं मानी गयी है, यों जाति शब्द फिर जातिको विषय करनेवाला कैसे हो सकेगा ? क्योंकि विवक्षित जातिमें पुनः अन्य जातियोंका वर्तना माना नहीं गया है, अन्यथा घटत्वमें घटत्वत्व और घटत्वत्वमें घटत्वत्वत्व आदि जातियोंके मानते जानेसे अनवस्था दोषका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें जाति शब्दको आप जातिवाचक कैसे कह सकेंगे ? बताओ। भावार्थ—गोत्व शब्द यदि गोत्वत्व जातिको कहता होता तब तो सभी शब्दोंका अर्थ जाति ही माना जा सकता था, किन्तु गोत्वमें गोत्वत्व जाति ही नहीं रहती है। इस कारण आपके नियममें अव्याप्ति दोष हुआ, ऐसा कहने-पर अब जातिवादी मीमांसक उत्तर देता है कि यह उक्त प्रकार चोद्य तो नहीं करना चाहिये, क्योंकि जातियोंमें भी दूसरी अनेक जातियां स्वीकार की हैं। जातियां अनन्त हैं परिमित नहीं। मूलको क्षय करनेवाली अनवस्था दूषण मानी गयी है किन्तु भूलको पुष्ट करनेवाली अनवस्था तो भूषण है। जिस पुरुषकी जितनी दो, चार, बीस, सौ, पांच सौ कोटि चलकर आकांक्षाका क्षय होते हुए तदनुसार व्यवहारकी परिसमाप्ति हो जाती है उससे आगे अनवस्थाका होना सम्भव नहीं है। किसी भी पुरुषका किसी भी अन्य पुरुषके लिये पिता, पितामह (बाबा) प्रपितामह (पडबाबा) आदिका प्रश्न करनेपर कुछ कोटिके पीछे आकांक्षा स्वतः शान्त हो ही जाती है, यदि आकांक्षा शान्त न होवे तो अनवस्था होने दो ! कोई क्षति नहीं। कार्यकारणभावका भंग नहीं होना चाहिये। ऐसे ही जातियोंमें भी समझ लेना। ज्ञापकपक्षमें कुछ दूर चल कर आकांक्षाओंका क्षय हो जानेसे अनवस्था वहीं टूट जाती है।

कालो दिगाकाशमिति शब्दाः कथं जातिविषयाः कालादिषु जातेरसम्भवात्तेषामेकद्रव्यत्वादित्यपि न शंकनीयं, कालशब्दस्य त्रुटिलवादिकालभेदेष्वनुस्यूतप्रत्ययावच्छेद्ये कालत्वसामान्ये प्रवर्तनात्। पूर्वापरादिदिग्भेदेष्वन्वयज्ञानगम्ये दिक्त्वसामान्ये दिक्शब्दस्य प्रवृत्तेः। पाटलिपुत्रचित्रकूटाद्याकाशभेदेष्वनुस्यूतप्रतीतिगोचरे चाकाशसामान्ये प्रवर्तमानस्याकाशशब्दस्य संप्रत्ययाज्जातिशब्दत्वोपपत्तेः कालादीनामुपचरिता एव भेदा न परमार्थसन्त इति दर्शने तज्जातिरप्युपचरिता तेष्वस्तु। तथा च उपचरित जातिशब्दाः कालादय इति न व्यक्तिशब्दाः।

यदि कोई यों कहे कि एक द्रव्य होनेके कारण काल, आदिकोंमें वर्तरही मानी गयी कालत्व आदि जातियोंका असम्भव है तो फिर काल, दिक् और आकाश ये शब्द कैसे जातिको विषय करनेवाले जाति शब्द कहे जा सकेंगे ? मीमांसक समझाते हैं कि इस प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि कालशब्द भी कालत्व जातिमें भली रीतिसे वर्तता है। काल द्रव्य एक नहीं है किन्तु पल, विपल, त्रुटि, लव, श्वास, घडी, मुहूर्त्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि कालभेदोंमें अन्वय-

रूपसे पिरोया गया होकर ज्ञानके द्वारा कालत्व सामान्य जाना जा रहा है। अतः काल शद्व ऐसा होनेपर जातिको कहनेवाला जातिशद्व है। अनेक व्यक्तियोंमें पाये जारहे कालत्व सामान्यमें प्रवर्त रहा है। तथा यह (पूर्व) दिशा है यह पश्चिम भी दिशा है और यह (उत्तर) भी दिशा है इत्यादि प्रकारके अन्वय ज्ञानसे जाने गये पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि दिशाके भेदोंमें दिक्त्व सामान्य ठीक ढंगसे वर्त रहा है। अतः दिक्शद्वकी प्रवृत्ति दिक्त्व जातिमें है। एवं मालामें पिरोये हुए डोरेके समान पटना, चित्रकूट, बनारस, आगरा, सहारनपुर आदि आकाशके विशेष भेदोंमें अन्वयज्ञानका विषय होती हुयी ठहर गयी आकाशत्व जातिमें आकाश शद्व वर्तता हुआ भले प्रकार जाना जा रहा है, अतः आकाश शद्वको भी जातिशद्वपना सिद्ध हो जाता है (बन जाता है)। यदि कोई कहे कि काल, दिशा और आकाश तो वस्तुतः एक एक द्रव्य हैं, घडी, मास, पूर्व, पश्चिम, चित्रकूट, पटना, आदि भेद तो व्यवहारसे हो कर लिये गये हैं, परमार्थरूपसे अखण्ड द्रव्यमें सद्भूत भेद नहीं हो सकते हैं। ऐसा सिद्धान्त माननेपर तो हम जातिवादी कह देंगे कि उनमें वह कालत्व, दिक्त्व, आकाशत्व, जातियां भी व्यवहारसे ही स्थापित करलीं जावें कोई हानि न होगी। तिस प्रकारसे भी तो यही सिद्ध हुआ कि काल आदिक शद्व उपचारसे मानी गयी जातिके प्रतिपादन करनेवाले शद्व हैं एकांतरूपसे व्यक्तिको कहनेवाले शद्व नहीं।

कथमतत्त्वशद्वो जातौ प्रवर्तत इति च नोपालम्भः, तत्त्वसामान्यस्यैवाविचारितस्यातत्त्वशद्वेनाभिधानात्। तदुक्तं—" न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः। अतत्त्वमिति मन्यन्ते तत्त्वमेवाविभावितम् " इति।

फिर कोई यहां यों अव्यर्थ शक्तिके समान वाग्बाण चलावे कि अतत्त्व शद्व जातिमें कैसे प्रवर्तेगा ? क्योंकि अतत्त्व कोई वस्तुभूत नहीं है, अतः उसमें रहनेवाली कोई अतत्त्वत्व जाति नहीं हो सकती है, मीमांसक कहते हैं कि यह उलाहना देना ठीक नहीं है। क्योंकि हम अतत्त्वको तत्त्वोंका सर्वथा निषेध करनेवाला तुच्छ अभाव पदार्थ नहीं मानते हैं, किन्तु नहीं विचारी हुयी तत्त्व जाति ही अतत्त्व इस शद्व करके कही जाती है, सो ही हम जातिवादियोंके यहां ग्रन्थोंमें ऐसा कहा हुआ है कि " तत्त्व और अतत्त्वोंमें कोई भेद नहीं है। इस प्रकार वृद्ध पुरुषोंसे चला आया हुआ आगम प्रमाण है। अच्छे प्रकार नहीं विचारे हुए तत्त्वको ही अतत्त्व ऐसा मानते हैं। अर्थात् अभाव पदार्थ भावरूप है जैसे अनुपलम्भका अर्थ विवक्षित पदार्थका न दीखना किन्तु अन्य पदार्थोंका दीख जाना है। सोते हुए मनुष्यके अनुपलम्भ नहीं है, अज्ञान है, उसी प्रकार अविचारित दूसरा तत्त्व ही अतत्त्व है। उस अतत्त्व या अतत्त्वोंमें वस्तुभूत जाति ठहरती है।

एतेन प्रागभावादिशद्वानां भावसामान्ये वृत्तिरुक्ता, प्रागभावादीनां भावस्वभावत्वादन्यथा निरुपाख्यत्वापत्तेरिति।

इस पूर्वोक्त कथन करके यह बात भी कही गयी समझ लेना चाहिये कि प्रागभाव, ध्वंस आदि पदार्थ तुच्छ अभावरूप नहीं है, किन्तु भावरूप पदार्थ हैं । अतः प्रागभाव, ध्वंस आदि शब्दोंकी प्रवृत्ति भावोंमें रहनेवाली जातियोंमें है यदि प्रागभाव आदिकोंको भावस्वभाव न मानकर अन्य प्रकारसे वैशेषिक लोग तुच्छ मानेंगे तब तो अभाव पदार्थको उपाख्या रहितपनेका प्रसंग होगा । भावार्थ—कार्यकारण, धर्मधर्मी, विशेषण, आधेय, आदि किसी भी रूपसे अभाव पदार्थका समझना समझाना न बन सकेगा । यानी अश्वविषाणके समान अभाव असत् पदार्थ हो जावेगा । अतः अभावोंमें भी हम जातिको विद्यमान मानते हैं । वैशेषिकोंके समान आंख मींचकर द्रव्य, गुण कर्ममें ही जातिको मानना और " व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं " इत्यादि जाति बाधकोंका मानना हमें अभीष्ट नहीं है । जाति सर्वत्र रहती है।

तदेतदसत्यम् । सर्वदा जातिशब्दाभ्युपगमात् । तथा चार्थक्रियार्थिनः प्रतिपत्तॄन् प्रति शब्दप्रयोगोनर्थकः स्यात् । ततः प्रतीयमानया जात्याभिप्रेतार्थस्य वाहदोहादेरसंपादनात् ।

अब ग्रन्थकार बोलते हैं कि सो यह " जाति ही सब शब्दोंका अर्थ है " यहांसे लेकर निरुपाख्यपनेकी आपत्ति देनेतक किसीका कहना सर्व असत्य (झूंठा) है। कारण कि यदि शब्दके द्वारा जातियोंका ही निरूपण किया जावेगा तो उन सभी जाति शब्दोंसे सदा गौ, महिष, घट आदि व्यक्तियोंके सम्यग्ज्ञान होनेके अभावका प्रसंग हो जायगा । तब तो अर्थक्रियाके चाहनेवाले ज्ञाता श्रोताओंके प्रति शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ होगा। भावार्थ—लादने और दोहनेमें गोत्व जातिका तो उपयोग नहीं होता है, किन्तु लादने और दोहनेरूप अर्थक्रियाको करनेमें गौव्यक्ति ही प्रयोजनसाधिका है । इसी प्रकार घटत्व जाति जलधारणरूप अर्थक्रिया की और पटत्वजाति शीतबाधाको मेंटनेरूप अर्थक्रियाकी कारक नहीं है । तथा अर्थक्रियाको नहीं करनेवाला पदार्थ वास्तविक पदार्थ नहीं है । आपकी मानी हुयी नित्य एक जाति भी अर्थक्रियाको न करनेके कारण वस्तुभूत नहीं ठहरती है । तिस कारण शब्दके द्वारा जानी गयी जातिसे लादना, दोहना आदि हमारे अभीष्ट अर्थोंका संपादन नहीं होता है । अतः सभी शब्दोंका जातिरूप अर्थ मानना अयुक्त है । शब्दों करके अर्थक्रियाको करनेवाले पदार्थोंकी प्रतिपत्ति हो रही है, वही शब्दका वाच्यार्थ मानना चाहिये । परम्परा लगाना व्यर्थ है ।

स्वविषयज्ञानमात्रार्थक्रियायाः संपादनाददोष इति चेन्न, तद्विज्ञानमात्रेण व्यवहारिणः प्रयोजनाभावात् ।

मीमांसक बोलता है कि यदि कोई निठल्ला पदार्थ हमारे उपयोगी किसी कार्यको नहीं भी करता है, किन्तु कमसे कम स्वस्वरूप (अपने) विषयका ज्ञान करा देना केवल इस अर्थक्रियाको तो बना ही देता है । ऐसे ही गोत्व जाति भी स्व ज्ञानके विषयभूत अपना ज्ञान कराना रूप अर्थ-

क्रियाका संपादन कर देगी। अतः वस्तुभूत हो जावेगी। यों हमारे ऊपर जातिके अवस्तुपनेका कोई दोष नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि खाना, पीना, दोहना, लादना आदि व्यवहारको करनेवाले पुरुषका उस जातिको केवल विषय करनेवाले ज्ञानसे कोई प्रयोजन नहीं सधता है। अर्थक्रियाके अभिलाषुकको भलें ही ज्ञान न होय, किन्तु प्रयोजन सध जाना चाहिये। गौ, घट, पट इन व्यक्तियोंसे दोना, दुहना, जल धारण, शीतको दूर करना आदि वाञ्छनीय अर्थक्रियाएं होती हैं। ये क्रियाएं गौ आदिकके ज्ञानसे नहीं होने पाती हैं। गोत्व आदि जातियां भी किसी कामकी नहीं हैं। लड्डू और जलके ज्ञानसे भूंख प्यास दूर नहीं होती है। कार्यको सिद्ध करनेमें कारक हेतुओंकी आवश्यकता है। ज्ञापकोंकी नहीं।

न शब्दजातौ लक्षितायामर्थक्रियार्थिनां व्यक्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते अतिप्रसंगात्।

यहां कोई यों उपाय करे कि शब्दके द्वारा अभिधावृत्तिसे जातिका ज्ञान होगा और तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेपर जातिसे लक्षणावृत्तिके द्वारा व्यक्तिका ज्ञान कर लिया जावेगा। इस कारण अर्थक्रियाको चाहनेवाले पुरुषोंका गौ, घट आदि व्यक्तियोंमें प्रवृत्ति होना बन जाता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह उपाय तो अच्छा नहीं है, क्योंकि अतिप्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—गंगा शब्दके साथ घोष कह देनेसे तात्पर्य न बननेके कारण गंगाकी गंगातीरमें लक्षणाकी जाति है। "गंगामें मछली हैं" यहां लक्षणा नहीं है। जब कि शाब्दबोधके प्रकरणमें सर्वत्र लक्षणा मानी जावेगी तो आकाशमें रूप है। घटमें ज्ञान है। इन अशुद्ध प्रयोगोंमें भी लक्षणा करके निर्वाह किया जा सकेगा जो कि इष्ट नहीं है तथा यों परम्परासे कार्य होना माना जाये तब तो अनुमान, अर्थापत्ति आदिसे जाने गये पदार्थोंको भी इन्द्रियविषयपना प्राप्त होगा, यह भी अतिप्रसंग हो जावेगा। इसीको स्पष्ट करते हैं कि—

शब्देन लक्षिता जातिर्व्यक्तीर्लक्षयति स्वकाः।
संबन्धादित्यपि व्यक्तमशब्दार्थज्ञतोहितम् ॥ १६ ॥
तथा ह्यनुमितेरर्थो व्यक्तिर्जातिः पुनर्ध्वनेः।
क्वान्यथाक्षार्थतावाधा शब्दार्थस्यापि सिध्यतु ॥ १७ ॥
अक्षेणानुगतः शब्दो जातिं प्रत्यापयेदिह।
सम्बन्धात् सापि निःशेषा स्वव्यक्तीरिति तत्त्रयः ॥ १८ ॥

शब्द करके पहिले जाति कही जाती है। पीछे जाति और व्यक्तिका समवाय सम्बन्ध होनेके कारण यह जाति अपनी आधारभूत व्यक्तियोंका लक्षणावृत्तिसे ज्ञान करा देती है। इस प्रकारका कहना

भी प्रगटरूपसे शद्वशास्त्र और अर्थशास्त्रको न जाननेवालेपनकी चेष्टा करना है । आपने तिस प्रकार कहा है कि शद्वसे पहिले जाति जानी जाती है और फिर अनुमानसे व्यक्तिरूप अर्थ जाना जाता है । ऐसी दशामें शद्वका प्रसिद्ध होरहा वाच्य अर्थ तो अनुमानका विषय हो गया । अन्यथा यानी यदि अनुमानसे व्यक्तिका ज्ञान नहीं करोगे तो कौनसी व्यक्तिमें शद्वकी वाच्यता कहोगे ? शद्वसे जाति जानी जाती है और जातिसे व्यक्ति लक्षित होती है, अतः शद्वसे ही परम्पराके व्यक्तिका ज्ञान हुआ । यदि ऐसा कहोगे, तब तो शद्वके वाच्यार्थको इन्द्रियोंका विषयपना भी बाधारहित सिद्ध हो जाओ ! श्रोत्र इन्द्रिय करके पहिले शद्वका श्रावण प्रत्यक्ष होता है पीछे वह शद्व शाद्दबोध-प्रणालीसे जातिका ज्ञान कराता है । तत्पश्चात् इन व्यक्तियोंमें जातिका सम्बन्ध होनेसे वह जाति भी अपने आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यक्तियोंको लक्षित कर देती है, इस प्रकार उन मीमांसकोंकी नीति है । यहां परम्परासे वाच्यार्थको श्रोत्र इन्द्रियका विषयपना प्राप्त हो जाता है, किन्तु यह किसीको इष्ट नहीं है । मीमांसकोंने भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये स्वतन्त्र प्रमाण माने हैं, इनके विषय भी न्यारे न्यारे हैं ।

द्रव्यत्वजातिः शद्वेन लक्षिता द्रव्यं लक्षयति तत्र तस्याः समवायात् । गुणत्वजातिर्गुणं कर्मत्वजातिः कर्म । तत एव द्रव्यं तु समवेतसमवायात्प्रत्यापयति । विवक्षासामान्यं तु शद्वात्प्रतीतं विवक्षितार्थे संयुक्तसमवायादेरित्येतदशद्वार्थज्ञताया एव विजृम्भितम् ।

अन्य पण्डित कह रहे हैं कि द्रव्य शद्वके द्वारा जान ली गयी द्रव्यत्व जाति लक्षणावृत्तिसे द्रव्य व्यक्तिका ज्ञान करा देती है, क्योंकि उस द्रव्यमें द्रव्यत्व जातिका समवायसम्बन्ध होरहा है । द्रव्यत्वमें प्रतियोगिता सम्बन्धसे रहनेवाला समवाय अनुयोगिता सम्बन्धसे समवायके आश्रय होरहे द्रव्यकी ज्ञप्तिमें प्रयोजक हो जाता है, जैसे कि दो रकारोंको कहनेवाला द्विरेफ शद्व रामचन्द्र, प्रेमचंद्र, त्रिलोकचन्द्र, राष्ट्र, रुद्र, रात्रि आदि शद्वोंको छोडकर भ्रमर शद्वकी ही लक्षणा कराता है और भ्रमर शद्व अपने वाच्य भौंरेका लक्षित लक्षणासे ज्ञान करा देता है । इसी प्रकार शुक्ल, नील, आदि गुण शद्वों करके गुणत्व जातिका ज्ञान होता है और गुणत्व जाति गुण (व्यक्ति) को लक्षित कर देती है । तथा भ्रमण, चलन, सरण, तिर्यक्पवन आदि क्रिया शद्व भी कर्मत्व जातिको कहते हैं, उस कर्मत्व जातिसे कर्मपदार्थ लक्षित हो जाता है । किन्तु तिस समवेत समवायरूप परम्परा सम्बन्धसे ही गुणत्व, कर्मत्व जातियां द्रव्यका भी निर्णय करा देती हैं । भावार्थ—गुणत्व गुणत्वमें समवेत होता हुआ समवाय सम्बन्धसे ठहरता है और गुणद्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहता है । अतः गुणत्व और द्रव्यका समवेतसमवाय सम्बन्ध है । ऐसे ही कर्मत्व समवाय सम्बन्धसे कर्ममें रहता है और कर्म समवायसम्बन्धसे द्रव्यमें रहता है, ऐसी दशामें कर्मत्वका द्रव्यके साथ परम्परासे समवेतसमवायसम्बन्ध होगया । प्रत्येक सम्बन्ध दो आदि सम्बंधियोंमें रहता है । इस कारण एक सम्बन्धीका ज्ञान उससे अविनाभावी होरहे दूसरे सम्बन्धीका ज्ञापक हो जाता है । काठके बने हुए हाथी या अपनी इच्छासे किसी भी

व्यक्तिका नाम रख दिया गया डित्थ शद्ब यदृच्छा शद्ब है। डित्थ शद्बसे तो वक्ता सम्बन्धी बोलनेकी इच्छामें रहनेवाली इच्छात्व जातिकी प्रतीति होती है और जातिसे विवक्षित अर्थकी संयुक्तसमवाय या संयुक्तसमवेतसमवाय आदि सम्बन्धों करके ज्ञप्ति हो जाती है। भावार्थ—इच्छात्व इच्छामें समवाय सम्बन्धसे रहता है और इच्छा समवाय सम्बन्धसे आत्मामें रहती है आत्मा व्यापक द्रव्य है। अतः विवक्षित अर्थ डित्थके साथ आत्माका संयोग सम्बन्ध है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार यह किसीका अकाण्ड ताण्डवकी चेष्टा करना शद्ब और अर्थके सूक्ष्मतत्त्वोंको न जाननेपनका ही विलास है। अविचारी रूखे शद्ब शास्त्री वैयाकरण ही ऐसी भोंडेपनकी पंडिताई दिखाते फिरते हैं या सम्बन्धोंकी व्यर्थ चर्चामें अपनी योग्यताको बेचकर कोरे हृदयहीन नैयायिक ऐसा फटाटोप दिखाया करते हैं। इसमें कुछ सार नहीं है। यों तो—

द्रव्यगुणकर्मणां विवक्षितार्थानां चैवानुमेयानां शद्बार्थत्वाभिधानात्। शद्बात्परम्परया तेषां प्रतीयमानत्वात् शद्बार्थत्वे कथमक्षार्थता न स्यादक्षात्परंपरायाः प्रतीयमानत्वात्। शद्बो हि श्रोत्रेणावगतो जातिं प्रत्याययति सापि स्वव्यक्तीरिति सर्वः शद्बार्थोक्षार्थ एव।

जिन अर्थोंकी विवक्षा उत्पन्न हुयी है उन अनुमानके विषयभूत द्रव्य, गुण और कर्मको शद्बके वाच्य अर्थपनेका आपने कथन किया है। अर्थात् शद्बसे जाति और जातिसे द्रव्य आदि व्यक्तियोंका अनुमान किया गया है, यों तब तो अनुमानसे जानने योग्य व्यक्तियोंको आपने शद्बका वाच्य अर्थ मान कर कथन किया है। किन्तु अनुमान और शद्बको पृथक् पृथक् प्रमाण माननेवाले नैयायिक, मीमांसक, कापिल और जैनोंके यहां शद्बजन्य ज्ञानका विषय अनुमेय अर्थ नहीं माना गया है, आगमप्रमाण और अनुमानप्रमाणका विषय भिन्न भिन्न होना चाहिये। किन्तु जातिको शद्बका अर्थ माननेवालोंके उक्त कथनसे अनुमानके द्वारा जानी हुयी व्यक्तिमें वाचक शद्बकी वाच्यार्थता कही गयी है, सो शाद्बबोधमें अनुमानकी व्यर्थ आकांक्षा करना युक्त नहीं प्रतीत होती है। यदि जातिको शद्बका वाच्यार्थ माननेवाले यों कहें कि शद्बसे जाति और जातिसे व्यक्ति, इस प्रकार परम्परासे शद्बके द्वारा ही उन द्रव्य, गुण, कर्म व्यक्तियोंकी प्रतीति हो रही है। इस कारण उनको शद्बका वाच्य माना जावेगा, तब तो हम कहते हैं कि उन द्रव्य, गुण, कर्मोंको इन्द्रियोंका विषयपना भी क्यों नहीं प्राप्त हो जावेगा। कारण कि इन्द्रियोंकरके परम्परासे द्रव्य आदिक प्रतीत हो रहे हैं, जब कि श्रोत्र इन्द्रियसे पहिले शद्ब जान लिया जाता है, वह शद्ब शाद्बप्रक्रियासे जातिका परिज्ञान कराता है, आपके मतानुसार पीछे वह जाति भी अपने आश्रय मानी गयीं व्यक्तियोंकी प्रतीति कराती है। इस प्रकार शद्बोंके सभी अर्थ इन्द्रियोंके ही विषयभूत अर्थ कहे जावेंगे। भावार्थ—जैसे शद्बसे जाति और जातिसे व्यक्तिको जाननेमें शद्ब और व्यक्तिका एकको बीचमें देकर सम्बन्ध हो जाता है, वैसे ही कर्णेन्द्रियसे शद्ब तथा शद्बसे जाति और जातिसे व्यक्ति इस प्रकार शद्ब और व्यक्ति

इन दोको बीचमें देकर श्रोत्रकी विषयता भी आगमगम्य व्यक्तियोंमें आजावेगी। परम्पराकी प्रतीति होना आपको सह्य है ही।

तथानुमानार्थाः करणेन प्रतीताङ्गिगिनि ज्ञानोत्पत्तेः।

और यों तो तिस प्रकार अनुमान प्रमाणसे जानने योग्य विषय भी इन्द्रियोंके विषयभूत अर्थ ही कहे जावें। क्योंकि चक्षुः, स्पर्शन, आदि इन्द्रियोंके द्वारा निर्णीत किये गये अविनाभावी हेतुसे हेतुवाले साध्यमें ज्ञान उत्पन्न होता है, यहां भी परम्परासे अनुमेय अर्थमें इन्द्रियोंकी विषयता प्राप्त हो जाओ! इन्द्रियोंसे हेतुको जाना और हेतुसे साध्यको जाना है। स्वज्ञाप्यज्ञाप्यत्व सम्बन्धसे इन्द्रियोंका विषय साध्य हो जाता है। किन्तु अनुमानसे जानने योग्य विषयको बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका विषय किसीने भी इष्ट नहीं किया है। प्रमाणसंप्लवकी रीति तो अन्य प्रकार है।

एतेनार्थापत्त्यादिपरिच्छेद्यस्यार्थस्याक्षार्थतापसक्तिर्व्याख्याता, पारम्पर्येणाक्षात्परिच्छिद्यमानत्वाविशेषादित्यक्षार्थ एव शब्दो निर्बाधः स्यान्न शब्दाद्यर्थः सामान्यशब्दार्थवादिनो न चैवं प्रसिद्धः।

इस उक्त कथनसे यह भी व्याख्यान कर दिया गया कि मीमांसकोंके द्वारा स्वतन्त्र प्रमाणपनेसे मानी गयी और जैनोंके यहां अनुमान प्रमाणमें गर्भित की गयी अर्थापत्ति तथा नैयायिक और मीमांसकों द्वारा स्वतन्त्र प्रमाणपनेसे माना गया एवं जैनोंके यहां प्रत्यभिज्ञान प्रमाणमें अन्तर्भूत किया गया उपमान प्रमाण, इसी प्रकार सम्भव ऐतिह्य, प्रतिभा आदि प्रमाणोंसे जानने योग्य विषयको भी इन्द्रियोंकी विषयता प्राप्त हो जावेगी। क्योंकि अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंका उत्थान भी पहिले इन्द्रियोंसे पदार्थोंको जान लेनेपर पीछेसे होता है। अतः अर्थापत्तिगम्य पदार्थका भी परम्परा करके इन्द्रियोंसे सम्बन्ध है। देवदत्तका पुष्टपना आंखों या स्पार्शनइन्द्रियसे जान लेनेपर पश्चात् रात्रिभोजनका ज्ञान अर्थापत्तिसे हो जाता है। ऐसे ही उपमान श्रुतज्ञान आदिमें पहिले इन्द्रियोंसे ज्ञापकोंके जाननेकी आवश्यकता है। मन इन्द्रियकी अनेक ज्ञानोंमें आवश्यकता है। परम्परा करके इन्द्रियोंसे जान लिया गयापन तो विशेषता रहित होकर सम्पूर्ण क्षायोपशमिक ज्ञानके विषयोंमें विद्यमान है। इस कारण शब्द और शब्दका वाच्य अर्थ बाधारहित होकर इन्द्रियोंका विषय ही हो जावेगा, ऐसी दशामें शब्द, हेतु, सादृश्य, अर्थापत्त्युत्थापक आदिके द्वारा जानने योग्य अर्थ कोई न हो सकेंगे। जातिको शब्दका अर्थ कहनेवाले मीमांसकके यहां शब्द आदिकके स्वतन्त्र विषय कोई नहीं बन सकेंगे, किन्तु इस प्रकारका सिद्धान्त प्रसिद्ध नहीं है। भावार्थ—इन्द्रियोंके विषय न्यारे हैं तथा हेतु, शब्द, आदिके गोचर पदार्थ स्वतंत्र होकर निराले माने गये हैं। यही सम्पूर्ण दार्शनिकोंकी पद्धति है।

यद्यस्पष्टावभासित्वाच्छब्दार्थः कश्चनेष्यते।
लिंगार्थोऽपि तदा प्राप्तः शब्दार्थो नान्यथा स्थितिः॥ १९॥

यदि जातिको पदका अर्थ माननेवाले यों कहें कि इन्द्रियोंके द्वारा जाने गये विषयोंका स्पष्ट (विशद) रूपसे प्रकाश होता है, किन्तु शद्धके द्वारा जाने गये वाच्यार्थका तो स्पष्ट अवभास नहीं होता है, इस कारण इन्द्रियगोचर अर्थोंसे निराले कोई कोई अस्पष्ट विषय शद्धके वाच्य अर्थ माने जाते हैं। इस पर हम जैन कहते हैं कि तब तो अस्पष्ट प्रतिभास होनेके कारण हेतुजन्य ज्ञानका विषय अनुमेय भी शद्धजन्य ज्ञानका गोचर प्राप्त होगा। जो कि आपको इष्ट नहीं है। अनुमेय और आगमगम्य प्रमेयोंमें महान् अन्तर हैं, दूसरे अन्य प्रकारोंसे अब आप मीमांसक शद्धके वाच्यअर्थकी सिद्धि नहीं कर सकते हैं। व्यवस्था बिगड जायगी।

शद्धात्प्रतीता जातिर्जात्या वा लक्षिता व्यक्तिः शद्धार्थ एवास्पष्टावभासित्वादित्ययुक्तं, लिंगार्थेन व्यभिचारात्। तस्यापि पक्षीकरणे लिंगार्थयोः स्थित्ययोगात्।

उक्त वार्त्तिकका व्याख्यान यह है कि शद्धसे जाति जानी जाती है और जातिसे अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्तिके प्रतिसन्धान होनेपर शक्य सम्बन्धरूप लक्षणावृत्तिके द्वारा व्यक्ति जानी जाती है। अतः अविशद प्रकाश करनेवाला होनेके कारण वह व्यक्ति शद्धका विषय ही है, इन्द्रियका गोचर नहीं। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार कहना युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि अविशद प्रकाशीपन हेतुका धूम आदि लिंगके विषय हो रहे अग्नि आदि अर्थ करके व्यभिचार है। भावार्थ— जिसका अस्पष्ट प्रकाश है वह शद्धका विषय है ऐसी व्याप्ति बनानेपर लिंगके द्वारा जाने गये अनुमेय अर्थसे व्यभिचार है। अनुमेय अर्थ भी अस्पष्टरूपसे जाना गया है, यों तो वह भी शद्धका विषय हो जावेगा। यदि आप उस अनुमेय अर्थको भी पक्षकोटिमें कर लोगे तब तो अनुमानसे और शाद्धबोधसे जाने गये भिन्न भिन्न प्रमेयोंकी स्थिति न हो सकेगी, तथा उपमान, और अर्थापत्तिके विषयोंको भी शद्धका विषयपना प्राप्त हो जावेगा। इस ढंग से प्रमाणोंके भेदोंकी व्यवस्था होना भी कठिन हो जावेगा।

यत्र शद्धात्प्रतीतिः स्यात्सोर्थः शद्धस्य चेन्ननु।
व्यक्तेः शद्धार्थता न स्यादेवं लिंगात्प्रतीतितः॥ २०॥

मीमांसक यहां तर्कणापूर्वक कहते हैं कि जिस पदार्थमें शद्धसे प्रतीति होती है वह उस शद्धका वाच्य अर्थ है। ऐसा कहनेपर हम जैन कहेंगे कि यों तो विशेषव्यक्तिको शद्धकी वाच्यता न हो सकेगी, कारण कि पूर्वोक्त प्रकार आपने हेतुसे व्यक्तिकी प्रतीति की है। अतः अर्थक्रिया करनेमें उपयोगी विशिष्ट पदार्थका ज्ञान तो अनुमानसे हुआ शाद्धबोधका विषय कोई विशिष्ट पदार्थ न हो सका यह भारी त्रुटि है। आप मीमांसकों द्वारा मानी गयी शद्धके वाच्य अर्थ जातिकी तो किसी भी जीवको शद्धसे प्रतीति नहीं होती है।

शब्दादेव प्रतीयमानं शब्दार्थमभिप्रेत्य शब्दलक्षितात्सामान्याल्लिंगात् प्रतीयमानां व्यक्तिं शब्दार्थमाचक्षाणः कथं स्वस्थः, परम्परया शब्दात्प्रतीयमानत्वात्तस्याः शब्दार्थत्वेक्षार्थतां कथं बाध्यते तथाक्षेणापि प्रतीयमानत्वादुपचारस्योभयत्राविशेषात् ।

शब्द हीसे जाने हुए पदार्थको शब्दका अर्थ मान कर यों कहनेवाले पुरुष कैसे स्वस्थ (होशमें) हो सकेंगे कि शब्दसे लक्षणा और अभिधावृत्तिके द्वारा जातिका वाचन होता है और जातिसे हेतुके द्वारा व्यक्तिकी प्रतीति होती है । इस परम्परासे प्राप्त हुयी व्यक्तिकी वाच्यता तो शब्दसे कही गयी मानी जावे यह कोरा मत्तप्रलाप है । यदि परम्परासे शब्दके द्वारा व्यक्तिकी प्रतीति हुयी है, अतः उस व्यक्तिको शब्दका वाच्यार्थ माना जावेगा तब तो उस व्यक्तिको इन्द्रियोंका विषयपना कैसे बाधित हो सकेगा ?, क्योंकि तिसी प्रकार परम्परासे इन्द्रियोंके द्वारा भी शब्द और जातिको बीचमें देकर उस व्यक्तिकी प्रतीति हुयी है । वास्तवमें देखा जावे तो वह व्यक्ति शब्दका वाच्य अर्थ नहीं है, किन्तु अनुमान प्रमाणका विषय है । धन ही प्राण हैं इस कथनमें धन अन्नका कारण है और अन्न प्राणका कारण है । यहां कारणके कारणमें जैसे कार्यपनेका उपचार है तिसी प्रकार यदि ज्ञापकमें भी विषयपनेका उपचार किया जावेगा तब तो ज्ञापकके ज्ञापकमें भी उपचार किया जा सकता है उपचार करना दोनों स्थलोंपर समान है । एक जातिको बीचमें देकर या शब्द और जाति दो को बीचमें देकर कल्पना करना एकसा है । अन्नमें प्राणका उपचार कर देनेके समान धनमें भी प्राणका उपचार (व्यवहार) हो सकता है । ऐसी दशामें शब्दका वाच्य अर्थ स्वतन्त्र कोई नहीं ठहरता है । शब्दको मध्यमें अनुमानकी शरण लेनी पडती है ।

न च लक्षितलक्षणयापि शब्दव्यक्तौ प्रवृत्तिः संभवतीत्याह—

एक बात यह भी है कि द्विरेफके समान अर्थात् दो रेफवाला शब्द भ्रमर ही पकडा जाय रामचन्द्र प्रेमचन्द्र नहीं, यों द्विरेफ शब्दकी लक्षणा भ्रमर पदमें और पुनः भ्रमर शब्दसे मधुकर अर्थ लक्षित किया जाय ऐसी लक्षितलक्षणा करके भी शब्दके द्वारा किसी प्रकृत व्यक्तिमें प्रवृत्ति होना नहीं संभवता है । इसको आचार्य महाराज स्पष्ट कर अग्रिमवार्त्तिकमें कहते हैं ।

शब्दप्रतीतया जात्या न च व्यक्तिः स्वरूपतः ।
प्रत्येतुं शक्यते तस्याः सामान्याकारतो गतेः ॥ २१ ॥
व्यक्तिसामान्यतो व्यक्तिप्रतीत्यवनवस्थितेः ।
क्व विशेषे प्रवृत्तिः स्यात्पारम्पर्येण शब्दतः ॥ २२ ॥

शब्दके द्वारा साक्षात् निर्णीत की गयी जाति करके अपने स्वरूपसे व्यक्ति (विशिष्ट एक पदार्थ) की प्रतीति नहीं कर सकते हो, क्योंकि उस व्यक्तिका सामान्य विकल्पोंसे ही ज्ञान हुआ है ।

भावार्थ—हेतु और साध्यकी व्याप्ति सामान्यरूपसे हुआ करती है विशेषरूपसे नहीं। जहां धुआ है, वहां हेतु द्वारा सामान्य अग्निका ज्ञान होगा। तृणकी या पत्तेकी अथवा धवकी पलाशकी आगका विशेषरूपसे ज्ञान नहीं हो सकेगा, यदि विशेषके साथ व्याप्ति बना ली जावे तो हेतु व्यभिचारी हो जावेगा। अतः पक्षधर्मताकी सामर्थ्यसे भले ही पीछे अन्य प्रमाणोंके द्वारा विशेषपने करके ही साध्यका ज्ञान हो जावे, किन्तु अनुमानसे सामान्यपने करके ही साध्यका ज्ञान होगा, ऐसी दशामें जातिके द्वारा हेतुसे यदि व्यक्तिका ज्ञान किया जावेगा तो भी सामान्यरूपसे ही व्यक्तिका ज्ञान होगा। विशेषरूपसे प्रकृत (खास) व्यक्तिका ज्ञान न हो सकेगा, क्योंकि जातिरूप हेतुकी व्यक्तिरूप साध्यके साथ व्याप्ति सामान्यपनेसे ही ग्रहीत हो चुकी है। व्यभिचारके डरसे विशेषपनेसे व्याप्ति ग्रहण नहीं हुआ है। यदि जातिसे सामान्यपने करके व्यक्तिको जान चुकनेपर सामान्य व्यक्तिसे विशेष व्यक्तिकी प्रतीति करनेके लिये पुनः अनुमान करोगे तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि सामान्य व्यक्तिरूप हेतुके साथ विशेष व्यक्तिरूप साध्यकी व्याप्ति सामान्यपने करके ही हुयी है। अतः फिर भी विशेष व्यक्तिका ज्ञान न हो सका, यदि पुनः विशेष व्यक्तिको जाननेके लिये तीसरा अनुमान उठाया जावेगा तो वह भी सामान्यरूपसे ही साध्यको जान पायेगा, विशेष व्यक्तिका ज्ञान न हो सकेगा। सभी व्याप्तियां सामान्यपनेसे हुआ करती हैं। ऐसी दशा होनेपर भला शद्बके द्वारा परम्परासे भी विशेष अर्थमें ज्ञप्ति-पूर्वक प्रवृत्ति कहां हुयी ? सो बतलाओ ! यानी कहीं भी नहीं।

शब्दलक्षितया हि जात्या व्यक्तेः प्रतिपत्तुरनुमानमर्थापत्तिर्वा ? प्रथमपक्षे न तस्याः व्यक्तेः स्वरूपेणासाधारणेनार्थक्रियासमर्थेन प्रतीतिस्तेन जातेर्व्याप्त्यसिद्धेरनन्वयात्तदन्तरेणापि व्यक्त्यन्तरेषूपलब्धेर्व्यभिचाराच्च, सामान्यरूपेण तु तत्प्रतिपत्तौ नाभिमतव्यक्तौ प्रवृत्तिरतिप्रसंगात्।

जातिको शद्बका अर्थ कहनेवाले वादियोंसे आचार्य महाराज पूंछते हैं कि शद्बके द्वारा लक्षणा-वृत्ति करके जतायी गयी जातिसे पुनः व्यक्तिका ज्ञाताको अवश्य ज्ञान होना अनुमान प्रमाणरूप है ? अथवा अर्थापत्ति प्रमाणरूप है ? बतलाओ ! यदि पहिला पक्ष लोगे तब तो उस व्यक्तिकी अपनी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ हो रहे असाधारण स्वरूप करके प्रतीति न हो सकेगी। क्योंकि व्यक्तिके असाधारण स्वरूपके साथ जातिकी व्याप्ति बनना सिद्ध नहीं है। जहां जहां सामान्य जाति रहती है वहां वहां असाधारण लक्षणसे युक्त प्रकृत एक व्यक्ति रहती ही है, यह अन्वयव्याप्ति नहीं बनती है। जहां धूम है, वहां महानसकी या पत्तोंकी विशिष्ट अग्नि है, यह व्याप्ति नहीं बन सकती है। व्यभिचार है। उस महानस या पत्तोंकी आगके विना भी दूसरी व्यक्तियों गोशाला या धूपघटमें धूमसहित आग देखी जाती है। ऐसे ही सामान्य जातिके साथ अर्थ क्रियाको करनेवाली एक विशिष्ट व्यक्तिका अन्वय नहीं है, क्योंकि उस विशेष व्यक्तियोंके विना भी दूसरी व्यक्तियोंमें जाति पायी जाती है। अतः विशेषसाध्यके साथ व्याप्ति बनानेमें व्यभिचार दोष भी होता है और सर्व देश

तथा कालका उपसंहार करनेवाली व्याप्ति भी नहीं बनने पाती है। अन्य व्यक्तियोंमें भी पाये जाने वाले ऐसे साधारणस्वरूप करके उस व्यक्तिकी प्रतिपत्ति मानोगे तब तो प्रकृत अभीष्ट एक व्यक्तिमें श्रोताकी प्रवृत्ति न हो सकेगी, क्योंकि साधारण धर्मोंका आधार तो प्रकृत व्यक्तिसे अतिरिक्त अन्य व्यक्तियां भी हो रही हैं। मनुष्यको लाओ! ऐसी आज्ञा मिलनेपर ब्राह्मण या शूद्र किसीको भी लाकर लानेवाला सेवक कृतकृत्य हो जाता है। किन्तु हमारे विशिष्ट कार्यको साधनेवाले व्यक्तिका ले आना मनुष्य कहने मात्रसे नहीं हो सकेगा। दूसरे प्रकार मानोगे तो अतिप्रसंग हो जावेगा। यानी सामान्यके कह देनेपर अभीष्ट विशेषको न लानेवाला पुरुष अपराधी समझा जावेगा। तब तो सामान्यके कह देनेसे ही विना विशेषोंके कहे उनका आपादन हो जाना चाहिये।

यदि पुनर्जातिलक्षितव्यक्तिसामान्यादभिमतव्यक्तेः प्रतीतिस्तदा साप्यनुमानमर्थापत्तिर्वेति स एव पर्यनुयोगस्तदेव चानुमानपक्षे दूषणमित्यनवस्थानम्।

यदि आप फिर भी यह कहोगे कि शब्दसे जातिका निरूपण कर लक्षणावृत्तिसे व्यक्ति-सामान्यको जानकर उस व्यक्ति सामान्यसे विशेष अभीष्ट व्यक्तिकी प्रतीति कर लेवेंगे, तब तो हम जैन फिर पूंछेंगे कि सामान्य व्यक्तिसे विशेष व्यक्तिका वह ज्ञान भी अनुमान है? या अर्थापत्ति प्रमाण है? बतलाइये। यहां भी पहिला पक्ष लेनेपर वही पूर्वोक्त दोष लागू होगा। फिर भी सामान्य व्यक्तिसे सामान्यरूप करके विशेषव्यक्तिका ज्ञान किया जावेगा। यहां भी तीसरे, चौथे, आदि सामान्य रूपोंके ऊपर वही चोद्य उठता चला जायगा और वही पहिले अनुमान पक्षके ग्रहण करने पर दूषण होता जावेगा। इस प्रकार अनवस्था हो जावेगी। शब्द करके विशेषव्यक्तिका परिज्ञान नहीं हो सकेगा।

शब्द प्रतीतया जात्या व्यक्तेः प्रतिपत्तिरेवेति चेत्, प्रति नियतरूपेण सामान्यरूपेण वा? न तावदादिविकल्पस्तेन सह जातेरविनाभावासिद्धेः। द्वितीयविकल्पे तु नाभिमतव्यक्तौ प्रवृत्तिरित्यनुमानपक्षभावी दोषः।

मीमांसक पण्डित कहते हैं कि शब्दसे जातिकी प्रतीति होती है और जातिसे अर्थापत्तिके द्वारा विशेष अभीष्ट व्यक्तिकी प्रतिपत्ति हो ही जाती है। अर्थात् जातिकी स्थिति व्यक्तियोंके विना अनुपपन्न है, अतः दूसरे पक्षके अनुसार अर्थापत्ति प्रमाणसे अर्थक्रियाकारी विशेष पदार्थका तीसरी कोटीमें ज्ञान हो जावेगा। इस प्रकार कहोगे तो हम जैन आपसे पूंछेंगे कि जातिके द्वारा व्यक्तिकी अर्थापत्ति क्या प्रत्येक व्यक्तिमें नियमित हुए असाधारण स्वरूप करके होगी? या अनेक व्यक्तियोंमें पाये जानेवाले साधारण स्वरूप करके होगी? कहिये। तिन दोनों पक्षोंमें पहिला विकल्प लेना तो ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट असाधारण स्वरूप करके उस व्यक्तिके साथ जातिका अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति) प्रसिद्ध नहीं है, यह कहा जा चुका है। और दूसरा विकल्प ग्रहण करनेपर तो

अर्थक्रियाको करनेवाले अभीष्ट प्रकृत विशेष पदार्थमें प्रवृत्ति न हो सकेगी। साधारण स्वरूप करके जान लेनेपर तो सामान्यवाले चाहे जिस व्यक्तिमें या अनेक व्यक्तियोंमें भी प्रवृत्ति हो जावेगी, ऐसी दशामें शद्वके द्वारा बच्चा अपनी माताको अथवा पत्नी अपने पतिको न जान सकेगी। इस प्रकार पहिले अनुमान पक्षमें होनेवाले दोष दूसरे अर्थापत्तिवाले पक्षमें भी लागू हो जाते हैं।

सामान्यविशेषस्यानुमानार्थत्वाददोष इत्यपरः। तस्यापि शद्धार्थो जातिमात्रं मा भूत् सामान्यविशेषस्यैव तदर्थतोपपत्तेः। संकेतस्य तत्रैव ग्रहीतुं शक्यत्वात्। तथा च शब्दात्प्रत्यक्षादेरिव सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि प्रवृत्तेः परमतसिद्धेर्न जातिरेव शब्दार्थः।

कुछ जैनोंकी शरणमें आया हुआ कोई दूसरा वादी यह कहता है कि अनुमान प्रमाणका विषय केवल सामान्य ही नहीं है, किन्तु सामान्यका विशेष पदार्थ भी अनुमान प्रमाणका ज्ञेय है, यानी सामान्य और विशेष अंशोंसे युक्त वस्तुको अनुमान जानता है, अतः कोई दोष नहीं है। अर्थात् अनवस्था नहीं है। व्याप्ति भी बन जावेगी और विशेषमें प्रवृत्ति भी हो जावेगी। अब आचार्य कहते हैं कि उस दूसरे वादीके भी केवल सामान्य ही तो शद्वका वाच्य अर्थ नहीं हुआ। सामान्यके विशेषको ही या सामान्य विशेषात्मक पदार्थको ही उस शद्वका वाच्य अर्थपना सिद्ध होता है और उस सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें ही संकेतग्रहण करना बन सकता है। ऐसी ही तो जैनसिद्धान्त है। घट शद्वसे कम्बु और ग्रीवासे युक्त वस्तु कही जाती है, इस प्रकारका संकेत सामान्य और विशेष अंशोंसे घिरे हुए पदार्थमें माना गया है। तिस कारण सिद्ध होता है कि जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सामान्यविशेषात्मक वस्तुको जानकर उसमें प्रवृत्ति होती है, अतः प्रत्यक्ष आदिकका विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है। तैसे ही शद्वसे भी सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें प्रवृत्ति और ज्ञप्ति होना प्रतीत हो रहा है। इससे तो तुमसे दूसरे जैन मतकी सिद्धि हो जाती है, अतः केवल जाति ही शद्वका वाच्य अर्थ है। यह मीमांसकोंका मत सिद्ध नहीं हो पाता है।

द्रव्यमेव पदार्थोऽस्तु नित्यमित्यप्यसंगतम्।
तत्रानंत्येन संकेतक्रियाऽयुक्तेरनन्वयात् ॥ २३ ॥
वाञ्छितार्थप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्य हानितः।
शद्वस्याक्षादिसामर्थ्यादेव तत्र प्रवृत्तितः ॥ २४ ॥

कोई विद्वान् कहता है कि सम्पूर्ण पदोंका अर्थ नित्यद्रव्य ही होओ, कोई भी शद्व जाति, गुण, क्रिया, आदिको नहीं कहता है। भावार्थ—सभी शद्व नित्यद्रव्योंके वाचक हैं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना भी असंगत है, क्योंकि उन व्यक्तियोंमें अनन्तपनेके कारण संकेत करना नहीं बन सकता है। द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अन्वय होना भी नहीं घटता है। भावार्थ—

अनेक पर्यायें तो एक द्रव्यसे या गुणसे अन्वित हो रहीं हैं। सुख जीवकी पर्याय है, दुःख भी जीवका परिणाम है, ज्ञान, इच्छायें भी उसी जीवका स्वभाव हैं तथा खट्टा रस है मीठा भी रस होता है, तिक्त भी रस गुणका विवर्त है। किन्तु कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्योंसे अन्वित नहीं है, जैसे कि देवदत्त नामका एक जीवद्रव्य है, वह अन्य सजातीय और विजातीय द्रव्योंसे अन्वित नहीं है, यानी अन्य द्रव्योंमें यह देवदत्त है यह भी देवदत्त है और यह भी देवदत्त है ऐसी अन्वयप्रतीति नहीं होती है। किन्तु " वृत्तिर्वाचामपरसदृशी " वचनोंकी प्रवृत्ति अन्य व्यक्तियोंके सादृश्यको मूल कारण मानकर हो रही है। ऐसी दशामें शद्वके द्वारा प्रकृत अभीष्ट अर्थमें प्रवृत्ति होना या अनिष्ट अर्थसे निवृत्ति होना इत्यादि व्यवहारोंकी हानि हो जावेगी। हां! इन्द्रिय, मन, हेतु, आदिकी सामर्थ्यसे भलें ही उन इष्ट अर्थोंमें प्रवृत्ति हो जावे। शाद्वबोधप्रक्रियासे तो विवक्षित अर्थमें प्रवृत्ति न हो सकेगी, द्रव्य अनन्त हैं, एकका दूसरेके साथ अन्वय है नहीं। जिस द्रव्यमें संकेत किया जावेगा उसका प्रत्यक्ष ही हो रहा है। अतः नित्य द्रव्यको शद्वका वाच्य अर्थ माननेमें कतिपय दूषण प्राप्त होते हैं।

न हि क्षणिकस्वलक्षणमेव शद्वस्य विषयस्तत्र साकल्येन संकेतस्य कर्तुमशक्तेरानन्त्यादेकत्र संकेतकरणे अनन्वयादभिमतार्थे प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्य विरोधात्। स्वयमप्रतिपन्ने स्वलक्षणे संकेतस्यासम्भवाच्च। वाचकानां प्रत्यक्षादिभिः प्रतिपन्नेक्षादिसामर्थ्यादेव प्रवृत्तिसिद्धेः। प्रतिपत्तुः शद्वार्थापेक्षानर्थक्यात् किं तु द्रव्यनित्यमपि तस्यानन्त्याविशेषात्।

बौद्धोंसे माना गया और क्षण क्षणमें नष्ट हो रहा केवल स्वलक्षणद्रव्य ही जब शद्वका विषय ही नहीं है, क्योंकि उन स्वलक्षणोंमें सम्पूर्णपने करके संकेत नहीं किया जा सकता है, कारण कि वे स्वलक्षण अनन्त हैं। अनन्त स्वलक्षणोंमें संकेत करना अनेक जन्मोंसे भी साध्य कार्य नहीं है। यदि एक स्वलक्षणव्यक्तिमें संकेत किया जावेगा तो एक व्यक्तिका अन्य व्यक्तिमें अन्वय न होनेके कारण अभीष्ट परोक्ष अर्थमें प्रवृत्ति, निवृत्ति आदिके व्यवहार होनेका विरोध होगा। दूसरी बात यह है कि जिस परमाणु स्वरूप क्षणिक स्वलक्षणको आजतक स्वयं प्रतिपादक और प्रतिपाद्योंने नहीं जाना है, ऐसे स्वलक्षणतत्त्वमें वाचक शद्वोंका संकेत करना भी असम्भव है। वाच्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे इन्द्रिय, हेतु आदिकी सामर्थ्य करके निर्णय कर लेनेपर वाचकोंकी प्रवृत्ति होना घटता है, अन्यथा समझनेवाले प्रतिपाद्यको शद्वकी वाच्य अर्थकी अपेक्षा करना व्यर्थ पडेगा। अर्थात् घट व्यक्तिको चक्षुसे देख लेनेपर और घट शद्वको कानोंसे सुन लेनेपर संकेत ग्रहण करते हुए व्यवहार किया जाता है। पर्यायसहित द्रव्योंमें संकेतग्रहण और व्यवहार करना होता है। किन्तु स्वलक्षणके समान नित्यद्रव्य भी व्यवहारके योग्य नहीं है, क्योंकि उन द्रव्योंमें अनन्तपना सामान्य रूपसे विद्यमान है। अतः शद्वके द्वारा क्षणिक स्वलक्षण और नित्यद्रव्य इन दोनोंका वाचन नहीं हो सकता है। पंक्तिके पहिले वाक्य " न हि स्वलक्षणमेव " का अन्वय " किन्तु नित्यद्रव्यमपि " के

साथ है, यानी केवल अनित्य स्वलक्षण ही शद्वका वाच्य नहीं है यही नहीं समझना। किन्तु नित्य द्रव्य भी शद्वका वाच्य नहीं है। किन्तु कह देनेसे पूर्वमें नहीं कहे गये भी विधि या निषेधपर विशेष बल पड जाता है।

स्यान्मतं, तत्र साकल्येन संकेतस्य करणमशक्तेः, । किं तर्हि कचिदेकत्र न चानन्वयोस्य संकेतव्यवहारकालव्यापित्वान्नित्यत्वादिति। तदसंगतम्। कर्के संकेतितादश्वशब्दाच्छोणादौ प्रवृत्त्यभावप्रसंगात् तत्र तस्यानन्वयात्। न च प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभ्यामध्यक्षादिना नित्येपि कर्के प्रतिपन्ने वाचकस्य संकेतकरणं किञ्चिदर्थं पुष्णाति प्रत्यक्षादेरेव तत्र प्रवृत्त्यादिसिद्धेः। स्वयं ताभ्यामप्रतिपन्ने तु कुतः संकेतो वाचकस्यातिप्रसंगात्।

शद्वका वाच्य अर्थ नित्य द्रव्यको माननेवालोंका सम्भवतः यदि यह मन्तव्य हो कि उस नित्य द्रव्यमें पूर्णरूपसे संकेत करना भले ही अशक्य है तब तो फिर क्या किया जाय ? इसका उपाय यह है कि किसी एक व्यक्तिमें तो वाच्य वाचकका संकेत ग्रहण किया जा सकता है ऐसी दशामें अनुगत प्रतीतिरूप अन्वयका न मिलना नहीं है, जब कि अनुगत प्रतीतिका होनारूप अन्वय ठीक मिल रहा है। क्योंकि वह नित्यद्रव्य संकेत काल और व्यवहार कालमें नित्य होनेके कारण व्याप रहा है, ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार उनका कहना असंगत है। कारण कि शुक्ल घोडेमें संकेत किये गये अश्व शद्वसे लाल, बदामी, काले आदि घोडोंमें प्रवृत्ति करनेका अभाव हो जावेगा, उस श्वेत घोडेपनेका अन्वय उन लाल चितकबरे घोडोंमें नहीं है। द्रव्यका द्रव्यमें अन्वय नहीं होता है। हां ! अश्वत्वरूप सदृश परिणामका अन्वय अनेक घोडोंमें पाया जा सकता है, किन्तु आप द्रव्यवादी उस जातिको स्वीकार नहीं करते हैं। प्रतिपाद्य श्रोता और प्रतिपादक वक्ता करके प्रत्यक्ष अनुमान, आदि प्रमाणोंद्वारा नित्य द्रव्यरूप भी शुक्ल घोडेको जानलेनेपर उस वाचक अश्व शद्वका वहां संकेत करना किसी भी प्रयोजनको पुष्ट नहीं करता है। उस नित्य शुक्ल घोडेमें तो प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाणोंसे ही प्रवृत्ति निवृत्ति आदि व्यवहार होना सिद्ध है। जिस व्यक्तिको संकेतकालमें जाना है। उसी नित्य व्यक्तिको व्यवहार कालमें जाननेसे क्या लाभ निकला ? अर्थात् कुछ भी नहीं। शद्वोंका वाच्य अर्थोंके साथ संकेत ग्रहण करना सदृश व्यक्तियोंके ज्ञान करानेमें उपयोगी है, अनेक गुणोंका पिण्डरूप शुद्धद्रव्य तो साधारण जीवोंको ज्ञेय नहीं है। जिस नित्यद्रव्यको उन प्रतिपाद्य और प्रतिपादकने ही स्वयं नहीं जाना है, उसमें तो किसी वाचक शद्वका संकेत ग्रहण भी भला कैसे हो सकता है ? अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् हम लोगोंके द्वारा अज्ञात भी परमाणु, पाप, पुण्य आदि अनेक पदार्थोंमें शद्वकी प्रवृत्ति होना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

केचिदाहुः—न नाना द्रव्यं नित्यं शद्वस्यार्थः किन्त्वेकमेव प्रधानं तस्यैवात्मा वस्तुस्वभावः शरीरं तत्त्वमित्यादिपर्यायशद्वैरभिधानात्। यथैकोयमात्मोदकं नामेत्यात्म-

शद्धो द्रव्यवचनो दृष्टः वस्त्वेकं तेज इति जलं नामैकः स्वभावः शरीरं तत्त्वमिति च दर्शनानतिक्रमात् । यथा च द्रव्यमात्मेत्यादयः शद्धपर्यायाः द्रव्यस्य वाचकास्तथान्येपि सर्वे रूपादिशब्दाः प्रत्यस्तमयादिशब्दाश्च कथञ्चित्सदापन्नाः सर्वे शब्दाः द्रव्यस्याद्वयस्य वाचकाः शब्दत्वाद्द्रव्यमात्मेत्यादिशब्दवत् तदुक्तं—" आत्मा वस्तुस्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि । द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् " । इति ।

यहां कोई वादी लम्बा चौडा बखान कर रहे हैं कि शद्वके विषय अनेक नित्यद्रव्य नहीं हैं, किन्तु एक प्रधानद्रव्य माना गया ब्रह्म ही शद्वका वाच्य है । उस एक ही द्रव्यका, आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व, पदार्थ, भाव, आदि पर्यायवाची शद्वों करके निरूपण किया जाता है, जैसे कि यह एक ही आत्मा जल इस शद्वसे कहा जाता है ऐसे ही वह जलस्वरूप आत्माका वाचक यह शद्व द्रव्यशद्व जाना जा रहा है । एक तेजोद्रव्य वस्तु है, यह भी उसी मुख्य द्रव्यको कहता है । इस प्रकार जल नामका एक स्वभाव या शरीर अथवा तत्त्व है और भी ऐसे इस होनेका अतिक्रमण नहीं है । कोई दार्शनिक पदार्थोंकी द्रव्य शद्वसे संख्या करते हैं, अन्य तत्त्वशद्वसे करते हैं, तीसरे भाव आदि शद्वोंसे प्ररूपण करते हैं, जैसे ही द्रव्य, आत्मा, वस्तु आदिक पर्यायवाची शद्व द्रव्यके ही वाचक हैं तिसी प्रकार अन्य भी संपूर्ण रूप, रस आदिक शद्व अथवा उदय होना, अस्त होना, चलना फिरना आदि सम्पूर्ण शद्व भी किसी अपेक्षासे सत्के साथ तादात्म्य रखते हुए द्रव्यके ही वाचक हैं । अतः अनुमान किया जाता है कि सभी शद्व (पक्ष) अद्वैतद्रव्यके वाचक हैं (साध्य) शद्वपना होनेसे (हेतु) आत्मा, ब्रह्म, आदि शद्वोंके समान (दृष्टान्त) । उसी बातको हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कहा है कि " आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर और तत्त्व, पदार्थ, भाव ये भी सब द्रव्य इस शद्वके ही पर्याय हैं और वह द्रव्य नित्य माना गया है । वेद वाक्योंके द्वारा सम्प्रदाय नहीं टूटते हुये, ऋषियोंको ऐसा ही स्मरण होता हुआ चला आ रहा है ।

ननु चानित्यशब्देनोदयास्तमयशब्दाभ्यामद्रव्यशब्देन व्यभिचारस्तद्विपरीतार्थाभिधायकत्वादिति न मन्तव्यं, द्रव्योपाधिभूतरूपादिविषयत्वादनित्यादिशब्दानां रूपादयो द्युत्पद्यन्ते वियन्ति चेत्यनित्याः द्रव्यत्वाभावाच्चाद्रव्यत्वमिति कथ्यन्ते । न चोपाधिविषयत्वादमीषां शब्दानामद्रव्यविषयत्वं येन तैः साधनस्य व्यभिचार एव सत्यस्यैव वस्तुनस्तैरसत्यैराकारैरवधार्यमाणत्वादसत्योपाधिभिः शब्दैरपि सत्याभिधानोपपत्तेः । तदप्यभिधायि । " सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते । असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते । "

अभी तक वे ही वादी कह रहे हैं यहां कोई शंका करे कि तुम्हारे शद्वत्व हेतुका अनित्य शद्व करके अथवा उत्पत्ति शद्व करके या अस्तमय (विनाश) शद्व करके और

अद्रव्य शद्ध करके व्यभिचार होता है। क्योंकि अनित्य, उत्पत्ति, विनाश, और अद्रव्य, इन शद्धोंमें शद्धत्व हेतु विद्यमान है, किन्तु अद्वैत द्रव्यसे विपरीत अर्थको कहनेवाले होनेके कारण वहां साध्य नहीं रहता है। द्रव्यवादी समझाते हैं कि इस प्रकार व्यभिचार होना नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अनित्य, विनाश, आदि शद्धोंको द्रव्यके विशेषण होते हुए रूप, रस, क्रिया आदिकी विषयता कर लेनापन है। भावार्थ— उत्पत्ति, विनाश, आदि कोई गुण या द्रव्य पदार्थ नहीं हैं, किन्तु उत्पत्ति आदि तो विशेषण हैं। रूप, रस, आदि उत्पन्न होते हैं। रूप, रस आदि नष्ट होते हैं। इस प्रकार रूप आदिक अनित्य हैं। उनमें मूल द्रव्यपना न होनेके कारण अद्रव्यपना ऐसा कह दिया जाता है, किन्तु वे रूप आदिक धर्मद्रव्यमें सम्बन्धी हैं अतः द्रव्य हैं। इन रूप, रस, आदि शद्धोंको विशेषणका गोचर हो जानेसे अद्रव्य गोचरपना नहीं है, जिससे कि उन अनित्य आदि शद्धों करके हमारे शद्धत्व हेतुका व्यभिचार ही होवे। सत्य ही अद्वैत वस्तुका उन असत्य स्वरूप उत्पत्ति आदि आकारों करके निर्णय किया जा रहा है, असत्य विशेषणोंको धारनेवाले विशेष्योंको कहनेवाले शद्धों करके भी सत्य पदार्थका ही कथन किया जा रहा है, जैसे कि प्रतिकृति (नकली) प्रतिविम्ब (असली) का ज्ञान करा देती है। वह भी हमारे यहां ग्रन्थोंमें कह दिया गया है कि उसके आकार (विवर्त) रूप असत्य पदार्थों करके सत्य वस्तुका ही निर्णय हो जाता है। असत्य विशेषणधारी विशेष्योंको कहनेवाले शद्धों करके सत्य पदार्थ ही कहा जाता है। अनेक पुरुष अपनी जननी माताको चाची, बहू, भाबी, काकी, जीजी, आदि शद्धोंसे सम्बोधन करते हुए देखे गये हैं। हकला और गोत्रस्खलनवाले भी प्रमेयको कह जाते हैं।

कथं पुनरसत्यानुपाधीनभिधाय तदुपाधीनां सत्यमभिदधानाः शब्दा द्रव्यविषया एव तदुपाधीनामपि तद्विषयत्वात् अन्यथा नोपाधिव्यवच्छिन्नं वस्तु शब्दार्थ इति न चोद्यं, कतरदेवदत्तस्य गृहमदो यत्रासौ काक इति स्वामिविशेषावच्छिन्नगृहप्रतिपत्तौ काकसम्बन्धस्य निबन्धत्वेनोपादानेपि तत्र वर्तमानस्य गृहशब्दस्याभिधेयत्वेन काकानपेक्षणात्। रुचकादिशब्दानां च रुचकवर्धमानस्वस्तिकाद्याकारैरपायिभिरुपहितं सुवर्णद्रव्यमभिदधतामपि शुद्धसुवर्णविषयतोपपत्तेः। तदुक्तं— " अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा। गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते" ॥१॥ "सुवर्णादि यथा युक्तं स्वैराकारैरपायिभिः। रुचकाद्यभिधानानां शुद्धमेवेति वाच्यताम् ॥२॥" इति। तद्रूपाद्युपाधिभिरुपधीयमानद्रव्यस्य रूपादिशब्दैरभिधानेऽपि शुद्धस्य द्रव्यस्यैवाभिधानसिद्धेर्न तेषामद्रव्यविषयत्वं तदुपाधीनामसत्यत्वाद् गृहस्य काकाद्युपाधिवत्, सुवर्णस्य रुचकाद्याकारोपाधिवच्च।

अभी वे ही कह रहे हैं कि यदि कोई हमारे ऊपर यह कुतर्क चलावे कि झूंठे आकारवाले विशेषणोंको कहकर उनके विशेषणोंको अथवा उन विशेषणोंसे युक्त होरहे नित्यद्रव्यका सत्यपनेसे कथन कर रहे शद्ध तो केवल द्रव्यको ही विषय करनेवाले फिर कैसे कहे जा सकेंगे ? क्योंकि उस

द्रव्यके विशेषणोंको भी उन शब्दोंने विषय कर लिया है। अन्यथा उपाधिरूप विशेषणोंसे रहित हो रहा वस्तु शब्दका विषय न हो सकेगा। विशेषणोंको शब्दोंके द्वारा जान कर ही शुद्धद्रव्यसे उनकी व्यावृत्ति की जा सकेगी। भावार्थ—असत्य विशेषण भी शब्दके विषय हो रहे हैं, आपने फिर अकेले द्रव्यको ही शब्दका विषय कैसे कहा? अब शुद्धद्रव्य शब्दवादी कहते हैं कि इस प्रकार कुतर्क नहीं करना चाहिये। कारण कि किसी अज्ञात पुरुषने प्रश्न किया कि इन गृहोंमें देवदत्तका घर कौनसा है? इसका उत्तर कोई देता है कि जहां वह कौआ बैठा है, वही देवदत्तका घर है, इस प्रकार घरके विशेष अधिपतिसे युक्त माने गये घरकी प्रतिपत्ति करनेमें कौआके संबंधको कारणपनेसे ग्रहण किया जाता है, फिर भी उस स्थलमें वर्तरहे घर शब्दका वाच्य अर्थ घर ही है, इसमें कौआ की कोई अपेक्षा नहीं है। कौआ उडकर पुनः अन्य घरोंपर बैठ जाता है, अतः असत्य उपाधियोंसे सत्य-पदार्थका ही कथन होता है। सामान्यरूपसे सुवर्ण किसी न किसी आकारमें रहता ही है, नीबूके समान गोल सोनेका रुचक आकार, अथवा एरण्ड पत्रके समान वर्धमान आकार या सांथियाका आकार एवं पांसा पाटला आदि नाश होनेवाले आकारोंसे विशेषणोंसे युक्त हो रहे सुवर्ण द्रव्यको कहनेवाले रुचक आदि शब्दोंको भी केवल शुद्ध सुवर्णको विषय करनेवालापन सिद्ध होता है। अर्थात् वे शब्द केवल सोनेको कहते हैं, रुचक आदि आकारोंकी अपेक्षा नहीं है। उसी बातको हमारे यहां यों कहा है कि जैसे "ध्रुवरूपसे नहीं रहनेवाले काक आदि निमित्तों करके भले ही देवदत्तका घर जान लिया है, किन्तु गृह शब्द करके विशेषणोंसे रहित केवल शुद्ध घरका ही ग्रहण किया जाता है और जैसे सुवर्ण आदि अपने रुचक, सांथियां, कडा आदि नाश होनेवाले आकारों करके भले ही सहित हैं फिर भी शुद्ध सुवर्ण ही रुचक आदिक शब्दोंके वाच्यपनेको प्राप्त हो जाता है, तिसीके समान रूप, उत्पाद, अनित्य, आदि विशेषणोंसे विशेष्यताको प्राप्त हो रहे द्रव्यका रूप आदि शब्दों करके भले ही कथन किया जावे। फिर भी उन रूप आदि विशेषणोंसे शुद्ध द्रव्यका ही कथन करना सिद्ध है। वे रूप आदिक शब्द अद्रव्यको विषय नहीं करते हैं किन्तु द्रव्यको ही विषय करते हैं। उन रूप आदि उपाधियोंका विशेषणपना असत्य है, जैसे कि घरका काक, कबूतर आदि विशेषण लगाना अथवा सुवर्णके रुचक आदि आकारवाले विशेषण असत्य हैं। देवदत्तके घरपरसे उडकर कौवा अन्यत्र चला जा सकता है। गलानेपर सुवर्ण अन्य आकार ले लेता है।

सत्यत्वे पुनरुपाधीनां रूपाद्युपाधीनामपि सत्यत्वप्रसंगात् तथा तदुपाधीनामित्यनवस्थानमेव स्यात्, उपाधितद्वतोरव्यवस्थानात्। भ्रान्तत्वे पुनरुपाधीनां द्रव्योपाधीनामसत्यत्वमस्तु तद्व्यतिरेकेण तेषां सम्भवात् स्वयमसम्भवतां शब्दैरभिधाने तेषां निर्विषयत्वप्रसंगादिति सविषयत्वं शब्दानामिच्छता शुद्धद्रव्यविषयत्वमेष्टव्यं, तस्य सर्वत्र सर्वदा व्यभिचाराभावादुपाधीनामेव व्यभिचारात्। न च व्यभिचारिणामप्युपाधीनामभिधायकाः शब्दाः सविषया नाम, स्वप्नादिप्रत्ययानां स्वप्नविषयत्वप्रसंगात् इति शुद्धद्रव्यपदार्थवादिनः।

अभीतक शुद्धद्रव्यको शब्दका अर्थ माननेवाले वादी ही कर रहे हैं कि यदि फिर उन काक, रुचक, आदि विशेषणोंको सत्य मान लोगे तब तो रूप, अनित्य, आदि उपाधियोंको भी सत्यपनेका प्रसंग होगा। तिसी प्रकार उन विशेषणोंके अन्य विशेषणोंको भी सत्यपना प्राप्त होगा। एवं तीसरी, चौथी, आदिको कोटिके विशेषण भी सत्य हो जावेंगे, इस रीतिसे अनवस्था दोष ही हो जावेगा। और उपाधि यानी विशेषण तथा उससे सहित हो रहे विशिष्टपदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। यदि काक, आदि उपाधियोंको फिर भ्रान्त माना जावेगा, तब तो शुद्धद्रव्यकी रूप आदि उपाधियां भी असत्य हो जाओ! क्योंकि उस परमार्थभूत शुद्धद्रव्यसे भिन्नपने करके वे रूप आदि विशेषण सम्भव रहे हैं। अर्थात् वे वस्तुभूत नहीं हैं, स्वयं असम्भवते हुए उन रूप आदिकोंका शब्दोंके द्वारा वाचन मानोगे तो उन शब्दोंको विषयरहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। जैसे कि असम्भव अश्वविषाणको कहनेवाला शब्द अपने वाच्य माने गये विषयसे रहित है, तैसे ही रूप, अनित्य, आदि शब्द भी निर्विषय हो जावेंगे। इस कारण शब्दोंको आपने वाच्य विषयसे सहितपना चाहने वाले पुरुषों करके प्रत्येक शब्दोंका विषय शुद्धद्रव्य चारों ओरसे स्वीकार कर लेना चाहिये। सभी देशोंमें और सभी कालोंमें उस शुद्धद्रव्यका व्यभिचार नहीं होता है। हां! उस शुद्धद्रव्यके विशेषणोंका भले ही व्यभिचार हो जावे, जैसे कि आकाश सर्वत्र व्यापक है। घटाकाश, पटाकाश, गृहाकाश, आदिमें लगी हुयी उपाधियोंका भले ही उनसे अन्य स्थलोंमें व्यभिचार हो जावे, किन्तु शुद्ध आकाशका कहीं भी कभी व्यभिचार नहीं होता है। जो शब्द व्यभिचार करनेवाले भी अपरमार्थ विशेषणोंको कह रहे हैं, वे शब्द अपने वाच्य विषयोंसे सहित कैसे भी नहीं होते हैं। अन्यथा स्वप्न, मूर्छित, मनोराज्य आदि अवस्थाके ज्ञानोंको भी स्वप्न आदि अर्थोंके विषय कर लेनेपनका प्रसंग हो जावेगा वे सविषय हो जावेंगे। निर्विषय नहीं रहेंगे। इस कारण परिशेषमें यही मानना पडता है कि संपूर्ण शब्द शुद्ध द्रव्यको ही कहते हैं। जाति, क्रिया, विशेषणको कहने वाले शब्द भी शुद्ध द्रव्यको ही कहते हैं। यहांतक अकेले शुद्धद्रव्यको ही शब्दका अर्थ माननेवाले वादी कह रहे हैं। केचिदाहुः से लेकर पदार्थवादिनः तक इनका पूर्वपक्ष हैं। अब आचार्य उत्तरपक्षको कहते हैं कि—

तेऽपि न परीक्षकाः। सर्वशब्दानां स्वरूपमात्राभिधायित्वप्रसंगात्। परेऽपि ह्येवं वदेयुः सर्वे विवादापन्नाः शब्दाः स्वरूपमात्रस्य प्रकाशकाः शब्दत्वान्मेघशब्दवदिति। नन्विदमनुमानवाक्यं यदि स्वरूपातिरिक्तं साध्यं प्रकाशयति तदानेनैव व्यभिचारः साधनस्य नो चेत् कथमतः साध्यसिद्धिरतिप्रसंगादिति दूषणं शुद्धद्रव्याद्वैतवाचकत्वसाधनेऽपि समानम्। तद्वाक्येनापि द्रव्यमात्राद्व्यतिरिक्तस्य तद्वाचकत्वस्य शब्दधर्मस्य प्रकाशने तेनैव हेतोर्व्यभिचारात्। तदप्रकाशने साध्यासिद्धेरयोगात्।

वे भी समीचीन परीक्षा करनेवाले नहीं हैं, क्योंकि जैसे उन्होंने संपूर्ण शद्वोंको शुद्धद्रव्यका वाचकपना माना है, तैसे ही संपूर्ण शद्वोंको केवल अपने स्वरूपके कथन करनेवालेपनका भी प्रसंग हो जावेगा। शद्वका अर्थ उस शद्वको ही माननेवाले ये दूसरे वादी भी इस प्रकार अवश्य कह देवेंगे कि विवादमें पडे हुए घट, पट, आत्मा, पर्वत, पुस्तक आदि सम्पूर्ण शद्व (पक्ष) अपने केवल स्वरूपको ही प्रकाश करनेवाले हैं (साध्य) क्योंकि वे शद्व हैं। (हेतु) जैसे कि मेघ-गर्जनका शद्व (दृष्टान्त)। अर्थात् मृदंगका धिम् किट् धम् ता आदि ध्वनि तथा झींगुर, मक्खी, भौंरा, आदिके शद्वोंका कुछ भी वाच्य अर्थ नहीं है। वे शद्व केवल अपने शद्वरूप शरीरका ही श्रावण प्रत्यक्ष कराते हैं किसी वाच्य अर्थका शाद्वबोध नहीं कराते हैं, तैसे ही अन्य गौ, शुक्र, आदि शद्व भी केवल अपने शद्वस्वरूप (डील) को ही कहते रहते हैं अर्थको नहीं। किञ्चित् टिम, टिमाता हुआ दीपक जैसे अपने ही शरीरका प्रकाश करता रहता है पदार्थोंका नहीं, इस प्रकार इन शद्ववादियोंके ऊपर यदि कोई यों शंका करे कि अभी आप द्वारा कहा गया यह परार्थानुमानरूपी वाक्य यदि अपने शद्वस्वरूपसे अतिरिक्त स्वरूप मात्रको प्रकाश करना रूप इस साध्यका ज्ञान कराता है तब तो शद्वत्व हेतुका इस अनुमान वाक्यसे ही व्यभिचार हो गया। क्योंकि आप मानते हैं कि शद्वका वाच्य अर्थ अपनी भिन भिनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। किन्तु यहां अनुमान वाक्यसे आपने साध्यका ज्ञान कराना रूप अर्थ मान लिया है। यदि शद्ववादी इस अनुमान वाक्यका अर्थ अपने इष्ट साध्यको कथन करना न मानेंगे तो व्यभिचार टल गया, किन्तु ऐसी दशामें इस अनुमानसे आपके अभीष्ट साध्यकी सिद्धि कैसे होगी ? अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा। यानी यह वन्ध्यापुत्र जा रहा है, आकाशके फूलका सेहरा बांधे हुए है, मृगतृष्णाके जलमें स्नान करके आया है, शश (खरगोश) के सींगसे बनी हुयी तीर कमानको लिये हुए है इत्यादि अनर्थक वाक्योंसे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो जावेगी। शुद्ध द्रव्यवादी यह दोष जैसे शद्ववादीके ऊपर उठाते हैं, तैसे ही अद्वैत शुद्धद्रव्यको वाचक शद्वका अर्थ सिद्ध करनेवाले अनुमानमें भी यही दोष लागू होगा। वे शुद्धद्रव्यवादी यह अनुमान मानते थे कि सभी गुण, कर्म आदिके वाचक शद्व (पक्ष) शुद्धद्रव्यके ही अभिधायक हैं (साध्य) शद्व होनेसे (हेतु) जैसे आत्मा, ब्रह्म, सत्, चित् आदि शद्व हैं (दृष्टांत)। यहां केवल शुद्धद्रव्यतत्त्वसे उस द्रव्यका वाचकपना धर्म भिन्न ही होगा। जो कि शद्वरूप धर्मीका साध्य स्वरूप धर्म माना गया है। द्रव्यवादी यदि उस अनुमान वाक्यसे भी वाचकपनारूप धर्मका प्रकाश होना मानेंगे, तब तो द्रव्यवादियोंके शद्वत्व हेतुका उस वाचकत्व धर्मसे ही व्यभिचार हो जावेगा। यदि द्रव्यवाचकत्वरूप साध्यका उस वाक्यसे प्रकाश होना नहीं मानेंगे, तब तो द्रव्यवादियोंके यहां द्रव्यवाचकत्वरूप साध्यकी सिद्धि ही न हो सकेगी। अनुमानके बोलनेसे फल भी क्या निकला ? कुछ नहीं। इस प्रकार शद्ववादी अपना पक्ष दूरतक अभी पुष्ट करेंगे।

द्रव्याद्वैतवादिनः शब्दस्य तद्वाचकत्वधर्मस्य परमार्थतो द्रव्यादव्यतिरिक्तत्वात् साधनवाक्येन तत्प्रकाशनेऽपि न हेतोर्व्यभिचार इति चेत् तर्हि शब्दाद्वैतवादिनोऽपि सुतरां प्रकृतसाधनवाक्येन न व्यभिचारः, स्वरूपमात्रनिरूपणाय साध्यस्य शब्दधर्मस्य शब्दादव्यतिरिक्तस्य तेन साधनात् द्रव्यमात्रे शब्दस्य प्रवेशनेन तद्धर्मस्यापि तत्र पारंम्पर्यानुपक्तेः परिहरणात्।

शद्ववादी कह रहे हैं कि यदि द्रव्याद्वैतवादी यों कहें कि हमारे यहां शद्वका वह द्रव्यवाचकत्व धर्म वस्तुतः द्रव्यसे भिन्न नहीं है। अतः वाचकत्वको साधनेवाले अनुमान वाक्यसे भलें ही उस द्रव्यवाचकत्वका ज्ञान हुआ है तो भी अभेद होनेके कारण वह शुद्धद्रव्यका ही ज्ञान है। अतः हमारे हेतुका व्यभिचार नहीं है। यदि ऐसा कहोगे तब तो मुझ शद्वाद्वैतवादीके यहां भी उसी प्रकार विना प्रयासके प्रकरणमें पडे हुए स्वरूपको साधनेवाले वाक्य करके हेतुका व्यभिचार नहीं होता है, केवल स्वरूपको ही कहनेवालापन जो साध्य है। वह भी शद्वका ही धर्म है। वास्तवमें वह शद्वसे भिन्न नहीं है उस स्वरूपवाचकत्वका उस शद्वत्व हेतुने साधन किया है। आप द्रव्यवादी शद्वतत्त्वका केवल अपने शुद्ध द्रव्यमें अन्तर्भाव करोगे तिस ही करके उस शद्वके स्वरूप होरहे वाचकत्व धर्मका भी उस द्रव्यमें अन्तर्भाव किया जावेगा। तभी परम्पराके प्रसंग होनेका परिहार किया जा सकेगा। भावार्थ—आपके यहां द्रव्यमें शद्वका अन्तर्भाव करते समय शद्वके धर्मका भी अन्तर्भाव करना न्याय्य होगा। अतः सिद्ध होता है कि शद्व और उसके धर्म दोनोंका अभेद है।

ननु शब्दाद्वैते कथं वाच्यवाचकभावः शुद्धद्रव्याद्वैते कथम्? कल्पनामात्रादिति चेत्, इतरत्र समानम्। यथैव ह्यात्मावस्तुस्वभावः, शरीरं, तत्त्वमित्यादयः पर्याया द्रव्यस्यैवं कथ्यन्ते तथा शब्दस्यैव ते पर्याया इत्यपि शक्यं कथयितुमविशेषात्।

यहां हम शद्वाद्वैतवादियोंके ऊपर किसीकी शंका है कि केवल शद्वके अद्वैतमें वाच्यवाचकभाव कैसे बन सकेगा? अर्थात् दो भिन्न तत्त्वोंमें तो एक वाच्य और दूसरा वाचक हो सकता है। किन्तु एक ही तत्त्वमें वही वाचक और वही वाच्य कैसे हो सकेगा? बताओ। उसपर हम शद्वाद्वैतवादी पूंछते हैं कि तुम द्रव्यवादियोंके यहां शुद्धद्रव्यके अद्वैतमें भला वाच्यवाचकभाव कैसे बन जाता है? तुम्हारे यहां भी तो एक ही ब्रह्मतत्त्व माना गया है। यदि तुम यों कहो कि केवल कल्पनासे वाच्यवाचकपना है, वस्तुतः नहीं है, तब तो यही बात दूसरे पक्षमें भी समानरूपसे लगा लो! हम शद्वाद्वैतवादी भी कह देंगे कि हमारे शद्वाद्वैतमें भी कोरी कल्पनासे वाच्यवाचकभाव है, कारण कि जैसे ही आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व, ब्रह्म पदार्थ इत्यादि पर्याय तुम्हारे यहां शुद्धद्रव्यके ही कहे जाते हैं, तिसी प्रकार शद्वके ही वे आत्मा, वस्तु आदि पर्याय हैं। यह हम भी कह सकते हैं। अद्वैत पक्ष होनेकी अपेक्षासे ऐसे कहनेका दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है।

ननु च जातिद्रव्यगुणकर्माणि शब्देभ्यः प्रतीयन्ते न च तानि शब्दस्वरूपं श्रोत्रग्राह्यत्वाभावादित्यपि न चोद्यं, जात्यादिभिराकारैरसत्यैरेव सत्यस्य शब्दस्वरूपस्यावधार्यमाणत्वात् । तच्छब्दैश्चासत्योपाधिवशाद्भेदमनुभवद्भिस्तस्यैवाभिधानात् ।

यदि हम शद्वाद्वैतवादियोंके ऊपर कोई दूसरी यों शंका करें कि अश्व, कुण्डली, शुक्ल, चलना आदि शद्वोंसे जाति, द्रव्य, गुण, और क्रियायें निर्णीत हो रही हैं, किन्तु वे जाति आदिक तो शद्वस्वरूप पदार्थ नहीं है। क्योंकि शद्व तो श्रोत्र इन्द्रियसे जाना जाता है और घटत्व, अश्वत्व, रूप, रूपत्व, गमन, गमनत्व, रस आदि जाति, गुण, आदिक पदार्थ तो श्रोत्र इन्द्रियसे नहीं जाने जाते हैं। कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य ही नहीं है। अतः शद्वोंके वाच्य गोत्व, पुद्गल, रूप, घूमना आदि पदार्थ शद्वरूप नहीं हो सकते हैं। शद्वाद्वैतवादी बोलते हैं कि यह भी कुतर्क करना अच्छा नहीं है, क्योंकि जाति आदिक तो तत्त्व शद्वके कल्पित आकार हैं। असत्य आकारों करके परमार्थभूत शद्वतत्त्वके स्वरूपका ही निर्णय किया जा रहा है। अवास्तविक विशेषणोंके अधीन नानापनेका अनुभव करने वाले उन गोत्व, चणकत्व, ज्ञानी, सुरभि, उत्क्षेपण, आदि शब्दों करके उस शद्वाद्वैतका ही कथन हो रहा है। अर्थात् घटाकाश, पटाकाश, रूप उपाधियोंसे जैसे शुद्ध आकाशका ही निरूपण हो जाता है, अथवा शिरमें पीडा है, पेटमें सुख है, इत्यादि भेद व्यवहारोंसे एक शरीर व्यापी अखण्ड आत्माका ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार कल्पितभेदोंसे शद्वाद्वैत ही वर्णित हो रहा है।

ननु च जात्याद्युपाधिकथनद्वारेण तदुपाधिशब्दस्वरूपाभिधानाद्, अन्यथा तदुपाधिव्यवच्छिन्नशब्दरूपप्रकाशनासम्भवात् । जात्यादिशब्दा जात्याद्युपाधिप्रतिपादका एवेति न शंकनीयं, जात्याद्युपाधीनामसत्यत्वात् गृहस्य काकादिवत्सुवर्णस्य रुचकाद्याकारोपाधिवच्च ।

यहां कोई पुनः शंका करे कि जाति आदि उपाधियोंके कथन द्वारा तो उन उपाधियोंसे सहित ही शद्वस्वरूपका कथन किया जाता है। दूसरे प्रकार आप शद्वाद्वैतवादियोंके यहां उन उपाधियोंसे पृथग्भूत केवल शद्वस्वरूपका प्रकाश होना असम्भव है। अतः जाति आदिक शद्व तो जाति, गुण, आदि विशेषणोंको कहनेवाले ही हैं, उन जातिशद्व या गुणशद्व, आदिकोंसे शद्वाद्वैतका प्रतिपादन नहीं होता है। शद्वाद्वैतवादी कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि शद्वकी जाति आदिक उपाधियां परमार्थभूत नहीं हैं। जैसे कि देवदत्तके घरकी काक, बन्दर, आदि उपाधियां असत्य हैं, काक उडकर जिनदत्तके घरपर भी बैठ जाता है, बन्दर कूदकर इन्द्रदत्तके गृहपर भी चला जाता है, ऐसी दशामें अज्ञात पुरुषके वहां पहुंचनेतक काक द्वारा देवदत्तके घरका ठीक ज्ञान कैसे हो सकता है? अथवा सुवर्ण द्रव्यकी रुचक, पांसा, सांथिया आदि आकाररूप उपाधियां अलीक हैं, सोनेको पीटकर कडेका सांथिया बना लिया जाता है और सांथियेका रुचक बनाया जा सकता है। एक दृष्टान्त है कि एक अहिफेन (अफीम) खानेवाले पुरुषने किसी हल-

बाई वणिक्से सौदा लिया। किन्तु रुपयेमेंके कुछ बचे हुए पैसे लेना भूल गया, वह रातको सोचने लगा कि हम वणिक्से शेष दाम लेना भूल गये, उसकी दुकानका भी स्मरण न रहा। हां! ठीक है, याद आ गया उसकी दुकानके आगे धौली गाय बैठी थी। घरपर अफीमची सोच रहा था उधर कुछ देर पीछे वह गाय चलकर यवन सूचीकार (दर्जी) की दुकानके सन्मुख जा बैठी, अफीमची प्रातः बाजारको पैसे लौटानेके लिये गये और गायको वहां देखकर सूजीसे कहने लगे कि तू बडा नीच है, अयोग्य है, मायाचारी है, मैंने तेरे सरीखे अनेक कपटी भुगते हैं, हमसे ही धूर्तता करता है। रातमें ही मिठाईकी दुकानके सामानको बदलकर डङ्डी रखाकर आ बैठा है, हमको ठगता है! इत्यादि। इसपर लडाई होने लगी। बुद्धिमानोंके समझानेपर भी अहिफेनमदीको बोध नहीं हो पाया, अपना ही आग्रह किये गया। वस्तुतः कथन यह है कि औपाधिकस्वरूप असत्य होते हैं। विश्वसनीय नहीं माने जा सकते हैं।

न च जात्याद्युपाधयः सत्या एव तदुपाधीनामपि सत्यत्वापत्तेः उपाधितद्वतोः क्वचिद्व्यवस्थानायोगात्। तदुपाधीनामसत्यत्वे मौलोपाधीनामप्यसत्यत्वानुषंगात्।

शद्धाद्वैतवादी ही बडी देरसे कहते जा रहे हैं कि जाति, द्रव्य, गुण, आदि उपाधियां सत्य ही नहीं हैं। यदि जाति आदिकको सत्य माना जावेगा तो उन उपाधियोंके उपाधिरूप विशेषणोंको भी सत्यपना प्राप्त होनेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें उपाधि और उस उपाधिवाले उपाधिवान् की कहीं भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अर्थात् जैसे कि जपाके फूलमें रक्तता स्वभावसे है और स्फटिक की रक्तिमा उपाधिके वश है, यदि जपापुष्पमें भी रक्तिमा अन्य उपाधिसे मान ली जावे तो उपाधि और उपाधिवान्की ठीक अवस्थिति न बनेगी। यदि उन उपाधियोंकी उपाधियोंको असत्य मनोगे तब तो सबसे पहिले मूलमें पडी हुयी उपाधियोंको भी असत्यपनेका प्रसङ्ग प्राप्त हो जाओ! भावार्थ—बढिया घोडा, इष्टकुण्डल, गहरी सुगन्ध, अधिक मीठा, शीघ्र चलना, आदिमें बढिया, इष्टता, शीघ्र, आदि उपाधियां तो उन जाति आदिकी उपाधियां हैं। " भीखमेंसे भीख " की नीतिसे दूसरी उपाधियोंको यदि निःसार माना जावेगा तो पहिली ही कोटिपर मूल उपाधियोंको भी झूंठपना ठहरता है। उपाधिरूपी फटाटोप झूंठा होता है। असार पदार्थका प्रायः आडम्बर महान् होता है। कांसेकीसी ध्वनि सोनेमें नहीं है। जितना ही चढा बढाकर दिखाऊ ऊपरी ढंग है, उतनी ही नीचे पोल समझना। किसीने कहा भी है कि " असारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान्। नहि स्वर्णे ध्वनिस्तादृग् यादृक् कांस्यात् प्रजायते "

न चासत्यानामुपाधीनां प्रकाशकाः शब्दाः सत्या नाम निर्विषयत्वात्। ततः सविषयत्वं शब्दस्येच्छता स्वरूपमात्रविषयत्वमेषितव्यं, तस्य तत्राव्यभिचारात्। जात्यादिशब्दानां तु जात्याद्यभावेऽपि भावाद्व्यभिचारदर्शनात्। न हि गौरश्व इत्यादयः शब्दा गोत्वाश्वत्वादिजात्यभावेऽपि वाहीकादौ न प्रवर्तन्ते।

शब्दाद्वैतवादी ही कहते जा रहे हैं कि अवस्तुरूप उपाधियोंको प्रकाश करनेवाले शब्द कैसे भी सत्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि वे अपने वाच्य माने गये विषयोंसे रहित हैं, जैसे कि वन्ध्यापुत्र शब्द अपने विषयसे रहित है तिस कारण शब्दके विषयसहितपनेको चाहनेवाले विद्वान् करके शब्दका वाच्य हो रहा विषय केवल शब्दका स्वरूप ही इष्ट कर लेना चाहिये। उस शब्दका उस अपने स्वरूपके प्रतिपादन करनेमें कभी भी व्यभिचार न होगा। अर्थात् सभी सार्थक या निरर्थक शब्द अथवा द्वीन्द्रिय आदिक जीवोंके शब्द भी कमसे कम अपने शब्दस्वरूप शरीरका प्रतिपादन कर ही देवेंगे। जैन, नैयायिक और मीमांसकोंके माने हुए जाति शब्द, गुणशब्द आदिकोंका तो व्यभिचार देखा जाता है, वे जाति आदिकके न होनेपर भी अन्यत्र व्यवहृत होते हुए देखे जारहे हैं। देखिए! गौ, घोडा, उल्लू, ऊंट, आदि जातिवाचक शब्द विचारे गोत्व, अश्वत्व आदि जातियोंके न होनेपर भी लादनेवाले, दौडनेवाले पोंगा, भोंदू आदि मनुष्योंमें नहीं प्रवर्त्तरहे हैं, यह न कहना। किन्तु मनुष्योंमें भी गो आदि शब्दोंकी प्रवृत्ति है। अतः सिद्ध होता है कि शब्द अपने स्वरूपको ही कहता है। जाति आदिक वाच्यअर्थको नहीं।

तत्रोपचारात् प्रवर्तन्त इति चेन्नापराजातयोपि यत्र क्वचन तेषां प्रवर्तनात्। तथा द्रव्यशब्दा दण्डीविषाणीत्यादयो गुणशब्दाः शुक्लादयश्चरत्यादयश्च क्रियाशब्दाः द्रव्यादिव्यभिचारिणोऽभ्यूह्याः।

यदि कोई यों कहे कि उन पल्लेदार, मूर्ख मतिमन्द आदि मनुष्योंमें उपचारसे बैल, उल्लू आदि प्रवर्तते हैं, सो यह तो नहीं कहना, क्योंकि दूसरी जातियां भी जिस किसी भी व्यक्तिमें उनके मतमें प्रवर्त रही हैं। भावार्थ—गच्छति इति गौः गमन करनेवाली गौ है। अश्नाति इति अश्वः जो खाता है वह घोडा है, इन अर्थोंका उपचार (रूढि) गाय और घोडेमें किया गया है। तिसी प्रकार आप जैन या मीमांसकोंके माने गये दण्डी, विषाणी, इत्यादि द्रव्यशब्द और शुक्ल, पाटल आदि गुणशब्द तथा चलना, तैरना आदि क्रियाशब्द ये भी द्रव्य, गुण और क्रियारूप अर्थोंसे व्यभिचार करनेवाले समझ लेने चाहिए। दण्ड नीतिवाले या दण्ड देनेवाले पुरुषको भी दण्डी कहते हैं। दण्ड एक घोडा भी होता है। मिट्टी या पाषाणके बने हुए खिलौनोंको भी दण्डी, विषाणी कह देते हैं। शुक्ल एक गोत्र होता है। पाटल एक वस्त्रका नाम है। चलना यह शब्द अन्न छाननेवाले पात्रमें व्यवहृत है।

सन्मात्रं न व्यभिचरन्तीति चेत् न, असत्यपि सत्ताभिधायिनां शब्दानां प्रवृत्तिदर्शनात्, न किञ्चित्सदस्तीत्युपपन् सदेव सर्वमिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थो नाम, ततोऽनर्थान्तरे गुणादाविव शुद्धद्रव्येऽपि शब्दस्य व्यभिचारात् स्वरूपमात्राभिधायित्वमेव श्रेय इतीतरे।

यदि कोई यों कहे कि द्रव्यवाचक धर्मशब्द भले ही पुण्यमें प्रवृत्त हो जावे। ऐसे ही सिंह शब्द वीर पुरुषमें या गो शब्द नेत्र, वाणी आदि अर्थोंमें बोला जावे, किन्तु ये शब्द सामान्य-

पनेसे मात्र अस्तित्वका व्यभिचार नहीं करते हैं, कुछ न कुछ है तो सही, सो यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि असत् पदार्थमें भी सत्ताको कहनेवाले शद्बोंकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है। कल्पना किये गये असत् पदार्थोंमें अथवा मत्त, मूर्च्छित अवस्थामें अनेक असत् पदार्थ सत्रूपसे जाने जा रहे हैं। कोई भी वस्तु सत् नहीं है, इस बातको स्वीकार कर रहा वादी सभी वस्तु सत् ही हैं ऐसा कहता हुआ भला स्वस्थ (आपेमें) कैसे कहा जा सकता है ? तिस कारण सिद्ध होता है कि उस शद्बसे अभिन्न मान लिये गये। गुण, क्रिया आदिमें जैसे शद्बका व्यभिचार है, तैसे शुद्धद्रव्यवादियोंके शुद्ध अद्वैत द्रव्यमें भी शद्बकी प्रवृत्तिका व्यभिचार होना देखा जाता है। इस कारण शद्बको केवल अपने स्वरूपका कहनेवालापन ही हितमार्ग है, अर्थात् सभी शद्ब अपने स्वरूप (डील) को ही कह रहे हैं। अन्य वाच्य अर्थको नहीं। जैसे मेघध्वनि या समुद्रशद्ब अपने शरीरको ही कह रहे हैं। इस प्रकार यहांतक अधिक समयसे कोई अन्य शद्बाद्वैतवादी कह चुके हैं।

तत्रेत्र प्रष्टव्याः, कथममी शब्दाः स्वरूपमात्रं प्रकाशयन्तो रूपादिभ्यो भिद्येरन् ? तेषामपि स्वरूपमात्रप्रकाशने व्यभिचाराभावात्।

अब आचार्य महाराज उत्तर देते हैं, इस प्रकरणमें वे हमको यों पूंछने योग्य हैं कि शद्बाद्वैतवादियोंसे माने हुए वे शद्ब अपने केवल स्वरूपको प्रकाश करते हुए कैसे रूप, रस आदिकों करके भिन्न (न्यारे) हो सकेंगे ? बतलाओ ! उन रूप, रस आदिकोंका भी तो केवल अपने स्वरूपका प्रकाश करनेमें कोई व्यभिचार नहीं हैं। आम्रफलको देखनेसे उसका रूप गुण अपने शरीरका ही प्रकाश करेगा, चाखनेसे उसका रस गुण केवल अपने स्वरूपका ही प्रकाश करेगा। इस प्रकार रूप, रस, गन्ध आदिक सभी अपने अपने स्वरूपका प्रकाश कर रहे हैं ऐसी दशामें शद्बतत्त्व भला रूप आदिकोंसे भिन्न कैसे किया जा सकता है ? आप ही सोचिये !

न स्वरूपप्रकाशिनो रूपादयोऽचेतनत्वादिति चेत्, किं वै शब्दश्चेतनः ? परमब्रह्मस्वभावत्वात् शब्दज्योतिषश्चेतनत्वमेवेति चेत्, रूपादयः किं न तत्स्वभावाः ? परमार्थतस्तेषामसत्त्वात् अतत्स्वभावा एवेति चेत्, शब्दज्योतिरपि तत एव तत्स्वभावं मा भूत्। तस्य सत्यत्वे वा द्वैतसिद्धिः शब्दज्योतिः परमब्रह्मणोः स्वभावतद्वतोर्वस्तुसतोर्भावात्।

यदि शद्बाद्वैतवादी यों कहें कि रूप, रस आदिक (पक्ष) अपने स्वरूपको प्रकाश करनेवाले नहीं हैं (साध्य) अचेतन होनेसे (हेतु)। ऐसा कहने पर तो हम जैन पूंछते हैं कि क्यों जी ! आपसे माना गया शद्बतत्त्व क्या नियमसे चेतन है ? इसपर तुम यदि यों कहो कि शद्बरूप ज्योतिः तो चेतन ही है, क्योंकि वह चिद्रूप परब्रह्मका स्वभाव है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कह देवेंगे कि तुम्हारे यहां वे रूप, रस आदिक उस परब्रह्मके स्वभाव क्यों नहीं हैं ? रूप आदिक भी तो परब्रह्मसे अभिन्न हैं। इसपर तुम शद्बवादी यों कहो कि रूप आदिक तो वस्तुभूतपनेसे सत्-रूप नहीं हैं। अतः वे उस परब्रह्मके स्वभाव कैसे भी नहीं हो सकते हैं, ऐसा कहनेपर तो हम

जैन कह देवेंगे कि शद्बरूप प्रकाश भी वास्तवमें सत् पदार्थ नहीं है। तिस ही कारण वह शद्बज्योतिः परब्रह्मका स्वभाव न होवे। यदि आप उस शद्बतत्त्वको वस्तुतः सत्रूप मानोगे तो अद्वैतकी सिद्धि न हो सकेगी। द्वैतकी सिद्धि हो जावेगी। शद्बज्योतिःस्वभाव एक तत्त्व है और दूसरा उस स्वभावको धारनेवाला परब्रह्म है। इस प्रकार परमार्थभूत दो सत् पदार्थ विद्यमान है, अतः द्वैत बन बैठा।

शब्दज्योतिरसत्यमपि परब्रह्मणोधिगत्युपायत्वात्तत्स्वरूपमुच्यते। "शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छतीति" वचनात् न तथा रूपादयः इति चेत् कथमसत्यं तद्वदधिगतिनिमित्तम्? रूपादीनामपि तथाभावानुषंगात्।

यदि शद्बाद्वैतवादी यों कहें कि भलें ही शद्बरूपी प्रकाश असत्य है तो भी वस्तुभूत परब्रह्म-तत्त्वके जाननेका प्रकृष्ट उपाय है। अतः वह शद्बतत्त्व परब्रह्मका स्वरूप कहा जाता है। ऐसा हमारे ग्रन्थोंमे कहा हुआ है कि शद्बब्रह्ममें यानी वेदमें या आर्ष–शास्त्रोंमें जो प्रवीण है वह विद्वान् प्रकृष्ट आत्मा परब्रह्मको जान लेता है और पा लेता है। किन्तु तिस प्रकार शद्बके समान रूप, रस, आदिक गुण तो परब्रह्मकी झप्तिके उपाय नहीं हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि असत्य-भूत शद्ब भला कैसे सत्यब्रह्मकी अधिगतिका निमित्त हो सकता है? यदि असत्यको भी सत्यका ज्ञापक माना जावेगा तो रूप, रस, आदिकोंको भी परब्रह्मके तिस प्रकार ज्ञापकपनेका प्रसंग हो जावेगा।

तस्य विद्यानुकूलत्वाद्भावनाप्रकर्षसात्मीभावे विद्यावभाससमर्थकारणता न तु रूपादीनामिति चेत्, रूपादयः कुतो न विद्यानुकूलाः? भेदव्यवहारस्याविद्यात्मनः कारणत्वादिति चेत्, तत एव शब्दोपि विद्यानुकूलो मा भूत्।

यदि शद्बाद्वैतवादी यों कहें कि वह शद्बतत्त्व भलें ही ब्रह्मज्ञानस्वरूप विद्या नहीं है किन्तु सम्यग्ज्ञानरूप विद्याका अनुकूल कारण होनेसे अभेद ज्ञानकी भावनाके प्रकर्षसे तदात्मक होनेपर सम्यग्ज्ञानस्वरूप प्रकाशका वह शद्बाद्वैत तत्त्व समर्थ कारण हो जाता है, किन्तु रूप आदिक गुण विचारे अभेदज्ञानरूप विद्याके समर्थ कारण नहीं होते हैं। आचार्य कह रहे हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम प्रश्न करते हैं कि रूप आदिक गुण क्यों नहीं विद्याके अनुकूल हैं? बताओ। इसपर तुम यदि यह कहो कि अविद्यास्वरूप भेद व्यवहारके कारण होनेसे रूप आदिक गुण अभेदज्ञानरूप विद्याके अनुकूल नहीं हैं, किन्तु प्रतिकूल हैं, जो अन्धकारका कारण है वह प्रकाशका हेतु कैसे हो सकता है? ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण शद्ब भी विद्याका अनुकूल न होवे। घट, पट, पुस्तक, देवदत्त आदि शद्बोंसे अनेक भेदव्यवहार होते हुए देखे जारहे हैं।

गुरुणोपदिष्टस्य तस्य रागादिप्रशमहेतुत्वाद्विद्यानुकूलत्वे रूपादीनां तथैव तदस्तु विशेषाभावात्। तेषामनिर्दिश्यत्वान्न गुरूपदिष्टत्वसम्भव इति चेत् न, स्वमतविरोधात्। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम्" इति वचनात्।

आप यदि ऐसा मानोगे कि गुरुके द्वारा उपदेश दिये गये शद्वको राग, द्वेष आदिके प्रकृष्ट शान्त कर देनेकी कारणता है, अतः वे शद्व सम्यग्ज्ञानके अनुकूल माने जाते हैं । अब आचार्य कहते हैं, तब तो रूप आदिकोंको भी तैसे ही उस विद्याकी अनुकूलता हो जाओ ! रूप, गन्ध आदिको दिखाकर भी गुरुजी तत्त्वज्ञान वैराग्यकी शिक्षा देते हैं । शद्व और रूप आदिकमें कोई अन्तर नहीं है, जैसे शब्दको सुना कर गुरु महाराज सम्यग्ज्ञान करा देते हैं, तैसे ही रूपको दिखाकर स्पर्शको छुआकर निर्वेदको बढाते हुये सम्यग्ज्ञान करा देते हैं । यदि आप शब्दवादी यों कहें कि उन रूप आदिकोंका शब्दके द्वारा निर्देश नहीं हो सकता है । अतः गुरुजीसे रूप आदिकोंका उपदेश हो चुकना सम्भव नहीं है, सो यह तो नहीं कहना चाहिये । क्योंकि ऐसा मानने पर शब्दवादियोंको स्वयं अपने मतसे विरोध हो जावेगा । उन्होंने अपने दर्शन ग्रन्थोंमें ऐसा कहा है कि " लोकमें वह कोई भी ज्ञान नहीं है, जो कि शद्वके अनुगम (स्पर्श) के विना हो जावे । सब ज्ञान और ज्ञेय इस शद्वसे लिप्त हुए सरीखे दीख रहे हैं । अतः सर्व ही जगत्के तत्त्व शद्वमें विराज रहे हैं " इस तुम्हारे आगमवाक्यसे रूप आदि गुणोंका निर्देश होना सिद्ध हो जाता है ।

शाब्दः प्रत्ययः सर्वः शब्दान्वितो नान्य इति चायुक्तं, श्रोत्रजशब्दप्रत्ययस्याशब्दान्वितत्वप्रसक्तेः स्वाभिधानविशेषापेक्ष एवार्थः प्रत्ययैर्निश्चीयत इत्यभ्युपगमाच्च ।

यदि उक्त ग्रन्थवाक्यका आप यह अर्थ करें कि शद्वोंसे संकेत द्वारा उत्पन्न हुए सभी ज्ञान शद्वसे मढे हुए हैं । अन्य रूप, रस आदिक या उनके ज्ञान शद्वकी चाशनीमें पगे हुए नहीं हैं । यह कहना तो युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि शद्वोंके श्रोत्र इन्द्रियसे उत्पन्न हुए श्रावण प्रत्यक्षको शद्वसे नहीं अन्वितपनेका प्रसंग होगा । भावार्थ—घट शद्वको सुनकर छोटा मुख बडा पेटवाले कलश रूपी अर्थको जान लेना आगम (शाद्वबोध) ज्ञान है । तथा घ और ट इन वर्णोंको सुन लेना श्रावणप्रत्यक्ष (मतिज्ञान) है । शद्ववादी आगमज्ञानको ही शद्वसे अन्वित (ओतपोत मिला हुआ) मानते हैं, ऐसी दशामें श्रावणप्रत्यक्ष शद्वसे सना हुआ न हो सकेगा । दूसरी बात यह है कि अपने अपने वाचक शद्वविशेषोंकी अपेक्षा रखते हुए ही अर्थ उनके ज्ञानों करके निर्णीत किये जाते हैं, यह आपने स्थान स्थानपर स्वीकार किया है । अर्थात् सभी ज्ञानोंके ज्ञेय संपूर्ण अर्थ उन उनके वाचक शद्वोंसे अन्वित हो रहे हैं । यदि रूप आदिकोंको शद्वोंके द्वारा कथन करने योग्य न माना जावेगा तो आपके उक्त सिद्धान्तका व्याघात हो जावेगा, जो कि आपको असह्य है ।

ननु च रूपादयः शब्दान्नार्थान्तरं तेषां तद्विवर्तत्वात् । ततो न ते गुरुणोपदिश्यन्ते येन विद्यानुकूलाः स्युरिति चेत्, तर्हि शब्दोपि परमब्रह्मणो नान्य इति कथं गुरुणोपदिश्यः । ततो भेदेन प्रकल्प्य शब्दं गुरुरुपदिशतीति चेत्, रूपादीनपि तथोपदिशतु । तथा च शब्दाद्वैतमुपायतत्त्वं परमब्रह्मणो न पुना रूपाद्वैतं रसाद्वैतादि चेति ब्रुवाणो न प्रेक्षावान् ।

यहां शद्ववादी पुनरपि स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि रूप आदिक गुण तो शद्वतत्त्वसे भिन्न नहीं हैं। क्योंकि वे रूप आदिक तो उस शद्वब्रह्मके पर्याय हैं, जिस कारण वे गुरुके द्वारा नहीं उपदिष्ट किये जाते हैं, जिससे कि वे रूप आदिक गुण विद्याके अनुकूल हो जाते। आचार्य समझाते हैं कि ऐसा कहोगे तब तो हम जैन यों कहेंगे कि शद्वतत्त्व भी परब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इस कारण वह गुरुसे भला कैसे उपदिष्ट किया जा सकेगा ? ब्रह्म ही ब्रह्मको ब्रह्मसे उपदेश नहीं दे सकता है। यदि आप यों कहें कि अभिन्न भी शद्वको उस ब्रह्मसे भेदपने करके कल्पना कर गुरु महाराज उपदेश दे देते हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि गुरुजी महाराज रूप आदिकोंको भी ब्रह्म या शद्वसे भिन्न कल्पित कर तिसी प्रकार उपदेश दे देवो कोई क्षति नहीं है। तब तो शद्वाद्वैतके समान रूपाद्वैत और रसाद्वैत भी सिद्ध हो जावेंगे। तैसा होते हुए भी परब्रह्मके ज्ञापक मान लिये गये शद्वाद्वैतको वह वादी उपाय तत्त्व कहे और फिर रूपाद्वैत, रसाद्वैत, स्पर्शाद्वैत, आदिको उपाय तत्त्व न माने। इस प्रकार साग्रह कहनेवाला शद्वाद्वैतवादी हिताहितको विचारनेवाली या परीक्षणा करनेवाली बुद्धिसे युक्त नहीं है। न्यायके द्वारा प्राप्त हुए पदार्थको अपनी इच्छासे न मानना बुद्धिमत्ता नहीं है।

ननु च लोके शद्वस्य परप्रतिपादनोपायत्वेन सुप्रतीतत्वात् सुघटस्तस्य गुरूपदेशो न तु रूपादीनामिति चेत् न, तेषामपि स्वप्रतिपत्त्युपायतया हि प्रतीतत्वात्। तद्विज्ञानं स्वप्रतिपत्त्युपायो न त एवेति चेत् तर्हि शद्वज्ञानं परस्य प्रतिपत्त्युपायो न शद्व इति समानम्।

फिर शद्ववादी सशंक होकर अपने पक्षका समर्थन करता है कि लोकमें दूसरोंके प्रति पदार्थोंके प्रतिपादन करनेका उपायपनेसे शद्वकी भले प्रकार प्रतीति हो रही है, इस कारण उस शद्वका गुरुके द्वारा उपदेश होना ठीक तौरसे घटित हो जाता है। किन्तु रूप, रस आदिक गुण तो अन्य पदार्थोंके प्रतिपादन करनेवाले उपाय नहीं हैं। अतः रूप आदिकोंका गुरुके द्वारा उपदेश नहीं हो पाता है। आचार्य बोलते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन रूप आदिकोंकी भी निश्चय करके अपनी प्रतिपत्तिके उपायपनेसे प्रतीति हो रही है। अपना अपना ज्ञान सभी करा लेते हैं। यानी अपनी ज्ञप्ति करानेमें सभी पदार्थ स्वयं आप अवलम्ब उपाय हो जाते हैं। तिसपर तुम यदि यों कहो कि उन रूप आदिकोंका विज्ञान ही उनको अपनी प्रतिपत्तिका उपाय है वे स्वयं रूप आदिक ही उपाय नहीं हैं, अन्यथा सोते हुए या अन्धे पुरुषको भी विद्यमान रूप आदिक अपना ज्ञान करा देते। ऐसा कहने पर तो हम जैन भी कह देवेंगे कि शद्वोंका ज्ञान ही दूसरे श्रोता पुरुषोंको अन्य पदार्थोंकी प्रतिपत्तिका उपाय है। केवल शद्व ही दूसरोंको ज्ञान नहीं करा सकता है, अन्यथा बधिरको तथा संकेतको न जाननेवाले पुरुषको भी शद्व अपने वाच्य अर्थका ज्ञान करा देता। बधिर और मूर्खके निकट शद्व अपने स्वरूपसे तो विद्यमान है ही। इस प्रकार रूप आदि और शद्व ये दोनों ही समान हैं। कोई अन्तर नहीं है।

परम्परया शब्दस्य प्रतिपत्त्युपायत्वे रूपादीनां सुप्रतिपत्त्युपायतास्तु। न हि धूमादिरूपादीनां विज्ञानात् पावकादिप्रतिपत्तिर्जनस्याप्रसिद्धाः। शब्दः साक्षात्प्रतिपत्त्युपायस्तस्य प्रतिभासादभिन्नत्वादिति चेत्, तत एव रूपादयः साक्षात्स्वप्रतिपत्तिहेतवः सन्तु।

यदि शद्ववादी यों कहें कि पदार्थोंकी प्रमिति का साक्षात् (अव्यवहित) उपाय तो शद्वज्ञान है, किन्तु शद्वज्ञान शद्वसे उत्पन्न होता है। अतः परम्परासे प्रमितिका उपाय शद्व हो जाता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानोगे तो रूप आदिकोंको भी परम्परासे अपनी प्रतिपत्तिका उपायपना उपस्थित रहो। धूम आदि व्यक्तियोंके रूप, स्पर्श आदि परिणमनोंके ज्ञानसे वह्नि आदि की मनुष्योंको समीचीन ज्ञप्ति होना अप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् धूमके रूपको देखकर परम्परा से वह्निका ज्ञान हो जाता है। वह्निज्ञानका साक्षात् कारण धूमज्ञान है। और परम्परासे रूप, रस आदिसे हुक्त हो रहा धूम कारण है; यदि वहां तुम यह कहो कि शद्व तो अव्यवहितरूपसे अन्य पदार्थोंकी प्रतिपत्तिका उपाय है, क्योंकि वह शद्वतत्त्व तो ज्ञानप्रकाशसे अभिन्न पदार्थ है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी आपादन कर देवेंगे कि तिस ही कारण यानी प्रतिभाससे अभिन्न होनेके कारण रूप, रस आदिक गुण भी अव्यवहित रूपसे अपनी प्रतिपत्तिके कारण हो जाओ! भावार्थ—शद्व तत्त्वको दूसरे पदार्थोंका ज्ञापक माना जावे इसकी अपेक्षा रूप आदिकोंको केवल स्वका ही ज्ञापक माना जावे तो अद्वैत की सिद्धिमें आपको अच्छी सहायता मिल सकती है।

एवं च यथा श्रोत्रप्रतिभासादभिन्नः शद्वस्तत्समानाधिकरणतया संवेदनाच्छ्रोत्रप्रतिभासश्च परब्रह्म तत्त्वविकल्पाच्छब्दात् सोपि च ब्रह्मतत्त्वात्संवेदनमात्रलक्षणादव्यभिचारिस्वरूपादिति। ततः परमब्रह्मसिद्धिः। तथा रूपादयः स्वप्रतिभासादभिन्नाः, सोपि प्रतिभासमात्रविकल्पाल्लिंगात्, सोपि च परमात्मनः स्वसंवेदनमात्रलक्षणादिति न शद्वाद्रूपादीनां कञ्चन विशेषमुत्पश्यामः। सर्वथा तमपश्यन्तश्च शद्व एव स्वरूपप्रकाशनो न तु रूपादयः, स एव परमब्रह्मणोधिगमोपायस्तत्स्वभावो वा न पुनस्त इति कथं प्रतिपद्येमहि।

और इस प्रकार जैसे शद्वाद्वैतवादियोंके यहां श्रोत्रजन्य श्रावणप्रत्यक्षसे शद्व अभिन्न है, क्योंकि उस प्रतिभासके समानाधिकरण करके शद्वका संवेदन हो रहा है। "शद्वः प्रतिभासते" यहां शद्वका प्रतिभासन क्रियाके साथ समानाधिकरण है। अर्थात् प्रतिभास क्रिया शद्वमें रहती है, अतः श्रोत्रप्रतिभास और शद्व एक ही तत्त्व है और श्रोत्र प्रतिभास परब्रह्मरूप है, प्रतिभास, चित्, सत्, परब्रह्म इनमें कोई अन्तर नहीं है। वह परब्रह्म तो निर्विकल्पक शद्वसे अभिन्न है अथवा परब्रह्मतत्त्वका विकल्प (विवर्त) स्वरूप शद्वसे वह श्रोत्र प्रतिभास अभिन्न है और वह शद्व भी केवलसंवेदन स्वरूप तथा व्यभिचाररहितपने स्वभावको धारण करनेवाले ब्रह्मतत्त्वसे अभिन्न है। तिस कारण इस ढंगसे अद्वैतवादी जैसे शद्वको परब्रह्मस्वरूप सिद्ध कर देते हैं, तैसे ही रूप, रस, आदिक तत्त्व भी अपने अपने प्रतिभाससे अभिन्न हैं। "रूपं प्रतिभासते, रसश्चकास्ति" ऐसी प्रतीति हो रही है।

अतः रूपका प्रतिभास और रूप एक ही है। वह रूप आदिकोंका प्रतिभास भी सामान्य प्रतिभासके विकल्प (विवर्त) स्वरूप लिंगसे अभिन्न है और वह हेतु भी सामान्य संवेदनस्वरूप परमात्मासे अभिन्न है। इस प्रकार शब्दसे रूप आदिकोंके कुछ भी विशेष (अन्तर) को हम नहीं देख रहे हैं। सभी प्रकारसे उस अन्तरको नहीं देखते हुए हम इस बातको कैसे समझ लेवें कि शब्द ही अपने स्वरूप मात्र ब्रह्मका प्रकाश करनेवाला है। किन्तु रूप आदिक तत्त्व तो अपने स्वरूपके प्रकाश करनेवाले नहीं हैं, अथवा वह शब्द ही ब्रह्मका स्वभाव होता हुआ परब्रह्मके जाननेका उपाय है। किन्तु फिर वे रूप आदिक तत्त्व तो ब्रह्मको जाननेके उपाय नहीं हैं, अथवा शब्द ही उस ब्रह्मका स्वभाव है, ब्रह्मके स्वभाव रूप आदिक गुण नहीं हैं। भावार्थ—शब्द और रूप आदिकमें कोई विशेषता नहीं है, यदि शब्दाद्वैत माना जावेगा तो रूपाद्वैत, रसाद्वैत भी मान लिये जावेंगे। कोई भी नहीं रोक सकेगा।

अत्रापरः प्राह। पुरुषाद्वैतमेवास्तु पदार्थः प्रधानशब्दब्रह्मादेस्तत्स्वभावत्वात्तस्यैव विधिरूपस्य नित्यद्रव्यत्वादिति। तदप्यसारम्। तदन्यापोहस्य पदार्थत्वसिद्धेः। शब्दो हि ब्रह्म ब्रुवाणः स्वप्रतिपक्षादपोढं ब्रूयात् किं वान्यथा। प्रथमपक्षे विधिप्रतिषेधात्मनो वस्तुनः पदार्थत्वसिद्धिः। द्वितीयपक्षेऽपि सैव, स्वप्रतिपक्षाद्व्यावृत्तस्य परमात्मनः शब्देनाभिधानात्।

यहां कोई दूसरा विशिष्टाद्वैतवादी कहता है कि वर्णसमुदाय स्वरूप पदका अर्थ माना गया ब्रह्माद्वैत ही वास्तविक पदार्थ होओ! प्रधान, शब्द, ब्रह्म, संवेदन, चित्, सत्, आनन्द आदिक उसी एक पुरुषके स्वभाव (पर्याय) हैं, वह पुरुषाद्वैत ही नित्य द्रव्य होनेके कारण विधिरूप होता हुआ पदका वाच्य अर्थ हो जाता है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार इसका वह कहना भी सार रहित है, क्योंकि यों तो बौद्धोंके माने हुए उस अन्यापोहको भी पदका वाच्य अर्थपना सिद्ध हो जावेगा। आप अद्वैतवादी उत्तर दो कि आपसे माना गया शब्द जिस समय ब्रह्मको कह रहा है वह अपने (ब्रह्मके) प्रतिपक्ष (विरुद्ध) पदार्थोंसे रहित ही केवल ब्रह्मको कहेगा, अथवा क्या अन्यथा यानी ब्रह्मसे विरुद्ध पदार्थका निषेध नहीं करते हुए उस ब्रह्मको कहेगा? पहिला पक्ष लेने पर तो विधि और प्रतिषेधस्वरूप वस्तुको पदका वाच्य अर्थपना सिद्ध होता है। क्योंकि शब्दने ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थोंका निषेध किया और ब्रह्मका विधान किया है। दूसरा पक्ष लेनेपर भी वही बात सिद्ध हुयी, यानी विधिप्रतिषेधरूप वस्तुको ही पदका अर्थपना सिद्ध हो गया। क्योंकि अपने प्रतिपक्षसे नहीं पृथग्भूत हुए परमात्माका शब्दके द्वारा निरूपण किया गया है। भावार्थ—सत् रूप परब्रह्मका विधान हुआ और उसके प्रतिपक्षका भी कथन हुआ। दूसरे ढंगसे यह भी विधि और निषेधका निरूपण है। अस्ति और उसके प्रतिपक्ष नास्तिका भी शब्दसे कथन करना विधि, निषेध स्वरूप वस्तुको पदका अर्थपना सिद्ध करता है।

तद्विधिरेवान्यनिषेध इति चेत्, तदन्यप्रतिषेध एव तद्विधिरस्तु। तथा चान्यापोह एव पदार्थः स्यात्।

यदि ब्रह्मवादी यों कहें कि उस परब्रह्मकी विधि ही अन्यका निषेध है जैसे केवल रीता भूतल ही घट, पट आदिकोंका निषेधरूप है, निषेध कोई स्वतन्त्र धर्म या पदार्थ नहीं है, अर्थात् एक पहिलेसे ही नीरोग उत्पन्न हुए बालकका समीचीन स्वास्थ्य ही नीरोगता है, ऐसा नहीं है कि बालकके अनेक रोगोंका प्रकरण प्राप्त हो जावे पुनः उनका औषधियोंके द्वारा अभाव किया जावे। अतः अद्वैत परब्रह्मकी विधि ही तुच्छ अनेक पदार्थोंका निषेधरूप है, आलोकका अभाव ही अन्धकार है, अब आचार्य कहते हैं कि तुम ब्रह्मवादी यदि ऐसा कहोगे तो हम कहेंगे कि उससे अन्य पदार्थोंका निषेध ही उस ब्रह्मकी विधि हो जाओ! भावार्थ—जिस वृद्ध मनुष्यने अनेक रोगोंके हो जानेपर चिकित्सा द्वारा उनका निराकरण करके जो स्वास्थ्यलाभ किया है वह स्वास्थ्य रोगोंका अभावरूप ही तो है, आठों कर्मोंका अभाव ही तो मोक्ष अवस्था है, अन्धकारका अभाव ही तो आलोक है। भोग उपभोगोंका न भोगना ही वैराग्य है। और तिस कारण यों तो अन्यापोह ही पदका वाच्य अर्थ बन बैठेगा।

स्वरूपस्य विधेस्तदपोह इति नाममात्रभेदादर्थो न भिद्यते एव यतोऽनिष्टसिद्धिः स्यादिति चेत्। न। अन्यापोहस्यान्यार्थापेक्षत्वात् स्वरूपविधेः परानपेक्षत्वादर्थभेदगतेः।

यदि ब्रह्माद्वैतवादी यों कहें कि ब्रह्मके स्वरूपकी विधिका ही नाम उन अन्य पदार्थोंका अपोह ऐसा धर दिया गया है केवल नामका भेद हो जानेसे यहां अर्थका भेद कैसे भी नहीं है जिससे कि द्वैत या निषेधरूप अनिष्ट पदार्थोंकी सिद्धि हो जावे। अब आचार्य कहते हैं कि वे इस प्रकार तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अपोह और स्वरूपकी विधि इनमें अन्तर है ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थोंका अन्यापोह करना यह अन्य अर्थोंकी अपेक्षा रखता है, किन्तु ब्रह्मके स्वरूपकी विधि तो अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं रखती है। अतः यहां विधि और निषेधमें भिन्न भिन्न अर्थ जाना जा रहा है।

परमात्मन्यद्वये सति ततोन्यस्यार्थस्याभावात् कथं तदपेक्षयान्यापोह इति चेत् न। परपरिकल्पितस्यावश्याभ्युगमनीयत्वात्। सोऽप्यविद्यात्मक एवेति चेत्, किमविद्यातोऽपोहस्तदपेक्षो नेष्टः? सोऽप्यविद्यात्मक एवेति चेत् तर्हि तत्त्वतो नाविद्यातोऽपोहः परमात्मन इति कुतो विद्यात्वं येन स एव पदस्यार्थो नित्यः प्रतिष्ठेत।

पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि परब्रह्म तत्त्वके सर्वथा एक होनेपर जब उससे अभिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही जगत्में नहीं है तो उस अन्य अर्थकी अपेक्षासे यह अन्यापोह कैसे कहा जा सकता है? इसपर आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये, क्योंकि दूसरे वादियोंके माने हुए पदार्थोंको अवश्य स्वीकार करना चाहिये चाहे कल्पनासे ही मानो! उनका निषेध भी तो करना है। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि वे सब कल्पना किये हुए पदार्थ भी अविद्या स्वरूप ही हैं, वास्तविक नहीं हैं। इसपर हम कहते हैं कि ऐसा ही सही, किन्तु यह तो बतलाओ कि क्या अविद्यासे अपोह (व्यावृत्ति) करना उस अन्य पदार्थकी अपेक्षा रखता हुआ आपने इष्ट नहीं किया

है ? इसपर यदि तुम यों कहो कि ब्रह्मसे अविद्याका वह अपोह करना भी अविद्या स्वरूप ही है। ऐसा कहने पर तो प्रतीत हुआ कि तब तो वास्तविकरूप करके परब्रह्मका अविद्यासे पृथक्पना नहीं बना। इस प्रकार ब्रह्माको विद्यापन (सम्यग्ज्ञानपन) कैसे आवेगा ? भावार्थ—अविद्यासे रहितपना यदि अविद्या ही है तो वस्तुतः अविद्यासे रहितपना नहीं आया। तब तो ब्रह्म अविद्या स्वरूप ही ठहरेगा। ब्रह्मको विद्यापना सिद्ध न होगा, जिससे कि वह नित्य ब्रह्म ही पदका वाच्य अर्थ प्रतिष्ठित हो सके। अथवा शद्वका वाच्य व्यक्तियोंको छोडकर नित्य पदार्थ बन सके।

सत्यपि च परमात्मनि संवेदनात्मन्यद्वये कथं शद्वविषयत्वम् ? स्वसंवेदनादेव तस्य प्रसिद्धेस्तत्प्रतिपत्तये शद्ववैयर्थ्यात्। ततो मिथ्याप्रवाद एवायं नित्यं द्रव्यं पदार्थ इति।

और थोडी देरके लिये आप अद्वैतवादियोंके कहनेसे परब्रह्म या संवेदन स्वरूप अद्वैतको मान लिया भी जावे तो भी आप यह बतलाइये कि वह चैतन्यरूप परब्रह्म भला शद्वजन्य ज्ञानका गोचर कैसे होगा ? क्योंकि आपके मतानुसार उस परब्रह्मकी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही प्रसिद्धि हो रही मानी गयी है। उसकी प्रमितिके लिये शद्वका प्रयोग करना व्यर्थ है। प्रत्यक्ष करने योग्य चेतनात्मक पदार्थोंका शद्वसे वैसा विशदज्ञान नहीं होता है। और ऐसा माननेसे अद्वैतवादियोंके ऊपर कतिपय दोषोंके प्रसंग आवेंगे। अद्वैतवादी और बौद्धोंके यहां प्रत्यक्ष ज्ञानका विषयभूत अर्थ शद्वोंसे छुआ नहीं जाता माना गया है। तिस कारण पदका वाच्य अर्थ नित्यद्रव्य है। इस प्रकार अद्वैतवादियोंका यह कहना झूंठी बकवाद ही है। वस्तुतः विधिनिषेधात्मक वस्तु या सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही शद्वका वाच्य अर्थ है।

व्यक्तावेकत्र शद्वेन निर्णीतायां कथञ्चन।
तद्विशेषणभूताया जातेः संप्रत्ययः स्वतः॥ २५॥
गुडशब्दाद्यथा ज्ञाने गुडे माधुर्यनिर्णयः।
स्वतः प्रतीयते लोके प्रोक्तो निम्बे च तिक्तता॥ २६॥
प्रतीतया पुनर्जात्या विशिष्टां व्यक्तिमीहिताम्।
यां यां पश्यति तत्रायं प्रवर्तेतार्थसिद्धये॥ २७॥
तथा च सकलः शाब्दव्यवहारः प्रसिध्यति।
प्रतीतेर्बाधशून्यत्वादित्येके संप्रचक्षते॥ २८॥

शद्वके द्वारा किसी भी प्रकार एक व्यक्तिके निर्णीत हो जानेपर उस व्यक्तिके विशेषणभूत हो रही जातिका अपने आप अच्छे प्रकार ज्ञान हो जाता है, जैसे कि गुड शद्वसे गुडका ज्ञान कर

लेनेपर गुडकी मधुरताका निर्णय होना अपने आप प्रतीत कर लिया जाता है। तथा निम्बका ज्ञान हो जानेपर उसके तिक्त रसका ज्ञान हो जाता है। इन बातोंको लोकमें जनसमुदाय अच्छे प्रकार कह देता है। व्यक्तिके द्वारा निर्णीत हुयी जातिसे विशिष्ट हो रहे फिर अभीष्ट विशेष जिस जिस व्यक्तिको लोक देखता है उन उन व्यक्तियोंमें प्रयोजनकी सिद्धिके लिये यह जीव प्रवृत्ति कर लेता है और तिसी प्रकार शद्वजन्य संपूर्ण लोक व्यवहार प्रसिद्ध हो जाते हैं, इस समीचीन प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है। इस प्रकार कोई एक वैशेषिकोंके एक देशीय अपने मन्तव्यको बहुत अच्छा समझते हुये साधेर कह रहे हैं।

न प्रधानं शुद्धद्रव्यं शद्धतत्त्वमात्मतत्त्वं वाद्वयं पदार्थः प्रतीतिबाधितत्वात्। नापि भेदवादिनां नानाव्यक्तिषु नित्यासु वा शद्धस्य प्रवृत्तिः तत्र संकेतकरणासम्भवादिदोषावतारात्, किं तर्हि ? व्यक्तावेकस्यां शद्धः प्रवर्तते श्रृंगग्राहिकया परोपदेशाल्लिंगदर्शनाद्वा तस्यां ततो निर्णीतायां तद्विशेषणभूतायां जातौ स्वत एव निश्चयो यथा गुडादिशद्धाद्गुडादेर्निणये तद्विशेषणे माधुर्यादौ तथाभ्यासादिवशाल्लोके संप्रत्ययात्। ततः स्वनिश्चितया जात्या विशिष्टामभिप्रेतां यां व्यक्तिं पश्यति तत्र तत्रेष्टसिद्धये प्रवर्तते। तावता च सकलशद्धव्यवहारः सिध्यति बाधकाभावादिति व्यक्तिपदार्थवादिनः प्राहुः।

उक्त कारिकाओंका विवरण करते हैं कि अकेला प्रधान (प्रकृति) या शुद्धद्रव्य तथा शद्वतत्त्व एवं अद्वैत आत्मतत्त्व ये पदके वाच्यअर्थ नहीं हैं, क्योंकि ऐसा माननेमें प्रमाण प्रसिद्ध प्रतीतियोंसे बाधा आती है। और भेदको कहनेवाले दूसरे द्वैतवादियोंके यहां मानी गयी नित्य अनेक व्यक्तियोंमें शद्वोंकी प्रवृत्ति होना भी ठीक नहीं बनता है, क्योंकि उन नित्य व्यक्तियोंमें संकेत करनेका असम्भव, अनन्वय, प्रवृत्त्यभाव आदि दोषोंका अवतार होता है। तब तो पदका वाच्यअर्थ क्या है ? इसका उत्तर हम यह देते हैं कि श्रृंगग्राहिका न्याय यानी अङ्गुली निर्देशसे एक व्यक्तिमें पहिले शद्व प्रवर्तता है, दूसरोंके उपदेश अथवा ज्ञापक हेतुओंके देखनेसे संकेतग्रहण करके उस शद्वसे उस व्यक्तिका निर्णय हो चुकनेपर व्यक्तिकी विशेषणरूप हो रही जातिमें अपने आप हीसे निश्चय हो जाता है, जैसे कि गुड, निम्ब, निम्बू आदि शद्वोंसे गुड आदि व्यक्तियोंका निर्णय हो जानेपर उनके विशेषण हो रहे मीठापन, कडुआ, (चिर्परा) खट्टा, आदिमें तैसे तैसे अभ्यास, प्रकरण, आदिके अधीन ज्ञान हो जाता है, यह लोकमें अच्छे प्रकार देखा गया है। तिस कारण स्वयं व्यक्तियोंमें निश्चित की गयी जातिसे सहित जिस अभीष्ट व्यक्तिको मनुष्य देखता है। उस उसमें अपनी इष्ट सिद्धिके लिये प्रवृत्ति कर देता है। केवल उतनेसे ही सम्पूर्ण शद्वजन्य व्यवहारोंकी सिद्धि हो जाती है, इसमें बाधक नहीं है। गौओंका समुदाय, या गौ को देता है, लेता है, गौ दुर्बल है, इत्यादि व्यवहार व्यक्तिमें ही सम्भव रहे हैं। इस प्रकार व्यक्तिको पदका वाच्य अर्थ कहनेवाले स्पष्टरूपसे कह

रहे हैं। सींगको देखकर गाय या महिषका ज्ञान हो जाता है, जलमेंसे निकली हुयी सूंडको देखकर हाथीका ज्ञान हो जाता है। यही शब्दजन्यता व्याप्त होना चाहिये। शेषं बुधा विमर्षयन्तु।

तदप्यसंगतं जातिप्रतीतेर्वृत्तिसम्भवे।
शब्देनाजन्यमानायाः शब्दवृत्तिविरोधतः ॥ २९ ॥
पारम्पर्येण चेच्छब्दात्सा वृत्तिः करणान्न किम्।
ततो न शब्दतो वृत्तिरेषां स्याज्जातिवादिवत् ॥ ३० ॥

आचार्य बोलते हैं कि इनका वह कहना भी असंगत है। क्योंकि शब्दके द्वारा नहीं उत्पन्न हुयी जातिप्रतीतिसे जातिमान् पदार्थमें प्रवृत्ति होना मानेंगे तो शब्दसे वह प्रवृत्ति हुयी, यह न कह सकोंगे। जातिसे उत्पन्न हुयी प्रवृत्तिको शब्दसे उत्पन्न हुयी कहना विरुद्ध है। यदि वह प्रवृत्ति परम्परासे शब्दके द्वारा उत्पन्न हुयी ही कही जावे तब तो परम्परासे श्रोत्र इन्द्रियसे ही वह प्रवृत्ति होना क्यों न मान लिया जावे ? कर्ण इन्द्रियसे शब्दका ज्ञान और शब्दसे जाति और जातिसे जातिमान् व्यक्ति स्वरूप पदार्थमें अर्थक्रियार्थी पुरुषकी प्रवृत्ति हो जावेगी। बीचमें दो परम्परा देनेसे तीन परम्परा देना कहीं अच्छा है। पितामह (बाबा) की अपेक्षा सन्तानको प्रपितामह (पडबाबा) की कहना लोकमें प्रशंसनीय माना जाता है। तिस कारण केवल जातिको शब्दका अर्थ कहने वालोंके समान इन व्यक्तिवादियोंकी भी शब्दके द्वारा शाब्दबोधप्रक्रियासे पदार्थोंमें प्रवृत्ति होना नहीं घटित होता है। इन दो वार्तिकोंका विद्यानन्द आचार्य भाष्य करते हैं कि—

प्रतीतायामपि शब्दाव्यक्तावेकत्र यावत् स्वतस्तज्जातिर्न प्रतीता न तावत्तद्विशिष्टां व्यक्तिं प्रतीत्य कश्चित् प्रवर्तत इति जातिप्रत्ययादेव प्रवृत्तिसम्भवे शब्दात् सा प्रवृत्तिरिति विरुद्धं, जातिप्रत्ययस्य शब्देनाजन्यमानत्वात्।

शब्दके द्वारा एक व्यक्तिके प्रतीत हो जाने पर भी जबतक उसमें रहने वाली जातिकी अपने आपसे प्रतीति न की जावेगी, तबतक उस जातिसे सहित उस व्यक्तिका निर्णय करके कोई भी मनुष्य नहीं प्रवृत्ति करता है। इस कारण यदि शब्दसे व्यक्ति और व्यक्तिसे जाति तथा जातिज्ञानसे जातिविशिष्ट व्यक्तिका निर्णय कर जातिज्ञानसे ही प्रवृत्ति होना माना जावेगा, तब तो हम जैन आपादन कर देंगे कि वह प्रवृत्ति शब्दसे हुई है, यह कहना विरुद्ध पडेगा। क्योंकि व्यक्तिवादीके मतानुसार जातिका ज्ञानशब्दसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

शब्दाव्यक्तिप्रतीतिभावे तद्विशेषणभूताया जातेः संप्रत्ययात्तत एव जातिर्गम्यत एवेति चेत्, कथमेवं व्यक्तिवज्जातिरपि शब्दार्थो न स्यात् ? तस्याः शब्दतोऽश्रूयमाणत्वा-

दिति चेत्, किमिदानीं शब्दतो गम्यमानोऽर्थः शब्दस्याविषयः। प्रधानभावेनाविषय एवेति चेन्न, गम्यमानस्यापि प्रधानभावदर्शनात् तथा गुडशब्दाद्गम्यमानं माधुर्यं पित्तोपशमनप्रकरणे।

यदि व्यक्तिवादी यों कहें कि शब्दसे व्यक्तिकी प्रतीति हो चुकनेपर उस व्यक्तिका विशेषण हो रही जातिका ठीक ज्ञान हो जाता है, तिस ही कारण जाति जान ली ही जाती है, ऐसा कहोगे तब तो हम जैन कह देंगे कि व्यक्तिके समान इस प्रकार जाति भी शब्दका वाच्य अर्थ क्यों न हो जावे ? यदि तुम यों कहो कि उस जातिका शब्दमुद्रासे श्रावणप्रत्यक्ष द्वारा शाब्दबोध नहीं हुआ है वह तो व्यक्तिके विशेषणरूपसे स्वयं ली गई है । ऐसा कहनेपर हम पूछते हैं कि क्या इस समय शब्दके द्वारा अर्थापत्तिसे जान लिया गया अर्थ शब्दका वाच्यगोचर न माना जावेगा ? भावार्थ—शब्दसे उच्यमान और गम्यमान दोनों ही अर्थ शब्दके वाच्य अर्थ हैं, जैसे कि गंगा शब्दका अर्थ गंगा और गंगाका तीर (किनारा) दोनों हैं। यदि तुम व्यक्तिवादी यों कहो कि शब्दके द्वारा कहे गये अर्थ तो प्रधानपनेसे शब्दके विषय हैं, किन्तु ऊपरसे यों ही समझ लिये गये अर्थ विचारे शब्दके प्रधानरूपसे विषय कैसे भी नहीं हैं। सो यह तो न कहना क्योंकि शब्दके द्वारा उपरिष्टात् समझ लिये गये अर्थको भी प्रधानपना देखा जाता है, जैसे कि पित्तदोषको उपशम (दूर करने) के प्रकरणमें गुड शब्दसे विना कहे समझ ली गयी मधुरता प्रधान हो जाती है। एक प्रेमयुक्ता पत्नी परदेशको जानेवाले अपने पतिसे कहती है " गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पंथानः सन्तु ते शिवाः। ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् " ॥ तुम जाते हो तो जाओ, किन्तु मैं यह चाहती हूं कि तुम्हारे पहुंचनेके पहिले वहां मैं जन्म ले लूं। इन वाक्योंका उच्यमान अर्थ प्रधान नहीं है। किन्तु तुम्हारे चले जाने पर मेरा मरना अवश्यम्भावी है, अतः नहीं जाओ! यह गम्यमान अर्थ यहां प्रधान है। " मञ्चाः क्रोशन्ति " खेतोंपर बांधे गये मचानों पर स्थित हो रहे रखानेवाले पुरुष चिल्ला रहे हैं, यहां उनमें रहने वाले मचान स्थित मनुष्य यह गम्यमान अर्थ मुख्य है।

न चात्र जातेरप्रधानत्वमुचितं तत्प्रतीतिमन्तरेण प्रवृत्त्यर्थिनः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। यदि पुनर्जातिः शब्दाद्गम्यमानापि नेष्यते तत्प्रत्ययस्याभ्यासादिवशादेवोत्पत्तेस्तदा कथमशब्दाज्जातिप्रत्ययान्न प्रवृत्तिः ? पारम्पर्येण शब्दात् सा प्रवृत्तिरिति चेत्, करणात् किं न स्यात् ? यथैव हि शब्दाद्व्यक्तिप्रतीतिस्ततो जातिप्रत्ययस्ततस्तद्विशिष्टे हि तद्व्यक्तौ संप्रत्ययात्प्रवृत्तिरिति शब्दमूला सा तथा शब्दस्याप्यक्षात्प्रतीतेरक्षमूलास्तु तथा व्यवहारान्नैवमिति चेत्, समानमन्यत्र।

दूसरी बात यह है कि यहां व्यक्तिको प्रधान कहना और जातिको प्रधान न कहना उचित नहीं है। क्योंकि उस जातिका निर्णय किये विना शब्दके द्वारा घट आदिकोंमें प्रवृत्ति करनेके अभिलाषी पुरुषकी प्रवृत्तिका होना नहीं बन सकता है। यदि फिर तुम यह कहो कि शब्दसे जातिका अर्थापत्ति द्वारा समझ लेना भी हम नहीं मानते हैं, उस जातिका ज्ञान तो अभ्यास, प्रकरण, आदिके

वश होकर यों ही उत्पन्न हो जाता है, जैसे कि चन्दनकी सुगन्धका। तब तो हम जैन आपादन कहेंगे कि शद्बके उच्चारण विना ही अकेले जातिज्ञानसे क्यों नहीं प्रवृत्ति हो जाती है ? अथवा जातिज्ञानसे हुयी वह प्रवृत्ति शद्बके विना हो गयी क्यों न कही जावे ?। यदि इसपर तुम यह कहो कि परम्परासे शद्बके द्वारा ही होता हुयी वह प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसा कहनेपर तो परम्परासे इन्द्रियोंके द्वारा होती हुयी ही वह प्रवृत्ति क्यों न कही जावे ? जैसे ही शद्बसे पहिले व्यक्तिकी प्रतीति होती है, उसके पीछे जातिका ज्ञान होता है, तदनन्तर जातिविशिष्ट उस व्यक्तिमें शाद्बबोध होनेसे प्रवृत्ति हो जाती है, इस कारण उस प्रवृत्तिका मूलकारण परम्परासे शद्ब है। तैसे ही एक कोटी और बढकर हम यों कह देवेंगे कि श्रोत्र इन्द्रियसे शद्बको जानकर व्यक्तिको जाना, व्यक्तिसे जातिका ज्ञान किया। पीछे तद्विशिष्ट व्यक्तिका निर्णय कर शाद्बबोध करते हुए प्रतीति की। इस प्रकार उस प्रतीति या प्रवृत्तिका मूल कारण परम्परासे कर्ण (कान) इन्द्रिय हो जाओ ! यदि तुम यों कहो कि शाद्बबोध प्रकरणमें श्रोत्र इन्द्रियसे प्रवृत्ति होनेका व्यवहार नहीं होता है। किन्तु शद्बसे तैसी प्रवृत्ति हुयी यह व्यवहार होता है। अतः इस प्रकार श्रोत्रको परम्परासे मूल कारण नहीं माना जावेगा। ऐसा कहोगे तब तो व्यवहार होनेके अनुसार अन्य दूसरे स्थलमें भी समानरूपसे कह देना चाहिये, यानी गम्यमान जातिको भी शद्बका वाच्य अर्थ स्वीकार कर लो ! न्यायप्राप्त विषयका सर्वत्र समानरूपसे व्यवहार करना चाहिये।

ततो न व्यक्तिपदार्थवादिनां जातिपदार्थवादिनामिव शद्बात्समीहितार्थे प्रवृत्तिः शद्बेनापरिच्छिन्न एव तत्र तेषां प्रवर्तनात्।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि जातिको पदका वाच्य अर्थ कहनेवाले मीमांसकोंके समान व्यक्तिको पदका वाच्य अर्थ कहनेवालोंके यहां भी शद्बके द्वारा अभीष्ट अर्थमें प्रवृत्ति न हो सकेगी। शद्बके द्वारा नहीं जाने हुए ही उस अर्थमें उन व्यक्तिवादियोंकी अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति हो रही है, नियमानुसार नहीं। ऐसी ही जातिवादियोंकी अव्यवस्था है।

एतेन तदुद्वयस्यैव पदार्थत्वं निवारितम्।
पक्षद्वयोक्तदोषस्याऽऽसक्तेः स्याद्वादविद्विषाम् ॥ ३१ ॥

इस उक्त कथन करके यह भी समझ लेना चाहिये कि गोत्व, घटत्व, आदि जाति और गौ, घट आदि व्यक्तियोंको मिलाकर दोनोंको ही पदका वाच्य अर्थपना किसीका स्वीकार करना खण्डन कर दिया जा चुका है। क्योंकि स्याद्वादसे द्वेष करनेवाले एकान्तवादियोंके यहां उभयपक्ष मानने पर भी दोनों पक्षमें कहे गये दोषोंके आनेका प्रसंग हो जाता है। अर्थात् परस्परमें अपेक्षा रखते हुए दो धर्मोंके मिलानेपर स्याद्वादियोंके यहां कार्यसिद्धि हो जाती है। एक एक धीवर पीनसको

अकेला कैसे भी नहीं उठा सकता है, किन्तु परस्परकी अपेक्षा रखते हुए दो मिलकर भारी पीनस-को भी उठा लेते हैं। जातियुक्त व्यक्ति और व्यक्तियुक्त जाति ये अनेकान्त मतमें तो प्रवर्तक बन जाते हैं, किन्तु एकान्त मतोंमें दो अन्धोंके समान मिलकर भी जाति और व्यक्ति विचारीं शाब्द-बोध प्रक्रियाके अनुसार प्रवर्तक नहीं हो सकती हैं। अतः प्रत्येक पक्षमें जो दोष आते हैं वे उभय पक्ष लेनेपर भी वैसे ही आ जावेंगे।

न हि जातिव्यक्ती परमभिन्ने भिन्ने वा सर्वथा सम्भाव्येते येन पदार्थत्वेन युगपत्प्रतीमः। येन स्वभावेन भिन्ने तेनैवाभिन्ने इत्यपि विरुद्धम्।

जाति और व्यक्ति दोनों ही अत्यधिक सर्वथा अभिन्न अथवा सर्वथा भिन्न नहीं सम्भवते हैं, जिससे कि पदके वाच्य अर्थपने करके एक ही समयमें दोनों जान लिये जावें अर्थात् एकान्त-वादियोंके द्वारा माने गये जाति और व्यक्ति कोई पदार्थ नहीं सिद्ध हो पाते हैं जिनको कि शब्द अपने वाच्यअर्थ रूपसे कह सकें। जिस स्वभाव करके वे भिन्न हैं उस ही स्वभावसे वे जाति और व्यक्ति अभिन्न हैं यह कहना भी विरुद्ध पडता है जो अभेदका प्रयोजक है वह भेदका साधक नहीं हो सकता है। अन्यथा प्रफुल्लित कमलका भंग हो जावेगा। संयोग और विभागके न्यारे न्यारे कारणोंके समान भेद और अभेदके भी साधक न्यारे न्यारे माने जाते हैं।

क्रमेण जातिव्यक्त्योः परस्परानपेक्षयोः पदार्थत्वे पक्षद्वयोक्तदोषासक्तिः। क्वचिज्जातिं शब्दात् प्रतीत्य लक्षणया व्यक्तिं प्रतिपद्यते, क्वचिद्व्यक्तिं प्रतीत्य जातिमिति हि जातिव्यक्ति-पदार्थवादिपक्षादेवासकृज्जातिव्यक्त्यात्मकवस्तुनः पदार्थत्वे किमनेन स्याद्वादविद्वेषेण।

परस्परमें नहीं अपेक्षा रखते हुए जाति और व्यक्ति दोनोंको क्रम क्रम करके पदका वाच्य अर्थपना मानोगे तो दोनों पक्षोंमें कहे गये दोषोंका प्रसंग होगा। अर्थात् शब्दके द्वारा युगपत् और क्रमसे उनका ज्ञान नहीं हो सकेगा, कहीं कहीं तो शब्द के द्वारा जातिको जानकर श्रोता तात्पर्या-नुपपत्ति अथवा अन्वयानुपपत्तिका प्रकरण होनेपर लक्षणा करके व्यक्तिको जान लेता है और कहीं परस्परकी अपेक्षा रखनेवाली व्यक्तिका निर्णय कर उसका विशेषणरूप जातिको श्रोता समझ लेता है, इस प्रकार जाति और व्यक्तिको पदका अर्थ कहनेवाले वादीके पक्षसे तो बार बार जातिव्यक्ति स्वरूप वस्तुको ही पदका वाच्य अर्थपना आता है। ऐसा माननेपर इस स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ लम्बा द्वेष ठाननेसे भला क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? भावार्थ—सदृशपरिणामरूप जाति और विशेष परिणामोंका आधार व्यक्ति इन दोनोंसे युगपत् तदात्मक होरही वस्तुको पदका वाच्य अर्थ माना यह तो स्याद्वादकी शरण लेनेसे ही बन सकता है। हम जैन जन शब्दका वाच्य तो वस्तुको मानते हैं, जो कि वस्तु जाति और व्यक्तिका तदात्मक पिण्ड है। न्यायसूत्र दूसरा अध्याय द्वितीय आन्हिकका ६८ वां सूत्र "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" यह स्याद्वाद सिद्धान्तसे ही पुष्ट हो सकता है।

केचिदत्राकृतिपदार्थवादिनः प्राहुः ।

कोई आकृति यानी पदार्थके आकारको ही पद का वाच्य अर्थ मानने वाले वादी यहां आठ वार्तिकों करके अपने मन्तव्यको स्पष्ट कहते हैं ।

लोहिताकृतिमाचष्टे यथोक्तो लोहितध्वनिः ।
लोहिताकृत्यधिष्ठाने विभागाल्लोहिते गुणे ॥ ३२ ॥
तदावेशात्तथा तत्र प्रत्ययस्य समुद्भवात् ।
द्रव्ये च समवायेन प्रसूयेत तदाश्रये ॥ ३३ ॥
गुणे समाश्रितत्वेन समवायात्तदाकृतेः ।
संयुक्तसमवेते च द्रव्येन्यत्रोपपादयेत् ॥ ३४ ॥
लोहितप्रत्ययं रक्तवस्त्रद्वयवृतेऽपि च ।
तथा गौरिति शब्दोऽपि कथयत्याकृतिं स्वतः ॥ ३५ ॥
गोत्वरूपात्तदावेशात्तदधिष्ठान एव तु ।
तदाश्रये च गोपिण्डे गोबुद्धिं कुरुतेऽञ्जसा ॥ ३६ ॥

अवयवोंकी रचना विशेषको आकृति कहते हैं, यानी गौके सींग, सास्ना आदिक अवयवोंका संस्थानविशेषरूप आकृति कही जाती है । गोत्व जातिका ज्ञापक लिंग संस्थानविशेषरूप आकृति है । वह रचनाविशेष परम्परासे द्रव्यमें रहती है । वार्त्तिकका अर्थ यों है कि जैसे वक्ताके द्वारा कहा गया लोहित (रक्त) यह शब्द रक्तके संस्थानविशेष आकृतिको कह देता है । गुण और आकृतिका विभाग करनेसे लोहित आकृतिके आधारभूत उस लोहित गुणमें भी उस आकृतिके आवेशसे तिस प्रकारका ज्ञान अच्छा उत्पन्न हो जाता है तथा समवायसम्बन्धसे उस गुणके आधारभूत द्रव्यमें भी लोहितज्ञान उत्पन्न हो जाता है । यहांतक कि रक्त दो वस्त्रोंसे घिरे हुए शुक्ल वस्त्रमें भी रक्तज्ञान उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि समवाय सम्बन्धसे वह आकृति गुणमें ठीक आश्रित होरही है । तथा संयुक्तसमवाय संबन्धसे दूसरे द्रव्योंमें रहती हुयी वह आकृति वहां भी रक्तज्ञानको युक्तिद्वारा पैदा करा देवेगी । भावार्थ—रक्त शब्द रक्तकी रचना विशेषको कहता है। वह रचना गुणमें है। गुण द्रव्यमें है। द्रव्य दूसरे द्रव्यसे संयुक्त हो रहा है। इस परम्परासे लोहित शब्द गुण, द्रव्य और द्रव्यान्तरोंका भी जैसे प्रतिपादन कर देता है जिसको कि आप जैनोंने गुणवाचक शब्द माना है, तैसे ही आपके द्वारा जातिशब्द माना गया गो यह शब्द भी अपने आप सींग, सास्ना, पुच्छ, कुकुद् आदि अवयवोंकी रचना विशेषरूप आकृतिको कह रहा है और उस गोत्वरूप आकृतिके आवेशसे ही उस

गोत्वके आधार माने गये अवयवोंमें गौका ज्ञान करा देवेगा तथा उसके भी संयोगी आधारभूत पिण्डरूप दूसरे गो व्यक्तिमें तो गौका ज्ञान शीघ्र ही कर देता है, अर्थात् गो शद्ब आकृतिको साक्षात् कहता है और परम्परासे अवयव, गौ, तथा अनेक गौओंको भी कह देता है।

कस्मात् पुनर्गुणे द्रव्ये द्रव्यान्तरे च प्रत्ययं कुर्वन्नाकृतेरभिधायकः शद्ब इति न चोद्यं, लोहितशद्बो ह्यर्थान्तरनिरपेक्षो गुणसामान्ये स्वरूपं प्रतिलब्धस्वरूपः तदधिष्ठानो यदा न गुणस्य लोहितस्य नाप्यलोहितत्वेन व्यावेशात्प्रत्यायनं करोति तदा विभागाभावादाकृत्यधिष्ठान एव। स तु गुणे प्रत्ययमादधतीत्याकृतिमभिधत्ते। यथोपाश्रयविशेषात् स्फटिकमणिं तद्गुणमुपलभ्यमानमध्यक्षं स्फटिकमणेरेव प्रकाशकं तदधिष्ठानस्य परोपहितगुणव्यावेशादविभागेन तद्गुणत्वप्रत्ययजननात्। एवं द्रव्यमभिदधानो लोहितशद्बः स्वाभिधेयलोहितत्वाकृतेर्लोहितगुणे समवेतायास्तस्य च द्रव्ये समवेतत्वादाकृत्यधिष्ठान एव तत्समवेतसमवायाद्गुणव्यवहितेऽपि द्रव्ये लोहितप्रत्ययमुपपादयेत्।

कोई यहां आकृतीवादीके ऊपर कुतर्क करते हैं कि जब गुण, द्रव्य, और दूसरे द्रव्योंमें शद्ब स्वजन्य ज्ञानको कर रहा है, तो फिर आकृतिको ही कहनेवाला शद्ब क्यों माना जाता है ? गुण आदिकको भी कहनेवाला कहना चाहिए। आकृतिवादी कहते हैं कि इस प्रकारका तर्क उठाना ठीक नहीं है, क्योंकि रक्त शद्ब अन्य अर्थोंकी नहीं अपेक्षा रखकर स्वान्वयरूपसे रक्त (लाल) गुणमें अपने स्वरूपका बढिया लक्षण लाभ करता हुआ उस गुणसामान्यका अवलम्ब लेकर निश्चय करके प्रतिष्ठित हो रहा है। वह लोहित शद्ब जब अलोहितपनेके भी आवेशसे निषिद्ध होकर लोहित गुणका निर्णय नहीं कराता है। तब विभाग न होनेसे आकृतिके आधारमें ही प्रवृत्त हो रहा है। वह शद्ब तो रक्त गुणमें ज्ञानको करता हुआ यों लोहित आकृतिको कह देता है। जैसे कि जपापुष्परूप विशेष उपाधिसे युक्त हो रहे स्फटिकमणिको जाननेवाला प्रत्यक्षप्रमाण उस पुष्पके गुण रक्तपनेको जानता हुआ प्रत्यक्ष स्फटिक मणिका ही प्रकाशक है, क्योंकि उस गुणके आक्रमणका अन्य उपाधि युक्त गुणके आवेशसे विभाग करके गुणपनेका ज्ञान पैदा हो जाता है। भावार्थ—जपाकुसुमकी रक्तिमा स्फटिकमें जान ली जाती है। इसी प्रकार लोहित शद्ब भी परम्परासे द्रव्यको संकेत कर रहा है। सुनिये ! लोहित शद्बका साक्षात् अपना वाच्य अर्थ लोहितपनारूप आकृति है, आकृतिका लोहित गुणमें समवाय सम्बन्धसे वर्तना हो रहा है और उस लोहित गुणका द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध हो रहा है। जो समवाय सम्बन्धसे वर्तना है वह समवेत कहा जाता है। अतः परम्परासे गुणका व्यवधान हुए द्रव्यमें भी लोहित शद्ब लोहितज्ञानको उत्पन्न करा देवेगा। आकृतिका समवेतसमवाय नामक परम्परा सम्बन्धसे वह द्रव्य आधार है।

एवमन्यत्र द्रव्ये लोहितद्रव्यस्य संयुक्तत्वात् तत्र च लोहितगुणस्य समवेतत्वात् तत्र च लोहिताकृतेः समवायात् संयुक्तसमवेतसमवायान्तरमुपजनयेत्।

इसी प्रकार द्रव्यसे संयुक्त हो रहे दूसरे द्रव्यमें भी लोहित शद्ब लोहित ज्ञानको उत्पन्न करा देवेगा। क्योंकि अन्य द्रव्यमें वह लोहितद्रव्य संयुक्त है। और उस लोहित द्रव्यमें लोहित गुण समवाय सम्बन्धसे वर्त रहा है। तथा उस लोहित गुणमें लोहित आकृतिका समवाय हो रहा है। इस कारण स्वयं युक्तसमवेतसमवाय सम्बन्धसे संयुक्त हो रहे दूसरे द्रव्यमें भी आकृति पहुंच जाती है। अतः लोहित शद्ब साक्षात्रूपसे आकृतिको कहता हुआ संयुक्त अन्य द्रव्यमें भी परम्परासे रक्त-ज्ञानको उत्पन्न करा देवेगा।

एवं तु वस्त्रद्वयवृते शुक्ले वस्त्रे संयुक्तसमवेतसमवायाल्लोहिते यथा प्रतीतं लोके तथा गौरिति शद्बादपि स्वतो गोत्वरूपामाकृतिं कथयति तत्र प्रतिलब्धस्वरूपस्तदधिष्ठान एव तद्गोपिण्डे गोप्रत्ययं करोत्यविभागेन तस्य तदावेशात्।

अभी आकृतिवादी ही कहें जा रहे हैं कि इसी प्रकार तो दोनों ओर दो लाल वस्त्रोंसे वेष्टित हो रहे शुक्ल वस्त्रमें भी संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्धसे लोहित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। देखिये, लोहित आकृति समवाय सम्बन्धसे लालगुणमें रहती है, रक्त गुण समवायसे रक्तद्रव्यमें रहता है, और रक्त वस्त्र तो संयोग सम्बन्धसे शुक्लवस्त्रमें वर्तरहा है। जिस प्रकार साक्षात् और परम्परासे होते हुए उक्त ज्ञान लोकमें प्रतीति अनुसार या विश्वासपूर्वक जाने जा रहे हैं, उसी प्रकार गौ इस शद्बसे भी अपने आप गोत्वरूप आकृतिका कथन हो जाता है और उस गोत्वरूप आकृतिमें अपना स्वरूप लाभ करता हुआ गोशद्ब उस आकृतिपर ही आक्रमण कर उस व्यक्तिरूप गोपिण्डमें गौके ज्ञानको कर देता है, क्योंकि आकृति और व्यक्तिके विभागकी नहीं अपेक्षा करके उसका वहां प्रति-फलन हो रहा है। अतः सिद्ध होता है कि गुणको कहनेवाला लोहित शद्ब तथा जातिको कहनेवाला गोशद्ब ये सभी शद्ब आकृतिको कह रहे हैं।

एवं पचतिशद्बोऽधिश्रयणादिक्रियागतैः।
सामान्यैः सममेकार्थसमवेतं प्रबोधयेत् ॥ ३७ ॥
व्यापकं पचिसामान्यमधिश्रित्यादिकर्मणाम्।
यथा भ्रमणसामान्यं भ्रमतीति ध्वनिर्जने ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार क्रियावाचक पचति शद्ब भी विक्लेदन (चूल्हिके ऊपर चावलोंका उष्ण पानीमें उछलना, कूदना,) आदि क्रियाओंमें रहनेवाले सामान्योंके साथ एकार्थसमवायसम्बन्धसे रहते हुए पचनसामान्यरूप आकृतिको समझा देता है। लोकमें घूम रहा है यह शद्ब जैसे अनेक चक्कर लगानारूप भ्रमणोंमें रहनेवाले भ्रमणसामान्यका प्रबोध करा देता है, तैसे ही पचनक्रियाकी

व्याप्य विक्लेदन, विभजन, अधिश्रिति, आदि क्रियाओंमें व्यापकरूपसे रहनेवाली पचन सामान्यरूप आकृतिको पचति शद्ध जता देता है। अतः आपसे माने गये भ्रमति, पचति, आदि क्रियाशद्ध भी आकृतिको ही कहते हैं। मनुष्य समुदायमें यह बात प्रसिद्ध है।

पचत्यादिशद्धः क्रियाप्रतिपादक एव नाकृतिविषय इति मा मंस्थाः स्वयमाकृत्यधिष्ठानस्य तस्य पचनादिक्रियाप्रत्ययहेतुत्वात् । पचतिशद्धो हि याः काश्चनाधिश्रयणादिक्रियास्तासां यानि प्रत्यर्थनियतान्यधिश्रयणत्वादिसामान्यानि तैः सहैकार्थे समवेतं यत्सर्वविषयं [illegible] तत्सामान्यप्रतिपादकं शद्धमभिप्रयुक्ते यथा भ्रमतिशद्धोऽनेककर्मविषयं भ्रमणसामान्यं लोके।

पचति, चरति, प्लवते आदि शद्ध क्रियाका ही प्रतिपादन करते हैं। आकृतिको विषय नहीं करते हैं, इसपर आकृतिवादी हम कहते हैं कि उक्त आग्रह नहीं मानना। क्योंकि पचन आदि क्रिय शद्धोंके द्वारा अपने आप आकृतिके अधिकरण हो रहे उस अर्थमें ही पकाना, चलना, आदि ज्ञान करानेकी कारणता है जिस कारणसे कि पका रहा है यह शद्ध जो कोई भी विक्लेदन, खदरबदर, उसीजना आदि क्रियायें हैं उनके प्रत्येक क्रियारूप अर्थमें नियमित होकर रहते हुए अधिश्रयणत्व, विक्लेदनत्व आदि सामान्य हैं तिनके साथ एक अर्थमें समवायसम्बन्धसे रहता हुआ सब क्रिया धर्मोंको विषय करनेवाला जो पचन सामान्य प्रगट हुआ है उसको प्रतिपादन करता है। भावार्थ—जिन्हीं क्रियाओंमें विक्लेदनपन आदि स्वरूप व्याप्य क्रियात्व रहता है वहीं व्यापक पचनसामान्य भी रहता है। अतः रूप, रसके साथ पुद्गल द्रव्यमें या ज्ञान, सुखके साथ आत्मद्रव्यमें एकार्थसमवायसम्बन्धसे रहती हुयी आकृतिका वाचक पचति शद्ध पचन सामान्यको कह देता है। जैसे कि भ्रमति (घूम रहा है) शद्ध अनेक घूमनेरूप क्रियाओंको विषय करनेवाले भ्रमणसामान्यका लोकमें प्रतिपादन करनेवाला माना जाता है।

तथा डित्थादिशद्धाश्च पूर्वापरविशेषगम्।
यदृच्छत्वादिसामान्यं तस्यैव प्रतिबोधकाः ॥ ३९ ॥

यों द्रव्यशद्ध, गुणशद्ध, क्रियाशद्ध, संयोगिशद्ध समवायिशद्ध सब आकृतिको कहते हैं। तैसे ही और डित्थ, डवित्थ, आदिक यदृच्छा शद्ध भी पहिले तथा पीछे विशेषोंमें रहनेवाले यदृच्छापन आदि जातिरूप जो आकृति है उसीका ज्ञान करानेवाले हैं। केवल यदृच्छापन व्यक्तिको कहने वाले नहीं है। भावार्थ—यदृच्छा शद्ध भी आकृति शद्ध है।

न हि डित्थो डवित्थ इत्यादयो यदृच्छाशद्धास्तैरपि डित्थत्वाद्याकृतेरभिधानात्।

डित्थ, डवित्थ, पुस्त इत्यादिक शद्ब स्वतन्त्र न्यारे यदृच्छाशद्ब नहीं हैं, किन्तु उन डित्थ आदि शद्बों करके भी डित्थपना आदि आकृतिका ही कथन होता है, यानी अपने मनकी प्रसन्नतासे किसी जीव या वस्तुके यों ही इच्छानुसार रख लिये गये नाम यदृच्छा शद्ब माने गये थे सो वे भी आकृति शद्ब ही हैं। काठ के बने हुये हाथीका नाम डित्थ धर लिया, या खैरकी लकडीसे बने हुये मनुष्यका नाम डवित्थ मान लिया, पगडी बांधनेके शिरसदृश आकारवाले काठको पुस्त कहा जाता है, ये शद्ब आकृतिको कहते हैं।

इत्येवमाकृतिं शब्दस्यार्थं ये नाम मेनिरे।
तेनातिशेरते जातिवादिनं प्रोक्तनीतितः ॥ ४० ॥
जातिराकृतिरित्यर्थभेदाभावात्कथञ्चन।
गुणत्वे त्वाकृतेर्व्यक्तिवाद एवास्थितो भवेत् ॥ ४१ ॥

इस प्रकार आठ वार्तिकों द्वारा जो कोई वादी शद्बका वाच्य अर्थ आकृतिको मानते हैं वे वादी भी हमारी कही हुयी बढिया नीतिके अनुसार केवल जातिको शद्बका वाच्यअर्थ मानने वाले मीमांसकोंसे अतिशय (आधिक्य) नहीं रखते हैं। अर्थात् जातिके व्याप्य आकृतिको शद्बका अर्थ मानना और जातिको अर्थ मानना एकसा ही ढंग है। जैसे ही नागनाथ वैसे ही सांपनाथ हैं, जातिसे आकृतिमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है, किसी अपेक्षासे जाति और आकृति एक ही हैं कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। यदि आकृतिको अवयवसंस्थान (परिमाण) रूप मानोगे तब तो व्यक्तिवाद ही आकर उपस्थित हो जावेगा। अर्थात् आकृतिको गुण माननेपर एक प्रकारसे गुणस्वरूप व्यक्तिको ही शद्बका वाच्य अर्थ मान लिया कहना चाहिये। व्यक्तिवादके एकान्त पक्षमें अनेक दोष दिये ही जा चुके हैं।

न सर्वा जातिराकृतिर्नापि गुणश्चतुरस्रादिसंस्थानलक्षणः। किं तर्हि? संस्थानविशेषव्यंग्या जातिर्लोहितत्वगोत्वादिराकृतिः सा च संस्थानविशेषानभिव्यंग्यायाः सत्त्वादिजातेरन्या। न सर्वे संस्थानविशेषेणैव व्यंग्यं तद्रहिताकाशादिष्वपि भावात्। द्रव्यत्वमनेनातद्व्यंग्यमुक्तं तथा गुणेषु संस्थानविशेषाभावात्। तद्वदात्मत्वादि तदनभिव्यंग्यं बहुधा प्रत्येयम्। गोत्वं पुनर्न सास्नादिसन्निवेशविशेषमन्तरेण पिण्डमात्रेण युज्यते अश्वादिपिण्डेनापि तदभिव्यक्तिप्रसंगात्। तथा राजत्वमानुषत्वादि सर्वमिति कश्चित्।

यहां कोई आकृतिवादी साधारण और व्यक्तियोंसे विलक्षण मानी गयी विशेष जाति तथा विशेष गुण व्यक्तिको आकृति मानता हुआ अपना पक्ष यों पुष्ट करता है कि सभी जातियां आकृति

नहीं हैं और संपूर्ण चौकोर, तिकौना, छःकौना, गोल आदि रचनाविशेष स्वरूप परिणाम गुण भी आकृति नहीं है, तब तो क्या है ? ऐसा पूंछनेपर हम आकृतिवादी कहते हैं कि जो जातियां विशेष संस्थानोंसे प्रगट की गयी हैं ऐसी लोहितत्व, गोत्व, अश्वत्व, आदि जातियां आकृतिरूप हैं, वह आकृति तो विशेषसंस्थानोंसे नहीं प्रगट हुयीं सत्त्व, द्रव्यत्व आदि जातियोंसे निराली है। सभी सामान्य उन विशेष संस्थानों करके ही प्रगट होते हैं, यह नियम नहीं है। क्योंकि उस विशेष रचनासे रहित माने गये आकाश, काल आदि पदार्थोंमें भी सत्त्व, द्रव्यत्व ये सामान्य (जाति) विद्यमान हैं। इस कथनसे द्रव्यत्व नामका सामान्य भी विशेष संस्थानसे व्यंग्य नहीं है, यह कह दिया गया समझ लेना चाहिये। तथा दूसरी बात यह है कि उन गुणोंमें तो विशेषसंस्थान नहीं माना गया है। गुणमें गुण नहीं रहते हैं। संस्थान (परिमाण) चौवीस गुणोंमेंसे एक गुण है। अतः गुणोंमें संस्थानके न होते हुए भी गुणत्व और सत्ता जाति रह जाती है। एवं उसीके समान आत्मत्व, दिशात्व आदि जातियां भी उन विशेषरचनाओंसे प्रगट नहीं होती है, इस बातको अनेक प्रकारसे समझ लेना चाहिये, किन्तु अनेक गौओंमें रहनेवाली गोत्व जाति तो फिर गलकम्बल, श्रृंग, कुकुद (ठांठ), पूछके प्रान्तमें बालोंका गुच्छा आदि विशेष रचनाके विना केवल शरीररूपी पिण्डके साथ युक्त नहीं हो जाती है, अन्यथा यानी सास्ना आदिके विना भी चाहे जहां गोत्वका योग मान लिया जावे तब तो घोडा, भैंस, हाथी आदिके शरीरसे भी उस गोत्वके प्रगट होनेका प्रसंग हो जावेगा। अतः सिद्ध है कि विशेष अवयवोंकी रचनासे जो जाति प्रगट होती है, वह आकृति है। तैसे ही अनेक राजाओंमें रहनेवाली राजत्व अनेक मनुष्योंमें विशिष्टरचनासे व्यक्त हुयी मनुष्यत्व, पशुत्व आदि सभी विशेषजातियां आकृति हो जाती हैं। वे शद्वके वाच्य अर्थ हैं, इस प्रकार कोई आकृतिवादी कहता है।

सोऽपि न विपश्चित्। लोहितत्वादेः संस्थानविशेषरहितेन लोहितादिगुणेन व्यवच्छेद्यमानत्वात्। पचत्यादिसामान्यस्य च पचनादिकर्मणा तादृशेन व्यंग्यत्वादाकृतित्वाभावानुषङ्गात्। सत्त्वादिजातेश्चाकृतित्वानभ्युपगमे कथमाकृतिरेव पदार्थ इत्येकान्तः सिध्येत्। जातिगुणकर्मणामपि पदार्थत्वसिद्धेः।

अब आचार्य महोदय कहते हैं कि वह आकृतिवादी भी विचारशील पण्डित नहीं है। क्योंकि लोहितपना (रक्तता) पीतता, सुगन्धत्व आदि जातियोंको विशेष संस्थानोंसे रहित माने गये लाल पीले आदि गुणों करके पृथग्भूत होगयापना देखा जाता है, यानी गुणोंमें रहनेवाली जातियां विशेष संस्थानोंसे रहित होरहे गुणों करके ही प्रगट हो जाती हैं। कारण वही है कि गुणमें गुण नहीं रहता है। और पकाता है, घूमता है, दौडता है इत्यादि क्रियाओंमें रहनेवाली जातियां भी वैसे संस्थान विशेषोंसे रहित कहे गये पचन आदि कर्मोंसे ही प्रगट हो जाती हैं, यदि विशेषसंस्थानोंसे ही आकृतिरूप जातिका उद्भूत होना मानोगे तो इन लोहितत्व, भ्रमणत्व, पाकत्व आदि जातियोंको

आकृतिपनेके अभावका प्रसंग होगा। यदि आकृतिवादी सत्त्व,द्रव्यत्व,आत्मत्व आदि जातियोंको आकृतिपना न मानोगे तो आकृति ही पदका वाच्यअर्थ है। ऐसा एकान्त कैसे सिद्ध होगा? सत्, द्रव्य, आदि पद भी तो किसी न किसी अर्थको कह रहे हैं। जाति, गुण और कर्म इन सबको भी पदका वाच्य अर्थपना सिद्ध है। किन्तु आकृतिवादी आप जाति, गुण और कर्मोंमें संस्थानविशेष मानते नहीं हैं, ऐसी दशामें विशेषसंस्थानसे अभिव्यंग्य होरही जातिरूप आकृति ही पदका वाच्यअर्थ है यह एकान्त भला कैसे रक्षित रह सकेगा?।

व्यक्त्याकृतिजातयश्च पदार्थ इत्यभ्युपगच्छतामदोष इति चेन्न, तेषामपि कस्यचित् पदस्य व्यक्तिरेवार्थः कस्यचिदाकृतिरेव कस्यचिज्जातिरेवेत्येकान्तोपगमात् पक्षत्रयोक्तदोषानुषक्तेः।

यहां कोई गौतमसूत्र अनुसार कहते हैं कि घोडा, गौ, हाथी, नीला, लाल, सुगन्ध, घूमना आदि व्यक्तियां और विशेष संस्थानसे प्रगट की गयी जातिरूप आकृतियां तथा नित्य जाति ये तीनों ही पदके वाच्य अर्थ हैं, इस प्रकार स्वीकार करनेवाले नैयायिकोंके यहां कोई दोष नहीं आता है। यों गुण, कर्म, जाति आदि सभी पदके वाच्यार्थ हो जावेंगे। ग्रन्थकार समझाते हैं कि सो यह तो नहीं कहना, क्योंकि तीनोंको पदका वाच्य अर्थ माननेवाले उनके मतमें भी किसी पदका अर्थ तो व्यक्ति ही माना है और किसी किसी पदका अर्थ आकृति ही माना है तथा किसी पदका अर्थ जाति ही स्वीकार किया है। इस प्रकार एकान्तरूप अंगीकार करनेसे तीनों पक्षोंमें कहे गये दोषोंका प्रसंग होगा, जो प्रत्येक पक्षमें दोष होता है वह स्वतन्त्र, अपेक्षा रहित, तीनों पक्षोंके माननेपर भी अवश्य लागू होगा।

किञ्च, संस्थानविशेषेण व्यज्यमानां जातिमाकृतिं वदतां कुतः संस्थानानां विशेषः सिध्येत् येनाकृतीनां विशेषस्तद्व्यंग्यतयावतिष्ठेत। न तावत् स्वत एव तन्निश्चितिरतिप्रसंगात्। परस्माद्विशेषणात्तद्विशेषो निश्चीयते इति चेत्, तद्विशेषणस्यापि कुतो विशेषोवसीयताम्? परस्माद्विशेषणादिति चेदनवस्थानात् संस्थानविशेषाप्रतिपत्तिरिति कथं तद्व्यंग्याकृतिविशेषनिश्चयः।

दूसरी एक बात यह भी है कि विशेषसंस्थानोंसे प्रगट हुयी जातिको आकृति कहनेवालोंके यहां संस्थानोंका विशेषपना किस हेतुसे सिद्ध होगा? जिससे कि उस विशेष संस्थानसे व्यंग्यपने कर आकृतियोंका विशेष व्यवस्थित होता। भावार्थ—गौ और महिष आदिके रचनाओंकी विशेषताका हेतु बतलाओ! जिससे कि गोत्व, महिषत्व, रूप विशेष आकृतियां जानी जा सकें। पहिले यह बात तो हो नहीं सकती कि उन संस्थानोंकी विशेषताका अपने आप ही निश्चय कर लिया जावे। क्योंकि यों तो अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। अर्थात् सदृश अनेक गौओंमें भी कारण विना अपने आप ही विशेषताओंका निर्णय हो जाओ! जो कि इष्ट नहीं है। यदि दूसरे प्रकार आप यों कहें कि अन्य

विशेषणोंसे उन संस्थानोंके विशेषका निर्णय कर लिया जावेगा, ऐसा कहने पर तो पुनः हम पूछेंगे कि संस्थानोंकी विशेषताको निर्णय करानेवाले उन विशेषणोंकी भी विशेषताका कैसे निश्चय किया जावे ? यहां भी उन विशेषणोंमें रहने वाले दूसरे विशेषणोंसे विशेषताका ज्ञान मानोगे, तब तो उन तीसरे विशेषणोंके लिये भी अन्य विशेषणोंकी आकांक्षा बढती जावेगी, इस ढंगसे अनवस्था दोष होगा। अतः विशेषसंस्थानोंका निर्णय नहीं हुआ। भला ऐसी दशामें उन विशेष संस्थानोंसे प्रगट हुयी विशेष आकृतियोंका कैसे निश्चय होगा ? यानी आकृतियोंका निश्चय नहीं हो सकेगा।

यदि पुनराकृतिविशेषनिश्चयादेतदभिव्यञ्जकसंस्थानविशेषनिश्चयः स्यादिति मतं तदा परस्पराश्रयणं। संस्थानविशेषस्य निश्चये सत्याकृतिविशेषस्य निश्चयस्तन्निश्चये सति संस्थानविशेषनिश्चय इति। स्वत एवाकृतिविशेषस्य निश्चयाददोष इति चेत् न, संस्थान-विशेषनिश्चयस्यापि स्वतः एवानुषंगात्।

यदि फिर आकृतिवादी आप यों कहें कि व्यंग्य आकृति विशेषोंके निश्चय हो जानेसे उनको प्रगट करनेवाले विशेषसंस्थानोंका निश्चय हो जावेगा। सो आपका ऐसा मत होनेपर तो अन्योन्याश्रय दोष है। सुनिये ! संस्थान विशेषोंका निर्णय हो जानेपर तो विशेष आकृतिओंका निश्चय होवे तथा उन विशेष आकृतियोंका निश्चय हो चुकनेपर विशेषसंस्थानोंका निश्चय होवे। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषवाले दोनों हेतुओं (ज्ञापक या कारक) मेंसे एककी भी सिद्धि नहीं होने पाती है। यदि आप यों कहें कि आकृतियोंकी विशेषताका निर्णय तो स्वयं अपने आपसे ही हो जाता है। अतः अतिप्रसंग, अनवस्था, अन्योन्याश्रय ये कोई दोष नहीं आते हैं, यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यों तो विशेषसंस्थानोंके निश्चयका भी अपने आप ही हो जानेका प्रसंग होगा। भावार्थ— संस्थानोंकी विशेषताका निर्णय आकृतिके विशेषोंसे माना जावे और आकृतियोंकी विशेषता स्वतः जान ली जावे, इसकी अपेक्षा पहिली कोटिमें ही संस्थानोंकी विशेषताओंका ही क्यों न स्वतः निर्णय होना मान लिया जावे। परम्परा करनेका परिश्रम क्यों किया जाता है ?

प्रत्ययविशेषादाकृतिविशेषः संस्थानविशेषश्च निश्चीयत इति चेत्, कुतः प्रत्ययविशेषसिद्धिः ? न तावत्स्वसंवेदनतः सिद्धान्तविरोधात्। प्रत्ययान्तराच्चेदनवस्था। विषयविशेष निर्णयादिति चेत्, परस्पराश्रयणं, विषयविशेषस्य सिद्धौ प्रत्ययविशेषस्य सिद्धिः तत्सिद्धौ च तत्सिद्धिरिति।

यदि आप यों कहें कि निर्णय आत्मक ज्ञानोंकी विशेषताओंसे आकृतियोंकी विशेषता जान ली जावेगी और उन ज्ञानोंसे ही आकृतियोंके व्यञ्जक हो रहे संस्थानोंकी विशेषताका भी निर्णय कर लिया जावेगा, ऐसा माननेपर सर्व व्यवस्था ठीक बन जाती है। अनवस्था आदि दोषोंका प्रसंग भी टल जाता है। आपके इस प्रकार कहनेपर तो हम पुनः प्रश्न करेंगे कि उन ज्ञानोंमें

विशेषताओंकी सिद्धि किससे करोगे ? सबसे प्रथम स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे तो ज्ञानोंकी विशेषताका निर्णय हो नहीं सकेगा, क्योंकि यों तो आपके सिद्धान्तसे स्वयं आपको विरोध होगा, जब कि नैयायिकोंने ज्ञानका प्रत्यक्ष होना अन्य ज्ञानोंसे माना है। एक आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले उत्तर समयवर्ती द्वितीय ज्ञानसे पहिले ज्ञानका प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है। यहांतक कि किसी नैयायिकने तो ईश्वरके भी दो ज्ञान मान लिये हैं। एक ज्ञानसे यावत् पदार्थोंको जानता है और दूसरे ज्ञानसे ईश्वर उस ज्ञानका प्रत्यक्ष कर लेता है। अतः आप नैयायिकोंके सिद्धान्तानुसार स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ज्ञानोंकी विशिष्टताका निर्णय नहीं हो सकता है, जो ज्ञान स्वयं अपनेको नहीं जानता है। वह भला अपनी विशेषताओंको कैसे जान सकेगा ? जिस अन्ध पुरुषको मोती नहीं दीखता है उसको मोतीके प्रतरोंकी विशेषता भी नहीं जंचती है, अन्यथा अपसिद्धान्त दोष बन बैठेगा। यदि आप अन्य ज्ञानोंसे प्रकृत ज्ञानोंकी विशेषताओंको जानोगे तो उन अन्य ज्ञानोंके लिये पुनः चौथे, पांचवें, छठे आदि ज्ञानान्तरोंकी आवश्यकता पडेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। यदि अनवस्थाके निवारणार्थ ज्ञानोंकी विशेषताका निश्चय ज्ञेयविषयोंकी विशेषतासे होना मानोगे ऐसा माननेपर तो अन्योन्याश्रयदोष है, क्योंकि विषयोंके वैलक्षण्य (विशेषता) की सिद्धि होनेपर ज्ञानोंके विशेषकी सिद्धि होवे और ज्ञानोंमें विशेषताकी सिद्धि हो जानेपर विषयोंमें विशेषताकी सिद्धि होवे, इस प्रकार अनवस्था स्वरूप गम्भीर व्याघ्रीसे बच जानेपर भी अन्योन्याश्रयदोषरूपी तुच्छ भालूसे पिण्ड छुडाना कठिन है।

न चैवं सर्वत्र विशेषव्यवस्थापह्नवः स्वसंविदितज्ञानवादिनां प्रत्ययविशेषस्य स्वार्थव्यवसायात्मनः स्वतः सिद्धेः सर्वत्र विषयव्यवस्थोपपत्तेः।

यदि तुम हमारे ऊपर इस प्रकार कटाक्ष करोगे कि यों तो सभी स्थानोंपर विशेषताकी व्यवस्था करना छिप जावेगा यानी कहीं किसी दर्शनमें भी पदार्थोंके वैलक्षण्यकी व्यवस्था न हो सकेगी। घट और आत्मामें चेतन, अचेतनपनेकी विशेषताका जो हेतु दिया जावेगा उसमें भी कुचोद्य उठा दिया जा सकेगा कि घटमें जडता और आत्मामें ज्ञान क्यों है ? इत्यादि। सो आप नैयायिक हम जैनोंके ऊपर यह अपह्नवदोष नहीं लगा सकते हैं। क्योंकि हम ज्ञानोंकी विशेषतासे ही ज्ञेयोंकी विशेषताका निर्णय होना मानते हैं। सम्पूर्ण ज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। अपना और अर्थका निश्चय करनेवाले स्वरूप ज्ञानोंकी विशेषताओंका हम स्वसंवेदनज्ञानवादी जैनोंके यहां स्वतः निर्णय कर लिया जाता है। अभ्यास दशामें ज्ञानोंकी प्रमाणताके निर्णय समान उनकी विशेषताओंका भी स्वतः निर्णय हो जाता है और उन ज्ञानकी विशेषताओंसे सभी स्थलोंपर विषयोंके विशेषताकी व्यवस्था होना बन जाता है। अतः हम स्याद्वादियोंके यहां कोई दोष नहीं आता है। हम अन्तमें सब पदार्थोंके निर्णय करनेका भार ज्ञानके ऊपर देते हैं और वह ज्ञान सूर्यके समान स्वांशोंका तथा अन्य अंशोंका युगपत् प्रकाशक माना गया है।

कथं चायमाकृतीनां गोत्वादीनां परस्परं विशिष्टतामपरविशेषण विरहेऽपि स्वयमुपयन्न गवादिव्यक्तीनां विशेषणवशादेव तामुपगच्छेत् तथा दृष्टत्वादिति चेत् न, तत्रैव विवादात्। तदविवादे वा व्यक्त्याकृत्यात्मकस्य वस्तुनः पदार्थत्वसिद्धिस्तथा दर्शनस्य सर्वत्र भावात्।

और नैयायिकसे हमको यह कहना है कि यह नैयायिक गोत्व, अश्वत्व, आदि आकृतियोंकी परस्परमें हुयी विशेषता (वैलक्षण्य) को अन्य विशेषोंके न होनेपर भी स्वयं अपने आप होती हुयी स्वीकार करता हुआ भला गो, अश्व, आदि व्यक्तियोंकी उस विशिष्टताको विशेषणोंके अधीन ही स्वतः क्यों न मान लेवे। अर्थात् आकृतियोंकी विशेषताको विना विशेष धर्मके जैसे तुम स्वीकार कर लेते हो तैसे ही गौ, अश्व आदि व्यक्तियोंकी उस विशेषताको सींग, सास्ना, ककुद् एक खुर वालापन, पूरीपूंछपर लम्बे बाल, आदि स्वात्मभूत विशेषोंसे ही स्वयं होती हुयी क्यों नहीं मान लेते हो। इसपर यदि तुम यह कहो कि गोत्व आदि आकृतियोंकी विशेषता तो अपने आप होती हुयी तिस प्रकार देखी गयी है, अतः हम मान लेते हैं। किन्तु व्यक्तियोंकी विशेषता तो केवल विशेषणोंसे होती हुयी नहीं देखी जाती है, अतः नहीं मानते हैं। आचार्य समझाते हैं कि यह तो नहीं कहो, क्योंकि वहां ही तो विवाद है कि व्यक्तियोंकी विशेषता विशेषणोंसे ही क्यों न हो जावे! किन्तु आप उस प्रश्नका वही उत्तर दे देते हैं। हम पूंछते हैं कि ईश्वर सृष्टिको क्यों बनाता है? इसका उत्तर मिलता है कि जिस कारणसे कि ईश्वर सृष्टिको बनाता है। अथवा यदि स्वभाव और वस्तुस्थितिके अनुसार विशेषपनेकी व्यवस्थाको मानते हुए उसमें विवाद न करोगे तब तो व्यक्ति और आकृतिस्वरूप वस्तुको पदका वाच्य अर्थपना सिद्ध हो जाता है, क्योंकि तिसी प्रकार देखना सभी स्थलोंपर विद्यमान हैं। किसी भी शद्बको सुनकर संकेतग्राही श्रोताको व्यक्ति और आकृतिरूप वस्तुका ज्ञान हो जाता है। जहां व्यक्ति है वहां आकृति अवश्य है और जहां आकृति है वहां व्यक्ति भी अवश्य है दोनों ही वस्तुके तदात्मक अंश हैं। अतः नैयायिकोंके एकान्तका निरास कर सामान्यविशेषात्मक वस्तुको शद्बका वाच्य अर्थपना सिद्ध हुआ।

योऽपि मन्यतेऽन्यापोहमात्रं शद्बस्यार्थ इति तस्यापि—

जो भी बौद्ध यह मानता है कि शद्बका वाच्य अर्थ केवल अन्यापोह ही है। वस्तुभूत भाव पदार्थ तो शद्बसे नहीं कहा जाता है। देवदत्त पण्डित है इसका अभिप्राय यही है कि वह अपण्डित यानी मूर्ख नहीं है, कोई धनवान् है इस शद्बका भी यही तात्पर्य है कि वह निर्धन नहीं है। संसारके दुःखाभावोंमें जैसे सुखशद्बका प्रयोग गौणरूपसे हो जाता है, वस्तुतः वहां सुखका अर्थ दुःखका अभाव तथा तीव्र दुःखोंके प्रहारका अभाव है, अधिक बोझसे लदे हुए पुरुषका बोझ उतार देनेपर सुखी हो जानेका अर्थ दुःखाभाव है। तैसे ही गो शद्बका अर्थ गौसे भिन्न सजातीय और विजातीय व्यक्तियोंसे अपोह यानी अभाव करना है। अश्व शद्बका अर्थ घोडोंसे भिन्न होरही व्यक्तियोंकी व्यावृत्ति करना है, इस प्रकार जो बौद्ध मानता है। उसके यहां भी—

यदि गौरित्ययं शब्दो विधत्तेन्यनिवर्तनम् ।
विदधीत तदा गोत्वं तन्नान्यापोहगोचरः ॥ ४२ ॥

यह गो ऐसा शब्द यदि अन्यकी निवृत्ति करनेका विधान करता है, तब तो गौपनेका ही विधान करे । सर्वथा अभावको कहनेवाला शब्द यदि विधान सीख गया है तो अच्छा ही हुआ । भले ही वह अभावका ही विधान करे । जिस रोगीका बोलना रुक गया है यदि वह रोवे सो ही अच्छा है । तैसे ही वह गौपनेका विधान भी कर सकेगा । अतः वह गो शब्द एकान्तरूपसे अन्योंके अपोहको ही विषय करनेवाला न हुआ । विधायक भी हो गया ।

स्वलक्षणमन्यस्मादपोह्यत्वेनेष्टमन्यापोहः किलैतत्तं यदि गोशब्दो विधत्ते तदा गामेव किं न विदध्यात्, तथा च नान्यापोहं शब्दार्थः गोशब्देनागोनिवृत्तेः कल्पनात्मिकायाः स्वयं विधानात् ।

बौद्ध लोग स्वलक्षणको वास्तविक तत्त्व मानते हैं, अन्यापोह शब्दकी निरुक्ति यह है कि अन्य पदार्थोंसे स्वलक्षण पृथक् किया जावे जिस करके वह विकल्परूप धर्म अन्यापोह है । यदि गो शब्द उस विकल्पका विधान करता है तब तो साक्षात् गोव्यक्तिका ही क्यों न विधान करे ? बौद्धोंके मतानुसार विकल्प या विकल्प्य और गोव्यक्ति प्रायः एकसी पडती हैं । विकल्प भी कल्पना किया गया भाव है । और गोव्यक्ति भी स्थूल अवयवीपनेसे कल्पित किया गया भाव है । गो शब्दको सुनकर भावरूप पदार्थकी प्रतीति होती है । तिस प्रकारसे तो सिद्ध हो जाता है कि बौद्धोंसे तो माना गया अन्यापोहशब्दका वाच्यअर्थ नहीं है । क्योंकि गोशब्द करके कल्पनास्वरूप अगो निवृत्तिका स्वयं विधान होना बौद्धोंने मान लिया है । जब गो शब्द अर्थका विधान करने भी लग गया तब बौद्धोंसे आग्रह किये गये अपोहरूप एकान्तको कहनेकी प्रतिज्ञा रक्षित नहीं रह सकी ।

अगोनिवृत्तिमप्यन्यनिवृत्तिमुखतो यदि ।
गोशब्दः कथयेन्नूनमनवस्था प्रसज्यते ॥ ४३ ॥

यदि आप बौद्ध यों कहें कि गो शब्द अगो निवृत्तिको भी विधि भावसे नहीं करता है, किन्तु अन्य निवृत्तिको मुख्य करता हुआ अगोनिवृत्तिको कहेगा, तब तो निश्चय करके बौद्धोंके ऊपर अनवस्था दोषका प्रसंग है । अगोनिवृत्तिको अनगोनिवृत्ति—अभावरूप मुखसे कहेगा और इसको भी इसके ऊपर दो अभावोंको लादे हुए मुखसे कहेगा । फिर उसको भी छह अभावोंका बोझ झेलनेवाले अभिमुखपनेसे कहेगा, यों अनवस्था हो जावेगी । कहीं ठहरना नहीं होगा ।

न गौरगौरिति गोनिवृत्तिस्तावदेका ततो द्वितीया त्वगोनिवृत्तिस्ततोन्या तन्निवृतिस्तृतीया ततोऽन्यनिवृत्तिश्चतुर्थी यदि गोशब्देन कथ्यते तन्मुखेन गतिप्रवर्तनात् तदा सापि न गोशब्देन विधिप्राधान्येनाभिधेया द्वितीयनिवृत्तेरपि तथाभिधेयत्वप्रसंगात् ।

बौद्धोंके यहां गो शद्वका वाच्यअर्थ अगोनिवृत्ति माना गया है। यहां विचार यों करना है कि अगोनिवृत्तिमें पहिले निषेध करने योग्य अगो पडा हुआ है। जो गौ नहीं है वह अगो है। इस प्रकार सबसे पहिले एक गोनिवृत्ति आयी। तिसके अनन्तर अगोकी निवृत्ति की। यह तो दूसरी निवृत्ति हुई। इस दूसरी निवृत्तिको भी निषेधमुखसे कहेगा तो उसके पीछे एक उससे न्यारी तीसरी निवृत्ति खडी हो जावेगी। तिसके अनन्तर अपोहरूप चौथी निवृत्ति निराली हो जावेगी। इस प्रकार गोशद्व करके यह चौथी निवृत्ति कही जावेगी। तब तो उस निवृत्तिके मुख्यपनेसे शद्वगतिकी प्रवृत्ति होगी। किन्तु तब वह भी विधिको प्रधान रखनेवाले गोशद्व करके नहीं कही जावेगी। अपोह मुखसे ही उसका निरूपण होगा। यदि चौथी निवृत्ति विधिप्रधानता से कह दी जाती तो दूसरी निवृत्तिको भी तिसी प्रकार कहे जानेपनका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—अनवस्थाके परिहारके लिए चौथी निवृत्तिको विधिप्रधान रखा जाता है तो दूसरी निवृत्ति को ही क्यों न रख लिया जावे। मूल गौके विधिरूप रखनेसे तो सर्वतोभद्र हो जावें। और दूसरी बात यह है कि बौद्ध लोग चौथी, छट्ठी, आठवी निवृत्ति होनेको विधिकी प्रधानतासे भला मानते कहां हैं?

गौरिव विधिसिद्धिः स्वान्यनिवृत्तिद्वारेणाभिधीयत इति चेत्, तर्हि ततोऽन्या पञ्चमी निवृत्तिस्ततो निवृत्तिः षष्ठी सा गोशद्वस्यार्थ इत्यनवस्था सुदूरमप्यनुसृत्य तद्विधिद्वारेणाश्रयणात् निवृत्तिपरम्परायामेव शद्वस्य व्यापारात्।

सौगत कहते हैं कि गौके समान विधानकी सिद्धिका भी अपनेसे अन्योंकी निवृत्तिके द्वारा ही कथन किया जाता है, अर्थात् सबसे प्रथम गौकी विधिसिद्धिकी जैसे चार कोटी चली हैं, तैसे ही चौथी निवृत्तिकी विधिसिद्धि भी अन्यापोह द्वारा कही जावेगी। अब आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे, तब तो उस चौथी निवृत्तिका भी अन्य निवृत्ति द्वारा कथन करनेसे अन्य पदसे पांचवीं निवृत्ति कथित हुयी और उससे अपोहरूप छठी निवृत्ति हुयी और वह गो शद्वका वाच्य अर्थ हुयी। इस प्रकार छठी निवृत्ति भी अन्यनिवृत्तिके द्वारा अन्यापोहको ही कहेगी यह अनवस्था दोष है। बहुत दूरतक भी पीछे पीछे जाकर आपको कहीं न कहीं अन्यनिवृत्ति द्वाराका अवलम्ब छोडकर विधिद्वाराका अवलम्ब लेना पडेगा। अन्यथा वैसा माननेसे तो गंगाकी अटूट धारके समान निवृत्तियोंकी परम्परामें ही शब्दका व्यापार बना रहेगा। अतः प्रथमसे ही विधि द्वार करके शद्वके वाच्य अर्थकी व्यवस्था करना ठीक है। वस्तुतः देखा जावे तो तुच्छ अन्यापोह कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है, बौद्धोंने भी नहीं माना है। बौद्ध जन "बुद्धो भवेयं जगते हिताय" मैं जगत्के प्राणियोंका हित करनेके लिये बुद्ध हो जाऊं, ऐसी बुद्धपनेको बनानेवाली विशिष्ट भावनासे बुद्ध होना मानते हैं तथा " तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां च महती कृपा " मोक्ष होनेके सम्पूर्ण कारण मिल जानेपर भी संसारी जीवोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके लिये दयालुता वश वे बुद्ध कुछ दिनतक संसारमें टिके रहते

हैं। यदि शद्वका वाच्य कोई वस्तुभूत पदार्थ न होता तो आपके बुद्ध भगवान् भला किसका उपदेश देते हैं ? बतलाओ ! और यों तो आपके पिटकत्रय, न्यायबिन्दु, आदि ग्रन्थ निरर्थक हो जावेंगे। नहि शब्द वाच्यवस्तुभूतपदार्थमन्तरा मूकाद्वाग्मिनोवा विशेषं पारयामः ॥ अलम् ।

शद्धो विवक्षां विधत्ते न पुनर्बहिरर्थमित्यभ्युपगमे कथमन्यापोहकृत्सर्वः शद्धः सर्वथा।

फिर भी बौद्ध कहते हैं कि शद्व वक्ताकी इच्छाका विधान करता है, अर्थात् किसीने घट शद्वको कहा। वह घट शद्व घट बोलनेकी इच्छाको कह रहा है, उसको घटशद्व कहनेकी कहास थी हां ! घटशद्व कम्बुग्रीवा आदिसे युक्त व्यक्तिको नहीं कहता है। इसी प्रकार सभी शद्व बोलनेवालेकी इच्छाको कह रहे हैं, किन्तु फिर बहिरंग अर्थोंको नहीं कहते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा स्वीकार करनेपर बौद्धोंके यहां सभी शद्व सब प्रकारसे अन्योपोहको करनेवाले कैसे हो सकेंगे ? भावार्थ—जब शद्व विवक्षाका विधान करने लगे तो अन्यापोहरूप अभावको कैसे कह सकेंगे ? बतलाओ ! आपके हाथसे एकान्तपक्ष निकल गया।

वक्तुरिच्छां विधत्तेऽसौ बाह्यर्थं न जातुचित् ।
शद्धोऽन्यापोहकृत्सर्वः यस्य वांध्यविजृम्भितम् ॥ ४४ ॥

जिस बौद्धके यहां वह शद्व वक्ताकी इच्छाका विधान कर रहा है और कभी भी बहिर्भूत अर्थका विधान नहीं करता है, उसके यहां सभी शद्व अन्यापोहका कथन कर रहे हैं, यह कहना बन्ध्यापुत्रकीसी चेष्टा करना है अथवा अर्थ उपहास कराना है।

यथैव हि शद्धेन बहिरर्थस्य प्रकाशने तत्र प्रमाणान्तरा वृत्तिः सर्वात्मना तद्भेदनेनार्थस्य निश्चितत्वान्निश्चिते समारोपाभावात्। तद्व्यवच्छेदेऽपि प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेर्वस्तुनो धर्मस्य कस्यचिन्निश्चये सर्वधर्मात्मकस्य धर्मिणो निश्चयात्सर्वग्रहापत्तेरन्यथा तदात्मकस्यैकधर्मस्यापि निश्चयानुपपत्तिस्ततो भिन्नस्य धर्मस्य निश्चये धर्मिणि प्रवृत्त्यघटनात् तेन तस्य संबन्धाभावादनुपकार्योपकारकत्वात्। तदुपकारे वा धर्मोपकारशक्त्यात्मकस्य धर्मिणो धर्मद्वारेण शद्धात् प्रतिपत्तौ सकलग्रहस्य तदवस्थत्वात्तदुपकारशक्तेरपि ततो भेदेनानवस्थानात्। प्रत्यक्षवद्वस्तुविषयस्य शद्धप्रत्ययस्य स्पष्टप्रतिभासप्रसंगाच्च न शद्धस्य तद्विषयत्वं तथैव वक्तृविवक्षायाः शब्देनाभिधाने विशेषाभावात्। न च तत्र प्रमाणान्तरा वृत्तिरेवाभ्युपगन्तुं युक्ता शद्धात्सामान्यतः प्रतिपन्नायामपि तस्यां विशेषसंश्रयात् प्रमाणान्तरवृत्तेरेव निश्चयात्। ततो वक्तुरिच्छायां बहिरर्थवच्छब्दस्य प्रवृत्त्यसम्भवेऽपि तामेव शब्दो विदधातीति कथं न वांध्यविजृम्भितं, सर्वशब्दानामन्यापोहकारित्वप्रतिज्ञानात्।

इस यथैवका अन्वय पांच या छह पंक्तिके पीछे आने वाले तथैवके साथ है। बौद्धोंकी ओरसे शद्वके द्वारा बहिरर्थका प्रकाश करनेमें इतने दोष दिये जाते हैं कि शद्वके द्वारा बहिर्भूत घट, पट, आदि अर्थोंका प्रकाश होना माना जावेगा तो शद्वके उस वाच्य विषयमें अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो सकेगी। क्योंकि सर्व स्वरूपों करके घट शद्वके द्वारा ही घट अर्थका ज्ञान हो जानेसे अर्थका सर्वांश निश्चय हो चुका है, निश्चय हो चुकने पर पुनः अर्थके किसी अंशमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप समारोप होता नहीं है, जिसको कि दूर करनेके लिये दूसरा प्रमाण उठाया जावे। किसी [illegible] (दूर होना) मान भी लिया जावे तो भी अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना नहीं बनता है। क्योंकि वस्तुके किसी भी एक धर्मका निश्चय हो जाने पर सम्पूर्ण धर्मोंसे तदात्मक हुए धर्मीका भी निश्चय हो जाता है। अतः सम्पूर्ण धर्मोंके ग्रहणका प्रसंग हो जावेगा, कारण कि एक एक धर्मके साथ सभी धर्मोंका तथा धर्मीका अभेद हो रहा है। अन्यथा यानी यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारोंसे मानोगे तो उस धर्मीसे अभिन्न एक धर्मका भी निश्चय हो जाना नहीं बन सकेगा, तादात्म्य सम्बन्धमें यही होता है कि या तो एकके प्रत्यक्ष हो जानेसे सभी तदात्मकोंका प्रत्यक्ष हो जावेगा अथवा जिनका निश्चय नहीं हुआ है उनसे अभिन्न माने गये प्रकृतका भी निश्चय न हो सकेगा। यदि उस धर्मीसे धर्मको भिन्न माना जावे तो धर्मका निश्चय हो जानेपर भी धर्मीका अथवा उसमें रहनेवाले अन्य धर्मोंका निश्चय कर लेना अनिवार्य नहीं रहा। किन्तु लड्डूको जानकर उससे भिन्न थाली या पत्तलके खानेमें जैसे किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती है, तैसे ही भिन्नधर्मका निश्चय हो जानेपर धर्मीमें प्रवृत्ति होना नहीं घटेगा। क्योंकि उस धर्मीके साथ उस धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। सब ही सम्बन्धोंका व्यापक सम्बन्ध उपकार्य उपकारक-भाव है। जन्यजनकभाव, गुरुशिष्यभाव, कार्यकारणभाव, आधार्यआधेयभाव, पतिपत्नीभाव, सह-चरभाव आदि सम्बन्धोंमें प्रतियोगीकी ओरसे अनुयोगीमें उपकार आता है, अथवा दोनोंसे परस्पर दोनोंमें उपकार आते हैं, शिष्यको गुरु पढाता है, सदाचार सिखाता है और शिष्य गुरुकी वैयावृत्त्य करता है, अनुकूल प्रवर्तता है, एक उपकारक है, दूसरा उपकृत है। भेद होनेपर भी व्यवहारमें सहचर सम्बन्ध होनेसे नारदके कहनेसे भिन्न भी पर्वतका ग्रहण हो जाता है। रससे रूपका ज्ञान कर लिया जाता है। किन्तु प्रकृतमें उपकार्य उपकारकभाव न होनेके कारण धर्मका धर्मीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी दशामें धर्मके जान लेनेपर भी भला धर्मीमें प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? यदि उन धर्म धर्मीमें मिथः उपकार माना जावेगा तो हम बौद्ध पूंछेंगे कि धर्मीकी ओरसे धर्ममें उपकार पहुंचाया गया या धर्मकी ओरसे धर्मीमें उपकार पहुंचा है ? बताओ। धर्मके लिये दी गयी उपकार स्वरूप शक्तिसे तदात्मक हो रहे अभिन्न धर्मीकी धर्मके द्वारा शद्वसे प्रतीति मानोगे; तब तो सम्पूर्णरूपसे धर्मीका ग्रहण हो जानारूप दोष वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। अभेद पक्षमें धर्मीके लिये दी गयीं शक्तिओंसे अभिन्न धर्मका ज्ञान हो जानेसे भी यही दोष

होगा। यदि धर्मकी ओरसे आई हुई उस उपकार शक्तिको भी उस धर्मीसे या धर्मीकी ओरसे आई शक्तिको उस धर्मसे भिन्न मानोगे तो यहां भी सम्बन्ध व्यवस्थाके लिये उपकार्य उपकारकभाव मानना पडेगा, फिर भी उपकारककी ओरसे उपकृतमें उपकार पहुंचेगा, वह भी भिन्न पडा रहेगा। सह्य, विन्ध्यके समान सर्वथा भिन्नोंमें सम्बन्धके विना षष्ठी विभक्ति नहीं उतरती है। अतः पुनः उन भिन्नोंको जोडनेके लिये घटकावयवोंकी आकांक्षा बढती ही जावेगी। इस प्रकार भेद माननेपर दोनों पक्षोंमें अनवस्था दोष होगा। अभेद पक्षमें हम दोष दे ही चुके हैं। दूसरी बात यह है कि वस्तुभूत अर्थको जाननेवाले सभी ज्ञानोंका प्रतिभास स्पष्ट होता है। हम बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको ही वस्तुस्पर्शी मानते हैं, वह स्पष्टप्रतिभासी प्रत्यक्ष है। यदि शद्वजन्य ज्ञानका विषय प्रत्यक्षके समान वस्तुभूत माना जावेगा तो शाद्वज्ञानको स्पष्ट प्रतिभास करनेका प्रसंग हो जावेगा। अतः शद्वका विषय वह बहिर्भूत अर्थ नहीं है। यहांतक बौद्धोंने शद्वका वाच्यअर्थ बहिर्भूत घट, पट आदिको न मानकर शद्वके द्वारा विवक्षाका विधान करना माना है। इसपर आचार्य कहते हैं कि जैसे ही शद्वके द्वारा बहिर्भूत वाच्यअर्थको प्रकाश करनेमें आप उक्त दोष उठाते हैं तैसे ही शद्वके द्वारा वक्ताके बोलनेकी इच्छाको कहनेमें भी वे ही दोष आते हैं, कोई अन्तर नहीं है। बौद्धोंने कहा था कि शद्वके उस वाच्यअर्थमें दूसरे प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं ही हो सकेगी सो यह स्वीकार करना उनको युक्त नहीं है। क्योंकि शद्वके द्वारा सामान्यरूपसे प्रतिपत्ति हो जानेपर भी वहां विशेष अर्थोंके जाननेका आश्रय लेनेसे अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनेपर ही उनके द्वारा विशेष, विशेषांशोंका निश्चय हो पाता है अथवा वक्ताकी इच्छामें या उसके विषयमें अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका नहीं होना ही बौद्धोंको नहीं स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि सामान्यरूपसे शद्वके द्वारा इच्छा जान भी ली गयी तो भी विशेष अंशोंको जाननेके लिये अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना घटित हो जाता है। तिस कारण बौद्धोंके मन्तव्यानुसार शद्वके द्वारा बहिर्भूत अर्थके समान वक्ताकी इच्छामें भी प्रवृत्ति होना असंभव है। फिर भी शद्व उस विवक्षाका ही विधान करता है और बहिर्भूत अर्थका विधान नहीं करता है, यह कहते जाना क्यों नहीं निष्फल चेष्टा करना माना जावे? पहिले संपूर्ण शद्वोंको अन्यापोह करनेवालेपनकी प्रतिज्ञा हो जानेसे फिर उसके विपरीत विवक्षाका विधान करनेको कहना निष्फल बकवाद है। अन्योंकी व्यावृत्तिरूप अभावको करनेवाले शद्व भला विवक्षाके विधान करनेवाले कैसे हो सकते हैं? विचारो तो सही। निषेध और विधान तो विरुद्ध हैं।

ननु च विवक्षायाः स्वरूपे संवेद्यमाने शद्धो न प्रवर्तत एव कल्पितेऽन्यापोहे तस्य प्रवृत्तेस्ततोऽन्यापोहकारी सर्वः शद्व इति वचनान्न वान्ध्यविलसितमिति चेत्, स तर्हि कल्पितोऽन्यापोहः विवक्षातो भिन्नस्वभावो वक्तुः स्वसंवेद्यो न स्याद्भावान्तरवत् तस्य तत्स्वभावत्वे वा संवेद्यत्वसिद्धेः कथं न संवेद्यमाने तत्स्वरूपे शब्दः प्रवर्तते।

यहां बौद्ध शंकाकारकी पदवीपर आरूढ होकर अपने ऊपर आये हुए दोषोंका प्रतीकार करते हुये अपने मतका अवधारण करते हैं कि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाने जा रहे विवक्षाके स्वरूपमें शब्द नहीं प्रवर्तता है। यों तो शब्द वस्तुस्पर्शी हो जावेगा, किन्तु कल्पना किये गये अन्यापोहमें उस शब्दकी प्रवृत्ति है, तिस कारण सभी शब्द अन्यापोहको करनेवाले हैं ऐसा हम बौद्धोंने कहा है, अतः हमारा कहना निष्फल बकवाद नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछेंगे कि तब तो आपका कल्पना किया गया अन्यापोह विवक्षासे भिन्न स्वभाववाला होता हुआ अन्य घट, पट आदि दूसरे भावोंके समान वह वक्ताके स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय न होगा। क्योंकि जो इच्छास्वरूप ज्ञान, सुख, आदि पदार्थ हैं उनका ही स्वसंवेदन होता है। इच्छासे सर्वथा भिन्न घट, व्यजन, आदि बहिरंग विषय तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय नहीं हैं। यदि उस अन्यापोहको उस विवक्षाका स्वभाव मानोगे तो अन्यापोह स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय हो जावेगा, तब तो इस कारण संवेदन किये गये विवक्षास्वरूप अन्यापोहमें शब्द भला क्यों नहीं प्रवर्तेगा ? फिर अभी आपने निषेध कैसे कहा ?।

ननु च वक्तुर्विवक्षायाः स्वसंविदितं रूपं स्वसंवेदमात्रोपादानं सकलप्रत्यये भावात् कल्पनाकारस्तु पूर्वशब्दवासनोपादानस्तत्र वर्तमानः शब्दः कथं स्वसंवेद्ये रूपे वास्तवे प्रवर्तते नाम यतो वस्तुविषयः स्यादिति चेत्, नैवम्। स्वसंविदितरूपकल्पनाकारयोर्भिन्नोपादानत्वेन सन्तानभेदप्रसंगात्। तथा च सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति व्याहन्यते स्वसंवेदनाद्भिन्नस्य विकल्पस्य स्वसंविदितत्वविरोधात् रूपादिवत्।

फिर भी बौद्ध कहते हैं कि वक्ताकी विवक्षाका स्वसंवेदनसे जान लिया गया स्वरूप केवल इतना ही है कि वह शुद्ध संवेदनको उपादान कारण मानकर उत्पन्न हुआ है। शुद्ध ज्ञानको ही जान लेना स्वसंवेदन अंश है, जो कि सभी ज्ञानों में विद्यमान है, कहीं व्यभिचार नहीं है। किन्तु अन्य कल्पनाके आकाररूप विकल्प तो पहिली मिथ्या शब्दवासनाओंको उपादानकारण मानकर उत्पन्न हो गया है। जैसे कि पहिले घटज्ञानसे उत्तरकालमें पटज्ञान हुआ। यहां पहिला ज्ञान ही उत्तर ज्ञानका उपादान कारण है। घटपना और पटपना ये उपादान और उपादेयके अंश नहीं हैं, कल्पित हैं। अथवा जैसे रुपयासे रुपया बढता है। यहां रुपयोंके सन् सम्वत्, छाप, कढी हुई बेल आदि कारण नहीं हैं, वे तो रुपयोंमें कल्पना किये गये अंश है। अतः उन कल्पित आकारों में प्रवर्त रहा शब्द भला वास्तविक स्वसंवेद्यस्वरूपमें प्रवर्तनेवाला कैसे कहा जावेगा ? जिससे कि वस्तुभूत अर्थोंको विषय करनेवाला हो जावे। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसे तो यदि स्वसंविदित अंशका उपादान शुद्ध संवेदनको माना जावेगा और कल्पित आकारोंकी उपादान कारण पहिली शब्द वासनाओंको माना जावेगा तो इस प्रकार भिन्न भिन्न उपादान हो जानेसे विवक्षामें भिन्न भिन्न सन्तान होनेका प्रसंग होगा। अर्थात् एक ही विवक्षाका आधा अंश स्वसंविदित होगा और आधा अंश संविदित नहीं होगा और तैसा होनेपर

तो आप बौद्धोंके इस सिद्धान्तका व्याघात हो जाता है कि सम्पूर्ण आत्माके ज्ञानोंका अपनेको जानता हुआ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। स्वसंवेदनसे सर्वथा भिन्न पडे हुए विकल्पका स्वसंवेदनसे जानलियागयापन विरुद्ध है। जैसे कि रूप, रस, आदिकका स्वसंवेदनसे भिन्न होनेके कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं होने पाता।

स्वसंवेदनस्यैवोपादानत्वात् कल्पनोत्पत्तौ शद्धवासनायाः सहकारित्वान्न स्वसंविदितस्वरूपात् कल्पनाकारो भिन्नसन्तान इति चेत्, कथमिदानीं ततोसावनन्य एव न स्यादभिन्नोपानत्वात्। तथापि तस्य ततोऽन्यत्वे कथमुपादानभेदो भेदकः कार्याणाम्? व्यतिरेकासिद्धेः कार्यभेदस्योपादानभेदमन्तरेणापि भावात् तस्य तत्साधनतानुपपत्तेः।

यदि फिर भी बौद्ध यों कहें कि कल्पनाकी उत्पत्तिमें स्वयंवेदन ज्ञान ही उपादान कारण है और शद्धवासनायें तो कल्पनाकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण हैं, इस कारण कल्पनाके आकारवाला ज्ञान स्वसंवेदन हुए प्रत्यक्षसे भिन्न सन्तानवाला नहीं है अर्थात् कल्पनाका उपादान कारण वासनायें नहीं है। किन्तु स्वसंवेदनसे जाना गया ज्ञान ही है। निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञानकी धारायें न्यारी न्यारी नहीं है। दोनों ज्ञान एकधारामें ही बहरहे हैं। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन पूंछेंगे कि अब बतलाओ! वह विकल्परूप शाद्धबोध उस स्वसंवेदनसे अभिन्न ही क्यों न मान लिया जावे। जब कि दोनों ज्ञानोंके उपादान कारण भिन्न भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। यदि तो भी उस विवक्षारूप विकल्प ज्ञानको उस स्वसंविदित ज्ञानसे भिन्न मानोगे यानी उपादानके अभेद होनेपर भी कार्योंका भेद मानोगे तो उपादान कारणोंका भेद कार्योंके भेदका साधक भला कैसे हो सकेगा? क्योंकि यहां व्यतिरेक नहीं बनता है। जहां जहां उपादान भेद है वहां वहां कार्यभेद है। जैसे कि घट, पट, पुस्तक आदि, यह अन्वय है और जहां जहां उपादान कारणका भेद नहीं है, वहां कार्यभेद भी नहीं है, यह व्यतिरेक है। यहां अन्वय तो बन जाता है, किन्तु प्रकृतमें व्यतिरेक बिगड जाता है। उपादानके भेद विना भी कार्यका भेद हो जाना आपने मान लिया है। अतः उस उपादान भेदको उस कार्यभेदकी साधकता नहीं बन पाती है।

स्वसंविदिताकारस्य कल्पिताकारस्य चैकस्य विकल्पज्ञानस्य तथाविधानेकाकारविकल्पोपादानत्वाददोषोऽयमिति चेत्, नैकस्यानेकाकारस्य वस्तुनः सिध्यनुषंगात्।

पुनः बौद्ध कहते हैं कि एक विकल्पज्ञानके स्वसंविदित आकार और कल्पित आकारोंका उपादान कारण तो तिस प्रकारके अनेक आकारोंका धारण करनेवाला विकल्प ज्ञान हैं। भावार्थ—सविकल्पक ज्ञानका उपादान कारण निर्विकल्पक ज्ञान नहीं है, किन्तु स्वसंवेदन और कल्पित पदार्थोंका विकल्प करनेवाला अनेक आकारधारी ज्ञान है, अतः यह उक्त दोष हमारे ऊपर नहीं आ सकता है। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो न कहना। क्योंकि यों तो अनेक आकारवाले एक वस्तुकी सिद्धिका प्रसंग हो जावेगा। भावार्थ—स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार आर्हतोंने एक वस्तुमें

अविरुद्ध अनेक आकार स्वीकार कर लिये हैं, किन्तु आप एकान्तवादी बौद्ध एक ज्ञानमें अनेक आकार मानेंगे तो आपको अपसिद्धान्त दोष लागू होगा और जैनमतकी पुष्टि हो जावेगी।

संविदि कल्पिताकारस्य भ्रान्तत्वान्नैकमनेकाकारं विकल्पवेदनमिति चेत् न, भ्रान्तेतराकारस्य तदवस्थत्वात्।

सौगत बोलते हैं कि ज्ञानमें कल्पना किये गये अनेक आकार तो भ्रान्त हैं, अतः एक विकल्पज्ञान वास्तविक अनेक आकारवाला नहीं हुआ। हमारा एकान्त प्रतिष्ठित हो गया और जैनमतकी पुष्टि भी नहीं हो सकी, तुच्छ पदार्थ या अभाव पदार्थ अथवा कल्पित पदार्थोंसे वस्तुमें बोझ नहीं बढता है। आचार्य समझाते हैं कि बौद्धोंको इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि फिर भी भ्रान्त आकार और अभ्रांत आकार ये दो आकार एक विकल्पज्ञानमें वैसेके वैसे अवस्थित मान लिये गये। अर्थात् एक विकल्पज्ञानमें अनेक कल्पित आकारोंकी अपेक्षासे भ्रान्तपना है और उपादान कारण माने गये ज्ञानके अनुसार स्वका संवेदन करना अभ्रान्त अंश है। यों तो फिर भी एक ज्ञानमें दो आकार रहे ही। वही अपसिद्धान्त दोष और जैन-सिद्धान्तकी पुष्टि लागू रही। अथवा ज्ञानमें अभ्रान्त आकार तो है ही और भ्रान्त आकार भी आपने मान लिये हैं। अतः अनेकान्त ही पुष्ट हुआ।

भ्रान्ताकारस्यासत्त्वे तदेकं सदसदात्मकमिति कुतो न सत्त्वसिद्धिः। यदि पुनरसदाकारस्याकिंचिद्रूपत्वादेकरूपमेव विकल्पवेदनमिति मतिः, तदा तत्र शब्दः प्रवर्तत इति न क्वचित् प्रवर्तत इत्युक्तं स्यात्। तथोपगमे च विवक्षाजन्मानो हि शब्दास्तामेव गमयेयुरिति रिक्ता वाचोयुक्तिः।

यदि विकल्पज्ञानमें जाने जारहे भ्रान्त आकारको असत् कहोगे तो भी वह एक ज्ञान सत् और असत् दो धर्मोंसे तदात्मक सिद्ध हुआ। अर्थात् भ्रान्त आकार असत् है और शुद्ध ज्ञान आकार सत् है। फिर भी वही अपसिद्धान्त दोष और अनेकान्तकी पुष्टि बनी रही। इस प्रकार जैनोंके माने गये अनेक धर्मात्मक सत्पनेकी सिद्धि क्यों न होगी? यानी अवश्य होगी। यदि फिर आप बौद्धोंका यह मन्तव्य होवे कि विकल्पज्ञानमें यों ही कोरे दीख रहे असत् आकार किसी भी स्वरूप नहीं हैं, अवस्तु हैं शून्य हैं। अतः वह विकल्पज्ञान एक स्वरूप ही है, अनेकरूप वाला नहीं। तब तो हम जैन यों कहेंगे कि आपके उन कल्पित आकारोंमें शद्ब प्रवृत्ति करता है, इससे यही कहा गया कि शद्ब कहीं भी नहीं प्रवृत्ति करता है यानी आपने शद्बकी प्रवृत्तिके विषय असत् पदार्थ मान लिये हैं और यदि तिस प्रकार शद्बके द्वारा कहीं भी प्रवृत्ति न होना तुम स्वीकार कर लोगे तो विवक्षाओंसे उत्पन्न होरहे सम्पूर्ण शद्ब उन विवक्षाओंको ही समझावेंगे यह तुम्हारे वचनोंकी योजना रीती (खाली) पडेगी। अर्थात् शद्बोंके द्वारा विवक्षाके कहे जानेमें आपके पास कोई युक्ति नहीं है, कोरी बकवाद करना है।

गमयेयुरिति संभावनायां लिङ्प्रयोगात्तामपि माजीगमन्न गीर्बहिरर्थवत् सर्वथा निर्विषयत्वेन तेषां व्यवस्थापनादित्यप्यात्मघातिनो वचनं स्वयं साधनदूषणवचनानर्थक्यप्रसक्तेः।

गमयेयुः यह प्रयोग ण्यन्त गम्लृ धातुसे लिङ् लकारके प्रथम पुरुष सम्बन्धी बहुवचनका रूप है। होय और न भी होय ऐसे संभावना अर्थमें लिङ् लकारका प्रयोग किया गया है। अतः शद्ब भले ही उस इच्छाको भी न समझावें हम बौद्धोंकी इसमें कोई क्षति नहीं है। सभी शद्ब अपने वाच्य बहिरंग अर्थोंसे युक्त नहीं है। इन्द्र, सुमेरु, वन्ध्यापुत्र आदि शद्बोंके वाच्य पदार्थ जैसे यहां कोई नहीं है, अन्यत्र होंगे, इसमें भी कोई विवाद नहीं। वैसे ही सब शद्बोंके सभी प्रकार विषयोंसे रहितपनेकी व्यवस्था कर दी गयी है। इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी अपने आप अपनेको घात करनेवालेका वचन है, क्योंकि यदि शद्ब कुछ भी बहिरंग अर्थोंको नहीं कहेंगे तो बौद्धोंसे बोले गये अपने सिद्धान्तको साधन करनेवाले और अन्य सिद्धान्तोंको दूषण देनेवाले वचनोंके व्यर्थ हो जानेका प्रसंग होगा। यह तो एक प्रकारका आत्मघात है। सार्थक शद्बोंके विना बौद्ध भला स्वयं अपनी भी सिद्धि कैसे कर सकेंगे ?

संवृत्त्या तद्वचनमर्थवदिति चेत् केनार्थेनेति वक्तव्यम् ? तदन्यापोहमात्रेणेति चेत्, विचारोपपन्नेनेतरेण वा ? न तावत् प्रथमपक्षस्तस्य विचार्यमाणस्याकिञ्चिद्रूपत्वसमर्थनात्। विचारानुपपन्नेन त्वन्यापोहेन सांवृतेन वचनस्यार्थवत्त्वे बहिरर्थेन तथाभूतेन तस्यार्थवत्त्वं किमनिष्टं तथा व्यवहर्तुर्वचनाद्बहिः प्रवृत्तेरपि घटनात्।

यदि आप बौद्ध वस्तुतः नहीं किन्तु व्यवहार सत्यपनेसे उन वचनोंको अर्थयुक्त कहोगे यों बोलनेपर तो हम पूंछते हैं कि किस अर्थसे शद्बोंको अर्थयुक्त कह रहे हो ? यह तुमको कहना चाहिये। यदि उस केवल अन्यापोहरूप अर्थ करके शद्बोंको अर्थवान् कहते हो तो हम फिर पूछेंगे कि विचारोंसे युक्त हो रहे अन्यापोह करके या विचारोंसे रहित अन्यापोह करके शद्बको अर्थवान् कहते हो ? बताओ। तिनमें पहिला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उस अन्यापोहका यदि विचार किया जावेगा तो वह तुच्छ पदार्थ किसी भी स्वरूप न पडेगा। इसका हम समर्थन कर चुके हैं। अर्थात् विचारपर आरूढ अन्यापोह कुछ पदार्थ नहीं ठहरता है। ऐसी दशामें शद्ब अन्यापोहको कहते हैं, यानी कुछ भी नहीं कहते हैं। यह तात्पर्य निकला दूसरे पक्षके अनुसार विचारोंसे नहीं परीक्षित किये गये कल्पित, व्यवहार्य, अन्यापोह करके तो वचनको अर्थवान् माना जावेगा, तब तो तिसी प्रकारके होते हुए बहिरंग घट, पट आदि पदार्थों करके उस शद्बको अर्थवान्पना क्या अनिष्ट है ? अर्थात् बहिरंग अर्थोंसे सहित होकर भी शद्ब अर्थवान् हो सकता है, तथा व्यवहारी पुरुषकी वचनद्वारा बहिरंग अर्थोंमें प्रवृत्ति होना भी यों घटित हो जाता है। अतः अभावरूप अन्यापोह या विवक्षाके पक्षको छोडकर शद्बके वाच्य अर्थ बहिरंग घट, पट, आदि और अन्तरंग आत्मा, सुख, ज्ञान, आदि पदार्थ मानने चाहिये।

अन्यापोहे प्रतीते च कथमर्थे प्रवर्तनम् ।
शद्वात्सिध्येज्जनस्यास्य सर्वथातिप्रसंगतः ॥ ४५ ॥

एक बात यह भी है कि बौद्धोंके मतानुसार शद्वके द्वारा अन्यापोह प्रतीत कर लेनेपर इस व्यवहारी प्राणीकी शद्वसे अर्थमें प्रवृत्ति होना भला कैसे सिद्ध होगा ? सभी प्रकारोंसे अतिप्रसंग दोष होगा । वक्ता और गूंगेमें कोई भेद न रह सकेगा । शिष्यको गुरु न पढा सकेगा । लेने देनेका व्यवहार नष्ट हो जावेगा । लिखापढीका व्यवहार टूट जावेगा । कुछ भी कहने पर अंटसंट समझने वाला पुरुष मिथ्याज्ञानी न कहा जाना चाहिये । ये सब अतिप्रसंग हो जावेंगे ।

न ह्यन्यत्र शद्वेन चोद्यतेऽन्यत्र तन्मूला प्रवृत्तिर्युक्ता गोदोहचोदने बलीवर्दवाहनादौ तत्प्रसंगात् ।

शद्वके द्वारा अन्य दूसरे ही पदार्थमें प्रेरणा करायी जावे और उस शद्वको मूल मानकर होने वाली प्रवृत्ति किसी अन्य तीसरे पदार्थमें हो जावे, यह तो कैसे भी युक्त नहीं है । अन्यथा गौको दोहो ! ऐसी वक्ता प्रभु द्वारा प्रेरणा करने पर बैलके लादनेमें या घोडेके घुमाने, भोजन करने आदिमें भी श्रोताकी उस प्रवृत्तिके होनेका प्रसंग हो जावेगा । अर्थात् शद्वका वाच्य तो अन्यापोह माना जावे और शद्वके द्वारा प्रवृत्ति बहिरंग अर्थमें हो जावे यह सर्वथा झूंठ है । यहां तो वही किंवदन्ती प्रसिद्ध होती है कि " कहे खेतकी सुने खलियानकी " प्रष्टाम्रः कोविदारं ब्रूते अर्थात् आमका प्रश्न और अमरूदका उत्तर ।

एकत्वारोपमात्रेण यदि दृश्यविकल्पयोः ।
प्रवृत्तिः कस्यचिद्दृश्ये विकल्प्येप्यस्वभेदतः ॥ ४६ ॥
नैकत्वाध्यवसायोपि दृश्यं स्पृशति जातुचित् ।
विकल्पस्यान्यथा सिद्धयेद् दृश्यस्पर्शित्वमंजसा ॥ ४७ ॥
विकल्प्यदृश्यसामान्यैकत्वेनाध्यवसीयते ।
यदि दृश्यविशेषे स्यात् कथं वृत्तिस्तदर्थिनाम् ॥ ४८ ॥
तस्य चेद् दृश्यसामान्यैकत्वारोपात्क वर्तनम् ।
सौगतस्य भवेदर्थेनवस्थाप्यनुषंगतः ॥ ४९ ॥

यदि बौद्ध लोग निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषय वस्तुभूत दृश्यमें और मिथ्याज्ञानस्वरूप सविकल्पकके विषय विकल्प्यमें एकपनेका आरोप करनेसे किसी भी पुरुषकी स्वलक्षणरूप दृश्यमें प्रवृत्ति

होना मानेंगे, तब तो एकत्वरूप अभेद होनेके कारण विकल्पज्ञानके विषय विकल्प्यमें भी प्रवृत्ति हो जाओ ! दूसरी बात यह भी है कि दृश्य और विकल्प्य दोनों विषयोंका एकपनेके निर्णय करनेवाला ज्ञान भी कभी वस्तुभूत दृश्यको नहीं छूता है। अन्यथा शीघ्र ही विकल्प ज्ञानके भी दृश्यविषयको स्पर्श करनेवालापन सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् जो ज्ञान दोनोंको विषय करेगा, वही तो दोनोंके एकपनेका आरोप कर सकता है। अग्नि और चंचलबालकको एक ज्ञानसे जाननेवाला जीव ही दोनोंके एकत्वका आरोप कर सकता है। अन्य नहीं। यहां प्रकरणमें एकत्वको निर्णय करनेवाला ज्ञान सविकल्पक माना गया है, सविकल्पक तो दृश्यको नहीं जानता है और निर्विकल्पक ज्ञान दृश्यको जानता है, किन्तु विकल्प्यको नहीं जानता है। अतः एकत्वका आरोप करना विषम समस्या है। विकल्पकज्ञान स्वलक्षणोंको विषय करे, तभी समस्या सिद्ध हो सकती है। यदि आप बौद्ध यों कहें कि विकल्प्य और दृश्य विषयोंमें विकल्पज्ञानके द्वारा सामान्यसे एकपने करके निर्णय कर लिया जाता है, तब तो हम पूंछेंगे कि विशेषके अभिलाषी पुरुषोंकी विशेष दृश्य व्यक्तिमें प्रवृत्ति भला कैसे होगी ? बतलाओ ! एकपनेके आरोपसे दृश्य स्वलक्षणका अभी सामान्यरूपसे ज्ञान हुआ है, किन्तु प्रवृत्ति तो विशेष अर्थमें होती है। विशेष रहित कोरे सामान्य अन्न या जलसे क्षुधा, प्यास नहीं मिटती हैं। यदि फिर आप यों कहें कि उस दृश्य सामान्यका दृश्य विशेषके साथ एकत्वारोप हो जानेसे व्यक्तिस्वरूप (खास) दृश्यमें भी प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा होनेपर तो बौद्धकी भला किस अर्थमें प्रवृत्ति हो सकेगी ? यानी कहीं भी प्रवृत्ति न होगी। अर्थात् बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं। उनके यहां वस्तुभूत क्षणिकत्वमें हुए समारोपको दूर करनेके लिये विकल्पक ज्ञानरूप अनुमान भी प्रमाण मान लिया गया है। शेष सभी ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं, वे सामान्यरूपसे पदार्थको जानते हैं, किन्तु सामान्य तो वस्तुभूत नहीं माना गया है। धूमसे जैसे वह्निका ज्ञान सामान्यपनेसे होता है वैसे ही एकत्वारोप कर दृश्यसामान्यसे दृश्यविशेषका जो ज्ञान होगा वह भी सामान्यपनेसे ही होगा। यदि फिर भी सामान्य और विशेषका एकत्वारोप करके विशेषका ज्ञान करोगे तो वह भी सामान्यपनेसे ही जानेगा। अविनाभाव या आरोपके बलसे जो ज्ञान होवेंगे वे सामान्यरूपसे ही विषयोंको जान पावेंगे। क्योंकि विशेषांशोंके साथ व्याप्तिग्रहण या आरोप नहीं हुआ करता है, किन्तु लादना, दोहना आदि प्रवृत्तियां तो विशेष व्यक्तियोंमें होती हैं। यदि सामान्यसे विशेषोंको जाननेके लिये पुनः प्रयास किया जावेगा तो भी सामान्यमुद्रासे ही दृश्यको जान सकोगे। विशेषरूपसे नहीं। इस प्रकार बौद्धोंके ऊपर अनवस्था दोषका भी प्रसंग आया और फल कुछ नहीं निकला। अतः शब्दका वाच्य अर्थ अन्यापोह नहीं है और न कल्पना किया गया विकल्प्य ही है।

नान्यस्माद्व्यावृत्तिरन्यार्थस्य न च व्यावृत्तोऽन्य एवेत्युच्यते घटस्याघटव्यावृत्तेः निवर्तमानस्याघटत्वप्रसंगात्। तथा च न तस्या घटव्यावृत्तिर्नाम तस्माद्यैवान्या व्यावृत्तिः स एव व्यावृत्तः शब्दप्रतिपत्तिभेदस्तु संकेतभेदादेव व्यावृत्तिर्व्यावृत्त इति । धर्मधर्मि-

प्राधान्येन संकेतविशेषे प्रवृत्तेस्तद्वाच्यभेदस्तु न वास्तवोतिप्रसंगात्। तदुक्तं—" अपि चान्योन्यव्यावृत्तिवृत्त्योर्व्यावृत्त इत्यपि। शब्दाश्च निश्चयाश्चैवं संकेतं न निरुन्धते " इति दृश्यविकल्प्ययोर्व्यावृत्योरेकत्वारोपाव्यावृत्तिचोदनेऽपि शब्देन विकल्पेन वा व्यावृत्तेः प्रवृत्तिरर्थे स्यादिति कश्चित्।

यहां बौद्धका एक देशीय वादी यों कहता है कि अन्य अर्थ का पृथग्भूत होना अन्य अर्थोंसे नहीं होता है और जो पृथग्भूत हुआ है वह अन्य ही है, यह भी नहीं कहना चाहिये। अर्थात् अन्य व्यावृत्तियोंसे वास्तविक पदार्थ (स्वलक्षण) व्यावृत्त नहीं होते हैं। व्यावृत्ति तुच्छ वस्तु है और व्यावृत्तियोंसे सहित पदार्थ भी तुच्छ है। घट आदिकी व्यावृत्तियोंसे घटरूपी स्वलक्षण जैसे पृथग्भूत है तैसे ही सजातीय घट या विजातीय पट आदिकी व्यावृत्तियोंसे भी घट पृथक् है। अन्यथा अघट (पट आदि) व्यावृत्तिसे निवृत्त हो रहे घटको पटके समान अघटपनेका प्रसंग होगा और तैसा होनेपर उस घटकी अघट व्यावृत्ति कैसे भी नहीं हुयी। तिस कारण जो ही भिन्न पडी हुयी व्यावृत्ति है वही पदार्थ व्यावृत्त कहा जाता है। अघट व्यावृत्ति, अपट व्यावृत्ति, अपुस्तक व्यावृत्ति इत्यादिक भिन्न भिन्न शब्दोंका होना और भिन्न भिन्न ज्ञानोंका होना तो संकेतग्रहणके भेदसे ही बन जाता है। भावमें क्ति प्रत्यय करके व्यावृत्ति धर्मरूप पदार्थ हो जाता है। और कर्ममें क्त प्रत्यय करनेसे व्यावृत्त धर्मीरूप पदार्थ है। हम धर्म और धर्मीको वास्तविक नहीं मानते हैं। कल्पना किये गये धर्म धर्मीकी प्रधानतासे विशिष्ट प्रकारके इच्छारूप संकेतोंमें या विशेष संकेतोंको निमित्त मानकर प्रवृत्ति हो जाती है। भिन्न भिन्न शब्दोंका भिन्न भिन्न वाच्य मानना तो वास्तविक नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष होगा। भिन्न भिन्न भाषाओंके अनेक शब्द न्यारे न्यारे हैं और अर्थ एक ही है। कचित् शब्द एकसे हैं और अर्थ न्यारे न्यारे हैं। सो ही हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा है कि और भी परस्परमें होनेवाली एक दूसरेकी व्यावृत्ति और वृत्तियां भी ऐसे ही व्यावृत्त हैं। भाव और भाववान् ये सब कल्पना शिल्पीके गढे हुए निस्तत्त्व अंश हैं। व्यवहारमें चालू हो रहे शब्द और उन शब्दोंके अनुसार हुए निश्चय संकेतप्रणालीको रोकते नहीं हैं। भावार्थ—संकेतप्रणालीके अनुसार अनेक शब्द व्यवहारी जीवोंने मनगढंत प्रचलित कर दिये हैं और उन शब्दोंसे जन्य ज्ञान भी वैसे ही है। इस प्रकार शब्दरूप दृश्य और विकल्प्योंकी व्यावृत्तियोंमें एकपनेके आरोपसे व्यावृत्तिकी प्रेरणा करनेपर भी शब्द और विकल्पज्ञान करके व्यावृत्ति हो जानेसे किसीकी वास्तविक स्वलक्षण अर्थमें प्रवृत्ति हो जावेगी। भावार्थ—व्यावृत्ति और व्यावृत्तिके अनुसार अटकलपच्चू दृश्य अर्थमें प्रवृत्ति हो जाती है, इस प्रकार कोई कह रहा है।

तस्य विकल्प्येऽपि कदाचित्प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात्। न हि दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायाविशेषेऽपि दृश्य एव प्रवृत्तिर्न तु विकल्प्ये जातुचिदिति बुध्यामहे।

अब आचार्य समझाते हैं कि उस बौद्धकी दृश्यके समान कभी कभी विकल्प्यमें भी प्रवृत्ति हो जाओ ! दृश्य और विकल्प्यमें कोई अन्तर नहीं है । दृश्य विषय और विकल्प्य विषयमें एकत्वका अध्यवसाय अन्तररहित होते हुए भी दृश्यमें ही प्रवृत्ति होवे, किन्तु विकल्प्यमें तो कभी प्रवृत्ति न होवे, ऐसा नियम करनेमें हम कोई कारण ही समझते हैं, अर्थात् दृश्यका शब्दके द्वारा उच्चारण कर देनेपर वह विकल्प्य हो जाता है । दर्शनके विषय हो जानेसे दृश्य कहा जाता है और विकल्पके विषय हो जानेसे विकल्प्य कहा जाता है अर्थ वही एक है । फिर नहीं समझमें आता कि बौद्ध दृश्यमें ही प्रवृत्ति होना क्यों मानते हैं ?

दृश्येऽर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिस्तस्मार्थक्रियायां समर्थनान्न पुनर्विकल्प्ये तस्य तत्रासमर्थनत्वादिति चेन्नार्थक्रियाऽसमर्थेन विकल्प्येन सहैकत्वाध्यारोपमापन्नस्य दृश्यार्थक्रियासमर्थत्वैकान्ताभावात् ।

बौद्ध जो ऐसा कहते हैं कि निर्विकल्पक दर्शनसे जानने योग्य स्वलक्षणरूप दृश्यमें अर्थक्रियाके इच्छुक जीवोंकी प्रवृत्ति होती है, कारण कि अर्थक्रिया करनेमें वह दृश्य ही समर्थ है, किन्तु फिर विकल्प्यमें गोदोहन, भारवहन, तृप्ति, पिपासानिवृत्ति, पाक आदि अर्थक्रियाओंके अभिलाषी जीवोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि गो, अन्न, जल, अग्निके विकल्पज्ञानोंका विषय असत् पदार्थ है वह असत् पदार्थ उन अर्थक्रियाओंको करनेमें समर्थ नहीं है। अतः विकल्प्यमें जीवोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है । सो ऐसा पक्ष कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि अर्थक्रिया करनेमे असमर्थ माने गये विकल्प्यके साथ एकपनेके अध्यारोपको प्राप्त हुए दृश्यका एकान्तरूपसे अर्थक्रिया करनेमें समर्थपनेका अभाव है । अर्थात् विकल्प्य और दृश्यका एकपना आपने मान लिया है तो विकल्प्यके धर्म दृश्यमें भी आये विना न रहेंगे । जब विकल्प्य अर्थक्रियाओंको नहीं कर सकता है तो उसके साथ एकमेक हो रहा दृश्य भी अर्थक्रियाओंको न कर सकेगा । अस्पृश्य शूद्र मनुष्यके साथ यदि रोटी बेटी व्यवहार नहीं है तो उसमें मिले हुए अन्य व्यक्तियोंके साथ भी त्रैवर्णिकोंका वह व्यवहार नहीं हो सकता है ।

स्वतोर्थक्रियासमर्थं दृश्यमिति चेत् तदेकत्वाध्यारोपाद्विकल्प्यमपि । स्वतो न तत्समर्थमिति चेत् तदैक्यारोपाद्दृश्यमपि । तदनयोरेकत्वेनाध्यवसितयोरविशेषात् सर्वथा कचित्प्रवृत्तौ कथमन्यत्रापि प्रवृत्तिर्विनिवार्यते ।

बौद्ध कहते हैं कि दृश्य स्वलक्षण तो स्वयं आपसे आप ही अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है । अब आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा कहोगे तो उस दृश्यके साथ एकत्वाध्यारोप हो जानेसे विकल्प्य अर्थ भी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ हो जाओ ! फिर भी बौद्ध कहें कि विकल्प्य अर्थ तो स्वतः अपनी गांठसे उन अर्थक्रियाओंको करनेमें समर्थ नहीं है, ऐसा कहनेपर तो हम कह देवेंगे कि निकम्मे विकल्प्यके साथ एकत्वारोप हो जानेसे दृश्य स्वलक्षण भी अर्थक्रियाओंको न कर सकेगा।

तिस कारण एकपनेसे निर्णीत किये गये दृश्य और विकल्प्य इन दोनोंमें सभी प्रकारसे कोई विशेषता नहीं है। फिर भी पक्षपातवश किसी दृश्यमें ही प्रवृत्ति होना मानोगे तो दूसरे विकल्प्यमें भी प्रवृत्ति होनेका विशेषरूपसे निवारण भला कैसे कर सकते हो ? अर्थात् नहीं। तब तो विकल्प्य अर्थमें भी प्रवृत्ति अवश्य हो जावेगी। कोई रोकनेवाला नहीं है।

न चानयोरेकत्वाध्यवसायः सम्भवति दृश्यस्याध्यवसायाविषयत्वात् अन्यथा विकल्पस्य वस्तुसंस्पर्शित्वप्रसंगात्। न च परमार्थतो दृश्यमविषयीकुर्वन् विकल्पो विकल्प्येन सहैकतयाध्यवस्यति नामातिप्रसंगात्।

और एक बात यह भी है कि उन दृश्य और विकल्प्योंके एकपनेसे आरोप करनेका निर्णय होना भी तो नहीं सम्भवता है, क्योंकि निश्चय ज्ञान तो बौद्धोंके मतानुसार वस्तुभूत दृश्यको नहीं जान पाता है। अन्यथा यानी दृश्य विषयका भी निश्चय ज्ञान कर लेना मान लोगे तो विकल्पज्ञानको वस्तुके भले प्रकार स्पर्श कर लेनेवालेपनका प्रसंग होगा। जोकि बौद्धोंने इष्ट नहीं किया है और जब तक विकल्पज्ञान वास्तवरूपसे दृश्यस्वलक्षणको विषय न कर पायेगा। तब तक विकल्प्यके साथ दृश्यका एकपनेरूपसे निर्णय नहीं कर सकेगा। दोनोंको जाने विना उन दृश्य और विकल्प्य दोनोंमें एकपनेका आरोप नहीं हो सकता है। युवा सिंहः, पुरुषो यष्टिः, शूर वीर पुरुषमें सिंहपनेका या पुरुषमें तत्र स्थित होनेके कारण यष्टिपनेका आरोप हो जाता है। क्योंकि दोनों पदार्थोंको ज्ञान द्वारा जान लिया गया है। यदि दोनोंको या दोनोंमेंसे एकको जाने विना ही एकपनेका आरोप कर-लिया जावे तो आकाश और परमाणु या आकाश और घटका अथवा परमाणु और पुस्तकका भी एकपनेसे आरोप हो जाना चाहिये यह अतिप्रसंग दोष होगा। लोकमें लठियावाले लठिया कह देते हैं।

ननु च दृश्यं विकल्पस्यालम्बनं मा भूदध्यवसेयं तु भवतीति युक्तं तद्विकल्प्येन सहैकतयाध्यवसायत्वमिति चेत्, तर्हि न विशेषरूपं तेनैक्येनाध्यवसीयते सामान्याकारस्यैवाध्यवसेयत्वात्।

यहां बौद्ध अपने सिद्धान्तके पुष्ट हो जानेकी सम्भावना करते हुए फिर कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषयभूत दृश्य स्वलक्षण भलें ही विकल्पकज्ञानका आलम्बन कारण न होवे, किन्तु निर्णय करने योग्य तो हो जाता है, यह युक्त है। तिस कारण अध्यवसाय करनेवाला विकल्पक-ज्ञान विकल्प्यके साथ दृश्य पदार्थका एकपनेरूपसे निर्णय कर लेता है। जिस विषयको निमित्त मानकर ज्ञान उत्पन्न होता है वह आलम्बन कारण है, किन्तु ज्ञान जिस सद्भूत या असद्भूत पदार्थको जान लेता है वह अध्यवसेय कहा जाता है। निर्विकल्पक ज्ञानमें ही दृश्य पदार्थ आलम्बन पडता है, विकल्पकज्ञानमें नहीं। सीपमें हुए सीपके ज्ञानका आलम्बन और विषय दोनों सीप ही है, किन्तु सीपमें हुए चांदीके ज्ञानका अध्यवसेय विषय चांदी है। सीपस्वरूप स्वलक्षण भ्रान्तिज्ञानका

कारण नहीं है। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तब तो हम कहेंगे कि असाधारण विशेषरूप दृश्य उस विकल्प्यके साथ एकपनेसे नहीं जाना गया है। दृश्यके सामान्य आकारको ही एकपने करके निर्णय होने योग्यपना है। भावार्थ—अध्यवसायी ज्ञानसे जो दृश्य एकता करनेके लिये जाना गया है, वह दृश्य सामान्यरूपसे ही निर्णीत हुआ है और यहां प्रवृत्तिके लिये दृश्य विशेषकी आवश्यकता है। बौद्धोंके घरमें विशेषरूपसे दृश्य पदार्थको जाननेका अधिकार तो निर्विकल्पक प्रत्यक्षको ही प्राप्त है। ऐसी दशामें विकल्प्यके साथ विशेषरूप दृश्यका एकत्वारोप होना असम्भव है।

दृश्यसामान्येन सह विकल्प्यमेकत्वेनाध्यवसीयत इति चेत्, कथं दृश्यविशेषे तदर्थिनां प्रवृत्तिः स्यात्। दृश्यविशेषस्य दृश्यसामान्येन सहैकत्वारोपात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत्, केदानीं सौगतस्य प्रवृत्तिरनवस्थानात्। सुदूरमप्यनुसृत्य विशेषेऽध्यसायासम्भवात्।

आप बौद्ध यदि दृश्य सामान्यके साथ विकल्प्यका एकपनेसे निर्णय होना कहोगे, तब तो बतलाओ कि उस अर्थके या अर्थक्रियाके अभिलाषी जीवोंकी भला दृश्यविशेषमें प्रवृत्ति कैसे होगी? दृश्यसामान्यको जानकर दृश्यविशेषमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अन्यथा घटको जानकर पटमें भी प्रवृत्ति होने लग जावेगी। यदि तुम बौद्ध यों कहो कि हम एकत्वके आरोप करनेपर उतारू हो गये हैं, विकल्प्यके साथ दृश्य सामान्यका एकत्वारोप हो जावेगा और दृश्यसामान्यके साथ पुनः दृश्यविशेषका एकत्वारोप कर लिया जावेगा, इस कारण उस विशेष दृश्यमें अभिलाषी जीवकी प्रवृत्ति होना बन जावेगा। ऐसा कहनेपर तो बतलाओ कि अब तुम बौद्धोंकी प्रवृत्ति भला कहां हो सकेगी? यानी अनवस्था दोष हो जानेके कारण बौद्ध किसी भी अर्थको प्राप्त करनेके लिये प्रवृत्ति न कर सकेंगे। बहुत दूरतक भी अनुसरण करते हुये पीछे पीछे चलकर विशेषोंमें निर्णय होना असम्भव है। भावार्थ—विकल्पज्ञानोंसे जो कोई आरोप होते हैं। वे सामान्यरूपसे ही होंगे। विशेष अंशोंको तो प्रत्यक्ष ही जान सकता है, किन्तु वह भिन्न भिन्न पदार्थोंमें एकपनेका आरोप नहीं कर सकता है। दृश्यसामान्यके साथ दृश्यविशेषका जो एकत्वारोप होगा वह सामान्यपनेसे ही होगा। फिर वहां भी सामान्यके साथ विशेषदृश्यका तीसरे विकल्पक ज्ञानसे एकत्वारोप करोगे तो यह भी एकत्वारोप सामान्यपनेसे हुआ। पुनः इस सामान्यके साथ दृश्य विशेषका चतुर्थ विकल्पज्ञानसे एकत्वारोप किया जावेगा। वहां भी यही सामान्यपनेसे आपत्ति (झंझट) खडी होगी। यह अनवस्थादोष हुआ। दूर जाकर भी विशेषोंमें निर्णय और प्रवृत्ति करनेका अवसर प्राप्त नहीं होगा। प्रत्यक्षके अतिरिक्त सम्पूर्ण परोक्षज्ञान या मिथ्याज्ञान सामान्यरूपसे ही पदार्थोंको जानते हैं। विकल्पज्ञान परोक्ष है। बौद्ध मतानुसार तो वह मिथ्याज्ञान है।

ततोऽर्थप्रवृत्तिमिच्छता शब्दात्तस्य नान्यापोहमात्रं विषयोऽभ्युपेयो जातिमात्रादिवत्।

तिस कारण वास्तविक अर्थमें शब्दके द्वारा प्रवृत्ति होनेको चाहनेवाले बौद्धों करके उस

शद्वका वाच्य विषय केवल अन्यापोह ही नहीं स्वीकार करना चाहिये। जैसे कि बौद्धोंने अन्यमतियों करके मानी गयी केवल जातिको या अकेली व्यक्तिको अथवा अकेली आकृतिको ही शद्वका वाच्य नहीं स्वीकार किया है; तथा निरपेक्ष होकर वे दोनों या तीनों भी शद्वकी वाच्य नहीं हैं।

सर्वथा निर्विषयः शद्धोस्त्वित्यसंगतं, वृत्त्यापि तस्य निर्विषयत्वे साधनादिवचन-व्यवहारविरोधात्।

यदि कोई बौद्ध यों कहें कि शद्वका विषय कुछ भी न माना जावे। अन्यापोह, विवक्षा, जाति, आदि कोई भी कल्पित या वस्तुभूत पदार्थ शद्वके विषय नहीं हैं। अतः सभी प्रकारोंसे शद्व निर्विषय ही होओ! सो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि व्यवहार या संवृत्तिसे भी उस शद्वको निर्विषय माना जावेगा, तब तो पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, इन तीन अंगवाले हेतुका बोलना अथवा अपने पक्षको साधनेवाले और परपक्षको दूषण देनेवाले वचनोंके व्यवहार करनेका विरोध हो जावेगा। बौद्धोंके ग्रन्थ भी निरर्थक हो जावेंगे। शद्व अपने वाच्य विषयोंसे रहित हैं यह वाक्य यदि निरर्थक है तो संपूर्ण शद्वोंके वास्तविक वाच्य सिद्ध हो जावेंगे। अन्यथा शद्वोंकी निर्विषयताको साधनेके लिये तुम्हारे पास कोई उपाय नहीं है।

किं पुनरेवं शद्वस्य विषय इत्याहः—

तो फिर आप जैन ही इस प्रकार बतलाइये कि शद्वका वाच्य विषय क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द महान् आचार्य उत्तर कहते हैं।

जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु ततोऽस्तु ज्ञानगोचरः।
प्रसिद्धं बहिरन्तश्च शाद्धव्यवहृतीक्षणात्॥ ५०॥

तिस कारण घट, पट, पुस्तक आदि बहिरंग अर्थ तथा आत्मा, ज्ञान, मन, आदि अंतरंग अर्थ ये सब जाति और व्यक्ति स्वरूप वस्तुयें ज्ञानके विषय हो रही हैं, ऐसा ही लोकमें प्रसिद्ध है। इस कारण शद्वजन्य ज्ञानके विषय भी जाति, व्यक्ति स्वरूप वस्तु मानना चाहिये। उस वस्तुमें ही शद्वजन्य व्यवहार होता हुआ देखा जाता है। भावार्थ—सामान्य और विशेष अंशोंसे तदात्मक हो रहा पदार्थ ही शाद्वबोधका विषय है। जो कि प्रत्येक ज्ञानका विषय होता दीख रहा है।

यद्यत्र व्यवहृतिमुपजनयति तत्तद्विषयं यथा प्रत्यक्षादिजातिव्यक्त्यात्मके वस्तुनि व्यवहृतिमुपजनयत्तद्विषयं तथा च शब्दः। इत्यत्र नासिद्धं साधनं बहिरन्तश्च व्यवहृतेः सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि समीक्षणात्। तथा च यत्रैव शद्वात् प्रतिपत्तिस्तत्रैव प्रवृत्तिः तस्यैव प्राप्तिः प्रत्यक्षादेरिवेति सर्वं सुस्थम्।

जो ज्ञान जिस विषयमें व्यवहारको उत्पन्न करा देता है वह उसको विषय करनेवाला माना जाता है, जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण जाति, व्यक्ति स्वरूप वस्तुमें व्यवहारको

पैदा कराते हुए उस वस्तुको विषय करानेवाले माने गये हैं, तैसे ही शद्ब भी ऐसा है । अतः जाति, व्यक्ति, स्वरूप वस्तुको विषय करनेवाला है । इस प्रकार पांच अवयववाले इस अनुमानमें दिया गया व्यवहारको उत्पन्न करानेवाला हेतु असिद्ध नहीं है, यानी पक्षमें रह जाता है, बहिरंग और अन्तरंग सामान्यविशेषात्मक पदार्थोंमें शद्बसे जन्य व्यवहार भले प्रकार देखा जाता है । तथा दूसरी बात यह है कि जिस ही विषयमें शद्बसे प्रतिपत्ति होवे और उसीमें प्रवृत्ति होवे, तथा उस ही विषयकी प्राप्ति होवे तो वह शद्बका विषय अवश्य माना जाता है । जैसे कि बह्निको जाननेवाले प्रत्यक्ष या अनुमान आदि प्रमाणोंसे प्रतिपत्ताकी बह्नि विषयमें ही प्रतिपत्ति हुयी है और अग्निको ही लेनेके लिये प्रवृत्ति हुयी है, तथा अग्नि पदार्थ ही प्राप्त किया गया है, अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय अग्नि ही मानी जाती है । तैसे ही शद्बका वाच्य विषय भी प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति, और प्राप्ति की एकविषयताको लेता हुआ सामान्यविशेषात्मक वस्तु है । प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति, और प्राप्तिकी एकविषयता ही ज्ञानका सम्वादीपन है । इस प्रकार सभी व्यवस्था भले प्रकार स्थित हो जाती है, कोई दोष नहीं आता है ।

सत्ताशद्बाद्द्रव्यत्वादिशद्बाद्वा कथं सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि प्रतिपत्तिरिति चेत्, सद्विशेषोपहितस्य सत्सामान्यस्य द्रव्यादिविशेषोपहितस्य च द्रव्यत्वादिसामान्यस्य तेन प्रतिपादनात् । तदनेनाभावशद्बादद्रव्यत्वादित्वाद्वा तत्र प्रतिपत्तिरुक्ता भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य, गुणादिस्वभावत्वाच्चाद्रव्यत्वादेः भावोपहितस्याभावस्याभावशद्बेन गुणाद्युपहितस्य चाद्रव्यत्वादेरद्रव्यत्वादिशद्बेन प्रकाशनाद्वा । न च भावोपहितत्वमभावस्यासिद्धं सर्वदा घटस्याभावः पटस्याभाव इत्यादि भावोपाधेरेवाभावस्य प्रतीतेः । स्वातन्त्र्येण सकृदप्यवेदनात् ।

कोई पूंछता है कि सम्पूर्ण शद्बोंका अर्थ जाति और व्यक्ति स्वरूप माना जावेगा तो केवल जातिवाचक सत्ताशद्ब या द्रव्यत्व, गुणत्व, आदि शद्बोंसे कैसे सामान्यविशेष स्वरूप वस्तुमें प्रमिति होवेगी ? ऐसा कहनेपर तो हम जैन यों उत्तर देते हैं कि विशेष सत् माने गये घट, रूप, आदिकी उपाधियोंसे युक्त सत्तासामान्यका सत्ता शद्बसे प्रतिपादन होता है और उन द्रव्यत्व, पदार्थत्व, गुणत्व, आदि शद्बोंके द्वारा विशेष द्रव्य, गुण आदि विशेषणोंसे निष्ठत्व सम्बन्ध करके युक्त द्रव्यत्व, गुणत्व, पदार्थत्व आदि सामान्योंका निरूपण होता है । भावार्थ—विशेषोंसे रहित केवल सामान्य खरविषाणके समान अवस्तु है और सामान्यसे रहित कोरा विशेष भी अश्वविषाणके समान असत् पदार्थ है, यानी कोई वस्तुभूत नहीं है । वैशेषिकोंके समान सामान्यसे रहित विशेषोंको और विशेषसे रहित सामान्यको हम जैन इष्ट नहीं करते हैं । जहां सामान्य है, वहां विशेष अवश्य है । अतः जातिवाचक शद्ब भी विशेषोंसे विशिष्ट (आधेयता सम्बन्धसे) सामान्यको ही कहते हैं । वहां सामान्यका प्रधानरूपसे और विशेषोंका गौणरूपसे प्ररूपण हो जाता है । विशेष विशेषण हो

जाता है और सामान्य विशेष्य बन जाता है। भूतलमें संयोग सम्बन्धसे घट रहता है, किन्तु निष्ठत्व सम्बन्धसे घटमें भी भूतल रह जाता है। तैसे ही विशेषपदार्थस्वसमवेतत्वसम्बन्धसे सामान्यधर्ममें रह जाता है। तथा तिसी कारण इस उक्त कथनसे अभावको कहनेवाले अभाव शद्ब या अद्रव्यत्व, अगुणत्व, अथवा असत्ता आदि शद्बोंसे भी उन सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें ही प्रतिपत्ति होना कह दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि वैशेषिकोंके समान जैन तुच्छ अभाव पदार्थको नहीं मानते हैं, अभावपदार्थ अन्यभावरूप पड जाता है। जैसे कि घटको नहीं देखते हुए केवल भूतलका दीख जाना ही घटका अनुपलम्भ है तैसे ही घटका अभाव भी रिक्त (रीता) भूतल स्वरूप है। अनुपलम्भ यानी प्रकृतपदार्थका ज्ञान न होकर अन्य अप्रकृतका ज्ञान हो जाना तो ज्ञानका अभाव है। और रीता भूतलस्वरूप घटाभाव ज्ञेयका अभाव है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टांत सम हैं। अद्रव्यत्वशद्बसे गुण, कर्म आदि स्वभावोंका प्रतिपादन होता है। पर्युदास वृत्तिसे अब्राह्मणका अर्थ क्षत्रिय वैश्य आदि स्वरूप हो जाता है। अद्रव्यत्व यानी द्रव्यरहितपना गुणरूप है। अगुणत्व, अकर्मत्व ये द्रव्यरूप हो जाते हैं। इस प्रकार भावरूप विशेषणोंसे युक्त हो रहे अभावका अभाव शद्बकरके अथवा गुण, कर्म आदि उपाधियोंसे तदात्मक युक्त गुण आदिकका अद्रव्यत्व आदि शद्बोंकरके प्रकाशन (वाचन) होता है। स्वतन्त्र तुच्छाभाव कोई वस्तु नहीं है। अभाव पदार्थको भाव विशेषणोंसे सहितपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि घटका अभाव, पटका अभाव, पुस्तकका अभाव इत्यादिक भावरूप उपाधियोंसे युक्त ही अभाव की सदा प्रतीति हो रही है। स्वतन्त्रतासे कोरा अभाव ही अभावतत्त्व एकबार भी आजतक नहीं जाना गया है। अर्थात् न्यायवेत्ताओंके यहां शाद्बबोध करते समय प्रथमाविभक्त्यन्त पदका अर्थ मुख्य विशेष्य होता है और शेष विभक्तिवाले पदार्थ उसके विशेषण होजाते हैं। घटका अभाव है यहां अभाव विशेष्य है और घटका पटका ये सब उसके विशेषण हैं, अतः निर्णीत हुआ कि भावोंसे युक्त अभावोंका अभावशद्बसे प्रतिपादन होता है स्वतन्त्र तुच्छ अभाव कोई वस्तु नहीं, जिसका कि वैशेषिकोंके अनुसार अभाव शद्बसे प्रतिपादन हो सके।

तथैवाद्रव्यं गुणादिरजीवो धर्मादिरिति गुणाद्युपाधेरद्रव्यत्वादेः सुप्रतीतत्वात् न तस्य तदुपहितत्वमसिद्धं तथा प्रतीतेरबाधत्वात्।

तिस ही प्रकार अद्रव्य यह गुण, पर्याय, या गुण, कर्म आदि स्वरूप है और अजीव यह धर्म, अधर्म आदि स्वरूप है। इस कारण अद्रव्यशद्बसे गुण आदि उपाधियों (विशेषणों) की तथा अजीव शद्बसे धर्म, पुद्गल आदि द्रव्योंकी भले प्रकार प्रतीति हो रही है। अभावको कहने वाले और नञ् समाससे युक्त अद्रव्यत्वको उन गुण, कर्म आदि उपाधियोंसे सहितपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि तिस प्रकार गुण कर्मरूप अद्रव्य है। पुद्गल, धर्म आदि स्वरूप अजीव है, इन प्रतीतियोंका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। बाधारहित प्रतीतिओंसे पदार्थोंकी सिद्धि हो जाती है।

एतेन सत्सामान्यस्य विशेषोपहितत्वं द्रव्यत्वादिसामान्यस्य च द्रव्यत्वादिविशेषोपहितत्वमसिद्धं ब्रुवाणः प्रत्याख्यातः, सतां विशेषाणां भावः सत्ता द्रव्यादीनां भावो द्रव्यादित्वमिति सत्तादिसामान्यस्य स्वविशेषाश्रयस्यैव प्रत्ययाभिधानव्यवहारगोचरत्वात् । सदुद्रव्यं सुवर्णं वानयेत्युक्ते तन्मात्रस्यानयनादर्शनात् स्वविशेषात्मन एव सदादिसामान्यस्य तद्गोचरत्वं प्रतीतिसिद्धम् । सदादिविशेषमानयेति वचने तस्य सत्त्वादिसामान्यात्मकस्य व्यवहारगोचरत्ववत् । ततः सूक्तं सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः शब्दगोचरत्वम् । तथा शब्दव्यवहारस्य निर्बाधमवभासनात् ।

इस कथन करके सत्तासामान्यका सत्विशेषोंसे सहितपना और द्रव्यत्व, गुणत्व आदि जातियों का विशेषद्रव्यपना, गुणपना आदि उपाधियोंसे सहितपना असिद्ध है। इस प्रकार कहने वाले वैशेषिक मतका खण्डन हो गया समझ लेना चाहिये । घट, पट, रूप, रस, उत्क्षेपण, भ्रमण आदि विशेष सत्पदार्थोंका भाव ही तो सत्ता है । अनेक सत् पदार्थोंको कहनेवाले सत् शब्दसे भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करने पर सत्ता शब्द बनता है । पृथ्वी, जल, तेजः या जीव, पुद्गल आदि विशेष द्रव्योंके भावको द्रव्यत्व कहते हैं। जो विशेषोंका भावरूप सामान्य है वह उन विशेषोंसे युक्त अवश्य है । घोडे, पदाति आदिके समुदायरूप सेनामेंसे घोडे आदि संपूर्ण विशेषोंको पृथक् कर दिया जावे तो सेना कुछ भी नहीं रह जाती है । तैसे ही गुणत्व सामान्य भी गुणविशेषोंसे और कर्मत्वसामान्य कर्म विशेषोंसे युक्त है, इत्यादि और भी लगा लेना । सत्ता, द्रव्यत्व आदि सामान्य अपने अपने विशेषोंके आश्रय होते हुए ही ज्ञानव्यवहार और शब्दव्यवहारके विषय हो रहे हैं । भावार्थ—विशेषोंसे रहित कोरे सामान्यका न तो ज्ञान होता है और न कथन ही होता है । विशेषोंसे सहित ही सामान्यका जानना और बोलना हो रहा है । सामान्य सत्को या कोरे द्रव्यको अथवा सभी आकृतिविशेषोंसे रहित अकेले सोनेको लाओ ! ऐसा कहनेपर विशेषोंसे युक्त ही द्रव्य, गुण, रूप सत्का या पृथ्वी, घट, आदि विशेषद्रव्योंका तथा रुचक, पांसा, डेली, कटक, कुण्डल, सौ टञ्च, अट्ठानवें टञ्च आदि विशेषोंसे युक्त होरहे नियत सुवर्णका लाना व्यवहारका विषय हो रहा है । केवल कोरे सत्ता, द्रव्य, और सुवर्णका लाना नहीं देखा जाता है । अपने विशेषोंके साथ तादात्म्य रखते हुए ही सत्, द्रव्य, सुवर्ण, आदि सामान्योंका उस व्यवहारमें विषय होकर चलन होना प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहा है । तथा जैसे कि यदि कोई विशेषरूपसे सत्, घट, पट आदिको या विशेषरूपसे पृथ्वी, जलको तथा बाजू, कडे, फांसेको लानेके लिये कहे तब भी केवल विशेषोंका ही लाना नहीं होता है । किन्तु सत्त्व, द्रव्यत्व, सुवर्णत्वरूप सामान्यसे तादात्म्य रखते हुए उन विशेषोंके लानेका व्यवहारमें चलन होता है । अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तुमें तदात्मक ओतपोत हो रहे हैं । एकको छोडकर दूसरा नहीं रह सकता है, न आसकता है । तिस कारण हमने बहुत अच्छा कहा था कि सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु ही सम्पूर्ण शब्दोंका वाच्य विषय है । तिसी प्रकार लोकमें शब्दजन्य

व्यवहारका बाधारहित होकर प्रतिभास हो रहा है। केवल सामान्य या केवल विशेष कोई वस्तु ही नहीं है। अतः उसका शब्दके द्वारा प्रतिपादन भी नहीं होता है।

कथमेवं पञ्चतयी शब्दानां वृत्तिर्जात्यादिशब्दानामभावादिति न शंकनीयं, यस्मात्,–

किसीका कटाक्ष है, जब कि सम्पूर्ण शब्दोंका वाच्य सामान्यविशेषात्मक वस्तु एक ही है तो पूर्वोक्त प्रकार शब्दोंकी पांच अवयवोंमें विभक्त की गयी वृत्ति कैसे घटित होवेगी ? क्योंकि जाति, गुण, क्रिया, संयोगी, और समवायी इन पांच प्रकारके शब्दोंका तो अभाव मान लिया गया है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार किसीको जैनोंके ऊपर शंका नहीं करनी चाहिये, जिस कारणसे कि (क्योंकि)—

तत्र स्याद्वादिनः प्राहुः कृत्वापोद्धारकल्पनाम्।
जातेः प्रधानभावेन कांश्चिच्छब्दान् प्रबोधकान् ॥ ५१ ॥
व्यक्तेः प्रख्यापकांश्चान्यान् गुणद्रव्यक्रियात्मनः।
लोकसंव्यवहारार्थमपरान् पारिभाषिकान् ॥ ५२ ॥

तैसी शंकाके प्रकरणमें स्याद्वादसिद्धान्त रहस्यके वेत्ता आचार्य यों कहते हैं कि सामान्य-विशेषात्मक वस्तुओंके प्रतिपादक संपूर्ण शब्दोंमेंसे कुछ जातिवाचक शब्दोंकी व्यावृत्ति कल्पना करके प्रधानरूप जातिको समझानेवाले किन्हीं गो, अश्व, आदि शब्दोंको जाति शब्द माना जाता है और अन्य न्यारे किये हुए कुछ गुण, द्रव्य, क्रिया, स्वरूप व्यक्तिभूत पदार्थोंका व्याख्यान करनेवाले शब्दोंको लोकव्यवहारके लिये गुणशब्द, द्रव्यशब्द और क्रियाशब्द कहा जाता है, तथा अपने अपने सिद्धान्तानुसार परिभाषा किये गये सम्यग्दर्शन, पीलु, ब्रह्म, स्वलक्षण, सु, बहुव्रीहि आदि अन्य शब्दोंको पारिभाषिक शब्द कहा है। द्रव्यके दो भेदोंको द्रव्यशब्दसे ही ग्रहण कर न्यारा पांचवा भेद पारिभाषिक शब्द हो जाता है सांकेतिक शब्द इसीमें गर्भित हो जाते हैं।

न हि गौरश्व इत्यादिशब्दाज्जातेः प्रधानभावेन गुणीभूतव्यक्तिस्वभावायाः प्रकाशने गुणक्रियाद्रव्यशब्दाद्वा यथोदिताद्व्यक्तेर्गुणाद्यात्मिकायाः प्राधान्येन गुणीभूतजात्यात्मनः प्रतिपादने स्याद्वादिनां कश्चिद्विरोधो येन सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयशब्दमाचक्षाणानां पञ्चतयी शब्दप्रवृत्तिर्न सिध्येत्।

गाय, घोडा, महिष, इत्यादि शब्दोंसे गौण हुयी व्यक्तिके स्वभावरूप जातिका प्रधानपने करके प्रकाश करनेमें अथवा ग्रन्थमें पहिले कहे गये शुक्ल, पाटल, चरण, प्लवन, विषाणी, कुण्डली आदि गुण, क्रिया, और द्रव्यवाचक शब्दोंसे गौण हो रहा है तदात्मक जातिस्वरूप जिनका ऐसी

गुण, क्रिया, द्रव्य, स्वरूप व्यक्तियोंके प्रधानपने करके प्रतिपादन करनेमें हम स्याद्वादियोंको कोई विरोध नहीं है, जिससे कि सामान्यविशेष आत्मक वस्तुको शद्वका विषय बडे बलसे कहनेवाले अनेकान्तवादियोंके यहां व्यवहारमें पांच प्रकारके शद्वोंकी प्रवृत्ति होना सिद्ध न होवे। भावार्थ— सभी शद्वोंका वाच्य अर्थ जाति और व्यक्ति इन दोनोंसे तदात्मक पिण्डरूप हो रही वस्तु है। कहीं जाति प्रधान है और व्यक्ति गौण है, तथा अन्यत्र व्यक्ति प्रधान है, जाति गौण है। हमारे यहां व्यक्ति और जातिका रूप, रसके समान तदात्मक सहचर सम्बन्ध है।

तेनेच्छामात्रतन्त्रं यत्संज्ञाकर्म तदिष्यते।
नामाचार्यैर्न जात्यादिनिमित्तापन्नविग्रहम् ॥ ५३ ॥

तिस कारण वक्ताकी केवल इच्छाके अधीन जो संज्ञा करना है, वह आचार्यों करके नाम-निक्षेप इष्ट किया गया है। नामनिक्षेपका शरीर जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य, परिभाषा आदि निमित्तोंसे युक्त नहीं है। अर्थात् जाति आदिक निमित्तोंकी नहीं अपेक्षा करके वक्ताकी इच्छा मात्रसे किसी भी वस्तुका चाहे जो कोई नाम धर दिया जाता है, वह पहिला नामनिक्षेप है। जैसे कि जातिको निमित्त मानकर विशेष पशुओंमें घोडा शब्द व्यवहृत होता है, किन्तु किसी मनुष्यमें या बन्दूकके अवयवमें अथवा इञ्जनमें घोडा शद्वका व्यवहार करना नामनिक्षेप है। इसी प्रकार काक, शब्द भी जाति के सहारे पक्षी विशेषमें चालू है, किन्तु गले अवयवमें या शीशीकी डाटमें नाम-निक्षेपसे व्यवहारमें आ रहा है। इनके अतिरिक्त भी आप काक, घोडा, पीला आदि नाम चाहे जिस वस्तुका रख सकते हैं।

सिद्धे हि जात्यादिनिमित्तान्तरे विवक्षात्मनः शद्वस्य निमित्तात् संव्यवहारिणां निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नामेत्याहुराचार्यास्ततो जात्यादिनिमित्तं संज्ञाकरणमनादियोग्यतापेक्षं न नाम। केनचित् स्वेच्छया संव्यवहारार्थं प्रवर्तितत्वात्, परापरवृद्धप्रसिद्धेस्तथैवाव्यवच्छेदात्, बाधकाभावात्।

यतः (चूंकि) शद्वके विवक्षास्वरूप निमित्तसे न्यारे जाति, गुण, आदि निमित्तान्तर सिद्धि हो चुके हैं, उन निमित्तान्तरोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ किन्तु विवक्षारूप निमित्तसे व्यवहारियोंके द्वारा जो संज्ञा धर लेना है वह नाम है, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। तिस कारण अनादिकालीन योग्यताकी अपेक्षा रखता हुआ वह जाति, द्रव्य, आदिको निमित्त लेकर संज्ञा कर लेना नामनिक्षेप नहीं है, यह सिद्ध होगया। यानी नामनिक्षेप धर लेनेमें अनादि योग्यता की आवश्यकता नहीं है। और जाति आदि निमित्तोंकी भी अपेक्षा नहीं है। किसी भी पुरुषने अपनी इच्छासे समीचीन व्यवहारके लिये जो कुछ नामनिक्षेपकी प्रवृत्ति कर ली है, सो समीचीन है।

तिस ही प्रकार परवृद्ध (प्राचीन वृद्ध) और अपर (आधुनिक) वृद्धोंकी आम्नाय अनुसार प्रसिद्धिका टूटना नहीं हुआ है तथा इसका कोई बाधक प्रमाण भी नहीं है । अर्थात् भले ही नामनिक्षेप सुमेरुपर्वत, भरतक्षेत्र, नन्दीश्वर द्वीप, आदिमें अनादिसे प्रवृत्त है और कहीं वृद्ध प्राचीन परिपाटीसे मथुरा, पटना, भात, घडी, आदि नाम चले आ रहे हैं, कतिपय नाम अल्प समयके लिये ही धर लिये जाते हैं, किन्तु इसमें अनादि कालके संकेत करनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां तक सूत्रके आदिमें कही गयी दो वार्त्तिकोंके प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है ।

का पुनरियं स्थापनेत्याह;—

फिर दूसरी यह स्थापना क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं;—

वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता ।
सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः ॥ ५४ ॥

कर लिया गया है नाम निक्षेप जिसका ऐसी वस्तुकी उन वास्तविक धर्मोंके अध्यारोपसे यह वही है ऐसी प्रतिष्ठा करना स्थापना निक्षेप माना गया है । वह सद्भाव स्थापना और इतर यानी असद्भाव स्थापनाके भेदसे दो प्रकार है ।

स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृतिः सा चाहितनामकर्मकस्येन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा सोऽयमित्यभिसम्बन्धेनान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामात्रं स्थापनेति वचनात् । तत्राध्यारोप्यमाणेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना मुख्यदर्शिनः स्वयं तस्यास्तद्बुद्धिसम्भवात् । कथञ्चित् सादृश्यसद्भावात् । मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात् ।

ण्यन्त स्था धातुसे युट् और टाप् प्रत्यय करके स्थापना शब्द बनता है । यों जो थापी जावे, सो स्थापना है, इसका अर्थ प्रतिकृति अर्थात् प्रतिबिम्ब मूर्ति (तस्वीर) है । वह स्थापना नाम धर लिये गये और वास्तविक इन्द्रराजा, जिनेन्द्र, जम्बूद्वीप, भारतवर्ष, आदिके तत्पने करके किये गये अध्यारोपसे यह वही है ऐसी प्रतिष्ठा है । इस स्थाप्यस्थापक सम्बन्धसे अन्यकी दूसरे पदार्थमें व्यवस्था कर देना हो जाता है, क्योंकि केवल स्थापना कर देना ही स्थापना है, ऐसा पूर्व ऋषियोंने स्थापनाको भावप्रधान कहा है । तिस स्थापनाके प्रकरणमें वास्तविक पर्यायोंसे परिणमे हुए और स्वर्गोंमें स्थित-भावनिक्षेपसे कहे गये सौधर्म, ईशान इन्द्र आदि हैं, तिनके समान बनी हुयी प्रतिमामें आरोपे हुए उन इन्द्र आदिकी स्थापना करना सद्भाव स्थापना है । किसी अपेक्षासे इन्द्र आदिका सादृश्य यहां विद्यमान है, तभी तो मुख्य पदार्थको देखनेवाले जीवकी तिस प्रतिमाके अनुसार सादृश्यसे स्वयं यह

वही है ऐसी बुद्धि हो जाती है। मुख्य आकारोंसे शून्य केवल वस्तुमें यह वही है, ऐसी स्थापना कर लेना फिर दूसरी असद्भाव स्थापना है। क्योंकि मुख्य पदार्थको देखनेवाले भी जीवकी दूसरोंके उपदेशसे ही यह वही है, इस प्रकार वहां समीचीनज्ञान होता है। असद्भाव स्थापनामें परोपदेशके विना यह वही है ऐसा सम्यग्ज्ञान नहीं होता है। जैसा कि चावलोंमें जिनेन्द्रदेवकी स्थापनाके अवसरपर देखा गया है। यद्यपि अमूर्तभावोंमें भी अमूर्त अन्य भावोंकी स्थापना हो सकती है, किन्तु साधारण बुद्धिवाले जीवोंको उससे प्रतीति होना दुर्लभ है। तभी तो पञ्चपरमेष्ठी भगवान्के असाधारण गुणोंकी गृहस्थ या सामान्य मनुष्यमें स्थापना करना निषिद्ध है। हां! इन्द्र, लौकान्तिक, आदिकी स्थापना कुछ समय तक रागी द्वेषी जनोंमें कर ली जा सकती है। आकाशमें धर्मद्रव्यकी स्थापना करनेका कोई फल नहीं।

सादरानुग्रहकांक्षाहेतुत्वात्प्रतिभिद्यते ।
नाम्नस्तस्य तथाभावाभावादत्राविवादतः ॥ ५५ ॥

वह स्थापना आदर करना, अनुग्रह करानेकी आकांक्षा रखना आदि हेतुपने करके नामनिक्षेपसे न्यारी होजाती है, क्योंकि उस नामनिक्षेपके अनुसार आदर, निरादार, अनुग्रह, निग्रह आदिके तैसे भाव नहीं हैं। इस सिद्धान्तमें मीमांसक, पौराणिक, नैयायिक, श्वेताम्बर आदि किसीका भी विवाद नहीं है। किसी व्यक्तिका नाम महावीर रख देनेसे उसमें वर्धमान स्वामीकी प्रतिमाके सदृश आदर सत्कारके भाव नहीं होते हैं। किन्तु एक सम्राज्ञीकी प्रतिमाके मुखपर काला लेप करनेवाला अपराधी है। सम्राज्ञीके नामको धारण करनेवाली लडकीके मुखपर तो क्या? सम्पूर्ण शरीरपर भी लेप कर देना वैसा अपराध नहीं है। महादेवके उपासक महादेवकी पिण्डीका निरादर करनेसे कुपित होवेंगे, किन्तु महादेव नामक पुरुषको गाली देनेसे क्षुब्ध न होंगे।

स्थापनायामेवादरोऽनुग्रहाकांक्षा च लोकस्य न पुनर्नाम्नीत्यत्र न हि कस्यचिद्विवादोऽस्ति येन ततः सा न प्रतिभिद्यते। नाम्नि कस्यचिदादरदर्शनान्न ततस्तद्भेद इति चेन्न, स्वदेवतायामतिभक्तितस्तन्नामकेऽर्थे तदध्यारोपस्याशुवृत्तेस्तत्स्थापनायामेवादरावतारात्।

लौकिक जनोंका स्थापनामें ही आदर और अनुग्रह करानेकी आकांक्षा रखना है, किन्तु नाममें नहीं, इस विषयमें किसी भी वादीका विवाद नहीं है, जिससे कि वह स्थापना नामनिक्षेपसे भिन्न न होती। यदि कोई यों कहे कि ऋषभ, महावीर, बाहुबली, आदि नामोंमें भी किसीका आदर देखा जाता है, तब तो नामसे स्थापनाका भेद नहीं हुआ। यह तो नहीं कहना, क्योंकि अपने इष्ट देवतामें अत्यन्त भक्तिके वशसे उस नामवाले अर्थमें अतिशीघ्र ही उस देवताकी मूर्त्तिका अध्यारोप (स्थापन) कर लिया जाता है। अतः उस देवताकी स्थापनामें ही आदर उतर आता है, नाममें नहीं।

तदनेन नाम्नि कस्यचिदनुग्रहाकांक्षाशंका व्युदस्ता, केवलमाहितनामके वस्तुनि कस्याचित्कादाचित्की स्थापना कस्यचित्तु कालान्तरस्थायिनी नियता । भूयस्तथा संप्रत्ययहेतुरिति विशेषः ।

तिस कारण इस उक्त कथनसे किसीकी इस शंकाका भी खण्डन हो जाता है कि उस नामवाले व्यक्तिमें किसी भक्तकी अनुग्रह करानेकी आकांक्षा हो जाती है। अर्थात् महावीर नामके पीछे शीघ्र ही महावीरजीकी प्रतिमाका स्मरण होकर उस प्रतिबिम्बसे ही अनुग्रह करानेकी आकांक्षा हुयी है कोरे नामसे नहीं। यहां विशेषता केवल इतनी ही है कि उस नामको धारण करनेवाली वस्तुमें किसी पुरुषके तो कभी कभी होनेवाली कुछ कालतकके लिये स्थापना हो जाती है और किसी पुरुषके बहुत कालतक स्थित रहनेवाली वह स्थापना नियत हो रही है जो कि बहुत बार तिसी प्रकार सम्यग्ज्ञान होनेमें कारण है। अर्थात् चावलोंमें देव शास्त्र गुरुकी अथवा लौकिक कार्योंके लिये सभापति, मन्त्रीपने आदिकी कुछ कालके लिये स्थापना कर ली जाती है। तथा जिन मंदिरमें समवसरणकी प्रतिमामें त्रयोदश गुणस्थानवर्ती तीर्थंकरकी स्थापना बहुत कालतक नियत रहती है।

नन्वनाहितनाम्नोऽपि कस्यचिद्दर्शनेऽञ्जसा ।
पुनस्तत्सदृशे चित्रकर्मादौ दृश्यते स्वतः ॥ ५६ ॥
सोऽयमित्यवसायस्य प्रादुर्भावः कथञ्चन ।
स्थापना सा च तस्येति कृतसंज्ञस्य सा कुतः ॥ ५७ ॥
नैतत्सन्नाम सामान्यसद्भावात्तत्र तत्त्वतः ।
क्वान्यथा सोयमित्यादिव्यवहारः प्रवर्तताम् ॥ ५८ ॥

यहां शंका है कि नहीं धरा गया है नाम जिसका ऐसे भी किसी पदार्थके देखनेपर पुनः शीघ्र ही उसके सदृश चित्रकर्म (तस्वीर) विशेष फल, विशेष पुष्प आदिमें यह वही है, इस प्रकारके निर्णयकी उत्पत्ति अपने आप होती हुयी देखी जाती है और वह किसी अपेक्षासे उसकी स्थापना अवश्य है। ऐसी दशामें जैनोंने नाम किये गये पदार्थकी ही वह स्थापना होती है यह कैसे कहा ? बताओ। आचार्य समझाते हैं कि सो यह शंका करना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि वहां भी परमार्थरूपसे सामान्य नाम विद्यमान है। विशेषपनेसे भले ही न होवे, अन्यथा यानी सामान्यरूपसे भी नामके द्वारा निक्षेप न हुआ होता तो तत् शद्ब और इदम् शद्ब करके यह वही है, इत्यादि व्यवहारोंकी प्रवृत्ति कहां होती ? अर्थात् सर्वनाम शद्बोंसे अथवा अवक्तव्य, अनुभवगम्य आदि शद्बोंसे नामनिक्षेप कर चुकनेपर ही स्थापनानिक्षेपकी प्रवृत्ति मानी गयी है।

नन्वेवं सति नाम्नि स्थापनानुपपत्तेस्तस्यास्तेन व्याप्तिः कथं न तादात्म्यमिति चेन्न, विरुद्धधर्माध्यासात् । तथाहि—

यहां किसीकी शंका है कि ऐसा होनेपर नामके होते हुए ही स्थापना बन सकेगी और नामके न होनेपर स्थापना न बन सकेगी, तब तो उस स्थापनाकी नामके साथ तादात्म्यसम्बन्धरूप व्याप्ति क्यों न मान ली जावे ? ग्रन्थकार बोलते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये, क्योंकि नाम और स्थापनाका विरुद्ध धर्मोंके आरूढ हो जानेसे तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है । तिस हीको स्पष्टरूपसे आचार्य महाराज कहते हैं ।

सिद्धं भावमपेक्ष्यैव स्थापनायाः प्रवृत्तितः ।
तदपेक्षां विना नाम भावाद्भिन्नं ततः स्थितम् ॥ ५९ ॥

जब कि निष्पन्न हुए भावकी अपेक्षा करके ही स्थापनाकी प्रवृत्ति होती है और उस सिद्ध पदार्थकी अपेक्षाके विना नामनिक्षेप प्रवर्त रहा है । तिस कारण सिद्ध हुआ कि परमार्थरूप करके नामनिक्षेप स्थापनानिक्षेपसे भिन्न है ।

किं स्वरूपप्रकारं द्रव्यमित्याह—

स्थापनासे हुए निक्षेपका स्वरूप समझकर किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि तीसरे द्रव्यनिक्षेपका लक्षण और भेद क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं—

यात्स्वतोऽभिमुखं वस्तु भविष्यत्पर्ययं प्रति ।
तद्द्रव्यं द्विविधं ज्ञेयमागमेतरभेदतः ॥ ६० ॥

जो वस्तु भविष्यमें होनेवाली पर्यायके प्रति अपने आप अभिमुख हो रही है, वह द्रव्यनिक्षेप जान लेना चाहिये । आगम और नोआगमके भेदसे वह द्रव्यनिक्षेप दो प्रकारका है ।

न ह्यवस्त्वेव द्रव्यमबाधितप्रतीतिसिद्धं वा, नाप्यनागतपरिणामविशेषं प्रति ग्रहीताभिमुख्यं न भवति । पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थानलक्षणत्वाद्वस्तुनः सर्वथा तद्विपरीतस्य प्रतीतिविरुद्धत्वात् । तच्च द्विविधमागमनोआगमभेदात् प्रतिपत्तव्यम् ।

कोई अवस्तु ही द्रव्य नहीं है किन्तु वस्तु ही निर्बाधप्रतीतियोंसे सिद्ध होता हुआ भविष्यपर्यायरूप करके परिणत होगा । अथवा कोई यों कहें कि भविष्यमें आनेवाले विशेषपरिणामोंके प्रति वस्तु अभिमुखपनेको ग्रहण नहीं करती है, सो भी नहीं कहना क्योंकि पूर्व स्वभावोंको छोडना,

उत्तरवर्ती स्वभावोंका ग्रहण करना और द्रव्यपनेसे स्थित रहना ये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीन वस्तुके लक्षण हैं। क्योंकि सभी प्रकार उन तीन लक्षणोंसे विपरीत किसी भी वस्तुकी प्रतीति होनेका विरोध है। भावार्थ—दौडते हुए बढिया घोडेके समान सभी वस्तुओंमें उत्तरवर्ती स्वभावोंको ग्रहण करनेकी उत्सुकता रहती है। तदनुसार वे भविष्य परिणामोंको अभिमुख होकर ग्रहण करते रहते हैं। तथा वह द्रव्यनिक्षेप आगम, और नोआगम भेदसे दो प्रकारका समझ लेना चाहिये।

आत्मा तत्प्राभृतज्ञायी यो नामानुपयुक्तधीः।
सोऽत्रागमः समाम्नातः स्याद्द्रव्यं लक्षणान्वयात् ॥ ६१ ॥

जीव, सम्यग्दर्शन, आदिके प्रतिपादक शास्त्रोंका जाननेवाला जो आत्मा इस समय उन शास्त्रोंमें उपयोग लगाये हुए ज्ञानवाला नहीं है। अर्थात् जैसे कोई न्यायशास्त्रका विद्वान् भोजन करते समय या वाणिज्य करते समय न्यायशास्त्रोंमें उपयोग लगाये हुए नहीं है, तैसे ही उस आत्माका उपयोग जीवशास्त्रके जाननेमें नहीं लग रहा है, वह यहां सर्वज्ञकी धारावाही आम्नायके अनुसार आगमद्रव्य कहा गया है। द्रव्यके उक्त लक्षणसे अन्वित होनेके कारण यह द्रव्यनिक्षेप है या निक्षेपजनकतावच्छेदकावच्छिन्न द्रव्य है।

अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञायी आत्मागमः कथं द्रव्यमिति नाशंकनीयं द्रव्यलक्षणान्वयात्। जीवादिप्राभृतज्ञस्यात्मनोनुपयुक्तस्योपयुक्तं तत्प्राभृतज्ञानाख्यमनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यस्वभावत्वसिद्धेः।

शास्त्रोंको जाननेवाला किन्तु इस समय उनमें उपयोगरहित हो रहा आत्मा भला आगम-द्रव्य कैसे होगा ? इस प्रकार यहां शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इसमें द्रव्यनिक्षेपका लक्षण अन्वयरूपसे चला जाता है। जीव, ज्ञान, चारित्र, आदिके शास्त्रोंको जाननेवाले किन्तु उस समय उपयोग न लगाये हुए आत्माका आगमद्रव्यनिक्षेपसे व्यवहार होना उपयुक्त है। क्योंकि उस आत्माका भविष्यमें होनेवाले उन उन शास्त्रोंके ज्ञान नामक विशेषपरिणामोंके प्रति अभिमुखताको ग्रहण करनारूप स्वभाव सिद्ध होगया है। " द्रोष्यतीति द्रव्यम " यहां भविष्यकालके द्रवणकी अपेक्षासे द्रव्यशब्द बना है। भावार्थ—आत्माके अनेक गुणोंमें ज्ञान गुण प्रधान है। अतः उपयोगात्मक ज्ञान गुणका उपलक्षण कर उसकी भविष्य पर्यायोंसे आत्मद्रव्यकी परिणति होना द्रव्यनिक्षेप द्वारा कही जाती है।

नो आगमः पुनस्त्रेधा ज्ञशरीरादिभेदतः।
त्रिकालगोचरं ज्ञातुः शरीरं तत्र च त्रिधा ॥ ६२ ॥

आगमद्रव्यका सहायक नोआगमद्रव्य होता है। नोआगमद्रव्य फिर ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त इन भेदोंसे तीन प्रकारका है। उनमेंसे जीवशास्त्र, मोक्षशास्त्र, सम्यक्त्वशास्त्र आदिको जाननेवाले आत्माका शरीर तो ज्ञायकशरीर है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीन कालोंका विषय होता हुआ तीन प्रकार है। वर्तमान और भावी शरीरका अर्थ सुगम है। क्योंकि वह आत्मा वर्तमान शरीरको धारण कर ही रहा है और आगामी भविष्यकालके शरीरको धारण करेगा ही, वे ही भविष्यद्रव्यपनेकी अपेक्षा रखते हुए वर्तमान और भावी शरीर हैं। इनमें तीसरा भूतशरीर च्युत, च्यावित और त्यक्तकी अपेक्षासे तीन प्रकार है। यद्यपि ये भूतकालके परिणाम हैं, किन्तु भूत, भविष्यकी योग्यतारूप [illegible] इनमें धर जाता है। ये शरीर भूतकालमें होते हुए उससे भविष्यकालमें होनेवाले ज्ञानके सहायक बन चुके हैं। नित्य आत्मद्रव्यके किसी परम्पराकी अपेक्षा शास्त्रज्ञान करनेमें फिर भी उपयोगी बन सकेंगे। षष्ठी तिथिको चौथ समझनेवाले किसी पुरुषने पूंछा कि अष्टमी कब है? उत्तरदाताने कहा कि परसों है। प्रश्नकर्त्ता सम्भ्रान्त होकर कहता है कि क्या अष्टमी परसों ही हो गयी। यहां भविष्यमें भूतकालका आरोप है। कार्तिक वदी चतुर्दशीको जैन जन कहते हैं कि वीरनिर्वाण कल दिन प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्तमें होगा। यह भूतमें भविष्यकालका आरोप है तथा क्वचित् द्रव्यनिक्षेप भूतपरिणामोंको भी विषय कर लेता है।

भाविनोआगमद्रव्यमेष्यत्पर्यायमेव तत्।
तथा तद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मभेदभृत्॥ ६३॥
ज्ञानावृत्यादिभेदेन कर्मानेकविधं मतम्।
नोकर्म च शरीरत्वपरिणामनिरुत्सुकम्॥ ६४॥
पुद्गलद्रव्यमाहारप्रभृत्युपचयात्मकम्।
विज्ञातव्यं प्रपञ्चेन यथागममबाधितम्॥ ६५॥

उन उन शास्त्रोंको जाननेवाला जो आत्मा भविष्यमें आनेवाली पर्यायोंकी ओर अभिमुख हो है, उन पर्यायोंसे आक्रान्त हो रहा आत्मा भाविनोआगम द्रव्य है। तथा कर्म और नोकर्म इन दो भेदोंको धारण करनेवाला तीसरा तद्व्यतिरिक्त नोआगम-द्रव्यनिक्षेप है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि भेद करके कर्म अनेक प्रकारका माना गया है। बाईस वर्गणाओंमेंसे कार्मणवर्गणाएं अष्टविध कर्मरूप परिणमसकेंगी। तथा वर्तमानमें शरीरपनारूप परिणतिके लिये उत्साहरहित जो आहार वर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तेजोवर्गणारूप एकत्रित हुआ पुद्गलद्रव्य है वह नोकर्म समझ लेना चाहिये। उक्त विषयोंको विस्तारसे आगमके अनुसार और बाधाओंसे रहित व्याख्यान कर लेना चाहिये। यहां संक्षेपसे कह दिया है।

नन्वनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमयुक्तं, गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति तस्य सूत्रितत्वात्, तदागमविरोधादिति कश्चित्, सोऽपि सूत्रार्थानभिज्ञः। पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तम्। तच्च यदानागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायं च निश्चीयतेऽन्यथानागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविषाणादिवत्। केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचनेऽनागतपरिणामाभिमुखमतीतपरिणामं वानपायि द्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम्। सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन प्रमाणार्पणाद्गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति सूत्रितं क्रमाक्रमानेकान्तस्य तथा व्यवस्थितेः।

यहां कोई शंका कर रहा है कि आप जैनोंने अभी द्रव्यका यह लक्षण कहा कि भविष्यमें आनेवाले विशेष परिणामोंके प्रति अभिमुखपनेको ग्रहण करनेवाला द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्यका लक्षण तो युक्त नहीं है क्योंकि श्रीउमास्वामी महाराजने उस द्रव्यके लक्षणका गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है, यह सूत्र कह दिया है। अतः श्रीविद्यानन्द आचार्यके लक्षणका उस आगमसे विरोध हो गया। इस प्रकार कहनेवाला वह कोई शंकाकार भी सूत्रके अर्थको नहीं समझ रहा है। देखिये! पर्यायवाला द्रव्य होता है इस प्रकार कहनेवाले सूत्रकार उमास्वामी महाराजने तीनों कालमें क्रमसे होनेवाली अनन्त पर्यायोंका आश्रय हो रहा द्रव्य कहा है। वह द्रव्य जब भविष्यमें होनेवाले विशेषपरिणामके प्रति अभिमुख है तब वर्तमानकी पर्यायोंसे तो घिरा हुआ है और भूतकालकी पर्यायोंको छोड चुका है ऐसा निर्णीतरूपसे जाना जा रहा है। अन्यथा खरविषाण, गगनकुसुमके समान भविष्यपरिणामोंके प्रति अभिमुखपना न बन सकेगा। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तथा पूर्वस्वभावोंका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण, और स्थायी अंशोंसे ध्रुवपना, ये द्रव्यकी आत्मा हैं। भविष्यकी अभिमुखता कह देनेसे भूतको धारण कर चुका और वर्तमान पर्यायोंको झेल रहा है, यह तो अनायास कह दिया गया समझ लेना चाहिये। केवल विशेष बात यह है कि नित्य द्रव्यरूप अर्थकी प्रधानतासे कथन करनेपर भविष्यमें आनेवाले परिणामोंकी ओर अभिमुख और अतीत परिणामोंको धारण कर चुका, तथा जो नष्ट नहीं होनेवाला ध्रुव पदार्थ है वह द्रव्य है। इस प्रकार भविष्यपरिणामकी अभिमुखताकी प्रधानतासे निक्षेपके प्रकरणमें तिस प्रकार यह द्रव्यका लक्षण श्रीविद्यानन्द आचार्यने कहा है। किन्तु सूत्रकारने तो पांचवें अध्यायमें अन्यमतिओंसे माने गये द्रव्यलक्षणका खण्डन करके प्रमाणदृष्टिकी अपेक्षा सहभावीगुण और क्रमभावी पर्यायोंवाला द्रव्य होता है, इस प्रकार सूत्र बनाया है। प्रमाणदृष्टिसे तिस ही प्रकार द्रव्यका लक्षण करनेपर अक्रमसे होनेवाले अनेकान्त और क्रमसे होनेवाले अनेकान्तकी व्यवस्था हो जाती है। अर्थात् क्रमसे होनेवाली मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, काला, नीला आदि पर्यायें क्रमानेकान्त है और चेतना, सुखरूप, रस, आदि सहभावी पर्याय रूप अक्रमानेकान्त है, ये सभी द्रव्यके अंश हैं। अर्पणा और अनर्पणासे पदार्थकी सिद्धि हो जाती है।

कुतस्तर्हि त्रिकालानुयायी द्रव्यं सिद्धमित्याहः—

किसीका प्रश्न है तो बतलाओ कि तीनों कालमें अन्वय रखनेवाला द्रव्य कैसे सिद्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं:—

अन्वयप्रत्ययात्सिद्धं सर्वथा बाधवर्जितात् ।
तद्द्रव्यं बहिरन्तश्च मुख्यं गौणं ततोऽपरम् ॥ ६६ ॥

सभी प्रकार बाधकप्रमाणोंसे रहित हुये अन्वय ज्ञानसे वे शरीर आदि बहिरंग और आत्मा स्वरूप अन्तरंग द्रव्य तीनों कालमें ओतप्रोत हो रहे मुख्य द्रव्यसिद्ध हैं तथा उनसे भिन्न आरोपित किया गया गौण द्रव्य है ।

तदेवेदमित्येकत्वप्रत्यभिज्ञानमन्वयप्रत्ययः स तावज्जीवादिप्राभृतज्ञायिन्यात्मन्यनुपयुक्ते जीवाद्यागमद्रव्येऽस्ति । य एवाहं जीवादि प्राभृतज्ञाने स्वयमुपयुक्तः प्रागासंस एवेदानीं तत्रानुपयुक्तो वर्ते पुनरुपयुक्तो भविष्यामीति संप्रत्ययात् ।

" यह वही है, यह वही है " इस प्रकार एकत्वको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान अन्वयज्ञान है, वह ज्ञान जब कि जीव, सम्यग्दर्शन, आदि शास्त्रोंको जाननेवाले किन्तु वर्तमानमें उपयुक्त नहीं ऐसे जीव आगमद्रव्य या सम्यक्त्व आगमद्रव्यरूप आत्मामें तो अवश्य विद्यमान है । क्योंकि जो ही मैं जीव आदिक शास्त्रोंको जाननेमें पहिले स्वयं उपयोगसहित था, वही मैं इस समय उस शास्त्रज्ञानमें उपयोगरहित होकर वर्त रहा हूँ और पीछे फिर शास्त्रज्ञानमें उपयुक्त हो जाऊंगा । इस प्रकार द्रव्यपनेकी लडीको लिये हुए भले प्रकार ज्ञान हो रहा है । अर्थात् एक विद्वान् श्रीत्रिलोकसारके अनुसार नन्दीश्वरद्वीपकी रचनाको जान चुका है, किन्तु इस समय अष्टसहस्रीको पढ रहा है। फिर दूसरे दिन नन्दीश्वरद्वीपको जान लेवेगा । इस प्रकार चित्तवृत्तिके अनुसार उपयोगसहितपना और उपयोगरहितपना देखा जा रहा है ।

न चायं भ्रान्तः सर्वथा बाधवर्जितत्वात् । न तावदस्मदादिप्रत्यक्षेण तस्य बाधस्तद्विषये स्वसंवेदनस्यापि विशदस्य वर्तमानपर्यायविषयस्याप्रवर्तनात् ।

देखो, यह समीचीन प्रत्यय भ्रमरूप नहीं है । क्योंकि सभी प्रकार बाधाओंसे रहित है । तहां हम सरीखे साधारण जीवोंके प्रत्यक्ष करके तो उस सम्यग्ज्ञानकी बाधा नहीं होती है । क्योंकि उस सम्यग्ज्ञानके विषयमें वर्तमान पर्यायोंको ही विषय करनेवाले विशद स्वरूप स्वसंवेदनकी भी जब प्रवृत्ति नहीं है तो फिर विचारे स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्षोंकी तो क्या चलेगी। भावार्थ—नित्य द्रव्यको सिद्ध करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी बाधा प्रत्यक्षोंसे नहीं हो सकती है ।

नाप्यनुमानेन तस्य बाधस्तस्य तद्विपरीतविषयव्यवस्थापकस्यासंभवात् । यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके सर्वथार्थक्रियाविरोधात्तल्लक्षणसत्त्वानुपपत्तेरित्यनुमानेन तद्बाध इति चेन्नास्य विरुद्धत्वात्। सत्त्वं ह्यर्थक्रियया व्याप्तं, सा च क्रमयौगपद्याभ्यां ते च कथञ्चिदन्वयित्वेन, सर्वथानन्वयिनः क्रमयौगपद्यविरोधादर्थक्रियाविरहात् सत्त्वानुपपत्तेरिति समर्थनात्।

और अनुमान प्रमाणसे भी उस सम्यग्ज्ञानकी बाधा नहीं होती है, क्योंकि उससे विपरीत होरहे साध्यकी व्यवस्था करनेवाले अनुमानका असंभव है, यानी अनित्यको सिद्ध करनेवाला कोई अनुमान नहीं है। यदि कोई यों अनुमान बनाकर कहे कि जो जो सत् हैं, वे सभी दूसरे क्षणमें नाश होनेवाले क्षणिक हैं, क्षणिकपनेसे रहित नित्यद्रव्यमें तो सभी प्रकारोंसे अर्थक्रिया होनेका विरोध है, अतः अर्थक्रियास्वरूप उस सत्पनेकी उस द्रव्यमें संघटना नहीं हो पाती है, अतः इस अनुमान करके वह प्रत्यभिज्ञान बाधित हो जाता है। आचार्य समझाते हैं कि सो इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये, क्योंकि बौद्धोंका यह अनुमान विरुद्ध है, यानी सत्त्वहेतु विरुद्धहेत्वाभास है। देखिये, सत्त्वकी व्याप्ति अर्थक्रियाके साथ अवश्य है और वह अर्थक्रिया क्रम तथा युगपत्पनेसे होनेवाले परिणामोंके साथ व्याप्ति रखती है और वे क्रम यौगपद्य दोनों कथञ्चित् अन्वयीपनसे व्याप्ति रखते हैं। अर्थात् देवदत्त अपने बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थोंसे रस, रक्त, मांस आदिको क्रमसे बनाता है। गर्भिणी स्त्री अबुद्धि पूर्वक पुरुषार्थसे गर्भाशयमें यथायोग्य कुछ-कुछ बच्चेको बना रही है। स्तनमें दूध बननेके उपयोगी साधन भी बनाये जा रहे हैं, भले ही बच्चेका पुण्य, पाप और पुरुषार्थ भी इसमें कारण होवे, तथा देवदत्त श्वास लेना, नाडी चलाना, रक्तगति कराना, पित्ताग्निके द्वारा अन्न, जल, वात, पित्त, कफ, दोषको पचाना इत्यादि क्रियाओंको बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थोंसे युगपत् कर रहा है। यह सब भी तभी हो सकता है जब कि देवदत्त द्रव्य अन्वयीरूपसे कालान्तरस्थायी होवे। सभी प्रकार अन्वय नहीं रखनेवाले क्षणिक स्वलक्षणके क्रम तथा यौगपद्य होनेका विरोध है। जहां क्रम, यौगपद्य, नहीं, वहां उनसे व्याप्य हो रही अर्थक्रियाका भी अभाव है और अर्थक्रियाके अभाव हो जानेसे उसका व्याप्य सत्त्व नहीं बन सकता है। इस प्रकार हेतुका समर्थन है। अतः सत्त्व हेतु कथञ्चित् अन्वयीपनसे व्याप्ति रखता है। क्षणिकपनसे नहीं। इस प्रकार बौद्धोंके असमीचीन अनुमानसे हमारे द्रव्यसाधक ज्ञानमें कोई बाधा नहीं आती है। जिस क्षणिकत्वकी आप सत्त्व हेतुसे सिद्धि करते हैं वह उससे होती नहीं और सत्त्व हेतुसे जिस कथञ्चित् नित्यानित्यत्वकी सिद्धि होती है वह हमारे द्रव्यनित्यत्वका बाधक नहीं किंतु सहायक ही है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमात्मन्येकत्वप्रत्ययं बाधत इति चेन्न एकत्र सन्ताने तस्य जातुचिदभावात् । नाना सन्तानचित्तेषु तद्दर्शनादेकसन्तानचित्तेषु सद्भाव इति चेन्न अनेकसंतान विभागाभावप्रसङ्गात्। सदृशत्वाविशेषेऽपि केषाञ्चिदेव चित्तविशेषाणामेकसन्तानत्वं प्रत्यासत्तिविशेषात् परेषां नानासन्तानविभागसिद्धौ सिद्धमेकद्रव्यात्मकचित्तविशे-

पाणामेकसन्तानत्वं द्रव्यप्रत्यासत्तेरेव तथा भावनिबन्धनत्वोपपत्तेरुपादानोपादेयभावानन्तर्यादेरपाकृतत्वात् ।

बौद्ध कहते हैं कि अपनी पर्यायोंमें तीनों काल अन्वित रहनेवाले आत्माके एकत्वको विषय करनेवाले ज्ञानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञान बाधक है। अर्थात् भिन्न भिन्न समयोंमें हुए निरन्वय परिणाम हैं, वे सदृश हैं, एक द्रव्यरूप नहीं हैं । केशोंके काट देनेपर पुनः उत्पन्न हुए केशोंमें ये वे ही केश हैं यह ज्ञान, जैसे पहिले केशोंके सदृश ये केश हैं इस सादृश्यप्रत्यभिज्ञानसे बाध्य हो जाता है, अथवा यह वही चूर्ण है जो वैद्यजीने कल दिया था तथा यह वही सहारनपुरसे बम्बईको जानेवाली रेलगाडी है जिससे कि कल इन्द्रदत्त बम्बईको गया था, यहां भी सादृश्यप्रत्यभिज्ञान उन एकत्व प्रत्यभिज्ञानोंको बाधता है । तैसे ही आत्मामें हुए एकत्वके ज्ञानका क्षणिक परिणामोंमें परस्पर होने वाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान बाधक है । इसपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि पूर्वापरपरिणामोंकी एक सन्तानरूप लडीमें वह सादृश्यज्ञान कभी नहीं होता है । यदि आप बौद्ध यों कहें कि देवदत्त, जिनदत्त, चन्द्रदत्त, आदि अनेक सन्तानरूप चित्तों (आत्माओं) में वह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान होता हुआ देखा जाता है, देवदत्त जिनदत्तके सदृश है । जिनदत्तका ज्ञान चन्द्रदत्तके ज्ञानसदृश है। अतः एक देवदत्तकी सन्तानरूप चित्तोंमें भी सादृश्यज्ञानका सद्भाव मानोगे यानी देवदत्तके पूर्वसमयवर्ती ज्ञान और सुखका सादृश्य वर्तमान ज्ञान सुखोंमें है, देवदत्तके अनेक ज्ञान सुख आदिकोंमें अन्वित रहनेवाला कोई एक द्रव्य नहीं है, सो इस प्रकार तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो देवदत्त, जिनदत्त आदिकी न्यारी-न्यारी अनेक सन्तानोंके विभाग न हो सकनेका प्रसंग होगा । भावार्थ—देवदत्तके पूर्वापर परिणाम भी सब सदृश हैं, किसीसे अन्वित नहीं, यानी द्रव्यरूप लडीसे बंधे हुए तदात्मक नहीं हैं और जिनदत्तके भी आगे पीछे होने वाले परिणाम सदृश होते हुए न्यारे-न्यारे पडे हैं, ऐसी दशामें एक एक देवदत्त, जिनदत्त, आदि चित्तकी किन किन परिणामोंसे लडी बनायी जावे ? । चार व्यक्तियोंके पास उसी सन्, मूर्त्ति, लेख, कमूराओंके ठीक समान सौ सौ रुपये हैं उन रुपयोंको इकट्ठा कर दिया जावे तो कौनसा उपाय है जिससे कि वे के वे ही रुपये उनके पास पहुंचे, जो कि उनके पास पहिले थे, अर्थात् कोई उपाय नहीं । तथा न्यारे न्यारे पत्रोंकी छपी हुयी किताबोंमेंसे बीसवां पत्र यदि अन्य वैसी ही पुस्तकमें मिला दिया जावे और उसका बीसवां पत्र इस पुस्तकमें मिला दिया जावे तो इसका निर्णय कैसे किया जावे कि यह पत्र इस पुस्तकका नहीं है, उसका है । इसी प्रकार द्रव्यसम्बन्धको न स्वीकार कर सदृश पदार्थोंमें एक सन्तानपनेको माननेवाले बौद्धोंके यहां सन्तानसांकर्यके निवारणका कोई उपाय नहीं है। अतः जिनदत्त इन्द्रदत्त आदि अनेक सन्तानोंका विभाग करना अशक्य हुआ । यदि अनेक स्वकीय परकीय परिणामोंमें सदृशपनेका अन्तर न होते हुए भी किन्हीं ही विशेषचित्तोंका सम्बन्ध विशेष हो जानेके कारण एकसन्तानपना माना जावेगा और दूसरे किन्हीं चित्तविशेषोंका विशेषसम्बन्ध होनेसे दूसरी

सन्तान मानी जावेगी। तीसरे प्रकारके क्षणिक परिणामोंके सम्बन्धविशेषसे हुए पिण्डको तीसरी सन्तान कहा जावेगा। इस प्रकार बौद्ध लोग देवदत्त, जिनदत्त, आदि अनेक सन्तानोंके विभागकी सिद्धि करेंगे। अब तो एकद्रव्यस्वरूप चित्तके विशेष परिणामोंको एकसन्तानपना सिद्ध हो गया। द्रव्य नामक प्रत्यासत्तिको ही तिस प्रकार होनेवाले एक सन्तानपनेकी कारणता सिद्ध होती है। एक द्रव्यके नाना परिणामोंकी एक सन्तान करनेमें उपादानउपादेयभाव आनन्तर्य, क्षेत्रप्रत्यासत्ति, भावसम्बन्ध, आदिके प्रयोजकत्वका खण्डन किया जा चुका है। अर्थात् एक मिट्टीसे अनेक घडा, घडी, सकोरा, सराई आदि बन जाते हैं, किन्तु इनकी एकसन्तान नहीं है। हां! जितनी मिट्टीसे घडा बना है उसके ही पूर्वापर परिणामोंका विचार किया जावे तो उनमें एक-सन्तानपना बन जाता है। ऐसे ही बैलके मस्तकमें उत्पन्न हुए दायें, बायें, सींगोंका उपादानकारण एक है, फिर भी उन सींगोंकी एकसन्तान नहीं कही जा सकती है। तथा एक खेतमें एक ही समय जौ, चना, गेहूं, मटर, बोए गये कुछ समय बाद बीजोंके उत्तर परिणामरूप अंकुर पैदा हुए, यहां जौके बीज और जौके अंकुरका तो एकसन्तानपना है किन्तु गेहूं के बीज और जौके अंकुरका एकसन्तानपना नहीं है, भले ही अनन्तर उत्तर समयोंमें होना रूप कालप्रत्यासत्ति गेहूंके अंकुर और जौके बीजमें विद्यमान है। तथा एक थैलीमें अनेक रुपये, पैसे और मोहरें रक्खी हैं, किन्तु इनका एक द्रव्य सम्बन्ध न होनेके कारण एक क्षेत्रमें रहते हुए भी एकसन्तानपना नहीं है, अथवा वात, आतप, कार्मणवर्गणायें, आकाश, कालाणु, जीव, धर्म, अधर्म द्रव्य ये सब उन्हीं आकाशके प्रदेशोंपर हैं इनमें क्षेत्रप्रत्यासत्ति है किन्तु एकसन्तानपना नहीं। तथा शास्त्रीयपरीक्षा उत्तीर्ण अनेक छात्रोंमें एकसा शास्त्रज्ञान अथवा ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीस सिद्ध परमेष्ठियोंमें एकसा केव-लज्ञान होनेसे भावप्रत्यासत्ति है, किन्तु द्रव्यप्रत्यासत्ति न होनेसे इनमें एकसन्तानपना नहीं है। परिशेषमें द्रव्यप्रत्यासत्ति ही एकसन्तानपनेका अव्यभिचारी उपाय है। इसके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध उनका घटक नहीं हो सकता है।

ततोऽस्खलत्सादृश्यप्रत्यभिज्ञानात् सादृश्यसिद्धिवदस्खलदेकत्वप्रत्यभिज्ञानादेकत्वसि-द्धिरेवेति निरूपितप्रायम्।

तिस कारण अबाधित सादृश्यप्रत्यभिज्ञानसे परिणामोंमें जैसे सदृशपनेकी सिद्धि हो जाती है, वैसे ही अविचलित (प्रामाणिक) एकत्वप्रत्यभिज्ञानसे एकपनेकी सिद्धि भी हो ही जाती है इस बातको हम पहिले प्रकरणोंमें प्रायः (बहुभाग) निरूपण कर चुके हैं। उपादान उपादेय भावका या एकसन्तानपनेका निर्दोष कारण एकद्रव्यप्रत्यासत्ति ही है! आत्मा आदि वस्तुओंके अनादि अनन्त पहिले पीछे होनेवाले परिणामोंमेंसे एक एक व्यक्तिरूप द्रव्यके नियमितपरिणामोंमें द्रव्यप्रत्यासत्ति ओतप्रोत हो रही है, जैसे कि दूध, दही, घीमें गोरसत्व तदात्मक हो रहा है।

एतेन जीवादिनोआगमद्रव्यसिद्धिरुक्ता। य एवाहं मनुष्यजीवः प्रागासं स एवाधुना देवो वर्ते पुनर्मनुष्यो भविष्यामीत्यन्वयप्रत्ययस्य सर्वथाप्यबाध्यमानस्य सद्भावात्। यदेव जलं शुक्तिविशेषे पतितं तदेव मुक्ताफलीभूतमित्याद्यन्वयप्रत्ययवत्।

इस कथनसे जीव, सम्यग्दर्शन, आदिके नोआगम द्रव्यकी सिद्धि भी कह दी गयी है। जो ही मैं पहिले मनुष्य जीव था, सो ही मैं इस समय देव हूं यानी देव होकर वर्त रहा हूं, तथा भविष्यमें फिर मैं मनुष्य हो जाऊंगा, ऐसा सभी प्रकारोंसे भी हींन बाधने योग्य अन्वयज्ञान विद्यमान है। गृहस्थ मनुष्य प्रतिदिन विचारता है कि मैंने ही प्रातः जिनार्चा की थी। इस समय भोजन कर रहा हूं। कुछ समय पीछे वाणिज्य करूंगा। तथा जो ही जल मोतीकी जननी विशेष-सीपमें पडा था। वही जल परिणाम करते हुए मोती होगया है इत्यादि प्रकारके अन्वयज्ञान जैसे निर्बाध हैं, तैसे ही भविष्य पर्यायोंमें परिणत होनेवाले नोआगम द्रव्यको समझ लेने वाले ज्ञान अबाधित हैं। अविसंवादी हैं।

ननु च जीवादिनोआगमद्रव्यमसंभाव्यं जीवत्वादीनां त्रैकालिकत्वेनानागतत्वासिद्धेस्तदभिमुख्यस्य कस्यचिदभावादिति चेत्, सत्यमेतत्। तत एव जीवादिविशेषापेक्षयोदाहृतो जीवादिद्रव्यनिक्षेपो।

यहां किसीकी और भी शंका है कि जीव, पुद्गल, आकाश, आदिका नोआगम द्रव्य तो असम्भव है, क्योंकि जीवपना, पुद्गलपना आदि धर्म तो उन द्रव्योंमें सर्व काल रहते हैं, इस कारण सामान्यजीवपने आदिको भविष्यमें प्राप्त होनापन असिद्ध है, जीवपने आदि धर्मोंकी ओर अभिमुख होनेवाले किसी भी पदार्थका अभाव है, अर्थात् पहिले जीव नहीं होकर पुनः जीव बने यानी, पुद्गल तत्त्व जीव द्रव्य बन जावे, या जीवद्रव्य पुनः पुद्गलद्रव्य बने तब तो द्रव्यनिक्षेपका लक्षण घट सकेगा। किन्तु कोई भी वस्तु जीव नहीं होता हुआ पश्चात् जीव बन जावे, अथवा पुद्गल न होता हुआ पीछेसे पुद्गल बन जावे ऐसा नहीं माना गया है। कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो सकता है। आचार्य समझाते हैं कि यदि इस प्रकार शंका करोगे तो हम जैन कहते हैं कि यह आपका कहना ठीक है। सामान्यरूपसे जीव, पुद्गल, आदिका नोआगमद्रव्य नहीं बनता है। तिस ही कारण जीव, पुद्गल आदिके विशेषोंकी अपेक्षासे जीव आदिके द्रव्यनिक्षेपका उदाहरण दिया गया है। मनुष्य, देव, पुनः मनुष्य, या खात, अन्न, पुनः खात ये दृष्टान्त नोआगम द्रव्यनिक्षेपके हैं, ऐसा समझना।

नन्वेवमागमद्रव्यं वा बाधितात्तदन्वयप्रत्ययान्मुख्यं सिध्यतु ज्ञायकशरीरं तु त्रिकालगोचरं तद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मविकल्पमनेकविधं कथं तथा सिध्येत् प्रतीत्यभावादिति चेत्र, तत्रापि तथाविधान्वयप्रत्ययस्य सद्भावात्। यदेव मे शरीरं ज्ञातुमारभमाणस्य तत्त्वं

तदेवेदानीं परिसमाप्ततत्त्वज्ञानस्य वर्तत इति वर्तमानज्ञायकशरीरे तावदन्वयप्रत्ययः। यदेवोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य मे शरीरमासीत्तदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्येत्यतीतज्ञायकशरीरे प्रत्यवमर्शः। यदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य शरीरं तदेवोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य भविष्यतीत्यनागतज्ञायकशरीरे प्रत्ययः।

किसीकी शंका है कि आपके पूर्वविवरणके अनुसार बाधारहित उसके अन्वयज्ञानसे मुख्य आगमद्रव्य तो भले ही सिद्ध हो जाओ, किन्तु तीनों कालमें ठहरनेवाला ज्ञायकशरीर और कर्म नोकर्मके भेदोंसे अनेक प्रकारका तद्व्यतिरिक्त भला कैसे तिस प्रकार मुख्य सिद्ध होवेगा ? बताओ। क्योंकि उसकी बाधारहित कोई प्रतीति नहीं हो रही है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, कारण कि वहां भी तिस प्रकार अनेक भेदोंको लिये हुए अन्वयज्ञान विद्यमान है। तत्त्वोंको जाननेके लिये आरम्भ करनेवाले मेरा जो ही शरीर पहिले था, वही तो इस समय तत्त्वज्ञानको भली भांति समाप्त करनेवाले मेरा शरीर वर्त रहा है, इस प्रकार वर्तमानके ज्ञायक शरीरमें तो अन्वयप्रत्यय यानी यह वही है, यह वही है, ऐसा ज्ञान विद्यमान है। और तत्त्वज्ञान करनेमें उपयोग लगाये हुए मेरा जो ही शरीर पहिले था वही इस भोजन करते समय तत्त्वज्ञानमें नहीं उपयोग लगाये हुए मेरा यह शरीर है, इस प्रकार भूतकालके ज्ञायकशरीरमें प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। तथा इस वाणिज्य करते समय तत्त्वज्ञानमें नहीं उपयोग लगा रहे मेरा जो भी शरीर है, पीछे तत्त्वज्ञानमें उपयुक्त हो जाने पर वही शरीर रहा आवेगा, इस प्रकार भविष्यके ज्ञायकशरीरमें सुन्दर अन्वयज्ञान हो रहा है।

तर्हि ज्ञायकशरीरं भाविनोआगमद्रव्यादनन्यदेवेति चेन्न, ज्ञायकविशिष्टस्य ततोऽन्यत्वात् तस्यागमद्रव्यादन्यत्वं सुप्रतीतमेवानात्मत्वात्।

तब तो भाविनोआगम द्रव्यसे ज्ञायकशरीर अभिन्न ही हुआ यह कटाक्ष तो नहीं करना, क्योंकि उस ज्ञायक शरीरसे ज्ञायक आत्मा करके विशिष्ट हो रहा भावि नोआगमद्रव्य भिन्न है और वह ज्ञायकशरीर आगमद्रव्यसे तो भिन्न भले प्रकार जाना ही जा रहा है। कारण कि आगमके ज्ञानके उपयोगरहित आत्माको आगमद्रव्य माना है, जो आगमको जाननेवाला आगे होवेगा वह भावी है और जीवके जड शरीरको ज्ञायकशरीर माना गया है। अतः आत्मास्वरूप चेतन न होनेके कारण ज्ञायकशरीर आगमद्रव्यसे भिन्न ही है।

कर्म नोकर्म वान्वयप्रत्ययपरिच्छिन्नं ज्ञायकशरीरादनन्यदिति चेत् न, कार्मणस्य शरीरस्य तैजसस्य च शरीरस्य शरीरभावमापन्नस्याहारादिपुद्गलस्य वा ज्ञायकशरीरत्वासिद्धेः, औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयस्यैव ज्ञायकशरीरत्वोपपत्तेरन्यथा विग्रहगतावपि जीवस्योपयुक्तज्ञानत्वप्रसंगात् तैजसकार्मण शरीरयोः सद्भावात्।

यहां कोई पुनः कहता है कि तद्व्यतिरिक्तके कर्म और नोकर्म भेद भी अन्वयज्ञानसे जाने जाते हैं। अतः ये दोनों ज्ञायकशरीरसे अभिन्न हो जावेंगे। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो नहीं

कहना, क्योंकि कार्मणवर्गणाओंसे बने हुए कर्मशरीर और उससे अविनाभावी तैजसवर्गणाओंसे बने हुए तैजसशरीरके शरीपनेको प्राप्त हो गये पुद्गलको ज्ञायकशरीरपना सिद्ध नहीं है, अथवा आहारवर्गणा, भाषावर्गणा आदि पुद्गलोंको भी ज्ञायकशरीरपना असिद्ध है। वस्तुतः बन चुके औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंको ही ज्ञायकशरीरपना युक्त है। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरी प्रकार मानोगे तो विग्रहगतिमें भी जीवके उपयोग आत्मक ज्ञान हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। कार्मण और तैजसशरीर दोनों वहां विद्यमान हैं। भावार्थ—औदारिक आदि तीन शरीरोंके न होनेसे ही विग्रहगतिमें उपयोगरूप ज्ञान नहीं माना गया है। क्षयोपशम होनेसे लब्धिरूप ज्ञान है। अतः ज्ञायकशरीरसे आदिके तीन शरीर ही पकडे जावेंगे, तैजस और कार्मण शरीर नहीं।

कर्मनोकर्म नोआगमद्रव्यं भाविनोआगद्रव्यादनर्थान्तरमिति चेन्न, जीवादिप्राभृतज्ञायिपुरुषकर्मनोकर्मभावमापन्नस्यैव तथाभिधानात्, ततोऽन्यस्य भाविनोआगमद्रव्यत्वोपगमात्। तदेतदुक्तप्रकारं द्रव्यं यथोदितस्वरूपापेक्षया मुख्यमन्ययात्वेनाध्यारोपितं गौणमवबोद्धव्यम्।

कर्म और नोकर्मरूप नोआगमद्रव्य तो भाविनोआगम द्रव्यसे अभिन्न हो जावेगा, यह तो नहीं कहना। क्योंकि जीव, सम्यक्त्व आदि शास्त्रोंके जाननेवाले पुरुषके कर्म और नोकर्मपनेको प्राप्त हो चुके ही कर्मनोकर्मोंको तैसा कथन किया है। उससे भिन्न अन्य अतिरिक्त पडे हुए या आगे होनेवाले कर्म नोकर्मोंसे युक्त जीवको नोआगमद्रव्यपना स्वीकार किया है। तिस कारण कहे हुए भेदवाला यह द्रव्यनिक्षेप शास्त्रानुसार पहिले कहे हुए लक्षणकी अपेक्षासे तो मुख्य समझना और दूसरे प्रकारोंसे कल्पना कर आरोपित किया गया गौणद्रव्य समझलेना चाहिये, यानी वह द्रव्य गौण और मुख्यकी अपेक्षासे दो प्रकारका है। भावार्थ—देवदत्तके शरीरको द्रव्यनिक्षेपसे जैसे हम मुख्यपनेसे विद्वान् कह देते हैं, उसी प्रकार देवदत्तके चित्र (तस्वीर), छाया, नामावलीको भी गौण रीतिसे विद्वान् कह देते हैं। नयचक्रकी समीचीन योजनासे स्याद्वादियोंके यहां यह सब युक्त बन जाता है, अन्यत्र नहीं। अब भावनिक्षेपको कहते हैं;—

साम्प्रतो वस्तुपर्यायो भावो द्वेधा स पूर्ववत्।
आगमः प्राभृतज्ञायी पुमांस्तत्रोपयुक्तधीः ॥ ६७ ॥
नोआगमः पुनर्भावो वस्तु तत्पर्ययात्मकम्।
द्रव्यादर्थान्तरं भेदप्रत्ययाद् ध्वस्तबाधनात् ॥ ६८ ॥

तिसी परिणामसे आक्रान्त होरहे वस्तुकी वर्तमानकालमें जो पर्याय है वह भावनिक्षेप है। पूर्वके द्रव्यनिक्षेप समान वह भावनिक्षेप आगम और नोआगम भेदसे दो प्रकार है। तिनमें जीव,

सम्यक्त्व, चारित्र आदिके शास्त्रको जाननेवाला उस शास्त्रज्ञानके उपयोगमें लगा हुआ आत्मा आगमभाव है और फिर जीव, सम्यक्त्व, आदि उन उन पर्यायस्वरूप नोआगमभाव है। यह भावनिक्षेप बाधारहित भेदज्ञानके द्वारा द्रव्यनिक्षेपसे भिन्न हो रहा है, यानी अन्वयज्ञानसे द्रव्यनिक्षेप जाना जाता है और पर्यायको जाननेवाले भेद (व्यतिरेक) ज्ञानसे भावनिक्षेप जाना जाता है।

वस्तुनः पर्यायस्वभावो भाव इति वचनात्तस्यावस्तुस्वभावता व्युदस्यते। साम्प्रत इति वचनात्कालत्रयव्यापिनो द्रव्यस्य भावरूपता ।

वस्तुका पर्यायस्वरूप भावनिक्षेप है ऐसा कहनेसे उस भावनिक्षेपके अवस्तुस्वभावपनेका निराकरण हो जाता है और वर्तमानकाल वाची सांप्रत ऐसा कह देनेसे तीनोंकाल व्यापी द्रव्यको भावरूप हो जानेका खण्डन कर दिया जाता है।

नन्वेवमतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य भावरूपताविरोधाद्वर्तमानस्यापि सा न स्यात्तस्य पूर्वापेक्षयानागतत्वात् उत्तरापेक्षयातीतत्वादतो भावलक्षणस्याव्याप्तिरसंभवो वा स्यादिति चेन्न। अतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य स्वकालापेक्षया सांप्रतिकत्वाद्भावरूपतोपपत्तेरननुयायिनः परिणामस्य सांप्रतिकत्वोपगमादुक्तदोषाभावात् ।

यहां शंका है कि इस प्रकार भूत और भविष्य कालकी पर्यायोंको भावनिक्षेपरूपपनेका विरोध हो जानेके कारण वर्तमानकालकी पर्यायको भी वह भावरूपपना न हो सकेगा। क्योंकि वर्तमानकालकी पर्याय पूर्वपर्यायकी अपेक्षासे भविष्यकालमें है और उत्तरकालकी अपेक्षासे वर्तमान पर्याय तो भूतकालकी है, यानी वर्तमान पर्याय भी भूत और भविष्यत् पर्यायोंमें ही अन्तर्भूत है, अतः भावनिक्षेपके लक्षणकी विशेष भावोंमें लक्षण न जानेसे अव्याप्ति हुयी, अथवा सम्पूर्ण भावोंमें लक्षण न जानेसे असम्भव दोष हुआ। एकान्तसे वर्तमान पर्याय कोई ठहरता ही नहीं है। नैयायिकोंके गौतमसूत्रमें पूर्वपक्षीने कहा है कि—" वर्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः " वृक्षसे गिरता हुआ फल जितने आकाश प्रदेशोंमें नीचे आचुका है, उतना पतितमार्ग है। और जिन प्रदेशोंपर भविष्यमें गिरना है वह पतितव्य मार्ग है। पतति यह वर्तमानमें पडते रहनेको काल कुछ भी नहीं शेष रहा। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि भूतकालकी पर्याय और वर्तमानकालकी पर्याय अपने अपने कालकी अपेक्षासे वर्तमानकी ही हैं। अतः भावरूपता बन जाती है जो पर्याय आगे पीछेकी पर्यायोंमें अनुगमन नहीं करती हुयी केवल वर्तमानकालमें ही रहती है वह वर्तमान कालकी पर्याय भावनिक्षेपका विषय मानी गयी है। अतः पूर्वमें कहा हुआ कोई दोष नहीं आता है। अर्थात् वर्तमान कालको माने विना भूत, भविष्य कालोंका भी अभाव हो जावेगा, वे दोनों वर्तमानकी अपेक्षासे ही सिद्ध हो सकते हैं, वर्तमानमें जिनका ध्वंस है वे भूत हैं और वर्तमानमें जिनका प्रागभाव है वे भविष्य हैं। अतः वर्तमान कालका एक समय मानना अत्यावश्यक है। अन्यथा क्षणोंके समुदायरूप भूत और भविष्यत् काल कुछ न

ठहर सकेंगे। कितनी भी महीन सुई क्यों न हो, उसकी नोंक आकाशके प्रदेशको अवश्य घेरेगी। सूक्ष्मऋजुसूत्रका विषय माना गया क्षणिक परिणाम भी सांश है। लोक सम्बन्धी नीचेके वातवलयसे ऊपरके वातवलयमें जानेवाला वायुकायका जीव या परमाणु एक समयमें चौदह राजू जाता है। अतः एक समयके भी असंख्यात अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। संसारका कोई भी छोटेसे छोटा पूरा कार्य एक समयसे न्यूनकालमें नहीं होता है। चाहे मन्दगतिसे परमाणु एक प्रदेशका अतिक्रमण करे। चाहे शीघ्रतापूर्वक चौदह राजू गमन करे, किन्तु एक समय तो पूरे एक कार्यमें अवश्य लगेगा ही, अधूरा कार्य कोई वस्तु नहीं है। तभी तो वर्तनाके लक्षणमें एक समयकी पलटनको पूरा अनुभव करना प्रत्येक पर्यायके लिये आवश्यक बताया है। " प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना " ऐसा राजवार्तिकमें कथन है।

स तु भावो द्वेधा द्रव्यवदागमनोआगमविकल्पात्। तत्प्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमः जीवादिपर्यायाविष्टोऽन्य इति वचनात्।

वह भावनिक्षेप तो द्रव्यनिक्षेपके समान आगमभावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेपके भेदसे दो प्रकारका है। उन जीव, चारित्र, आदि विषयोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंके ज्ञानमें लगे हुए उपयोगसे तदात्मक हो रहा आत्मा तो आगमभावनिक्षेप है, और उसके सहायक जीवन, प्राणधारण, लब्धि, आदि पर्यायोंसे युक्त आत्मा दूसरा नोआगमभावनिक्षेप है। इस प्रकार आकरग्रन्थोंमें कहा है।

कथं पुनरागमो जीवादिभाव इति चेत्, प्रत्ययजीवादिवस्तुनः सांप्रतिकपर्यायत्वात्। प्रत्ययात्मका हि जीवादयः प्रसिद्धाः एवार्थाभिधानात्मकजीवादिवत्। तत्र जीवादिविषयोपयोगाख्येन तत्प्रत्ययेनाविष्टः पुमानेव तदागम इति न विरोधः, ततोऽन्यस्य जीवादिपर्यायाविष्टस्यार्थादेर्नोआगमभावजीवत्वेन व्यवस्थापनात्।

फिर ज्ञानरूप आगमको जीव आदि भावनिक्षेपपना कैसे है ? ऐसा पूंछनेपर तो हम कहेंगे कि ज्ञानस्वरूप जीव आदि वस्तुओंको वर्तमान कालकी पर्यायपना है जिस कारणसे कि जीव आदि पदार्थ ज्ञानस्वरूप होते हुए प्रसिद्ध हो ही रहे हैं, जैसे कि अर्थ और शब्दरूप जीव आदिक हैं। भावार्थ—समन्तभद्र स्वामीने कहा है कि—" बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः " जगत् के व्यवहारमें कोई भी पदार्थ होय, वह बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीन स्वरूपोंमें विभक्त हो सकता है। अग्नि कहनेसे तीन पदार्थ ध्वनित होते हैं। एक तो अग्नि यह शब्द है, दूसरा आत्मामें अग्निका ज्ञान है, तीसरा दाहकत्व या पाचकत्व आदि शक्तियोंसे युक्त पौद्गलिक अग्नि पदार्थ है। ऐसे ही घटमें भी समझ लेना। घट शब्द है, घटज्ञान है और घट अर्थ है, इन तीनके अतिरिक्त घट कुछ भी नहीं है। व्याकरण पढनेवालेसे घट पूंछा जावे तो " घटते इति घटः " या " घटः घटौ घटाः " इस प्रकार उसका लक्ष्य घट शब्दकी ओर जावेगा। तथा कुम्हारके प्रति घट कहनेसे उसका

लक्ष्य कम्बु, ग्रीवावाले घट व्यक्तिकी ओर जावेगा और उपदेश देते समय घट कहदेनेसे घटज्ञानकी ओर लक्ष्य जावेगा। प्रकरणमें उस विषयके शास्त्रज्ञानमें उपयोग लगाये हुए आत्माको आगमभाव कह दिया है सो युक्त है, इन्द्र कहनेसे सूक्ष्म एवम्भूत नयके द्वारा इन्द्रज्ञान ही लिया जाता है। अग्निका अर्थ अग्निज्ञान है। तहां जीव आदि विषयोंके उपयोग नामक उन ज्ञानोंसे सहित आत्मा ही उन उन जीव आदि आगमभावनिक्षेपों करके कहा जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है, तिस आगमभावसे भिन्न नोआगमभाव है जो कि जीव आदि पर्यायोंसे आविष्ट सहकारी पदार्थ आदि स्वरूप व्यवस्थित हो रहा है।

न चैवंप्रकारो भावोऽसिद्धस्तस्य बाधारहितेन प्रत्ययेन साधितत्वात् प्रोक्तप्रकार-द्रव्यवत्। नापि द्रव्यादनर्थान्तरमेव तस्याबाधितभेदप्रत्ययविषयत्वात्, अन्यथान्वय-विषयत्वानुषङ्गाद्द्रव्यवत्।

इस प्रकारका भावनिक्षेप कैसे भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि बाधारहित ज्ञानोंसे उसकी सिद्धि की जा चुकी है। जैसे कि दो प्रकारके द्रव्यनिक्षेपको भले प्रकार सिद्ध कर दिया गया है, और वह भावनिक्षेप द्रव्यनिक्षेपसे अभिन्न ही है। यह भी नहीं समझना! क्योंकि वर्तमानकी विशेष पर्यायको ही विषय करनेवाला वह भावनिक्षेप निर्बाध भेदज्ञानका विषय हो रहा है। अन्यथा द्रव्यनिक्षेपके समान भावनिक्षेपको भी तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान करनेवाले अन्वयज्ञानकी विषयताका प्रसंग होवेगा। भावार्थ—अन्वयज्ञानका विषय द्रव्यनिक्षेप है और विशेष-रूप भेदके ज्ञानका विषय भावनिक्षेप है। भूतभविष्यत् पर्यायोंका संकलन द्रव्यनिक्षेपसे होता है। और केवल वर्तमानपर्यायोंका भावनिक्षेपसे आकलन होता है।

नामोक्तं स्थापना द्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणात्।
पर्यायार्थार्पणाद्भावस्तैर्न्यासः सम्यगीरितः॥ ६९॥

द्रव्यार्थिक नयकी अर्पणा करनेसे नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप कहे गये हैं, तथा पर्यायार्थिक नयके प्रधानताकी विवक्षासे भावनिक्षेप है। इस प्रकार उन चार निक्षेपकोंसे जीव, सम्य-ग्दर्शन, आदि पदार्थोंका न्यास (व्यवहृतिजनकताबच्छेदक) होना भले प्रकार कहा गया है।

नन्वस्तु द्रव्यं शुद्धमशुद्धं च द्रव्यार्थिकनयादेशात्, नामस्थापने तु कथं तयोः प्रवृत्तिमारभ्य प्रागुपरमादन्वयित्वादिति ब्रूमः। न च तदासिद्धं देवदत्त इत्यादि नाम्नः कचि-द्बालाद्यवस्थाभेदाच्छिन्नेऽपि विच्छेदानुपपत्तेरन्वयित्वसिद्धेः। क्षेत्रपालादिस्थापनायाश्च कालभेदेऽपि तथात्वाविच्छेदः इत्यन्वयित्वमन्वयप्रत्ययविषयत्वात्।

यहां शंका है कि शुद्ध द्रव्य और अशुद्धद्रव्य ये तो भले ही द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मान लिये जावें, किन्तु नाम और स्थापना तो भला द्रव्यार्थिक नयके विषय कैसे हो सकते हैं?

बताओ ! इसपर आचार्य कहते हैं कि इस शंकाका उत्तर हम इस प्रकार स्पष्ट कहते हैं कि उन नाम और स्थापनामें भी प्रवृत्त हुए समयसे प्रारम्भ कर विराम (विसर्जन) से पहिले तक अन्वयीपना विद्यमान है, अन्वयीपना द्रव्यनिक्षेपका प्राण है। नाम और स्थापनामें वह अन्वयीपना असिद्ध नहीं है। देखिये ! देवदत्त, इन्द्रदत्त, इत्यादि नामोंका किन्हीं व्यक्तियोंमें बालक, कुमार, युवा आदि अवस्थाओंके भेदसे भिन्न होते हुए भी विच्छेद होना नहीं बनता है, तभी तो अपनेको पूर्वदृष्टकी स्मृति और दूसरेको एकत्वप्रत्यभिज्ञान हो जाते हैं। अतः नाममें अन्वयीपना सिद्ध हो गया। अर्थात् जबसे किसीका नाम देवदत्त रख लिया जाता है मरनेतक और उसके पीछे भी यह वही देवदत्त है, वह देवदत्त था, ऐसे अन्वयरूप ज्ञान हो जाते हैं। बीचमें इसीका डोरा टूटता नहीं है। द्रव्यनिक्षेपको इतना ही द्रव्यपना चाहिये। तथा क्षेत्रपाल, यक्ष, इन्द्र, आदिकी स्थापनाका कालभेद होते हुए भी तिस प्रकार स्थापनापनेका अन्तराल नहीं पडता है, पाषाणके बने हुए स्थापित क्षेत्रपालमें " यह वही है, यह वही है " इस प्रकारके अन्वयज्ञानकी विषयता होनेसे अन्वयीपना बहुत काल तक धारारूपसे चलता रहता है। यह विषय द्रव्यार्थिक नयका ही व्यवहार्य है।

यदि पुनरनाद्यनन्तान्वयासत्त्वान्नामस्थापनयोरनन्वयित्वं तदा घटादेरपि न स्यात्। तथा च कुतो द्रव्यत्वम् ? व्यवहारनयात्तस्यावान्तरद्रव्यत्वे तत एव नामस्थापनयोस्तदस्तु विशेषाभावात्।

यदि फिर शंकाकार यों कहे कि अनादिसे अनन्तकालतक अन्वय नहीं बननेके कारण नाम और स्थापनामें अन्वयीपना नहीं है, अतः वे द्रव्यार्थिक नयके विषय नहीं हो सकते हैं, ऐसा कहोगे तब तो घट, मनुष्य, आदिको भी धाराप्रवाहरूप अन्वयीपना न हो सकेगा। और तैसा होनेपर फिर घट आदिको भला द्रव्यपना कैसे आवेगा ? बताओ ! अर्थात् कुछ कालतक अन्वय बन जानेके कारण अशुद्धद्रव्यार्थिक नयके विषय मनुष्य, पट, आदि हो जाते हैं। मनुष्य पर्याय तो सौ, पांच सौ वर्ष, कोटि पूर्व, तीन पल्य तक ही ठहर सकती है। अनादिकालसे अनन्तकाल तक नहीं। यदि द्रव्यमें अनादिसे अनन्ततक अन्वय बने रहनेका नियम कर दिया जावेगा तो मनुष्यको द्रव्यपना न ठहर सकेगा। इसी प्रकार कुछ दिनों या वर्षोंतक ही ठहरनेवाले घट, पट, आदिक भी अशुद्धद्रव्य न बन सकेंगे। यदि व्यवहार नयकी अपेक्षासे उन घट, पट, आदि कुछ दीर्घकालस्थायी स्थूल पर्यायोंको अनादि अनन्त महाद्रव्यका व्याप्य अवान्तर विशेष द्रव्य मानोगे तो तिस ही कारण नाम और स्थापनाको भी वह व्याप्य द्रव्यपना हो जाओ ! घट आदिक और नाम, स्थापना इनमें विशेष द्रव्यपनेसे कोई अन्तर नहीं है। अल्प देश, कालमें रहनेवाले द्रव्यपनेसे घट, नाम आदिमें अन्वयीस्वरूप द्रव्यपना एकसा रक्षित है।

ततः सूक्तं नामस्थापनाद्रव्याणि द्रव्यार्थिकस्य निक्षेप इति। भावस्तु पर्यायार्थिकस्य सांप्रतिकविशेषमात्रत्वात्तस्य।

तिस कारण हम विद्यानन्द आचार्यने कारिकामें बहुत अच्छा कहा था कि नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे कहे गये हैं और भावनिक्षेप तो पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे कहा गया है, क्योंकि वह भावनिक्षेप वर्तमानकालमें होनेवाली केवल विशेष पर्याय स्वरूपका स्पर्श करता है।

तदेतैर्नामादिभिर्न्यासो न मिथ्या, सम्यगित्यधिकारात्। सम्यक्त्वं पुनरस्य सुनयैरधिगम्यमानत्वात्।

तिस प्रकार इन नाम, स्थापना, द्रव्य, और भावों करके किया गया निक्षेप झूठा नहीं है। क्योंकि आदिके सूत्रसे सम्यक् इस प्रकारका अधिकार (अनुवृत्ति) चला आ रहा है। अर्थात् नाम आदिकों करके सम्पूर्ण पदार्थोंका समीचीन न्यास (अभ्यवहार्यपना) होता है। इस निक्षेपको समीचीनपना तो फिर श्रेष्ठ नयों करके जानागयापन होनेके कारण है, यानी प्रमाणस्वरूप श्रुतज्ञानके विशेष अंश नय हैं। श्रुतज्ञानसे पदार्थका निर्णय कर विशेष अंशोंको असाधारण रूपसे जाननेके लिये नयज्ञान उठाये जाते हैं। संज्ञी जीवके नयज्ञान उत्पन्न होते हैं। सुनयोंके द्वारा वस्तुधर्मोंका निर्णय कर नाम स्थापना, द्रव्य और भावोंसे तत्त्वोंका समीचीन न्यास हो जाता है। अतः चारों ही निक्षेपक समीचीन हैं।

तेषां दर्शनजीवादिपदार्थानामशेषतः।
इति सम्प्रतिपत्तव्यं तच्छब्दग्रहणादिह ॥ ७० ॥

इस सूत्रमें पूर्वका परामर्श करनेवाले तत् शब्दके ग्रहण करनेसे उन दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा जीव आदिक सात तत्त्व, इन सम्पूर्ण पदार्थोंका शेषरहितपने करके न्यास हो जाता है, यह भले प्रकार विश्वास कर लेना चाहिये।

यदप्यस्त कश्चित् तद्ग्रहणं सूत्रेऽनर्थकं तेन विनापि नामादिभिर्न्यासः। सम्यग्दर्शनजीवादीनामित्यभिसम्बन्धसिद्धेस्तेषां प्रकृतत्वान्न जीवादीनामेव अनन्तरत्वात्तदभिसम्बन्धप्रसक्तिस्तेषां विशेषादिष्टत्वात् प्रकृतदर्शनादीनामबाधकत्वात् तद्विषयत्वेनाप्रधानत्वात् च। नापि सम्यग्दर्शनादीनामेव नामादिन्यासाभिसम्बन्धापत्तिः जीवादीनामपि प्रत्यासन्नत्वेन तदभिसम्बन्धघटनादिति। तदनेन निरस्तम्। सम्यग्दर्शनादीनां प्रधानानामप्रत्यासन्नानां जीवादीनां चाप्रधानानां प्रत्यासन्नानां नामादिन्यासाभिसंबन्धार्थत्वात् तद्ग्रहणस्य। तदभावे प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीय इति न्यायात् सम्यग्दर्शनादीनामेव तत्प्रसंगस्य निवारयितुमशक्तेः।

कोई एक वादी जो यह मान बैठा था कि सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि उस तत् शब्दके विना भी नाम आदिकों करके सम्यग्दर्शन आदिक और जीव आदिकोंका न्यास हो

जाता है। इस प्रकार वाक्यके अर्थका आगे पीछेसे सम्बन्ध हो जाना सिद्ध है। वे सम्यग्दर्शन आदिक और जीव आदिक सभी प्रकरणमें प्राप्त होरहे हैं। यहां इस सूत्रके अव्यवहित पूर्वमें होनेसे जीव आदिक सात तत्त्वोंका ही उस न्याससे उचित सम्बन्ध होनेका प्रसंग होगा और सम्यग्दर्शन आदिकोंका न्याससे सम्बन्ध न हो सकेगा। ऐसा न समझना! क्योंकि उन जीव आदिकोंका तो अभी विशेषरूपसे आदेश कर दिया है, व्यापक प्रकरण तो सम्यग्दर्शन आदिका ही है। अतः वे जीवादिक प्रकरणमें प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन आदिकोंके बाधक नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन आदिक ही प्रधान हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये विषयी हैं। इनके विषय होनेके कारण जीव आदिक अप्रधान हैं, अतः प्रधानोंके साथ न्यास सम्बन्ध होना भी छूट नहीं सकता है। तथा सम्यग्दर्शन आदिकोंके ही साथ नाम आदिकों द्वारा न्यासके सम्बन्ध होनेकी आपत्ति होगी यह भी नहीं समझना, क्योंकि अत्यन्त निकट होनेके कारण जीवादिकोंके साथ भी उस न्यासका बढिय सम्बन्ध हो जाना घटित हो जाता है। आचार्य समझाते हैं कि यहांतक जो कोई जो कुछ मान-रहा था वह मन्तव्य इस कथनसे खण्डित कर दिया है "प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने सम्प्रत्ययः" प्रधान और अप्रधानके प्रकरण होनेपर प्रधानमें ही ज्ञान होता है। इस न्यायके अनुसार दूर पडे हुए किन्तु प्रधान ऐसे सम्यग्दर्शन आदिकोंका नाम आदिक न्यासोंसे संबन्ध हो जाय इसके लिये सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण किया है। तथा "विप्रकृष्टाविप्रकृष्टयोरविप्रकृष्टस्यैव ग्रहणम्" निकटवर्ती और दूरवर्तीका प्रकरण उपस्थित होनेपर निकटवर्तीका ही ग्रहण होता है। इस परिभाषाके अनुसार अप्रधान किन्तु निकट पडे हुए जीव आदिकोंका भी न्याससे सम्बन्ध हो जाय। एतदर्थ सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण किया गया है। उस तत् शब्दके ग्रहण नहीं करनेपर प्रत्यासत्तिसे प्रधान अधिक बलवान् होता है। इस न्यायसे केवल सम्यग्दर्शन आदिकोंके साथ ही न्यासके सम्बन्ध होनेका प्रसंग दूर नहीं किया जा सकता था। भावार्थ—"प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः" यह परिभाषा प्रबल है। अतः न्यासका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन आदिसे ही होता, जीव आदिकोंके साथ नहीं होता, किन्तु तत् शब्द व्यर्थ पडा। गम्भीर अर्थके प्रतिपादक शब्दोंको कहनेवाले सूत्रकारकी एक मात्रा भी व्यर्थ नहीं होनी चाहिये। अतः तत् शब्द व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि यहां प्रधान और निकटवर्ती अप्रधान सभी पदार्थोंका न्यास होना इष्ट है। स्वांशमें तत्शब्द चरितार्थ भी होगया और दूसरे इन्द्र आदि जीवोंमें या अन्य तत्त्वोंमें न्यास करनेका फल प्राप्त हो गया।

नन्वनन्तः पदार्थानां निक्षेपो वाच्य इत्यसन्।
नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात्संक्षेपरूपतः ॥ ७१ ॥

यहां कोई शंका करता है कि पदार्थोंके निक्षेप अनन्त कहने चाहिये, आप जैनोंने चार ही क्यों कहे? आचार्य समझाते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि उन अनन्त निक्षेपोंका संक्षेप-

रूपसे नाम आदिक चार निक्षेपोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, यानी संक्षेपसे निक्षेप चार प्रकारका है और विस्तारसे अनन्त प्रकारका है।

संख्यात एव निक्षेपस्तत्प्ररूपकनयानां संख्यातत्वात्, संख्याता एव नयास्तच्छब्दानां संख्यातत्वात्। " यावन्तो वचनपथास्तावन्तः संभवन्ति नयवादाः " इति वचनात्। ततो न निक्षेपोऽनन्तविकल्पः प्रपञ्चतोऽपि प्रसंजनीय इति चेन्न, विकल्पापेक्षयार्थापेक्षया च निक्षेपस्यासंख्यातत्वोपपत्तेरनन्तत्वोपपत्तेश्च तथाभिधानात्। केवलमनन्तभेदस्यापि निक्षेपस्य नामादिविजातीयस्याभावान्नामादिष्वन्तर्भावात् संक्षेपतश्चातुर्विध्यमाह।

शंकाकारके ऊपर किसीका कटाक्ष है कि निक्षेप संख्यात प्रकारका ही हो सकता है। क्योंकि उस निक्षेपके प्ररूपण करनेवाले नय संख्यात ही हैं, जब कि उन नयोंके प्रतिपादक शब्द संख्यात ही हैं, अतः वे नय भी संख्यात ही हैं। शास्त्रोंमें यों कहा है कि जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद संभवते हैं अधिक नहीं। पुनरुक्त या अनुपयुक्त सभी शब्दोंकी जोडकला करने पर संख्यात ही वाक्य बन सकते हैं। संख्यात बहुत बडा है। तिस कारण विस्तारसे भी निक्षेप संख्यात प्रकारका हो सकता है ऐसी दशामें व्यासरूपसे भी निक्षेपके अनन्त विकल्प होनेका प्रसंग नहीं देना चाहिये। अब आचार्य महाराज निर्णय करें देते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सच्ची कल्पना करने वाले विकल्पज्ञानोंकी अपेक्षासे और तद्विषय अर्थोंकी अपेक्षासे निक्षेपोंको असंख्यातपना बन जाता है और अनन्तपना भी सिद्ध हो जाता है। अतः हमने विस्तारकी अपेक्षासे तिस प्रकार अनन्तपना कह दिया है, यानी शब्द भलें ही संख्यात हों किन्तु शब्दजन्य ज्ञान तो जातिकी अपेक्षा असंख्यात हैं और वाच्य अर्थ तो व्यक्तिकी अपेक्षा अनन्त हैं। अतः निक्षेप भी असंख्यात या अनन्त कहे जा सकते हैं। " गतोऽस्तमर्कः " सूर्य अस्त हो गया, इस एक वाक्यके अनेक प्रकरणोंके अनुसार भिन्न भिन्न व्यक्तियोंको न्यारे न्यारे अर्थ या अर्थान्तर भासते हैं " एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं "। कारिकाका तात्पर्य केवल इतना है कि अनन्त भेदवाला निक्षेप भी नाम आदि चारोंसे कोई भिन्न जातीय नहीं है। अतः उन सबका नाम आदिकोंमें ही गर्भ हो जाता है। तिस कारण संक्षेपसे निक्षेपको चार प्रकारका कहा है।

नन्वेवम्—

यहां कोई कटाक्ष सहित अनुनय करता है कि इस प्रकार तो—

द्रव्यपर्यायतो वाच्यो न्यास इत्यप्यसंगतम्।
अतिसंक्षेपतस्तस्यानिष्टेरन्यथास्तु सः॥ ७२॥

जब संक्षेपसे न्यासका निरूपण करने लगे हो, तब तो द्रव्य और पर्याय इन दोसे ही न्यास होना कहना चाहिये, ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना भी असंगत है।

क्योंकि यहां अत्यन्त संक्षेपसे उस न्यासका निरूपण करना हमको इष्ट नहीं है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकार अतिसंक्षेपसे न्यासका निरूपण किया जाय तो वह द्रव्य और भावरूपसे दो प्रकारका ही निक्षेप होवे। हमको इष्ट है, कोई क्षति नहीं है।

न ह्यत्रातिसंक्षेपतो निक्षेपो विवक्षितो येन तद्विविध एव स्याद्द्रव्यतः पर्यायतश्चेति तथा विवक्षायां तु तस्य द्वैविध्ये न किञ्चिदनिष्टम्। संक्षेपतस्तु चतुर्विधोऽसौ कथित इति सर्वमनवद्यम्।

इस प्रकरणमें हमको अत्यन्तसंक्षेपसे निक्षेप कहना विवक्षित नहीं है जिससे कि द्रव्यसे और पर्यायसे यों वह दो प्रकारका ही है, ऐसे कहा जाता। हां! किस प्रकार विवक्षा होनेपर तो उस निक्षेपको दो प्रकार कहनेमें हमको कोई अनिष्ट नहीं है। संक्षेपसे तो वह निक्षेप चार प्रकारका कहा गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्रका मन्तव्य निर्दोष रूपसे सिद्ध हो गया। अर्थात् अत्यन्त संक्षेपसे निक्षेप दो प्रकारका है और संक्षेपसे चार प्रकारका तथा विस्तारसे संख्यात, असंख्यात अनन्त प्रकारका है।

ननु न्यासः पदार्थानां यदि स्यान्न्यस्यमानता।
तदा तेभ्यो न भिन्नः स्यादभेदाद्धर्मधर्मिणोः॥ ७३॥

किसीकी शंका है कि न्यासका अर्थ यदि पदार्थोंकी न्यस्यमानता है तब तो न्यास उन पदार्थोंसे भिन्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्म और धर्मीमें अभेद होता है। भावार्थ—जैसे पाकका अर्थ पच्यमानता माना जाय। चावलोंमें पाक होता है। चावल पकते हैं। पच्यमानता चावलोंका धर्म है। कर्ममें यक् प्रत्यय करके शानच् करते हुए तल् प्रत्यय किया गया है। किसी अपेक्षासे वह्निमत्ता और वह्नि जैसे एक हैं तैसे ही कर्ममें रहनेवाले न्यास और न्यस्यमानता भी एक हो सकते हैं। धर्म और धर्मीका अभेद माननेपर तो न्यासको प्राप्त किये गये न्यस्यमान पदार्थ और न्यासका भेद नहीं हो सकेगा तो फिर नाम आदिसे जीव आदि पदार्थोंका न्यास होता है। यह भेद गर्भित सूत्रवाक्य कैसे घटित हुआ? यह शंका करनेवालेका भाव है।

भेदे नामादितस्तस्य परो न्यासः प्रकल्प्यताम्।
तथा च सत्यवस्थानं क्व स्यात्तस्येति केचन॥ ७४॥

धर्म और धर्मीका भेद माननेपर उस न्यासका नाम आदिकसे फिर दूसरा न्यास कल्पना करना चाहिये और इसी प्रकार भेद पक्षमें वह न्यास पुनः न्यस्यमान हो जावेगा। उसके लिये

तीसरा न्यास कल्पित करना पडेगा, और तैसा होने पर तो उसकी अवस्थिति भला कहां हो सकेगी ? यानी अनवस्था दोष हो जावेगा। इस प्रकार कोई पण्डित शंका कर रहे हैं।

न हि जीवादयः पदार्था नामादिभिर्न्यस्यन्ते, न पुनस्तेभ्यो भिन्नो न्यास इत्यत्र विशेषहेतुरस्ति यतोऽनवस्था न स्यात् धर्मधर्मिणोर्भेदोपगमात्। तन्न्यासस्यापि तैर्न्यासान्तरे तस्यापि तैर्न्यासांतरे तस्यापि तैर्न्यासान्तरस्य दुर्निवारत्वादिति केचित्।

इसका भाष्य यों है कि जीव आदिक पदार्थ ही नाम आदिकों करके निक्षेपको प्राप्त किये जाते हैं किन्तु फिर उन जीव आदिकोंसे भिन्न न्यास नामका पदार्थ नाम आदिकोंसे न्यस्यमान नहीं किया जाता है। यहां ऐसा पक्षपातग्रस्त नियम करनेका कोई विशेष कारण नहीं है, जिससे कि धर्म और धर्मीका भेद पक्ष मानलेनेसे जैनोंके यहां अनवस्था दोष न होवे। जीवरूप धर्मीसे न्यासरूप धर्म न्यारा पदार्थ है। उस न्यास पदार्थका भी जीवके समान पुनः उन अन्य नाम, स्थापना आदि करके न्यास किया जावेगा और उस न्यासका भी उन नाम आदि करके अन्य न्यास किया जावेगा। उसका भी उन नाम आदि करके अपर न्यास किया जावेगा और इसी प्रकार उस निराले न्यासका भी नाम आदिकों करके न्यासान्तर किया जावेगा। इस अनवस्थाका निवारण करना अत्यन्त कष्ट-साध्य है। इस प्रकार कोई कह रहे हैं। अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि,—

तदयुक्तमनेकान्तवादिनामनुपद्रवात्।
सर्वथैकान्तवादस्य प्रोक्तनीत्या निवारणात्॥ ७५॥
द्रव्यार्थिकनयात्तावदभेदे न्यासतद्वतोः।
न्यासो न्यासवदर्थानामिति गौणी वचोगतिः॥ ७६॥

सो वह किन्हीका कहना युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि अनेकान्तवादियोंके यहां किसी दोषका उपद्रव नहीं है। सर्वथा भेद या अभेदके एकान्तवाद पक्षका पूर्वोक्त अच्छे न्यायमार्गसे निवारण कर दिया है। हम स्याद्वादी द्रव्यार्थिक नयसे तो न्यास और न्यासवाले न्यस्यमान पदार्थका अभेद मानते हैं ऐसा होनेपर न्यासवाले अर्थोंका न्यास है यह वचनका प्रयोग करना गौण है। जैसे कि शाखा और वृक्षके अभेद माननेपर शाखा ही वृक्ष है यह प्रयोग तो मुख्य है और शाखाओंसे युक्त वृक्ष है यह व्यवहार गौण है। अभिन्न गुण गुणीके पिण्डरूप द्रव्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय धर्म धर्मीको एक स्वरूपसे जानता है। यहां मतुप् या षष्ठीविभक्तिका प्रयोग ठीक नहीं बनता है।

पर्यायार्थनयाद्भेदे तयोर्मुख्यैव सा मता।
न्यासस्यापि च नामादिन्यासेष्टेर्नानवस्थितिः॥ ७७॥

भेदप्रभेदरूपेणानन्तत्वात्सर्ववस्तुनः ।
सद्भिर्विचार्यमाणस्य प्रमाणान्नान्यथा गतिः ॥ ७८ ॥

हां ! पर्यार्थिक नयकी विवक्षासे उन न्यास और न्यासवाले पदार्थोंका भेद हो जानेपर पदार्थोंका न्यास यह भेदगर्भित वचनप्रयोग मुख्य ही माना गया है । जैसे कि वृक्षकी शाखाएं हैं, ऐसी दशामें भिन्न पडे हुए न्यास पदार्थका भी नाम आदि निक्षेपों करके पुनः न्यास करना इष्ट है । अतः मूलको रक्षित रखनेवाला होनेके कारण अनवस्थादोष नहीं है, किन्तु आम्नायको पुष्ट करनेवाला होनेसे गुण है । भावार्थ—आगको कहनेवाला अग्निशब्द है । व्याकरणमें इकारान्त अग्नि शब्दकी सुसंज्ञा है । द्वन्द्वसमासमें सुसंज्ञक शब्दोंका पूर्वनिपात हो जाता है । यह नामका नामनिक्षेप है । भौंराके वाचक द्विरेफ शब्दसे दो रकारवाला भ्रमर शब्द पकडा जाता है। रामचन्द्र, प्रेमचन्द्र नहीं । तब भ्रमर शब्दसे भौंरा जाना जाता है । इस नामनिक्षेपके समान स्थापनाकी स्थापना भी देखी जाती है। एक विशिष्ट व्यक्तिमें सभापतिपनेकी स्थापना करा ली जाती है । सभापतिके अनुपस्थित होनेपर उपसभापतिमें उस सभापतिकी स्थापना करली जाती है। उसकी भी स्थापना चित्र (तस्वीर) में करली जाती है । ऋण लेनेवाला पुरुष राजकीय पत्र (स्टाम्प) पर हस्ताक्षर करता है । यहां भी आत्मा, शरीर, हाथ और पत्रपर लिखे गये अक्षरोंमें स्थापित स्थापना है । तथा चिरभविष्य पर्यायके उदरमें शीघ्र भविष्य पर्यायोंकी उत्प्रेक्षा कर द्रव्यनिक्षेपका भी द्रव्यनिक्षेप बन जाता है और स्थूल वर्तमानमें सूक्ष्मवर्तमानपर्यायोंके तारतम्यसे भावनिक्षेप भी न्यस्यमान हो जाता है । सम्पूर्ण वस्तुएं भेद और प्रभेदरूप करके अनन्त है । वे प्रमाणोंके द्वारा सज्जन पुरुषों करके विचारली गयीं हैं, उनमें अनेक स्वभाव हैं । देवदत्तने एक रुपया करुणासे जिनदत्तको दिया, जिनदत्तने अनुग्रहके लिये वही रुपया इन्द्रदत्तको दिया । इस प्रकार उसी रुपयेके दानसे दस बीस व्यक्ति पुण्यशाली बन सकते हैं, किन्तु देवदत्तने एक रुपयेका बजाजसे कपडा मोल लिया और बजाजने सर्राफसे चांदी ली, सर्राफने उसी रुपयेसे मोदीकी दुकान परसे गेहूं लिये, इस क्रयव्यवहारमें पुण्य नहीं है। किन्तु उपर्युक्त नैमित्तिक परिणामोंको बनानेवाले अनेक स्वभाव उस रुपयेमें विद्यमान हैं। अनेक विद्यार्थी क्रमसे एक ही शास्त्रके दानसे शास्त्रदर्शी बन जाते हैं । दूसरे गुरुओंसे पढे हुए विद्वान् अन्य छात्रोंको पढाते हैं ।-भिक्षामेंसे भी भिक्षा दी जा सकती है । अर्थात् प्रत्येक वस्तु अनन्तानन्त स्वभावोंको लिये हुए है । दूसरे प्रकारसे यानी सर्वथा एकान्तमतोंके अनुसार मानली गयी वस्तुकी प्रतीति नहीं हो रही है ।

न्यस्यमानता पदार्थेभ्योऽनर्थान्तरमेव चेत्येकान्तवादिन एवोपद्रवन्ते न पुनरनेकान्तवादिनस्तेषां द्रव्यार्थिकनयार्पणात्तदभेदस्य, पर्यायार्थार्पणाद्भेदस्येष्टत्वात् । तत्राभेदविवक्षायां पदार्थानां न्यास इति गौणी वाचोयुक्तिः पदार्थेभ्योऽनन्यस्यापि न्यासस्य भेदेनोपचरितस्य तथा कथनात् । न हि द्रव्यार्थिकस्य तद्भेदो मुख्योऽस्ति तस्याभेदप्रधानत्वात् ।

जीव आदि पदार्थोंसे उनका निक्षेप द्वारा गोचर होजानापनरूप न्यस्यमानता धर्म अभिन्न-ही है। इस प्रकार कहते हुये सांख्य आदि एकान्तवादी जन ही ऊधम मचा रहे हैं। किंतु फिर अनेकान्तवादियोंके यहां कोई टंटा नहीं है। क्योंकि उन स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे उस न्यास और न्यस्यमान पदार्थका अभेद इष्ट किया है तथा पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे उनका परस्परमें भेद माना गया है। तहां अभेदविवक्षा होनेपर तो पदार्थोंका न्यास इस भेदप्रतिरूपक षष्ठी विभक्तिके प्रयोगकी योजना करना गौण पडता है, कारण कि पदार्थोंसे अभिन्न हो रहे भी न्यासका भेद करके व्यवहार करते हुए तैसा कथन कर दिया गया है, जैसे कि आत्माका ज्ञान या स्तम्भका सार है। इसका हेतु यही है कि द्रव्यार्थिक नयसे उनका भेद निरूपण करना मुख्य नहीं है। क्योंकि वह द्रव्यार्थिक नय तो प्रधानरूपसे अभेदको विषय करता है।

भेदविवक्षायां तु मुख्या सा, पर्यायार्थिकस्य भेदप्रधानत्वात्। न च तत्रानवस्था, न्यासस्यापि नामादिभिर्न्यासोपगमात्।

किंतु भेदकी विवक्षा होनेपर तो पदार्थोंका न्यास है, यह वाचोयुक्ति मुख्य है। क्योंकि पर्यायार्थिक नय मुख्यरूपसे भेदको जानता है। जैसे सोनेका कंकण, चूनकी रोटी, चनेकी दाल ये वाक्य सुचारु हैं, तैसे ही पदार्थोंका निक्षेप है यह पर्यायार्थिक नयका गोचर है। एक बात यह भी है कि इस भेदपक्षमें अनवस्थादोष नहीं आता है। क्योंकि न्यासको भी भिन्न पदार्थ मानकर उसका भी नाम स्थापना आदिसे न्यास होना यथासम्भव और आकांक्षा अनुसार स्वीकार कर लिया है। अर्थात् जीव पदार्थके समान न्यास भी स्वतन्त्र पदार्थ है। उसके भी नाम, स्थापना आदि किये जाते हैं। तार द्वारा विद्युत्शक्तिसे दौडाये गये गट् गर् गट् आदि शब्दोंसे अंग्रेजी शब्दोंका ज्ञान हो जाता है। पीछे अंग्रेजी शब्दोंसे हिन्दी शब्दोंका परिज्ञान हो जाता है। उनसे भी अपभ्रंश शब्दोंकी प्रतीति होकर वाच्य अर्थोंकी ज्ञप्ति हो जाती है।

नामजीवादयः स्थापनाजीवादयो द्रव्यजीवादयो भावजीवादयश्चेति जीवादिभेदानां प्रत्येकं नामादिभेदेन व्यवहारस्य प्रवृत्तेः परापरतत्प्रभेदानामनन्तत्वात् सर्वस्य वस्तुनोऽनन्तात्मकत्वेनैव प्रमाणतो विचार्यमाणस्य व्यवस्थितत्वात् सर्वथैकान्ते प्रतीत्यभावात्।

नामजीव, नाममनुष्य आदिक और स्थापनाजीव स्थापनाइन्द्र आदिक तथा द्रव्यजीव द्रव्यराजा आदिक एवं भावजीव, भावज्ञान आदिक इस प्रकार जीव, अजीव आदिके प्रत्येक भेदोंका नाम, स्थापना आदि भेदों करके व्यवहार होना प्रवर्त रहा है। उन भेद प्रभेदोंके भी न्यारे नाम, स्थापना आदिकोंका पुनः नाम आदि निक्षेपोंसे व्यवहार हो रहा है। पदार्थोंके पर अपर भेद और उनके भी अवान्तर प्रभेद अनन्त हैं। जिस श्रुतज्ञानी जीवकी जितनी अधिक शक्ति होगी उतना ही अधिक वस्तुके उदरमें प्रविष्ट होकर नाम आदिकोंके द्वारा वस्तुके अन्तस्तलपर पहुंच जाता है। सम्पूर्ण वस्तुएं अनन्त धर्मोंसे तदात्मकपने करके ही प्रमाणोंके द्वारा विचारी गयीं व्यवस्थित हो रही

हैं। बौद्ध कापिल, आदिके सर्वथा एकान्त पक्षके अनुसार गढ़ लिये गये पदार्थोंकी प्रतीति नहीं हो रही है। अनेक धर्मोंसे जटिल हो रही वस्तुकी यथावत् परीक्षणा करना स्याद्वाद सिद्धान्तके वेत्ता स्याद्वादीकी नयचक्रपरिपाटीसे ही साध्य कार्य है। अन्य दार्शनिकोंको यह मार्ग दुर्गम है। तभी तो वे परस्परमें अनेक प्रकारके उपद्रव कर रहे हैं।

ननु नामादयः केऽन्ये न्यस्यमानार्थरूपतः।
यैर्न्यासोऽस्तु पदार्थानामिति केप्यनुयुञ्जते ॥ ७९ ॥
तेभ्योपि भेदरूपेण कथञ्चिदवसायतः।
नामादीनां पदार्थेभ्यः प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥ ८० ॥
नामेन्द्रादिः पृथक्तावद्भावेन्द्रादेः प्रतीयते।
स्थापनेन्द्रादिरप्येवं द्रव्येन्द्रादिश्च तत्त्वतः ॥ ८१ ॥
तद्भेदश्च पदार्थेभ्यः कथञ्चिद्घटरूपवत्।
स्थाप्यस्थापकभावादेरन्यथानुपपत्तितः ॥ ८२ ॥

यहां शंका है कि निक्षेप किये गये जीव आदि पदार्थोंके स्वरूपसे भिन्न नाम आदिक और क्या पदार्थ हैं ? जिनसे कि सम्यग्दर्शन आदि पदार्थोंका न्यास होना माना जावे। अर्थात् नाम आदिकोंसे जीव आदि पदार्थोंका न्यास होता है, इस वाक्यमें पडे हुए तीनों पदोंका न्यारा न्यारा अर्थ नहीं प्रतीत होता है, एक ही ढंग दीखता है। इस प्रकार कोई भी वादी जैनोंके ऊपर कटाक्ष कर रहे हैं। आचार्य समझाते हैं कि तिन वादियोंको हम प्रायः करके पहिले ही यह उत्तर दे चुके हैं कि नामनिक्षेप द्वारा व्यवहृत किये गये इन्द्र आदि पदार्थ निश्चय कर स्वर्गस्थ भावइन्द्र आदि पदार्थोंसे पृथग्भूत प्रतीत हो रहे हैं और इसी प्रकार, पाषाण, काष्ठ, आदिमें थापे गये इन्द्र आदि भी सौधर्म आदि भाव इन्द्रोंसे न्यारे न्यारे जाने जा रहे हैं। तथा द्रव्यइन्द्र, द्रव्यराजा आदि भविष्यमें परिणत होनेवाले पदार्थ भी वर्तमान सनत्कुमार आदि इन्द्रोंसे, या राजासे वस्तुतः विभिन्न हैं, तिस कारण पदार्थोंसे नाम आदिकका कथञ्चित् भेद इष्ट किया है और उन निक्षेपकोंसे निक्षेपका भी भेद माना है, तथा पदार्थोंसे भी नाम आदिका भेद है। जैसे घट और उसके रूपका कथञ्चित् भेद है। अन्यथा स्थाप्य स्थापकभाव, वर्तमान भविष्यभाव, परिणामी परिणामभाव आदिकी व्यवस्था न बन सकेगी। सर्वथा भेदपक्षमें उक्त भाव नहीं बन पाते हैं। अर्थात् पहिले स्वर्गका सौधर्म इन्द्र स्थाप्य है, निक्षेप करनेवाला स्थापक है, किसी पुरुषका इन्द्र यह नाम करना संज्ञा है और वह पुरुष

संशेष है। अनेक शक्तिमानोंसे [illegible] करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव परिणामी है, और मृत्युके अनन्तर स्वर्गोंमें इन्द्र हो जाना परिणाम है, इत्यादि प्रकारसे नाम आदिक और न्यस्यमान पदार्थोंका कथञ्चित् भेद हो रहा है।

नामादयो विशेषा जीवाद्यर्थात् कथञ्चिद्भिन्ना निक्षिप्यमाणनिक्षेपकभावात् सामान्यविशेषभावात् प्रत्ययादिभेदाच्च। ततस्तेषामभेदे तदनुपपत्तेरिति। घटादूपादीनामिव प्रतीतिसिद्धत्वान्नामादीनां न्यस्यमानार्थाद्भेदेन तस्य तैर्न्यासो युक्त एव।

जीव आदिक पदार्थोंसे नाम, स्थापना आदिक विशेष परिणाम कथञ्चित् भिन्न हैं, क्योंकि जीव आदिक पदार्थ निक्षेपित किये जा रहे कर्म हैं और नाम आदिक निक्षेप करनेवाले करण हैं। तथा जीव आदिक पदार्थ सामान्य हैं और नाम आदिक निक्षेप विशेष है। अतः निक्षेप्यनिक्षेपकभाव और सामान्यविशेषभावसे पदार्थ और नाम आदिकोंका भेद है। इनका ज्ञान भी न्यारा न्यारा है। वाचक शब्द, प्रयोजन, संख्या, कारण आदिके भेदोंसे भी इनमें भेद है। यदि उन जीव आदिक अर्थोंसे उन नाम आदिकोंका अभेद माना जावेगा तो उक्त प्रकार वे निक्षेप्य, निक्षेपक, प्रयोजन, ज्ञान, आदि भेद नहीं बन सकेंगे। यों घटसे रूप आदिकोंके समान निक्षेप किये गये अर्थसे नाम आदिकोंकी भेदरूपसे प्रतीति होना सिद्ध है। अतः नाम आदिकोंका निक्षेपित अर्थसे भेद होनेके कारण उसका उन नाम आदिकोंसे न्यास होना युक्त ही है।

न हि नामेन्द्रः स्थापनेन्द्रो द्रव्येन्द्रो वा भावेन्द्रादभिन्न एव प्रतीयते येन नामेन्द्रादिविशेषाणां तद्वतो भेदो न स्यात्।

नामसे निक्षेप किया गया इन्द्र नामक पुरुष और स्थापनासे निक्षेप किया गया पाषाणका इन्द्र तथा भविष्यमें इन्द्र होनेवाला पूजक मनुष्य या कुछ पल्योंकी आयुको भोगचुका स्वर्गका द्रव्यनिक्षेपसे होनेवाला भावी इन्द्र ये सब पदार्थ इस वर्तमान कालके भावरूप इन्द्रसे अभिन्न ही प्रतीत हो रहे हैं, यह नहीं मानना। जिससे कि नाम इन्द्र, स्थापना इन्द्र आदि विशेष परिणामोंका उनसे सहित होरहे निक्षिप्यमाणपदार्थोंसे भेद न होता, अर्थात् निक्षिप्य और निक्षेपकोंमें कथञ्चित् भेद है।

नन्वेवं नामादीनां परस्परपरिहारेण स्थितत्वादेकत्रार्थेऽवस्थानं न स्यात् विरोधात् शीतोष्णस्पर्शवत्, सत्त्वासत्त्ववद्वेति चेन्न, असिद्धत्वाद्विरोधस्य नामादीनामेकत्र दर्शनात् विरोधस्यादर्शनसाध्यत्वात्। परमैश्वर्यमनुभवत्कश्चिदात्मा हि भावेंद्रः सांप्रतिकेन्द्रत्वपर्यायाविष्टत्वात्। स एवानागतमिंद्रत्वपर्यायं प्रति गृहीताभिमुख्यत्वाद्द्रव्येन्द्रः, स एवेन्द्रान्तरत्वेन व्यवस्थाप्यमानः स्थापनेन्द्रः, स एवेन्द्रान्तरनाम्नाभिधीयमानो नामेन्द्र इत्येकत्रात्मनि दृश्यमानानां कथमिह विरोधो नाम अतिप्रसंगात्।

यहां आक्षेप सहित शंका है कि इस प्रकार निक्षेप्य और निक्षेपकोंमें भेद होनेपर तो नाम, स्थापना आदिकोंका परस्परमें भी एक दूसरेका निराकरण करते हुए भेद होना स्थित होगा तब तो

ऐसी दशामें नाम आदिकोंका विरोध हो जानेके कारण एक पदार्थमें उनका स्थित रहना न बन सकेगा। जैसे कि शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श अथवा सत्त्व और असत्त्वधर्म एक पदार्थमें युगपत् नहीं पाये जाते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना। क्योंकि नाम आदिकोंका विरोध कहना असिद्ध है। कारण कि नहीं देखनेसे विरोध साध्य किया जाता है। अर्थात् योग्यता होते हुए भी एकके होने पर दूसरा कैसे भी वहां न दीखे तो उन दोनोंका परस्परमें विरोध मान लिया जाता है, किन्तु यहां एक पदार्थमें नाम, स्थापना, आदिक निक्षेप युगपत् होरहे देखे जाते हैं। अतः अनुपलम्भ प्रमाणसे साधने योग्य विरोध यहां कैसे भी नहीं है। जिस कारणसे कि सुधर्मा सभामें इदि धातुके अर्थ परमैश्वर्यको अनुभव कर रहा कोई आत्मा वर्तमानकालकी इन्द्र पर्यायसे घिरा हुआ होनेके कारण भावइन्द्र है। वही भावइन्द्र सौधर्म शचीपति भविष्यमें अनेक पल्योंतक भोगी जाने योग्य अपनी इन्द्रत्वपर्यायके प्रति अभिमुखताको ग्रहण करनेसे द्रव्यरूप इन्द्र है। अर्थात् जैसे कोई राजा वर्तमान राजसिंहासनपर आरूढ है और आगे भी कुछ वर्षोंतक आरूढ रहेगा। अतः भविष्य राजापनकी अपेक्षासे वर्तमानका राजा द्रव्यनिक्षेप करके भी राजा है। तथा वही शचीपति अन्य भवनवासी या कल्पवासी देवोंके दूसरे वैरोचन, ईशान, आदि इन्द्रपनेसे विशेषतया स्थापना कर लिया जाय तो भाव इन्द्र ही स्थापना इन्द्र हो जाता है। एक राजामें दूसरे राजाकी स्थापना की जा सकती है, कोई क्षति नहीं। तथा वही सौधर्म इन्द्र ब्रह्म, आनत, आदि दूसरे इन्द्रोंके नामसे कहा गया संता नामइन्द्र भी हो जाता है। इस प्रकार भाव इन्द्ररूप एक ही आत्मामें नाम, स्थापना, और द्रव्यनिक्षेप युगपत् पाये जाते हैं। इस प्रकार एक आत्मामें देखे जा रहे नाम आदिकोंका विरोध इस प्रकरणमें भला कैसे हो सकता है? अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। यानी देखे हुए पदार्थों में भी परस्पर विरोध मान लिया जावेगा तो माता पुत्र, रूप रस, आदि या ज्ञान, सुख, आदिका भी विरोध हो जावेगा। कहीं कहीं रूप रसका और ज्ञान सुख आदि गुणोंका परस्पर परिहार लक्षण विरोध माना है। किंतु वह केवल गुणभेदका पोषक है। विरोधका सिद्धान्त लक्षण यही अच्छा है कि "एकत्र द्वयोः सहानवस्थानम् विरोधः" एक स्थानपर दो पदार्थोंका साथ न रहना विरोध है। सहानवस्थान, परस्पर परिहारस्थिति, वध्यघातक इन तीन विरोधोंमेंसे सहानवस्थान विरोधका ही शंकाकारने उत्थान किया था। गौ व्याघ्र या सर्प नकुल और वृक बकरी, बिल्ली मूसटा आदिका विरोध कहना भी उपचार है। दयालु मुनिके पास या समवसरणमें तथा आजकल भी अभ्यास करानेसे गौव्याघ्र आदि एक स्थानपर दीख सकते हैं। मन्त्र, तन्त्र, भय, अहिंसा आदिसे उनका साथ रहना अब भी बन जाता है। ठीक विरोध तो रूप और ज्ञान या चेतन तथा अचेतनपनेका है। दूसरी बात यह है कि विरोध भी एक धर्म है। भिन्न भिन्न विवक्षाओंसे विरोध भी धर्मीमें पडे रहें तो कोई बोझ नहीं बढता है। वस्तुका अंश होकर बना रहेगा।

तत एव न नामादीनां संकरो व्यतिकरो वा स्वरूपेणैव प्रतीतेः।

तिस ही कारण नाम आदिकोंका परस्परमें संकर व्यतिकर दोष भी नहीं है। परस्परमें परावर्तित (बदली हुयी) की गयी अपेक्षासे हुये सांकर्यको या सम्पूर्ण धर्मोंकी एक समयमें प्राप्ति हो जानेको संकर कहते हैं, और परस्परमें विषयके बदल जानेको या चाहे तिस अपेक्षाका चाहे जिस विषयमें चले जानेको व्यतिकर कहते हैं। यहां नाम आदि निक्षेपोंकी अपने अपने स्वरूपसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक एक अर्थमें प्रतीति हो रही है। अतः उक्त दोनों दोष नहीं आते हैं।

तदनेन नामादीनामेकत्राभावसाधने विरोधादिसाधनस्यासिद्धिरुक्ता।

तिस कारण इस कथनसे यह कहा गया कि एक स्थानमें नाम आदि निक्षेपोंका अभाव सिद्ध करनेमें दिये गये विरोध, संकर आदि हेतु असिद्ध हेत्वाभास हैं। यानी विरोध आदि हेतु नाम आदिक पक्षमें नहीं रहते हैं, जब हेतु ही पक्षमें न रहा तो वह साध्यको क्या सिद्ध करेगा ? यानी नहीं। भावार्थ यों है कि अवयवीको माननेवाले जैन-सिद्धान्तके अनुसार विचारा जाय तो लोकप्रसिद्ध विरोधोंका मिलना ही दुर्लभ है एक धूपघटके नीचले प्रदेशमें शीतस्पर्श है और ऊपर उष्णस्पर्श है। अग्नि भी शीतऋतुमें अपेक्षाकृत शीतल हो जाती है। मेरुको सब ओरसे उत्तर माननेके सिद्धान्त अनुसार सूर्यका उदय पश्चिम दिशामें भी हो जाता है। कोई कोई पत्थर पानीमें तैर जाता है। विशेष लकडी पानीमें डूब जाती है। स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा एक पदार्थमें सत्त्व और असत्त्व धर्म रह जाते हैं। शिक्षा, मंत्र, ऋद्धि, दयाभाव, भय, आदि कारणोंसे सर्प और नकुल तथा सिंह और गौ एवं चूहा बिल्ली भी एक स्थानपर पाये जाते हैं। परस्परमें एक दूसरेका परिहार कर स्थित रहनेवाले रूप, रस, तथा ज्ञान, सुख, आदि तो एक ही द्रव्यमें रहते हैं। हां ! शास्त्रीय मुद्रासे विरोध यों चरितार्थ हो जाता है कि आकाशमें ज्ञान या रूपके रहनेका विरोध है। आत्मामें वर्तनाके हेतुपन और स्पर्शका विरोध है। अभव्यके सम्यग्दर्शन हो जानेका विरोध है। सर्वज्ञ उसी समय अल्पज्ञ नहीं हो सकता है। सूर्य विमान नरकोंमें भ्रमण नहीं करता है। सिद्ध परमेष्ठी अब संसारी नहीं हो सकते हैं आदि।

येनात्मना नाम तेनैव स्थापनादीनामेकत्रैकदा विरोध एवेति चेत् न,तथानभ्युपगमात्।

किसीका पक्ष है कि जिस स्वभाव करके नाम निक्षेप है। उसी स्वरूप करके तो स्थापना निक्षेप या द्रव्यनिक्षेप नहीं है अतः एक इन्द्र आत्मामें भी नाम, स्थापना आदिकोंका एक कालमें विरोध ही हुआ, आचार्य उत्तर करते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तिस प्रकार तो हम स्वीकार नहीं करते हैं। यानी हमारे यहां जिस धर्मके द्वारा नाम है उसी धर्म करके स्थापनानिक्षेप नहीं माना गया है। सम्भावना होनेपर तो विरोधकी कल्पना की जा सकती है, किंतु जहां सम्भावना ही नहीं, वहां विरोध दोष उठाना भी कैसा ? भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे नाम आदिक एकमें युगपत् पाये जाते है।

एकत्रार्थे विरोधश्चेन्नामादीनां सहोच्यते ।
नैकत्वासिद्धितोऽर्थस्य बहिरन्तश्च सर्वथा ॥ ८३ ॥

एक पदार्थमें नाम आदिकोंके साथ रहनेका यदि विरोध कहोगे, सो तो नहीं कहना चाहिये क्योंकि बहिरंग और अन्तरंग अर्थोंमें सभी प्रकारोंसे एकपनेकी असिद्धि है । भावार्थ—ज्ञान, आत्मा, सुख आदि अन्तरंग पदार्थ तथा घट, अग्नि, पाषाण, आदि बहिरंग पदार्थ अनेक स्वभाववाले हैं। अतः न्यारे न्यारे स्वभावोंसे एक अर्थमें सभी नाम आदिक एक साथ सप्रसाद ठहर जाते हैं ।

न हि बहिरन्तर्वा सर्वथैकस्वभावं भावमनुभवामो नानैकस्वभावस्य तस्य प्रतीतेर्बाधकाभावात् । न च तथाभूतेर्थे, येन स्वभावेन नामव्यवहारस्तेनैव स्थापनादिव्यवहरणं तस्य प्रतिनियतस्वभावनिबन्धनतयानुभूतेरिति कथं विरोधः सिद्ध्येत् ?

इस कारिकाकी टीका यों है कि बहिरंग अथवा अन्तरंग सम्पूर्ण पदार्थोंको एक ही स्वभावसे युक्तपना हम नहीं जान रहे हैं, किंतु अनेक, एक, स्वभावोंसे युक्त उन पदार्थोंकी प्रतीति हो रही है । पदार्थोंके अनेक स्वभावरूप प्रधान धर्मको जाननेवाली उस प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है । तिस प्रकार अनेक एक स्वभावोंसे तदात्मक परिणमे हुए अर्थमें जिस स्वभाव करके नाम व्यवहार है, उस ही करके स्थापना आदिका व्यवहार नहीं है, क्योंकि उन नाम, स्थापना, द्रव्य, आदि व्यवहारोंमेंसे प्रत्येकके लिये नियत न्यारे न्यारे स्वभावोंको कारणपनेकी प्रतीति हो रही है । यानी नाम आदि प्रत्येकका कारण न्यारा न्यारा वस्तुमें स्वभाव पडा हुआ है नाम निक्षेपकी योग्यतारूप स्वभाव न्यारा है और स्थापना निक्षेपकी योग्यतारूप स्वभाव वस्तुमें निराला है । वस्तुमें अनन्तानन्त स्वभाव हो जानेका भय नहीं करना चाहिये । देवदत्तकी भोजन क्रियाके अत्यल्पकालमें भी अनेक स्वभाव माने विना कार्य नहीं चल सकता है । रोटी, दाल, खिचडी आदिको खानेके लिये न्यारी न्यारी आकृति और भिन्न भिन्न प्रयत्न करने पडते हैं । हलुआ खानेके ढंगरूप स्वभावसे सुपारी नहीं खायी जा सकती है और दूध पीनेके प्रयत्नरूप स्वभावसे मोदक नहीं खाया जा सकता है । कार्यमें थोडीसी भी विशेषता कारणोंके विशिष्ट स्वभावों विना नहीं आसकती है । अतः भिन्न भिन्न स्वभावों करके ही एक वस्तुमें नाम आदिका व्यवहार अनुभूत हो रहा है तो फिर इस कारण नाम आदिकोंका विरोध कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् नहीं । "यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः" प्रत्येक वस्तुसे जितने भी छोटे बडे अनेक कार्य होरहे हैं उतने उसके असंख्य स्वभाव हैं ।

किञ्च नामादिभ्यो विरोधोनन्योऽन्यो वा स्यादुभयरूपो वा ?

शंकाकारके प्रति आचार्य दूसरी बात यह भी कहते हैं कि आप नाम, स्थापना, आदिकोंका परस्परमें विरोध मानते हैं, यानी एक समय एक पदार्थमें नाम आदिक चारों निक्षेपक विरोध होनेके

कारण नहीं ठहरते हैं, अब तुम बतलाओ कि नाम आदिकोंसे वह विरोध अभिन्न है अथवा भिन्न है या भिन्नाभिन्न उभयरूप होगा ? उत्तर दीजिये ।

प्रथमद्वितीयपक्षयोर्नासौ विरोधक इत्याह;—

तिन तीन प्रकारके विकल्पोंमें पहिला और दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर तो वह विरोध उन अपने आधारभूतोंका विरोध करनेवाला नहीं हो सकता है । इसी बातको आचार्य महाराज स्पष्ट कहते हैं—

नामादेरविभिन्नश्चेद्विरोधो न विरोधकः ।
नामाद्यात्मवदन्यश्चेत्कः कस्यास्तु विरोधकः ॥ ८४ ॥

नाम और स्थापना आदिके बीचमें पडा हुआ विरोध यदि नाम आदिकोंसे विशेषतया अभिन्न है तो वह विरोधक नहीं हो सकता है। जैसे नाम, स्थापना, आदिकका आत्मभूत स्वरूप स्वयं अपना विरोधक नहीं है । पदार्थोंके अभिन्न निजस्वरूप अपनेसे ही यदि विरोध करने लगेंगे, तब तो संसारमें कोई भी पदार्थ नहीं ठहर सकेगा । क्योंकि पदार्थोंका अपना अपना स्वरूप अपनेसे विरोध करके अपने आप अपना और पदार्थका मटियामेट कर लेगा । यों तो शून्यवाद छा जावेगा । अतः पहिला अभेद पक्ष गया । द्वितीय पक्षके अनुसार यदि नाम, स्थापना आदिके बीचमें पडा हुआ विरोध नाम आदिकोंसे भिन्न मानोगे तो कौन किसका विरोधक होगा ? अर्थात् सभी स्थानोंपर अनेक भिन्न पदार्थ पडे हुए हैं, अथवा भिन्न उदासीन पडा हुआ विरोध भी विरोध करनेवाला हो जाय तो चाहे जो पदार्थ जिस किसीका विरोधक बन बैठेगा । फिर भी शून्यवादका प्रसंग होगा । तथा विनिगमविरहदोष भी लागू होगा । सर्पसे नकुल जैसे विरोध करता है उसी प्रकार सर्पके भिन्न पडे हुए बच्चे भी उससे विरोध करने लग जावेंगे । विरुद्धय और विरोधक व्यवस्था न बन सकेगी ।

न तावदात्मभूतो विरोधो नामादीनां विरोधकः स्यादात्मभूतत्वान्नामादिस्वात्मवत् विपर्ययो वा । नाप्यनात्मभूतोऽनात्मभूतत्वाद्विरोधकोऽर्थान्तरवत् विपर्ययो वा ।

तीन पक्षोंमें पहिले अभेद पक्षको ग्रहण कर लेनेपर प्रतियोगी और अनुयोगी पदार्थोंमें नाम आदिकोंका आत्मस्वरूप विरोध तो विरोधक नहीं हो सकेगा, क्योंकि तदात्मक विरोध उनकी आत्मारूप ही हो रहा है, जैसे कि नाम, स्थापना, आदिकी आत्मा (स्वशरीर) नाम आदिकसे विरोध नहीं करती है। अथवा विपरीत नियम ही हो जाओ! यानी नाम आदिकसे अभिन्न पडा हुआ विरोध यदि उनमें विरोध कर रहा है तो नाम आदिकका स्वयं डील ही अपना विरोध अपने आप कर बैठे । तब तो नाम आदिक स्वयं खरविषाणके समान असत् हो जावेंगे । तथा

द्वितीय पक्षके अनुसार नाम आदिकोंका आत्मभूत नहीं होता हुआ पृथक् विरोध भी विरोधक नहीं हो सकता है। क्योंकि वह विरोध सर्वथा भिन्न पडा हुआ है, जैसे कि अनेक तटस्थ पडे हुए भिन्न पदार्थ विरोधक नहीं होते हैं। अथवा विपरीत व्यवस्था हो जाओ! यानी भिन्न पडा हुआ विरोध भी विरोधक मान लिया जावे तो वहां पडे हुए अनेक उदासीन पदार्थ भी चाहे जिसके विरोधक हो जावेंगे। सभी स्थानोंपर कार्मणवर्गणायें, आकाश, कालाणुयें, जीवद्रव्य, धर्म आदि पदार्थ तो सुलभतासे पाये जाते हैं। यदि न्यारे पडे हुए उदासीन पदार्थ विरोधक नहीं हैं तो निराला पडा हुआ विरोध भी विरोधक नहीं होगा। न्याय सबके लिए समान होता है। अथवा भिन्न विरोध यदि पदार्थोंका विरोध करे तो पदार्थ ही विरोधका विरोध क्यों नहीं कर डालें? देखो, जिसमें विरोध रहता है उसको अनुयोगी कहते हैं और जिसकी ओरसे विरोध है वह प्रतियोगी कहलाता है। विरोध संयोग आदिक पदार्थ एक एक होकर स्थूलदृष्टिसे दो आदि वस्तुओंमें रहते हैं। और सूक्ष्मदृष्टिसे दो संयोग या दो विरोध ही अनुयोगी और प्रतियोगी दो पदार्थोंमें रहते हैं। हां! विशिष्ट पर्याय बन जानेपर हम संयोगको एक मान लेते हैं। नैयायिक या वैशेषिक एक ही संयोग गुणको पर्याप्त सम्बन्धसे दो आदिमें वर्तरहा स्वीकार करते हैं। और समवाय सम्बन्धसे प्रत्येकमें वृत्ति मानते हैं।

भिन्नाभिन्नो विरोधश्चेत्किं न नामादयस्तथा।
कुतश्चित्तद्वतः सन्ति कथञ्चिद्भिदभिद्भृतः॥ ८५॥

विरोधके आधारभूत माने गये अनुयोगी, प्रतियोगीरूप विरोधियोंसे विरोध पदार्थ यदि कथञ्चित् भिन्नाभिन्न है, तब तो तिसी प्रकार उन कथञ्चित् भेदको और अभेदको धारण करनेवाले तथा नाम आदि करके विशिष्ट किन्ही पदार्थोंसे नाम, स्थापना, आदिक भी किसी अपेक्षासे भिन्नाभिन्न हो जाते हैं। भावार्थ—विरोधियोंमें विरोध जैसे भिन्न अभिन्नरूप होकर ठहर जाता है, तैसे ही एक पदार्थमें नाम आदिक भी चारों युगपत् रह जाते हैं। फिर नाम आदिकोंका विरोध कहां रहा? अर्थात् कुछ भी विरोध नहीं है।

विरोधो विरोधिभ्यः कथञ्चिद्भिन्नोऽभिन्नश्चाविरुद्धो न पुनर्नामादयस्तद्वतोऽर्था-दिति ब्रुवाणो न प्रेक्षावान्।

तृतीयपक्ष अनुसार विरोधियोंसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न रहता हुआ विरोध तो अविरुद्ध हो जाय, किन्तु फिर उन नाम आदि वाले पदार्थसे वे नाम स्थापना आदिक कथञ्चित् भिन्न अभिन्न न होंय, ऐसा कह रहा पक्षपातग्रस्त पुरुष तो विचारशालिनी बुद्धिसे युक्त नहीं है। कोरा आग्रही है।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एकस्य भवतोऽक्षीणकारणस्य यदुद्भवे ।
क्षयो विरोधकस्तस्य सोऽर्थो यद्यभिधीयते ॥ ८६ ॥
तदा नामादयो न स्युः परस्परविरोधकाः ।
सकृत्सम्भविनोऽर्थेषु जीवादिषु विनिश्चिताः ॥ ८७ ॥

परिपूर्ण कारणवाले एक पदार्थके होते हुए जिसके प्रगट होनेपर उस एकका क्षय हो जाय, वह अर्थ उसका विरोधक कहा जाता है । यदि यह विरोधकका सिद्धान्त लक्षण कहा जाता है तब तो जीव आदिक पदार्थोंमें उसी समय एक बारमें भले प्रकार होते हुए निश्चित किये गये नाम, स्थापना, आदिक पदार्थ परस्परमें विरोधक न हो सकेंगे । भावार्थ—अन्धेरेके परिपूर्ण कारण मिल जानेसे रात्रिमें अन्धेरा हो रहा है । प्रातःकाल सूर्यके उदय होनेपर उस अंधेरेका नाश हो जाता है । अतः सूर्यप्रकाश अन्धेरेका विरोधक है । आतप और अन्धेरा एक स्थानपर नहीं ठहरते हैं, अतः इनमें सहानवस्थान विरोध मानना सर्वसम्मत है । किन्तु अनेक स्थलोंपर नाम, स्थापना आदि एक साथ रहते हुए निर्णीत हो रहे हैं । एकके उत्पन्न हो जानेपर दूसरेका क्षय नहीं हो जाता है । अतः विरोधका सिद्धान्तलक्षण न घटनेसे इनमें परस्पर विरोध नहीं कहा जा सकता है ।

न विरोधो नाम कश्चिदर्थो येन विरोधिभ्यो भिन्नः स्यात् केवलमक्षीणकारणस्य सन्तानेन प्रवर्तमानस्य शीतादेः क्षयो यस्योद्भवे, पावकादेः स एव तस्य विरोधकः । क्षयः पुनः प्रध्वंसाभावलक्षणः कार्यान्तरोत्पाद एवेत्यभिन्नो विरोधिभ्यां भिन्न इव कुतश्चिद्व्यवह्रियत इति यदुच्यते तदापि नामादयः क्वचिदेकत्र परस्परविरोधिनो न स्युः सकृत्सम्भवित्वेन विनिश्चितत्वात् ।

विरोध नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जिससे कि वह विरोधियोंसे भिन्न माना जाय, वैशेषिक जन विरोधको स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं और विरोधियोंसे उसको भिन्न विचार करते हैं । धर्मीरूप सात पदार्थोंसे अतिरिक्त अवच्छेदकत्व, विरोध आदि धर्मस्वरूप पदार्थ अनेक हैं । किन्तु जैन-सिद्धान्तसे वह मन्तव्य खण्डित हो जाता है । निमित्त मिल जानेपर किन्हीं वस्तुओंका विशिष्ट परिणाम हो जाना ही विरोध है । विरोधका केवल व्याख्यान इतना ही है कि कारणोंकी क्षति नहीं होते हुए सन्तानसे प्रवर्तित चले आ रहे शीत, अन्धकार, आदिका नाश जिस अग्नि, सूर्य, आदिके प्रगट हो जानेपर हो जाता है वे अग्नि, आदिक ही उस शीत आदिकके विरोधक माने जाते हैं । अर्थात् अग्निके आ जानेपर शीतका क्षय होना विरोध है । यह क्षय होना फिर कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है किन्तु प्रध्वंसाभावरूप एक पर्याय है । वैशेषिकोंके यहां माना गया ध्वंस पदार्थ तुच्छ अभाव

है। जैन-सिद्धान्तके अनुसार तो दूसरे कार्यका उत्पाद हो जाना ही हेतुका ध्वंस है। घटका ध्वंस कपालका उत्पादरूप है। आत्माकी कैवल्य अवस्था हो जाना या कर्मद्रव्यकी कर्मपनेसे रहित पुद्गल पर्याय हो जाना ही कर्मोंका ध्वंस है। श्रीसमन्तभद्राचार्यने कहा है कि "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" उपादान कारणका क्षय कार्यका उत्पाद होनारूप है। इस कारण विरोधियोंसे अभिन्न होता हुआ भी वह विरोध किसी कारणवश भिन्न सरीखा ही व्यवहारमें कहा जाता है। जैसे कि शीत उष्णका विरोध है। इस प्रकार जो कहा जावेगा तब भी नाम, स्थापना, आदिक निक्षेपक किसी एक पदार्थमें परस्पर विरोधवाले न हो सकेंगे, क्योंकि वे नाम आदि एक समय ही एक पदार्थमें दो, तीन, चार सकुशल हो रहेपनसे अच्छे निश्चित कर लिये गये हैं।

न हि द्रव्यस्य प्रबन्धेन वर्तमानस्य नामस्थापनाभावानामन्यतमस्यापि तत्रोद्भवे क्षयोऽनुभूयते नाम्नो वा स्थापनायाः भावस्य वा तथा वर्तमानस्य तदितरप्रवृत्तौ येन विरोधो गम्येत। तथानुभवाभावेऽपि तद्विरोधकल्पनायां न किञ्चित्केनचिदविरुद्धं सिद्ध्येत्।

बहुत कालसे पर्यायप्रवाहरूप रचनाविशेष करके वर्त रहे द्रव्यके होते संते वहां नाम, स्थापना और भावोंमेंसे किसी भी एकके प्रकट हो जानेपर उस द्रव्यका क्षय होना नहीं जाना जाता है। अथवा नाम या स्थापना अथवा भावके पूर्ण कारण होते हुए तैसी प्रवृत्ति करते संते उनमेंसे किसी अन्यकी प्रवृत्ति होनेपर उनका नाश होना नहीं देखा जाता है, जिससे कि नाम आदिकका परस्परमें विरोध होना समझ लिया जाय। यदि तिस प्रकार अनुभव नहीं होते हुए भी उन नाम आदिकमें विरोधकी कल्पना करोगे तब तो कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थसे अविरुद्ध सिद्ध न होगा। अर्थात् नाशको न करनेवाला भी विरोधी माना जावेगा, तब तो एक शरीरमें स्थित हो रहे अनेक अङ्गोंका अथवा पञ्चाङ्गुलमें अंगुलियोंका या एकत्र बैठे हुए अनेक विद्वानोंका भी विरोध ठन जावेगा। यहांतक अव्यवस्था हो जावेगी कि सबका सबसे विरोध हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

न च कल्पित एव विरोधः सर्वत्र तस्य वस्तुधर्मत्वेनाध्यवसीयमानत्वात् सत्त्वादिवत्। सत्त्वादयोऽपि सत्त्वेनाध्यवसीयमानाः कल्पिता एवेत्ययुक्तं तत्त्वतोऽर्थस्यासत्त्वादिप्रसंगात्।

दूसरी बात यह है कि बौद्ध जन विरोधको सर्वथा कल्पित ही कहें, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि सभी स्थलोंपर वह विरोध वस्तुका धर्म होकर निर्णीत किया जा रहा है। जैसे कि सत्त्व, क्षणिकत्त्व, अविसंवादकत्व, आदि वस्तुओंके मुख्य धर्म हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि सत्त्व आदिक धर्म भी विकल्पज्ञान द्वारा सत्पनेकरके निश्चित किये हुए हैं, अतः वे कल्पित ही हैं। वस्तुतः सत्पना, स्वलक्षणपना, क्षणिकपना आदिकी सभी कल्पनाओंसे रहित और निर्विकल्पक प्रत्यक्षका

विषय हो रहा पदार्थ ही मुख्य है, निश्चय स्वरूप विकल्पज्ञानसे जाने गये सत्त्व आदिक तो सब कल्पितधर्म हैं, यह बौद्धोंका कहना युक्तिशून्य है। क्योंकि ऐसा मानने पर परमार्थरूपसे पदार्थोंको असत्पने, अक्षणिकपने आदिका प्रसंग हो जावेगा, यानी बौद्धोंके माने गये पदार्थ सत् और क्षणिक न हो सकेंगे। यह अनिष्टापत्ति हुयी।

सकलधर्मनैरात्म्योपगमाददोषोऽयमिति चेत् कथमेवं धर्मी तात्त्विकः ? सोऽपि कल्पित एवेति चेत्, किं पुनरकल्पितम् ? स्पष्टमवभासनं स्वलक्षणमिति चेत् नैकत्रेन्दौ द्वित्वस्याकल्पितत्वप्रसंगात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि हम तो वास्तविक तत्त्वमें सम्पूर्ण धर्मोंका निरात्मकपना (निषेध) स्वीकार करते हैं, अर्थात् हमारे पदार्थोंमें क्षणिकत्व, सत्त्व, धर्म भले ही न रहो। कोई क्षति नहीं। हमारी ओरसे सभी धर्म मिट जावें, सो ही अच्छा है। हम तो पदार्थोंके स्वभावरहितपनेरूप नैरात्म्य भावनाओंसे ही मोक्ष प्राप्त करना इष्ट करते हैं। बौद्धोंके ऐसा कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार आपका माना हुआ धर्मी भला वास्तविक कैसे होगा ? अर्थात् जब धर्म ही नहीं है तो धर्मोंको धारण करनेवाला धर्मी वस्तुभूत कैसे हो सकता है ? जब कि अश्वविषाण ही नहीं है तो उसको धारण करनेवाला आधार कैसे माना जा सकता है। यहां बौद्ध यदि यों कहें कि वह धर्मी भी कल्पित ही है। मुख्य नहीं है, ऐसा कहने पर तो हम पूछेंगे कि फिर तुम बतलाओ कि तुम्हारे यहां अकल्पित पदार्थ क्या माना गया है ? किसीको मुख्य माने विना गौणकी कल्पना होती नहीं। यदि तुम यों कहो कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो रहा स्वलक्षण पदार्थ ही वास्तविक है, यह तो न कहना, क्योंकि जिसका स्पष्ट प्रतिभास होता है, वह वास्तविक है। ऐसा नियम करनेसे तो अंगुली लगाकर आंखको कुछ मींचने पर नेत्रजन्य स्पष्ट ज्ञान द्वारा एक चन्द्रमामें ज्ञात हुए दोपनेको भी अकल्पितपनेका प्रसंग होगा, यानी एक ही चन्द्रमा स्पष्ट दीखनेके कारण वास्तविक दो हो जावेंगे। स्वप्नमें भी अनेक पदार्थ स्पष्ट जाने जाते हैं, किन्तु वे मुख्य या वास्तविक नहीं।

यदि पुनरबाधितस्पष्टसंवेदनवेद्यत्वात्स्वलक्षणं परमार्थसत् नैकत्रेन्दौ द्वित्वादिबाधितत्वादिति मन्यसे तदा कथमबाधितविकल्पाध्यवसीयमानस्य धर्मस्य धर्मिणो वा परमार्थसत्त्वं निराकुरुषे।

इस प्रसंगके निवारणार्थ यदि फिर तुम बौद्ध यह मानोगे कि बाधारहित स्पष्ट संवेदनके द्वारा जानने योग्य होनेके कारण स्वलक्षण तो वास्तविक सत्पदार्थ है, किन्तु एक चन्द्रमामें दोपना, तीनपना आदि वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि वे धर्म उत्तरकालमें हुए बाधक प्रमाणोंसे बाधित हो जाते हैं। स्वप्नमें हुआ ज्ञान भी बाधित है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो आपका नियम बहुत अच्छा है। अब तुम पक्षपात रहित होकर विचारोगे तो स्वलक्षणके समान उसी प्रकार बाधारहित विकल्पज्ञानके

द्वारा निर्णीत किये जा रहे धर्म और धर्मीका परमार्थरूपसे सत्पना भला कैसे निराकृत करोगे ? यानी निर्बाध विकल्पज्ञानसे जाने गये धर्म और धर्मीको भी मुख्य वस्तु मान लो। हां ! सबाध ज्ञानोंसे जान लिये गये कल्पित पदार्थोंको न मानना।

विकल्पाध्यवसितस्य सर्वस्याबाधितत्वासम्भवान्न वस्तुसत्त्वमिति चेत्, कुतस्तस्य तदसम्भवनिश्चयः। विवादापन्नो धर्मादिर्नाबाधितो विकल्पाध्यवसितत्वात् मनोराज्यादिवदित्यनुमानादिति चेत्, स तर्ह्यबाधितत्वाभावस्तस्यानुमान विकल्पेनाध्यवसितः परमार्थसन्नपरमार्थसन् वा ? प्रथमपक्षे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः, पक्षान्तरे तत्त्वतस्तस्याबाधितत्वं अबाधितत्वाभावस्याभावे सदबाधितत्वविधानात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि झूंठे विकल्पज्ञान द्वारा निर्णीत किये गये सम्पूर्ण धर्म, धर्मी, आदि पदार्थोंको अबाधितपना असम्भव है, यानी सभी विकल्पज्ञानोंसे जाने गये पदार्थोंमें बाधा उपस्थित हो ही जाती है अतः वे वास्तविक सत्पदार्थ नहीं हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि तुमने उनको अबाधितपनेके असम्भवका निश्चय कैसे किया बतलाओ ? अब यहां बौद्ध अनुमान प्रयोग रचते हैं कि विवादरूप क्रूर ग्रहसे ग्रसित हो रहे धर्म, धर्मी आदिक (पक्ष) अबाधित नहीं हैं (साध्य) विकल्पज्ञानसे निश्चित होनेके कारण (हेतु) जैसे कि मनमें राज्य प्राप्त कर लेना या स्वप्नमें धन प्राप्त कर लेना आदिक विषय विचारे कल्पनाओंसे ज्ञेय होनेके कारण परमार्थभूत नहीं हैं। इस अनुमानसे यदि अबाधितपनेका निषेध सिद्ध करोगे तो हम आपके ऊपर विकल्प उठाते हैं कि उस धर्म, धर्मी, आदिकको अबाधितपनेका अभाव जो कि आपने अनुमानरूप विकल्पज्ञानसे निर्णीत किया है वह वास्तविक सत् है या वस्तुभूत नहीं है ? बताओ। पहिला पक्ष लेनेपर यानी अबाधितत्वाभाव वास्तविक पदार्थ है तब तो तिस वास्तविक अबाधितत्वाभाव पदार्थसे ही तुम्हारे हेतुका व्यभिचार हुआ अर्थात् अबाधितत्वाभावमें विकल्पज्ञानसे निर्णीत किया गयापन हेतु रह गया और अबाधितत्वाभावरूप साध्य न रहा। क्योंकि आपने इसको अबाधित यानी वास्तविक मान लिया है। दूसरा पक्ष ग्रहण करनेपर यानी अबाधितत्वाभाव पदार्थ वास्तविक नहीं है तब तो वास्तविकरूपसे उसको अबाधितपना आगया, यानी अबाधितत्वाभाव जब वास्तविक नहीं रहा तो धर्म, धर्मी आदिमें अबाधितपना ही वास्तविक रहा। अबाधितपनेके अभावका अभाव हो जानेपर उसके अबाधितपनेका ठीक विधान हो जाता है। घटाभावके अभाव कर देनेपर घटके अस्तित्वका विधान हो जाता है। बात यह है कि निर्णय किये विना बौद्धोंका भी कार्य नहीं चल सकता है। बाधारहित निर्णयज्ञानके विषयको वास्तविक मानना उनको आवश्यक पडेगा, अन्यथा कोई गति नहीं है।

न चाविचारसिद्धयोर्धर्मिधर्मयोरबाधितत्वाभावः प्रमाणसिद्धमबाधितत्वं विरुणद्धि संवृत्तिसिद्धेन परमार्थसिद्धस्य बाधनानिष्टेः। तदिष्टौ वा स्वेष्टसिद्धेरयोगात्।

और दूसरी बात यह भी है कि बौद्धोंसे मान लिया गया और बिना विचारे सिद्ध कर लिये गये धर्मी तथा धर्मका अबाधितत्वाभाव (कर्त्ता) धर्म, धर्मीके प्रमाण द्वारा साधे गये अबाधितत्व (कर्म) का विरोध नहीं करता है। कल्पनारूप व्यवहार द्वारा सिद्ध कर लिये गये पदार्थसे परमार्थ-रूप करके सिद्ध हुए पदार्थका बाधित हो जाना इष्ट नहीं किया है। क्या मिट्टीसे बनाया गया नौला वस्तुभूत सर्पको बाधा पहुंचा सकता है ? पत्रपर लिख दी गयी अग्नि शीतको दूर नहीं कर सकती है, तैसे ही बौद्धोंके द्वारा कल्पनारूप अनुमानसे जान लिया गया धर्मधर्मीका बाधितत्वाभाव भी प्रमाणप्रसिद्ध अबाधितत्वका बाधक नहीं हो सकता है, और यदि कल्पित पदार्थोंसे वास्तविक अर्थोंका वह बाधित होना इष्ट कर लोगे तो बौद्धोंके द्वारा स्वयं अपने इष्टकी सिद्धि न हो सकेगी। जो कुछ तत्त्व वे मानेंगे कल्पना किये गये उसके विरुद्ध तत्त्वसे तिसका खण्डन हो जावेगा। पत्रमें सिंहके सिरपर बकरी बैठा देनेका चित्र खींचना सरल है, किन्तु वनमें स्वतन्त्र विचरते हुए सिंहके सिरपर छिरियाका बैठकर किलोल करना दुःसाध्य है।

कथं विकल्पाध्यवसितस्याबाधितत्वं प्रमाणसिद्धमिति चेत्, दृष्टस्य कथम् ? बाधकाभावादिति चेत्, तत एवान्यस्यापि । न हि दृष्टस्यैव सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वथा बाधकाभावो निश्चेतुं शक्यो न पुनरध्यवसितस्येति ब्रुवाणः स्वस्थः प्रतीत्यपलापात् ।

बौद्ध पूंछते हैं कि विकल्पसे निर्णीत किया गया धर्म, धर्मीका अबाधितपना प्रमाणोंसे सिद्ध है यह आप जैनोंने कैसे जाना ? कहिये। ऐसा पूंछनेपर हम भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप दर्शनसे जान लिये गये स्वलक्षणरूप दृष्टका अबाधितपना तुम बौद्धोंने कैसे जाना ? बताओ। दृश्यका अबाधितपना तो बाधक प्रमाणोंके न होनेसे जान लिया गया है। यदि आप सौगत ऐसा कहोगे तो हम जैन भी कहते हैं कि तिस बाधकाभाव होनेसे ही विकल्पसे निर्णीत किये गये दूसरे विकल्प्यका भी अबाधितपना जान लिया जाता है। बौद्ध कहता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे देखे गये पदार्थका ही सब स्थानोंमें सर्व कालमें सब जीवोंके सभी प्रकारसे बाधकका अभाव निश्चय किया जा सकता है किन्तु फिर अध्यवसायरूप ज्ञानसे जाने गये विकल्प्यका बाधकाभाव निश्चय नहीं किया जा सकता है। आचार्य समझाते हैं कि इस प्रकार कह रहा बौद्ध स्वस्थ नहीं है उसकी सुधि बुद्धि मारी गयी है, क्योंकि ऐसा मत्तता प्रयुक्त नियम करनेसे प्रमाणप्रसिद्धि प्रतीतियोंको छिपाना पडेगा। अर्थात् सर्व देश, सर्व काल, सर्व व्यक्तियोंको बाधक प्रमाण नहीं उत्पन्न होनेसे प्रत्यक्षज्ञानमें जैसे प्रमाणता आजाती है, तैसे ही सर्वत्र, सर्वदा, सबको, बाधक प्रमाणका उदय न होनेसे विकल्पज्ञानको भी प्रमाणता आजावेगी, ऐसा ही लोकमें प्रतीतियोंसे प्रसिद्ध हो रहा है। हां ! जहां बाधक प्रमाणका उत्थान हो जाता है, वह प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं है और न विकल्पज्ञान ही प्रमाण है। भ्रान्त और अभ्रान्तका विवेक तो सभी ज्ञानोंमें मानना आवश्यक है।

ततो विरोधः कचित्तात्त्विक एवाबाधितप्रत्ययविषयत्वादिष्टो वस्तुस्वभाववदिति विरोधिभ्यां भिन्नसिद्धेः। स भिन्न एव सर्वथेत्ययुक्तमुक्तोत्तरत्वात्। ताभ्यां भिन्नस्य तस्य विरोधकत्वे सर्वः सर्वस्य विरोधकः स्यादिति।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि किन्हीं विशिष्ट पदार्थोंमें हो रहा विरोध वास्तविक ही है, क्योंकि वह विरोध निर्बाध ज्ञानके विषयपनेसे इष्ट किया है। जैसे कि वस्तुओंके स्वभाव परमार्थभूत हैं। अर्थात् जैसे अग्नि आदिके उष्णत्व, पाचकत्व, दाहकत्व, आदि स्वभाव वास्तविक हैं, क्योंकि वे कार्योंको कर रहे हैं, तैसे ही अग्नि और जलमें या अन्धकार और आतपके बीचमें पडा हुआ विरोध परिणाम भी वास्तविक है। कल्पित नहीं। चींटियोंको रोकनेके लिये लड्डुओंसे भरे हुए पात्रके चारों ओर पानी कर दिया। ऐसी दशामें दो चार मूर्ख चींटियां तो आकर लौट जाती हैं। किन्तु हजारों चींटियां तो आती ही नहीं, क्योंकि लड्डुओंका परिणाम ही न्यारा हो गया है। जो लड्डू प्रथम पानीसे बाहिर थे और वे ही पानीसे भरे पात्रके भीतर अब रक्षित कर दिये हैं, परिस्थितिके परावर्तनसे उन लड्डुओंका परिणाम ही परावर्तित हो गया है। उसी बदले हुए परिणामका अपनी इन्द्रियोंसे मतिज्ञान और तज्जन्य श्रुतज्ञान कर अनेक चींटियां लड्डुओंके निकट आनेका परिश्रम नहीं करती हैं। प्रबलशत्रुसे मैदानमें घेर लिये गये राजाकी अपेक्षा खाई करके वेष्टित हो रहे किलेमें सुरक्षित बैठे हुये नृपकी परिणति कुछ तो निर्भय है ही। अभिप्राय यह है कि विरोधी पदार्थोंका प्रकरण मिलनेपर उनमें भिन्न भिन्न परिणाम हो जाते हैं। जीरा और हींगडा मिला देनेसे दोनोंकी गन्ध मारी जाती है। औषधि रोगको दूर कर देती है, साथमें स्वयं भी निःसार हो जाती है। इस प्रकार अनुयोगी और प्रतियोगीरूप दोनों विरोधियोंसे विरोध पदार्थ कथञ्चित् भिन्न सिद्ध है। परिणामीसे परिणाम कथञ्चित् भिन्न होता है। वह विरोध सभी प्रकारोंसे भिन्न ही है, यह वैशेषिकोंका कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि इसका उत्तर हम पहिले कह चुके हैं। यानी उदासीन पडे हुए भिन्न पदार्थोंके समान पृथक् पडा हुआ विरोध भी विरोधक न हो सकेगा, अथवा भिन्न पडे हुये विरोधके समान चाहे जो भी भिन्न पदार्थ विरोधक बन बैठेगा। तथा विरोधियोंसे सर्वथा ही भिन्न उस विरोधको यदि विरोधक मानोगे तब तो सभी पदार्थ सबके विरोधक हो जावेंगे, अपनेसे भिन्न पदार्थोंका मिल जाना सर्वत्र सुलभ है यह हम कह चुके हैं।

ननु चार्थान्तरभूतोऽपि विरोधिनोर्विरोधको विरोधः तद्विशेषणत्वे सति विरोधप्रत्ययविषयत्वात्, यस्तु न तयोर्विरोधकः स न तथा, यथापरोर्थः ततो न सर्वः सर्वस्य विरोधक इति चेन्न, तस्य तद्विशेषत्वानुपपत्तेः। विरोधो हि भावः स चातुच्छस्वभावो यदि शीतोष्णद्रव्ययोर्विशेषणं तदा सकृत्तयोरदर्शनापत्तिः। अथ शीतद्रव्यस्यैव विशेषणं तदा तदेव विरोधि स्यान्नोष्णद्रव्यम्। तथा च न द्विष्ठोऽसौ एकत्रावस्थितेः। न चैकत्र विरोधः सर्वदा तत्प्रसंगात्। एतेनोष्णद्रव्यस्यैव विरोधो विशेषणं इत्यपि निरस्तम्।

यहां भेदवादी शंकाकार वैशेषिक अपने ऊपर आये हुए दोषोंका यों समाधान करता है कि सर्वथा भिन्न पदार्थ होता हुआ भी विरोध दोनों विरोधियोंका विरोधक हो जाता है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि वह उनका विशेषण होता संता विरोधज्ञानका विषय है (हेतु)। यहां व्यतिरेकदृष्टान्त तो इस प्रकार है कि जो पदार्थ उन विरोधियोंका विरोधक नहीं है वह तिस प्रकार विशेषण होता हुआ विरोधज्ञानका विषय भी नहीं है, जैसे कि भिन्न पडा हुआ दूसरा तटस्थ अर्थ है। तिस कारण सभी भिन्न पडे हुए पदार्थ तो सबके विरोध करनेवाले नहीं होते हैं, किन्तु कोई कोई विशिष्ट पदार्थ ही विरोधक होते हैं। आचार्य समझाते हैं कि यह तो वैशेषिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि हेतुका अंश पक्षमें नहीं रहता है। शीत और उष्णका विरोध प्रसिद्ध है। उस विरोधको उन विरोधियोंका विशेषणपना नहीं बनता है। कारण कि वैशेषिकोंके यहां भाव और अभाव दो पदार्थ माने गये हैं। आधारता, कार्यता, आदि धर्मोंसे रहित होनेके कारण अभाव पदार्थ तुच्छ है और भाव पदार्थ स्वभावोंसे सहित होनेके कारण अतुच्छ है। विरोधको आपने भाव पदार्थ माना है। और वह कार्यता, कारणता आदि धर्मोंसे सहित होनेके कारण अतुच्छ स्वरूप है। ऐसा विरोध यदि शीत और उष्ण द्रव्यरूप विरोधियोंका विशेषण माना जा रहा है तब तो एक समयमें उन दोनोंके न दीखनेका प्रसंग होगा। दोनोंमें रहनेवाला कार्यकारी विरोध तो युगपत् दोनों का नाश कर देवेगा। " सुन्दोपसुन्दन्यायसे या शूकरसिंह " न्यायसे दोनों लड मरेंगे। जब आधार ही नष्ट हो गये, ऐसी दशामें वह विरोध विशेषण होकर भला कहां रहेगा ? अब यदि वैशेषिक एक ओर रहते हुये विरोधको शीतद्रव्यका ही विशेषण माने, तब वह शीतद्रव्य तो बना रहेगा, किन्तु उष्णद्रव्य नष्ट हो जावेगा, और तिस प्रकार तो वह शीतद्रव्य ही विरोधक हुआ, उष्णद्रव्य शीतका विरोधक न हो सकेगा। जो विरुद्ध है वह भला विरोधक कैसे हो सकता है ! सिंहको हरिण नहीं मार डालते हैं। तथा तैसा होनेपर तो एकमें स्थित रहनेके कारण वह विरोध पदार्थ दोमें रहने वाला नहीं कहा जावेगा और एक हीमें ठहरनेवाला तो विरोध नहीं हो सकता है। अन्यथा सबका सदा ही वह विरोध होते रहनेका प्रसंग होगा। अकेले अपने स्वरूपको लिये हुए पदार्थ सदा विद्यमान रहते ही हैं। वस्तुतः पृथक्त्व, विरोध, विभाग, द्वित्व, संयोग, आदिक भाव दो आदि पदार्थोंमें ही रहते हुए माने गये हैं, अकेलेमें नहीं। इस उक्त कथन करके वह विरोध उष्णद्रव्यका ही विशेषण है, यह भी खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। यानी उष्णद्रव्यका विशेषण होनेसे विरोधक उष्णद्रव्य तो शीतद्रव्यको नष्ट कर देवेगा। किन्तु शीतद्रव्य अपनेमें विरोध न होनेके कारण उष्णद्रव्यका नाश न कर सकेगा। तथा अकेले उष्णद्रव्यमें रहनेवाला विरोध बन भी तो नहीं सकता है। इस प्रकार वैशेषिकोंसे कहे गये अनुमानके हेतुका सत्यन्तदल सिद्ध न हो सका। हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

यदि पुनः कर्मस्थक्रियापेक्षया विरुद्ध्यमानत्वं विरोधः स शीतद्रव्यस्य विशेषणं, कर्तृस्थक्रियापेक्षया विरोधः स उष्णद्रव्यस्य। विरोधसामान्यापेक्षया विरोधस्योभयविशेषणत्वोपपत्तेर्द्विष्ठत्वं तदा रूपादेरपि द्विष्ठत्वनियमापत्तिस्तत्सामान्यस्य द्विष्ठत्वात्, रूपादेर्गुणविशेषात् तत्सामान्यस्य पदार्थान्तरत्वात् न तदनेकस्थत्वे तस्यानेकस्थत्वमिति चेत् तर्हि कर्मकर्तृस्थाद्विरोधविशेषात् पदार्थान्तरस्य विरोधसामान्यस्य द्विष्ठत्वे कुतस्तद्द्विष्ठत्वं येन द्वयोर्विशेषणं विरोधः।

फिर आप वैशेषिक यदि यों कहें कि सकर्मक धातुकी क्रिया कर्तामें रहती है। और कर्ममें भी रहती है, जैसे देवदत्त भातको पकाता है यहां पच्धातुका वाच्य अर्थ पचनक्रिया देवदत्तमें रहती है और भातमें भी रहती है, तैसे ही शीतद्रव्यका उष्णद्रव्य विरोध करता है। यहां कर्ममें स्थित हो रही क्रियाकी अपेक्षासे विरोधे जा रहे शीतद्रव्यका विरोधागयापनरूप विरोध है वह शीतद्रव्यरूप-कर्मका विशेषण है। और कर्तामें ठहरी हुयी क्रियाकी अपेक्षासे विरोध करनेवाले उष्णद्रव्यका विरोधकपनारूप विरोध है वह उष्णद्रव्यका विशेषण है। तथा विरोधसामान्यकी अपेक्षासे वह विरोध शीतद्रव्य और उष्णद्रव्य इन दोनोंका विशेषण हुआ बन जाता है। अतः विरोधको दो आदिमें रहनापन भी सिद्ध हो गया। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो रूप, रस आदिको भी दोमें रहनेपनके नियमका प्रसंग होगा। क्योंकि रूप आदिकके सामान्यको भी दोमें रहनापन बन जावेगा। यानी व्यक्तिस्वरूप गुण भले ही एक द्रव्यमें रहता है, किन्तु रूपका सामान्य रूपत्व तो अनेकोंमें रहता हुआ अनेकका विशेषण हो जायगा। रूपसे रूपसामान्य भिन्न तो नहीं माना गया है। इस पर यदि वैशेषिक यों कहें कि रूप, रस आदि तो गुणविशेष हैं और उनमें रहनेवाला रूपत्व, रसत्व, सामान्य स्वरूप जाति तो उस गुणपदार्थसे भिन्न चौथा सामान्य पदार्थ हम वैशेषिकोंके यहां माना गया है। अतः उन न्यारे सामान्योंके अनेकमें स्थित रहनेपर भी उन रूप, रस आदि गुणोंको अनेकमें स्थित रहनेपनका प्रसंग नहीं होगा। आचार्य बोलते हैं कि ऐसा पक्ष लेनेपर तो विरोध भी दोमें रहनेवाला न हो सकेगा। कर्ममें और कर्तामें ठहरे हुए व्यक्तिस्वरूप विशेषविरोधसे भिन्नपदार्थ-स्वरूप विरोध सामान्यविरोधत्वके दोमें ठहरते हुए भी उस विरोध विशेषका दोमें ठहरनापना भला कैसे माना जा सकता है? जिससे कि विरोधभाव दोनोंका विशेषण हो सके। अर्थात् विरोधत्व जाति भले ही दोनों विरुद्ध विरोधकस्वरूप कर्ता, कर्ममें या दोनोंमें रहनेवाले दोनों विरोधोंमें ठहर जाय, किन्तु विरोध तो रूप, रस, आदिकके समान दोमें ठहरनेवाला विशेषण नहीं हो सकता है।

एतेन गुणयोः कर्मणोर्द्रव्यगुणयोः गुणकर्मणोः द्रव्यकर्मणोर्वा विरोधो विशेषणं इत्यपास्तं, विरोधस्य गुणत्वे गुणादावसम्भवाच्च।

इस कथनसे वैशेषिकोंके इस मन्तव्यका भी खण्डन हो गया कि शीत स्पर्श, और उष्णस्पर्श इन दो गुणोंमें या सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि दो गुणोंमें रहनेवाला विरोध दोनोंका विशेषण है, तथा उत्क्षेपण और अवक्षेपण या आकुञ्चन और प्रसारण अथवा भ्रमण और एक दिग्गमन आदि दो दो कर्मों (क्रियाओं) में रहता हुआ विरोध उनका विशेषण है। एवं आत्मद्रव्य और रूप गुण, या आकाशद्रव्य और रस गुण, अथवा वायुद्रव्य और गन्ध गुण, आदि द्रव्य और गुणोंमें विरोध इनका विशेषण हो रहा है। तथैव परम महत्त्व और गमन या ज्ञान और उत्क्षेपण अथवा शब्द और रेचन आदि गुण और कर्ममें रहने वाला विरोध इतना विशेषण है, अथवा आकाश द्रव्य और प्रसारण या पृथ्वी और भ्रमण अथवा वायु और अपक्षेपण आदि द्रव्य और कर्म इन दो दोमें विरोध विशेषण हो रहा है। देखो, वैशेषिकोंके इस सिद्धान्तका खण्डन यों हो गया कि सामान्य पदार्थके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ वैशेषिकोंके यहां ऐसा नहीं माना गया है कि जो दो गुणोंमें या दो कर्मोंमें अथवा द्रव्य गुण दोमें या गुणकर्म दोमें एवं द्रव्य कर्म दोमें रह सके, परन्तु वह छहों भावोंमें रहता है, केवल नियत दोमें नहीं। हां! गुणत्व, कर्मत्व और सत्ता जातियां ऐसी हैं जो कि दो गुण आदिमें रहती हैं, किन्तु ये जातियां भी सम्पूर्ण गुण या द्रव्य, गुण, कर्म इनका सर्वोपसंहार करके रहती हैं, नियतगुण या परिमित कर्मोंमें नहीं ठहरती हैं। नियत दो हीमें रहनेवाली कोई पर अपर जाति वैशेषिकोंने नहीं मानी है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकरणमें विरोधको जातिरूप स्वीकार करना भी अच्छा नहीं पडेगा, जातिका कार्य दोमेंसे एकका नाश कर देना नहीं है। जननीके समान जाति तो मित्रताको पुष्ट करती है शत्रुभावको नहीं। तथा जातिकी अपेक्षासे रूप, रस आदिको भी द्विष्ठपनेके नियमका प्रसंग होगा, यह हम कह चुके हैं। तीसरी बात यह भी है कि आप वैशेषिकोंने विरोधको पृथक्त्व, विभागके अनुरूप स्वतन्त्र गुणपदार्थ माना है। " गुणादिर्निर्गुणक्रियः " सम्पूर्ण गुण निर्गुण होते हैं यानी गुणमें गुण नहीं रहता है। कर्म आदिमें भी गुण नहीं ठहरता है। गुण तो द्रव्यमें ही रहते हैं। अतः दो गुणोंमें या दो कर्मोंमें कोई विरोधस्वरूप गुण नहीं रह सकता है। अतः विरोधको गुणपना मानलेने पर गुण आदिमें विरोधके रहनेका असम्भव है। तथैव एक द्रव्य और एक गुणमें भी कोई एक गुण नहीं रहता है। एक गुण और एक कर्ममें तो विरोध एक ओरका भी नहीं रह पाता है, तथा एक द्रव्य और एक कर्ममें भी विरोधरूप गुणके रहनेका विरोध है तो फिर नाम आदिमें परस्पर विरोध हो जानेका प्रसंग बिना विचारे क्यों उठाया जाता है? यहां भावस्वरूप विरोधका विचार कर दिया गया है।

तस्याभावरूपत्वे कथं सामान्यविशेषभावो येनानेकविरोधिविशेषणभूतविरोधविशेष्यापि विरोधसामान्यमुपेयते।

अब यदि वैशेषिक उस विरोधको भावपदार्थ न मानकर अभावरूप पदार्थ मानेंगे तो विरोधमें सामान्य और विशेषपना भला कैसे हो सकेगा? जिससे कि अनेक अनुयोगी प्रतियोगी रूप

विरोधियोंका विशेषण हो रहे व्यक्तिरूप अनेक विरोधविशेषोंमें व्यापनेवाला विरोधत्वसामान्य स्वीकार किया जावे। यानी भावपदार्थोंमें तो सामान्यपना और विशेषपना होता है, जैसे कि घटसामान्य (घटत्व) और घटविशेष (व्यक्ति) तथा रूपसामान्य रूपविशेष अथवा पृथिवीत्वसामान्यविशेष है। सत्ताकी अपेक्षा पृथिवीत्व विशेषजाति है और घटत्वकी अपेक्षा पृथिवीत्व सामान्यजाति है। किन्तु चारो ही अभावोंमें सामान्य और विशेष आपने नहीं माने हैं। द्रव्य, गुण और कर्ममें सामान्य रहता है और नित्य द्रव्योंमें विशेष रहता है। किसी किसी जातिमें आपेक्षिक सामान्यविशेष भाव है। ऐसी दशामें अभावरूप विरोधमें सामान्यविशेषभाव नहीं बन सकेगा, अतः आपके माने हुए छह भाव या चार अभावपदार्थोंमें विरोधका अन्तर्भाव नहीं हो सका।

यदि पुनः षट्पदार्थव्यतिरेकात् पदार्थशेषो विरोधोऽनेकस्थः, स च विरोध्यविरोधकभावप्रत्ययविशेषसिद्धेः समाश्रीयते तदा तस्य कुतो द्रव्यविशेषणत्वम्? न तावत् संयोगात् पुरुषे दण्डवत्तस्याद्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात्, नापि समवायाद्गवि विषाणवत्तस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषव्यतिरिक्तत्वेनासमवायित्वात्। न च संयोगसमवायाभ्यामसम्बन्धस्य विरोधस्य कचिद्विशेषणता युक्ता, सर्वस्य सर्वविशेषणानुषङ्गात्।

यदि फिर कमर बांधकर सन्नद्ध हुए वैशेषिक यों कहें कि हमने मोक्षके विशेष उपयोगी होनेके कारण भावस्वरूप छह पदार्थ स्वीकार किये हैं, इनके अतिरिक्त भी अवच्छेदकत्व, अवच्छिन्नत्व, प्रतियोगिता आदि अनेक भाव शेष बच जाते हैं, तदनुसार पदार्थोंसे अतिरिक्त शेष बचा हुआ पदार्थ विरोध है जो कि अनेक पदार्थोंमें स्थित रहता है। संसारमें कोई विरोध्य है। जैसे अन्धकार, चूहा, मृग, सज्जन, मिथ्यात्व, उपकारक आदि विरोध्य पदार्थ हैं और घाम, बिल्ली, सिंह, दुष्ट, सम्यक्त्व, कृतघ्न आदि विरोधक हैं और इस प्रकार विरोध्यविरोधक भावके ज्ञानविशेषसे सिद्ध हो जानेके कारण उस न्यारे विरोध पदार्थका भले प्रकार आश्रयण कर लिया जाता है। इसपर हम वैशेषिकोंसे पूछते हैं कि तब उस विरोधको द्रव्यका विशेषण कैसे कहोगे? बताओ। संयोग या समवाय सम्बन्धसे सम्बन्धित होता हुआ जो पदार्थ विशेष्यको अपने रंगसे रंग देता है वह विशेषण कहा जाता है। तहां प्रथम ही पुरुषमें दण्डके समान संयोगसम्बन्धसे वह विरोध अपने विशेष्यभूत द्रव्यका विशेषण हो नहीं सकता है, क्योंकि दो द्रव्योंका ही संयोग सम्बन्ध माना गया है। जब कि विरोधद्रव्य पदार्थ नहीं है तो संयोग सम्बन्ध स्वरूप गुणका आश्रय नहीं होगा। अतः विरोध पदार्थ संयोग सम्बन्धसे द्रव्यमें नहीं रह सकता है द्रव्यमें न ठहरता हुआ द्रव्यका विशेषण कैसे होगा? अर्थात् नहीं। तथा गौमें सींगके समान द्रव्यमें विरोधका समवायसम्बन्ध मानकर विरोधको द्रव्यका विशेषण मानोगे, सो भी ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि स्वरूपसम्बन्धस्वरूप अनुयोगिता और प्रतियोगितामेंसे चाहे किसी भी एक सम्बन्धसे द्रव्य, गुण और कर्मोंमें समवायसम्बन्ध ठहर जाता है, तथा केवल प्रतियोगिता सम्बन्धसे सामान्य और विशेषमें समवाय सम्बन्ध रहता है। समवाय पदार्थमें तो स्वयं समवाय

रहता ही नहीं है। " द्रव्यादयः पञ्चभावा अनेके समवायिनः " द्रव्य आदिक पांच भाव ही समवायसम्बन्धवाले हैं। अन्य नहीं। जब कि विरोध पदार्थ इन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, पांच भावोंसे अतिरिक्त है तो वह समवायवाला नहीं हो सकता है। जो प्रतियोगिता सम्बन्धसे समवायवाला नहीं है वह समवायसम्बन्धसे किसी विशेष्यमें नहीं रह पाता है। प्रकरणमें संयोग और समवाय सम्बन्धसे नहीं सम्बन्धको प्राप्त हुए विरोधका कहीं भी विशेषणपना कहना युक्त नहीं है, अन्यथा यानी विना सम्बन्धित हुए ही कोई पदार्थ विशेषण होने लगे तब तो सभीको सबके विशेषण हो जानेका प्रसङ्ग आ जावेगा जो कि इष्ट नहीं है। ज्ञान आकाशका विशेषण हो जावेगा, सह्यपर्वत विन्ध्यपर्वतका विशेषण हो जाओ। अतः यही नियम करना आवश्यक होगा कि संयोग या समवाय सम्बन्धसे जो स्वयं युक्त हो गया है वही अन्यत्र उस सम्बन्धसे वर्तता हुआ विशेषण होता है।

समवायवत्समवायिषु संयोगसमवायासत्त्वेऽपि तस्य विशेषणतेति चेन्न, तस्यापि तथा साध्यत्वात्। न चाभाववद्भावेषु तस्य विशेषणता तस्यापि तथा सिद्धयभावात्। न चासिद्धमसिद्धस्योदाहरणं, अतिप्रसङ्गात्।

यदि वैशेषिक यों कहें कि पांच भावोंसे अतिरिक्त समवाय पदार्थ जैसे संयोग या समवाय सम्बन्धसे सम्बद्ध न होता हुआ भी द्रव्य आदि पांच समवायियोंमें विशेषण हो जाता है, यानी समवायमें प्रतियोगिता सम्बन्धसे संयोग या समवाय नहीं भी रहता है फिर भी समवायको विशेषणपना है, तैसे ही विरोधको भी विशेषणपना बन जावेगा। सो यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उस समवायको भी तिस बिना सम्बन्ध हुए प्रकारसे विशेषणपना बन जाना साधने योग्य है। अर्थात् सिद्ध हुए पदार्थका दृष्टान्त दिया जा सकता है। जो स्वयं रोगी है, वह दूसरेकी चिकित्सा क्या कर सकता है! " अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते " परमाणु, आकाश, आदि नित्य द्रव्योंके अतिरिक्त सभी पदार्थ जब आधेय हैं तब समवाय भी किसी न किसी स्वरूप या विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्धसे ही अपने आश्रयोंमें आश्रित रह सकेगा। फिर समवायको विना सम्बन्धके रहनेवाला आप क्यों कहते हो? और तुम यदि यह भी कहो कि भाव पदार्थोंमें संयोग और समवाय सम्बन्धसे नहीं सम्बन्धित हुआ भी अभाव पदार्थ जैसे विशेषण हो जाता है तैसे ही विरोध भी विरोधियोंमें न सम्बन्धित हुआ विशेषण हो जायगा। सो यह भी न कहना। क्योंकि अभाव पदार्थको भी तिस बिना सम्बन्धित हुए प्रकारसे विशेषण हो जानेकी सिद्धि नहीं हुयी है। असिद्ध पदार्थ तो असिद्धका उदाहरण नहीं हो सकता है। मरा घोडा मरे हुए अश्ववारको नहीं भगा लेजा सकता है, अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा। यानी चाहे जिस असिद्धसे किसी भी असिद्धकी सिद्धि करदी जावेगी। तब तो सबके मनोरथ सिद्ध हो जावेंगे। कोई भी दरिद्र या रोगी न रहेगा, अथवा चाहे जिस ज्ञापक असिद्ध उदाहरणका अवलम्ब लेकर किसी भी अप्रसिद्ध दार्ष्टान्तकी सिद्धि कर दी जावेगी। कोई बाधा न पडेगी। अतः नहीं सिद्ध हुए समवाय और अभावका दृष्टांत लेकर विरोध

पदार्थ विरोधियोंका विशेषण सिद्ध नहीं हो सका। अतः विरोध और विरोधियोंका तुम्हारे यहां विशेषणविशेष्यभाव न बन सका।

ननु च विरोधिनावेतौ समवायिनाविमौ नास्तीह घट इति विशिष्टप्रत्ययः कथं विशेषणविशेष्यभावमन्तरेण स्यात्। दण्डीति प्रत्ययवद्भवति चायमबाधितवपुर्न च द्रव्यादिषट्पदार्थानामन्यतमनिमित्तोऽयं तदनुरूपत्वाप्रतीतेः, नाप्यनिमित्तः कदाचित्कचिद्भावात्। ततोऽस्यापरेण हेतुना भवितव्यमतो विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धशेषः पदार्थशेषेष्वविनाभाववदिति समवायवदभाववद्वा विरोधस्य क्वचिद्विशेषणत्वसिद्धौ तस्यापि विशेषणविशेष्यभावस्य स्वाश्रयविशेषणत्वम्। परस्माद्विशेषणविशेष्यभावादिति चेत् तस्यापि स्वविशेष्यविशेषणत्वं परस्मादित्यनवस्थादप्रतिपत्तिर्विशेष्यस्य विशेषणप्रतिपत्तिमन्तरेण तदनिष्टेः, नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति वचनात्। सुदूरमपि गत्वा विशेषण विशेष्यभावस्यापरविशेषणविशेष्यभावाभावेऽपि स्वाश्रयविशेषणत्वोपगमे समवायादेरपि क विशेषणत्वं, तदभावेऽपि किं न स्यात्? इति न विशेषणविशेष्यभावसिद्धिः। तदसिद्धौ च न किञ्चित्कस्यचिद्विशेषणमिति न विरोधो विरोधिविशेषणत्वेन सिद्ध्यति।

तथा वैशेषिक पुनः अपने पक्षका अवधारण करते हुए कहते हैं कि अग्नि, जल या आतप, अन्धकार आदि ये दोनों विरोधी हैं। आत्मा ज्ञान या पुद्गलरूप ये दोनों समवाय वाले हैं। यहां घट नहीं है, आदि इस प्रकारकी विशिष्ट बुद्धियां विशेष्यविशेषणभावको माने विना भला कैसे हो सकेंगी? जैसे कि दण्डवाला पुरुष है, यह ज्ञान किसी संयोग सम्बन्धके विना नहीं होता है। उक्त ज्ञानोंका यह पूर्णशरीर बाधाओंसे रहित प्रसिद्ध है। अर्थात् वैशेषिक जन विशेष सम्बन्धको सिद्ध करनेके लिये अनुमान बनाते हैं कि जो जो विशिष्ट बुद्धि होती हैं, वह विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध इन तीनोंको विषय करती है। जैसे कि दण्डी यह विशिष्ट बुद्धि दण्डरूप विशेषण पुरुष रूप विशेष्य और संयोगरूप सम्बन्ध इन तीनको विषय कर लेती है। घट यह बुद्धि भी घट, घटत्व और समवाय इन तीनोंको जान लेती है। तैसे ही विरोधी, समवायी, अभाववान्, ये ज्ञान भी विशेष्य और विशेषणोंसे अतिरिक्त किसी मध्यवर्ती सम्बन्धके विना नहीं हो सकते हैं। इन ज्ञानोंका द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह भाव पदार्थोंमेंसे कोई एक तो निमित्तकारण नहीं हो सकता है, क्योंकि उन द्रव्य आदिकोंके अनुसार होनेवाले ज्ञानोंकी सरूपता इन ज्ञानोंमें प्रतीत नहीं होती है। भावार्थ—द्रव्य आदिकोंको कारण मानकर होनेवाले ज्ञानोंसे विरोधी, समवायी, आदिक ज्ञान विलक्षण हैं। तथा विरोधी आदि ज्ञानोंको निमित्तके विना ही उत्पन्न हो गये भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वे ज्ञान कभी कभी और कहीं कहीं उत्पन्न होते हैं। कार्यमें देश,

काल, और आकारोंका नियमित होना नियत कारण विना नहीं हो सकता है। वैसे तो सदा होनेवाले कार्योंको भी कारणोंकी आवश्यकता है किन्तु कचित् कभी कभी होनेवाले कार्योंको तो कारणविशेषकी स्पष्टरूपसे अधिक आवश्यकता है। ऐसे कारण उक्त विशिष्ट बुद्धियोंका द्रव्य आदिकसे भिन्न कोई निराला हेतु होना चाहिये। अतः इनका संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, इन पांच सम्बन्धोंसे बचा हुआ छठा विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना जाता है। वह सम्बन्ध सात पदार्थोंसे अतिरिक्त बचे हुए धर्मस्वरूप अन्य पदार्थोंमें गिना जावेगा। जैसे कि हेतु और साध्यका अविनाभाव सम्बन्ध सात पदार्थोंसे अतिरिक्त पदार्थ है। इस प्रकार समवाय अथवा अभावके समान विरोधका भी किसीमें विशेषणपना सिद्ध हो जाता है। अतः हम वैशेषिकोंका तद्विशेषणत्वे सति यह हेतुका दल सिद्ध हो गया। अब आचार्य कहते हैं कि ऐसा माननेपर तो उस विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धको भी आप दोमें रहनेवाला धर्म सम्बन्ध होता है, एतदर्थ अपने आश्रयविशेषोंमें रहनेवाला आधेय मानोगे तो वह कहां किस सम्बन्धसे ठहरता हुआ विशेषण होगा ? बताओ। यहां भी सम्बन्धपनेकी रक्षार्थ दूसरे विशेष्यविशेषणभावसे उस सम्बन्धको वर्तता हुआ ऐसा कहोगे तो उस दूसरे सम्बन्धको भी अपने विशेष्यमें विशेषणपना तीसरे विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धसे माना जावेगा। इस प्रकार अनवस्थादोष हो जानेसे विशेष्यकी प्रतिपत्ति कैसे भी न हो सकेगी। क्योंकि विशेषणको भले प्रकार जाने विना विशेष्यका ज्ञान होना इष्ट नहीं किया है। आपके यहां भी कहा है कि विशेषणका ग्रहण किये विना विशेष्य को विषय करनेवाली बुद्धि नहीं होती है। अर्थात् विशिष्ट बुद्धिमें विशेष्य विशेषण और संसर्ग इन तीनका जानना आवश्यक माना गया है। विशेषणका ज्ञान तो अत्यधिक आवश्यक है। और सम्बन्ध भी जब दोमें रह लेगा, तभी वह मध्यवर्ती होता हुआ सम्बन्ध हो सकता है। जैसे कि पुरुषमें दण्ड रहता है। उनका योजक संयोग सम्बन्ध विचारा दण्ड और पुरुष दोनोंमें समवाय सम्बन्धसे वृत्तिमान् है, तथा वह समवाय भी सम्बन्ध तभी हो सकेगा, जब कि अपने संयोग और दण्ड या संयोग और घट स्वरूप आधारोंमें विशेषण होकर ठहर जाय। अतः संयोग और दण्डके मध्यमें पडा हुआ समवाय भी विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धसे अपने आधारभूत संयोग और समवायमें रहेगा। वह विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध भी अपने आधारभूत विशेष्य और विशेषणमें दूसरे विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्धसे रहेगा और वह भी तीसरेसे रहेगा। इस प्रकार चौथे पांचमें आदिकी कल्पना करना बढते हुए अनवस्था दोष हुआ। पुरुष, दण्ड, संयोग, समवाय, विशेष्य-विशेषणभाव, पुनः विशेष्यविशेषणभाव आदि सम्बन्धोंमेंसे पहिले दो दोके बीचमें पडा हुआ अग्रिम तीसरा सम्बन्ध अपने विशेष्यविशेषणमें वर्तेगा। तभी सम्बन्ध बन सकेगा, सम्बन्ध द्विष्ठ यानी दोमें रहनेवाला होता है। चांदी या सोनेका टांका जबतक दोनों टुकडोंमें नहीं चुपकेगा तबतक दोनोंको मिला नहीं सकेगा, तब तो उत्तरोत्तरके सम्बन्ध विशेषण होते जावेंगे। उनके

लिये भी पुनः सम्बन्धान्तरोंकी आकांक्षा बढती जावेगी। यह अनवस्था दोष होगा। बहुत दूर भी जाकर विशेष्यविशेषणभावका दूसरे विशेष्यविशेषणभावके विना भी यदि अपने विशेष्य विशेषण रूप विशेष्य आश्रयोंमें विशेषण हो जाना स्वीकार कर लोगे तब तो उसी प्रकार समवाय, अभाव और विरोधका भी विशेषणपना उस विशेष्यविशेषणभावके विना ही कहीं क्यों न मान लिया जाय? यानी समवाय और अभावका सम्बन्ध करानेवाले विशेष्यविशेषणभावका स्वका ही रूप स्वरूप सम्बन्ध मान लोगे तो समवाय और अभावका भी अपना ही स्वरूप नामक स्वरूपसम्बन्ध क्यों नहीं मान लेते हो? दूर तक सम्बन्धोंकी अनावश्यक लम्बी पूंछ बढानेसे क्या लाभ है? ऐसी दशामें समवाय, स्वरूप, आदि सम्बन्धोंको भी विशेषणपना कहां आया? वे अन्य सम्बन्धोंसे सम्बन्धियोंमें रहते तब तो विशेषण हो सकते थे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार वैशेषिकोंके प्राण स्वरूप विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्धकी सिद्धि नहीं हुयी और उस विशेषणविशेष्यभावके नहीं सिद्ध होनेपर कोई पदार्थ किसीका विशेषण नहीं हो सकता है। इस प्रकार विरोधियोंका विशेषण होकर विरोध पदार्थ सिद्ध नहीं होता है। फिर आपका "तद्विशेषणत्वे सति" यह हेतु अंश सिद्ध न हुआ। असिद्ध हेतु तो साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता।

विरोधप्रत्ययविषयत्वं तु केवलं विरोधमात्रं साधयेन्न पुनरनयोर्विरोध इति तत्प्रतिनियमं, ततो न विरोधिभ्योऽत्यन्तभिन्नो विरोधोऽभ्युपगन्तव्यः। कथञ्चिद्विरोध्यात्मकत्वे तु विरोधस्य प्रतिनियमसिद्धिर्न कश्चिदुपालम्भ इति सूक्तं विरोधवत्स्वाश्रयान्नामादीनां भिन्नाभिन्नत्वसाधनम्।

वैशेषिकोंने भिन्न पडे हुए भी विरोधको विरोधियोंका विरोधकपना सिद्ध करनेके लिये उनका विशेषण होते हुए विरोधज्ञानका गोचरपना यह हेतु दिया था। तहां उनका विशेषणपना इस अंशका तो खण्डन कर दिया गया है। अब हेतुके विशेष्यदल विरोधज्ञानका गोचरपनापर विचार करते हैं। वह विरोधज्ञानका गोचरपना तो केवल विरोधको साध सकेगा, किन्तु उन नियमित शीत और उष्ण या अन्धकार और आतप इनका विरोध है, इस विशेष नियमको नहीं कह सकता है। रुपयेका ज्ञान रुपयेकी सिद्धि तो करा सकता है, किन्तु देवदत्तसे ही इन्द्रदत्तका ही रुपया आया है, इस विशेषताको सिद्ध नहीं कर सकता है। तिस कारण विरोधियोंसे सर्वथा भिन्न पडा हुआ विरोध नहीं स्वीकार करना चाहिये, वह कुछ कार्यकारी नहीं है। हां! जैनसिद्धान्तके अनुसार विरोधको विरोधियोंसे कथञ्चित् तदात्मक मान लिया जायगा तब तो विरोधका अपने अपने विरोधियोंके साथ प्रतिनियम बन जाना सिद्ध हो जाता है, यानी ध्वंसकपना परिणामरूप विरोध शीतद्रव्यसे कथञ्चित् अभिन्न है और नष्ट हो जानापन रूप विरोध उष्ण द्रव्यका तदात्मक उत्तरवर्ती अभिन्न परिणाम है। कभी उष्णताकी तीव्रशक्ति होनेपर उष्णद्रव्यमें नाशकपना और शीतद्रव्यमें नाश्यपना रूप परिणतियां अभिन्न हो रही हैं। तुल्यबल विरोध होनेपर तो अग्निको नाश करनेवाला पानी भी

मर चुका, शेष पानी तो निकम्मे नौकर या कार्य न होनेसे ठलुआ बैठे नौकरके समान दीख रहा है यह अधिक पानी और थोडी आगकी अवस्था बतलायी है, किन्तु जहां थोडा पानी और आग अधिक है वहां थोडे पानीको नष्ट करनेवाली आग भी नष्ट हो गयी है। अर्थात पानी और आग अन्य पुद्गल पर्यायोंको धारण कर चुके हैं, शेष अग्नि जो दीख रही है वह मरे हुए सैनिकोंसे बचे हुये जीवित सैनिकोंके सम है इत्यादि। विरोधके फलस्वरूप उत्तरवर्ती परिणाम ये सब विरोधियोंसे कथञ्चित् अभिन्न हैं। देवदत्तकी मृत्यु उसका ही उत्तरवर्ती परिणाम है। विषका नाशकपना स्वभाव भी विषकी पर्याय है। विष और देवदत्तमें बन्ध हो जानेपर सर्वथा भेद नहीं रहता है। सर्वथा भिन्न पडा हुआ विष देवदत्तको नहीं मार सकता है। दूरसे प्रयुक्त किये गये मन्त्र, तन्त्र, भी सर्वथा भिन्न होते हुए विनाशक नहीं होते हैं। अन्यथा चाहे जिस किसीका विनाश कर डालेंगे, आत्माके साथ कर्म नोकर्मबन्ध भी ऐसा ही है। रूप और रसका परस्परपरिहारस्थिति नामका विरोध तो एक द्रव्यमें दोनोंका अभेद होनेपर ही बनता है। अतः समझलो कि नियत व्यक्तियोंका नियत व्यक्तियोंसे विरोध करना तभी बनेगा जब कि उनमें पडे हुए विरोधको कथञ्चित् अभिन्न माना जावेगा। इस कारण स्याद्वादियोंके ऊपर कोई भी उलाहना नहीं आता है। सर्वथा एकान्तवादियोंके यहां अनेक दोष आते हैं। सह्य और विन्ध्यका पर्वतपनेसे अभेद है, यदि इनका पृथ्वीपना, द्रव्यपना, पर्वतपना इन धर्मोंसे भी सर्वथा भेद माना जावेगा तो उन दोनोंमेंसे एक व्यक्ति तो पर्वत, द्रव्य, और पृथ्वी नहीं रह सकेगा। सर्वथा भिन्न सरीखे दीख रहे नियमित पिता, पुत्रमें ही जन्यजनक भाव है। अश्व और मनुष्यका तथा कबूतर और गायका जन्यजनक भाव सम्बन्ध क्यों नहीं है। यहां भी कथञ्चित् अभेदका अवलम्ब लिये विना वैशेषिकोंकी दूसरी कोई गति नहीं है। राजाका पुरुष, देवदत्तका घोडा आदि सब स्थानोंपर यही समझ लो कि कथञ्चित् भेदाभेद होनेपर ही सम्बन्ध व्यवस्था है, यह गम्भीरतत्त्व है। इसको प्रमेयकमलमार्तण्डमें भलीभांति पुष्ट किया है। इस कारण श्रीविद्यानन्द स्वामीने पिच्यासीवीं वार्त्तिकमें बहुत अच्छा कहा था कि विरोधके समान नाम, स्थापना, आदिकोंका अपने अपने आश्रयोंसे कथञ्चित् भिन्नपना और कथञ्चित् अभिन्नपना साधन करना युक्त है।

नामादिभिर्न्यासोऽर्थानामनर्थक इति चेन्न, तस्य प्रकृतव्याकरणार्थत्वादप्रकृताव्याकरणार्थत्वाच्च। भावस्तम्भप्रकरणे हि तस्यैव व्याकरणं नामस्तम्भादीनामव्याकरणं च अप्रकृतानां न नामादिनिक्षेपाभावेऽर्थस्य घटते, तत्संकरव्यतिकराभ्यां व्यवहारप्रसंगात्।

किसीका कहना है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भावोंसे पदार्थोंका न्यास करना व्यर्थ है। आचार्य समझाते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि प्रकरणमें पडे हुए ही पदार्थके व्युत्पादन करनेके लिये और प्रकरणमें नहीं प्राप्त हुए पदार्थोंकी नहीं व्युत्पत्ति करानेके लिये प्रयोजकता होनेके कारण वह न्यास करना सार्थक है। छत या छप्परको धारण करनेके लिये तो वर्तमानमें वैसी

पर्यायको प्राप्त हुए थम्भेके प्रकरणमें उस पाषाण या काष्ठके खम्भेकी ही नियमसे व्युत्पत्ति कराना है और प्रकरण प्राप्त कार्यके अनुपयोगी ऐसे किसीका नाम धर दिये गये खम्भ या पत्रमें चित्रित किये गये स्थापना खम्भ या भविष्यमें खम्भेरूप होनेवाले वृक्ष या शिलारूप द्रव्यथम्भ इन अप्रकृतोंका प्रबोध नहीं कराना है यह अर्थक्रिया समर्थ अर्थका प्रयोजन सधजाना प्रकरणमें नहीं प्राप्त हुये पदार्थोंका नाम आदिसे निक्षेप किये विना नहीं घटता है। अन्यथा उन प्रकरण प्राप्त और प्रकरणके अनुपयोगी पदार्थोंके संकीर्णपने और व्यतिकीर्णपनेसे भी व्यवहार हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। जो कि किसीको भी इष्ट नहीं है। यानी किसी मनुष्यका नाम वृषभ रख देनेसे उस व्यक्तिमें भाववृषभरूप पर्याय हो जानेसे मनुष्यपने और पशुपनेका संकर हो जावेगा। अथवा लादने और गाडी खैंचने रूप कार्यको वृषभ नामका मनुष्य करने लग जायगा, और मनुष्यके कार्य अध्यापन और वाणिज्यको परस्पर विषयगमनरूप व्यतिकर हो जानेसे बैल पशू करने लग जायगा, किन्तु व्यवहारमें नाम, स्थापना आदिसे निक्षिप्त किये गये पदार्थोंके न्यारे न्यारे प्रयोजन देखे जाते हैं। अतः पदार्थोंका न्यास करना आवश्यक है। किसी बडे प्रासादमें लगे हुए स्तम्भका दूरवर्ती पुरुषको ज्ञान करानेके लिये उसके चित्रको ही पत्र द्वारा भेजकर कृतकृत्य हो सकते हैं। मुख्य खम्भा परदेशको नहीं भेजा जा सकता है तथा छतका बोझ साधनेके लिये मुख्य स्तम्भकी आवश्यकता है। पत्र पर लिखा हुआ खम्भा वहां कार्यकारी नहीं है।

ननु भावस्तम्भस्य मुख्यत्वाद्व्याकरणं न नामादीनां "गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः" इति वचनात्। नैतन्नियतं, गोपालकमानय कटजकमानयेत्यादौ गौणे संप्रत्ययसिद्धेः। नहि तत्र यो गाः पालयति यो वा कटे जातो मुख्यस्तत्र संप्रत्ययोऽस्ति, किं तर्हि? यस्यैतन्नाम कृतं तत्रैव गौणे प्रतीतिः। कृत्रिमत्वाद्गौणे संप्रत्ययो न मुख्ये तस्याकृत्रिमत्वात् "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययः" इति वचनात्। नैतदैकान्तिकं पांशुलपादस्य तत्रैवोभयगतिदर्शनात्। सद्भावप्रकरणज्ञत्वादुभयं प्रत्येति किमहं योगाः पालयति यो वा कटे जातस्तमानयामि किं वा यस्यैषा संज्ञा तम्? इति विकल्पनात्। प्रकरणज्ञस्य कृत्रिमे संप्रत्ययोऽस्तीति चेत् न, तस्याकृत्रिमेऽपि संप्रत्ययोपपत्तेस्तथा प्रकरणात्।

यहां शंका है कि लोहा, काठ, पत्थर, या ईटोंसे बने हुए पर्यायरूप थम्भकी मुख्यता होनेसे सब स्थलोंपर असली खम्भका ही ज्ञान कराया जावेगा। नामखम्भ या स्थापनाखम्भ आदिकोंका नहीं। ऐसा नियम है कि गौण और मुख्यका प्रकरण होनेपर मुख्यमें ही भले प्रकार ज्ञान होता है ऐसा प्रसिद्ध परिभाषाके द्वारा कहा गया है। इसपर आचार्य कहते हैं कि उक्त परिभाषा नित्य नहीं है। गौण और मुख्यकी योग्यता होनेपर मुख्य हीका ज्ञान हो, यह नियम सब देश और सर्व कालमें लागू नहीं होता है। गोपालको लाओ। अथवा कटजको लाओ। इन्द्रको भोजन

कराओ आदि, ऐसा कहनेपर गौण पदार्थमें ही अच्छा ज्ञान होना सिद्ध है। वहां जो गौओंको पालता है ऐसे भावरूप गोपालका सम्यग्ज्ञान होकर लाना नहीं है, अथवा जो कट यानी चटाईपर उत्पन्न हुआ है ऐसे मुख्य कटेज व्यक्तिमें ज्ञान नहीं होता है। तब तो क्या होता है ? सो सुनो ! जिस पुरुषका गोपाल या कटज यह नामकरण कर दिया है, उस गौण व्यक्तिमें (की) ही प्रतीति होती है। बालकके मचल जानेपर मिट्टी या काठके बने हुए कल्पित (नकली) सांप और सिंहको लाया जाता है। मुख्य (असली) को नहीं। यदि कोई यों कहें कि गोपाल, कटज, सर्प आदिका प्रकरण होनेपर तो कृत्रिम (नकली बनाया गया) होनेसे गौण पदार्थमें ही लाने ले जानेका समीचीन ज्ञान होता है। मुख्यमें नहीं। क्योंकि वह मुख्य तो अकृत्रिम है। लौकिक पुरुष कृत्रिम (गढ लिये गये) और अकृत्रिम (बनावटी नहीं) इन दोनोंके प्रसंग प्राप्त होनेपर कृत्रिममें सुलभतासे ज्ञान कर लेते हैं, ऐसा वचन है। पहिली परिभाषाको गौणवृत्ति यह परिभाषा है। अतः जहां मुख्यका ग्रहण होगा, वहां मुख्यका ही और जहां गौणका प्रकरण है, वहां गौण पदार्थका ही प्रज्ञापन होगा। दोनोंका नहीं हो सकता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह भी एकान्तरूपसे नियम नहीं है। यानी गौण और मुख्यमेंसे किसी एकका ही ग्रहण होय, अथवा कृत्रिम और अकृत्रिममेंसे कृत्रिमका ही ज्ञान होय, यह नियम सब देश, सब काल और सर्व व्यक्तियोंके लिये उपयोगी नहीं है। क्योंकि धूलिसे लिथडे हुए पगवाले गवांर मनुष्यके वहां ही दोनों प्रकारके ज्ञान होते हुए देखे जा रहे हैं, वह पामर प्रकरणका जाननेवाला नहीं होनेके कारण विचारा मुख्य और गौण दोनोंकी प्रतीति कर लेता है। वह विचारता है कि अधिकारीने मुझे गोपाल और कटेज लानेकी आज्ञा दी है। जो मनुष्य गौओंको पालता है अथवा जो चटाईपर उत्पन्न हुआ है, उस मुख्य पदार्थको मैं लाऊं ? अथवा क्या जिस पुरुषकी यह गोपाल या कटज संज्ञा है उस गौण पदार्थको ले जाकर कृतार्थ हो सकता हूं ? इस प्रकार मुख्य और गौण दोनों पदार्थोंको जानकर उसके हृदयमें किसी एकको ले जानेके लिये विकल्प उठ रहा है। इसपर शंकाकार यदि यों कहे कि प्रकरणको जाननेवाले पुरुषका कृत्रिम पदार्थमें ही सुलभतासे ज्ञान होता है। मुख्यमें नहीं, सो यह पक्ष तो नहीं लेना। क्योंकि प्रकरणको जाननेवाले उस पुरुषका मुख्य अकृत्रिममें भी तैसा प्रकरण होनेसे समीचीन ज्ञान होना बन जाता है। प्रतिदिन सहस्रोंवार यह व्यवहार देखा जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रकरणके अनुसार गौणका या मुख्यका अथवा कचित् दोनोंका ज्ञान होना निक्षेपका विधि विधान करनेसे ही सम्भव है। अन्य उपाय नहीं है।

ननु च जीवशब्दादिभ्यो भावजीवादिष्वेव संप्रत्ययस्तेषामर्थक्रियाकारित्वादिति चेत् न, नामादीनामपि स्वार्थक्रियाकारित्वसिद्धेः। भावार्थक्रियायास्तैरकरणादनर्थक्रियाकारित्वं तेषामिति चेत्, नामाद्यर्थक्रियायास्तर्हि भावेनाकरणात्तस्यानर्थक्रियाकारित्वमस्तु।

यहां दूसरी शंका है कि जीव वाचक जीव शब्द, वृषभशब्द, तथा अजीव वाचक मोदक शब्द अथवा चित्र, प्रतिबिम्ब, आदिसे वास्तविक पर्यायरूप आत्मा, बैल, लड्डू आदि पदार्थोंमें (का) ही सुलभतासे ज्ञान होता है, क्योंकि वे पदार्थ ही पढाना, लादना, क्षुधानिवृत्ति करना, आदि अर्थक्रियाओंको करनेवाले हैं। लड्डूके नाम या चित्रसे भूंख दूर नहीं होती है, अथवा भविष्यमें लड्डू बननेवाले चना, पोंडा, खातसे भी मोदकका स्वाद उपलब्ध नहीं होता है। अतः भावनिक्षेप मानना ही ठीक है, अन्य निक्षेपोंका मानना व्यर्थ है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि नाम आदिक भी अपनी अपनी अर्थक्रियाओंके करनेवाले सिद्ध हो रहे हैं। भावार्थ—इन्द्र जीव, आदि नामोंसे जान लिये गये पदार्थ अपने अनुरूप क्रियाओंको करते हैं, व्याकरणशास्त्रमें तो शब्द ही प्रधान हैं, अर्थ और ज्ञानको वहां कोई नहीं पूंछता है। अग्नि शब्द की "सु" संज्ञा है। पावक, अनल शब्दकी या अग्निके ज्ञानकी या अत्युष्ण आग पदार्थकी सु संज्ञा नहीं है। मन्त्रमें शब्द प्रधान हैं, अर्थ नहीं। किसी आतुरकी लड्डू नामसे भी लार टपक जाती है। राग रागिनियोंके सुननेमें शब्दकृत आनन्द है, अर्थकृत विशेष आनंद नहीं है। रुपया, पैसा, मोहर, नोट, स्टाम्प आदिमें सम्राट्के नाम या स्थापनासे ही कार्य चलता है। अकेला राजा कहां कहां जाता फिरेगा। आश्चर्य गृह (अजायब घर) या चित्रगृहोंके प्रेक्षणसे अनेक व्यवहारयोग्य कार्य होते हैं। पैरमें हाथी रोग हो जानेसे सिंहका चित्र कर देनेपर रोगका उपशम हो जाता है। रसोई आदिकी शीघ्रता दिखलानेके लिये द्रव्यनिक्षेप कार्यकारी है। अनिर्वृत्तिकरण अवस्थाका मिथ्याज्ञान भविष्यके सम्यग्ज्ञानमें उपयोगी हो रहा है। अतः नाम आदिक भी अपने योग्य अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं, जो कि उनसे ही हो सकती हैं। यदि तुम यों कहो कि वस्तुके पर्याय स्वरूपभावसे होनेवाली अर्थक्रियाका करना उन नाम आदिकों करके नहीं होता है। अतः वे नाम आदिक अर्थक्रियाकारी नहीं हैं, ऐसा कहोगे तो हम जैन कहेंगे कि नाम आदिकसे की जानेवाली अर्थक्रियाओंका करना वास्तविक पर्यायरूप भावसे नहीं होता है। अतः भावको भी अर्थक्रियाकारीपन न होओ! यों तो अन्नका कार्य जलसे नहीं होता है और जलका कार्य अन्नसे नहीं होता है। इतनेसे ही क्या ये भी अर्थक्रियाको करनेवाली वस्तु न बन सकेंगी?।

कांचिदप्यर्थक्रियां न नामादयः कुर्वन्तीत्ययुक्तं तेषामवस्तुत्वप्रसंगात्। न चैतदुपपन्नं भाववन्नामादीनामबाधितप्रतीत्या वस्तुत्वसिद्धेः।

नाम, स्थापना, और द्रव्य, किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करते हैं, यह कहना तो अयुक्त है। क्योंकि ऐसा कहनेपर उनको अवस्तुपनका प्रसंग हो जावेगा। नामनिक्षेप, संज्ञा संज्ञेय व्यवहार को करता है। इसको माने विना शास्त्रपरिपाटी, वाच्यवाचकपन, पण्डितमूर्खपन, वकालत, वक्तृता आदि बहुत कुछ व्यवहार मिट जायेंगे। यह वह है ऐसी प्रतिष्ठा कर देनेसे मुख्यपदार्थोंके द्वारा होनेवाले नैमित्तिक भावोंके समान परिणामोंको स्थापना निक्षेप करा देता है। इसको माननेपर ही

वर्तमानमें मूर्तिदर्शन, पूजन, नाटकोंका अभिनय सिक्का, दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब, समापतिपन, आदिके द्वारा अनेक प्रयोजन सिद्ध हो रहे हैं, जो कि अन्य प्रकारोंसे नहीं सध सकते हैं। भविष्यमें परिणत होने वाले द्रवणकी योग्यताको द्रव्यनिक्षेप सम्भालता है, द्रव्यनिक्षेपको माने विना कार्यके लिये उपादान कारणोंका ही आदान करना, तैलके अर्थ तिलोंका, घडेके लिये मिट्टीका ग्रहण करना नहीं बन सकेगा। सभी जीव या पुद्गलद्रव्य नवीन नवीन कार्योंको कर रहे प्रतीत हो रहे हैं। द्रव्यनिक्षेपने उनको विश्वास दे रखा है कि लगे रहो। सफल होगे। कार्यसिद्धि तुम्हारे सामने हाथ जोडे खडी हुयी बाट जो रही है। निमित्त मिलानेपर झट हाथ आ जायगी। जो पदार्थ कुछ भी अर्थक्रियाओंको करता है, वह वस्तु या वस्तुका एक अंश अवश्य है। नाम आदिक भी वस्तु हैं। इनको अवस्तुपना कहना युक्तिपूर्वक नहीं बनता है। भावके समान नाम आदिकोंको बाधा रहित प्रतीतिसे वस्तुपना सिद्ध है।

एतेन नामैव वास्तवं न स्थापनादित्रयमिति शद्धाद्वैतवादिमतं, स्थापनैव कल्पनात्मिका न नामादित्रयं वस्तु सर्वस्य कल्पितत्वादिति विभ्रमैकान्तवादिमतं, द्रव्यमेव तत्त्वं न भावादित्रयमिति च द्रव्याद्वैतवादिदर्शनं प्रतिव्यूढम्। तदन्यतमापाये सकलसंव्यवहारानुपपत्तेश्च युक्तः सर्वपदार्थानां नामादिभिर्न्यासस्तावता प्रकरणपरिसमाप्तेः।

उक्त इस कथनसे इन मतोंका भी खण्डन होगया समझ लेना चाहिये। तिनमें शद्धाद्वैतवादियोंका यों मन्तव्य है कि जगत्में शद्धस्वरूप नामनिक्षेप ही वस्तुभूत है। स्थापना, द्रव्य, भाव, ये तीनों परमार्थ नहीं हैं, कल्पित हैं। सम्पूर्ण अर्थोंको एकान्तसे भ्रान्तिरूप कहनेवालोंका यह मत है कि कल्पनास्वरूप स्थापना ही जगत्में पदार्थ है, नाम, द्रव्य, भाव, ये तीनों कोई वस्तु नहीं हैं कारण कि सब कल्पित हैं। तीसरे द्रव्याद्वैतवादीका यह सिद्धान्त है कि भविष्यमें द्रवण करने योग्य द्रव्य ही ठीक ठीक पदार्थ है, नाम, स्थापना, और भाव ये तीन कुछ वस्तु नहीं हैं, तुच्छ हैं। इन तीनों एकांतोंका जैन सिद्धान्तके अनुसार नाम, आदिक चारोंको वस्तुभूतपना सिद्ध कर देनेपर निराकरण हो जाता है। एक बात यह भी है कि उन नाम आदिक चारोंमेंसे किसी एकके भी न माननेपर जगत्के सम्पूर्ण श्रेष्ठ व्यवहार नहीं बन सकेंगे। सभी स्थलोंमें नाम आदिक चारोंका मुख्य या गौणरूपसे एक दूसरेको न छोडते हुए अविनाभाव हो रहा है। अतः सम्पूर्ण ही पदार्थोंका यथायोग्य नाम आदिक चारोंसे न्यास होना युक्तियोंसे सिद्ध है। तिनसे ही इस सूत्रके प्रकरणोंकी सब ओरसे समाप्ति हो जाती है पूर्वापर सम्बन्ध अन्वित हो जाता है।

पञ्चमसूत्रका सारांश

मुनिश्री आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस सूत्रके प्रकरणोंकी सूची संक्षेपसे इस प्रकार है कि प्रथम ही एक एक निक्षेपको मानने वाले एकान्तवादियोंके निराकरणार्थ और लोकप्रसिद्धिके अनुसार व्युत्पत्ति करानेके लिये नाम आदिक चारोंसे निक्षेपकी सिद्धि करनेवाले सूत्रका अवतार किया गया है। एक एक या दो दोसे अथवा उलट पलट कर नाम आदिसे निक्षेपकी व्यवस्था नहीं है। जाति आदि निमित्तान्तरोंकी नहीं अपेक्षा करके संज्ञाकरणको नाम कहते हैं, उसके अनेक भेद हैं। नामनिक्षेपकी उत्पत्तिमें वक्ताका अभिप्राय निमित्त माना गया है। शद्बका वाच्य अर्थसे सम्बन्ध न माननेवाले बौद्धोंके सन्मुख सादृश्यरूप जातिकी सिद्धि की है। विशेषके समान जाति भी नित्य, अनित्य, है। जातिका व्यक्तिसे कथञ्चित् भेद है। जातिको सिद्ध करनेके लिये आचार्योंका बौद्धोंके साथ अधिक ऊहापोह चला है। इसके अनन्तर पदका अर्थ जातिको ही स्वीकार करनेवाले मीमांसकोंके मन्तव्यका खण्डन किया है। वैयाकरणोंने गुणशद्ब, क्रियाशद्ब, आदिकोंका अर्थ भी जाति मान लिया है। आकाश, अभाव, आदिमें भी गौणरूपसे आकाशत्व, अभावत्व, आदि जातियोंको मानकर अपने एकान्तको पुष्ट किया है। इस मतका भी आचार्योंने खण्डन कर दिया है। लक्षित लक्षणा, अर्थापत्ति, आदिसे व्यक्तिकी प्रतीति नहीं हो सकती है। इस प्रकरणका विचार अतीव सुन्दर है। अन्तमें मीमांसकों करके सामान्यविशेषात्मक पदार्थको ही शद्बका वाच्य अर्थ मानना पडा है। बौद्धोंसे सर्वथा विपरीत नित्यद्रव्यको ही शद्बका विषय कहने वालोंका निराकरण किया गया है। यहां उपाधि और औपाधिककी चर्चा करते हुए द्रव्यपदार्थवादियोंका एकान्त हटाया गया है। शद्बाद्वैतवादीको भी यहां मुंहकी खानी पडी है। केवल अपने रूपको ही कहनेवाला शद्बतत्त्व विद्वाके अनुकूल होता हुआ दूसरोंके समझानेका उपाय नहीं हो सकता है, अन्यथा रूप, रस, आदिकोंका अद्वैत भी पुष्ट हो जावेगा। पदका वाच्य अर्थ ब्रह्माद्वैत भी नहीं है। बौद्धोंके अन्यापोहको सन्मुख कर अद्वैतवादका निरास कर दिया है। अविद्यासे अपोह होना आवश्यक है। इस प्रकार नित्य द्रव्यवादियोंका निरास कर विशेष व्यक्तिको ही शद्बका अर्थ कहनेवाले व्यक्तिपदार्थवादीका निराकरण किया है। जाति और व्यक्ति दोनों मिल करके भी शद्बका अर्थ नहीं हो सकते हैं। स्याद्वाद सिद्धान्तकी शरण लेनेपर मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं। आगे केवल आकृतिको ही पदका अर्थ माननेवालोंका निवारण किया है। इस विषयमें दिये गये तर्क और उत्तर गम्भीरताको लिये हुये प्रशंसनीय हैं। इसके आगे अन्यापोहको शद्बका अर्थ माननेवाले बौद्धोंका विचार चलाया है। वक्ताकी इच्छा भी शद्बका अर्थ नहीं बन सकती है। यहांपर बौद्धोंकी ओरसे दी गयीं बटिल युक्तियोंका बडी विद्वत्ताके साथ निराकरण करके शद्बजन्य ज्ञानकी प्रमाणता बतायी है। शद्बका वाच्य विषय वस्तुभूत है, जो कि जाति और व्यक्तियोंसे तादात्म्यसम्बन्ध रखता हुआ परमार्थवस्तु है। प्रत्यक्ष आदिकके समान शद्बसे भी वस्तुमें

प्रवृत्ति, प्रतिपत्ति, और प्राप्ति होना पाया जाता है। सामान्यको छोडकर विशेष नहीं रहता है और विशेषको छोडकर सामान्य भी नहीं ठहरता है। हां ! कचित् एक प्रधान दूसरा गौण हो जाता है। जाति, गुण, आदिमेंसे एक एकको प्रधान मानकर विषय करते हुए शद्वके पांच भेद मान लेनेमें हमारा कोई विरोध नहीं है। वे सब सामान्यविशेषात्मक वस्तुको ही कह रहे हैं। अतः समीचीन व्यवहार करनेवाले जीवोंका अन्य निमित्तोंकी अपेक्षा न करके संज्ञा करनेको नामनिक्षेप कहते है। नाम की गयी वस्तुकी कहीं प्रतिष्ठा करना स्थापना है। स्थापनामें आदर, अनुग्रहकी आकांक्षा हो जाती है। नाममें नहीं। सामान्यरूपसे नाम करनेपर ही स्थापनाकी प्रवृत्ति मानी गयी है। भविष्य पर्यायके अभिमुख वस्तुको द्रव्य कहते हैं। द्रव्यनिक्षेपके भेद करके द्रव्यका तीनों कालोंमें अनुयायीपना सिद्ध किया है। द्रव्यकी अनन्त पर्यायोंमें एक सन्तानरूप डोरा पिरोया हुआ है। सम्पूर्ण द्रव्योंमें जीव प्रधान है और जीवका ज्ञानगुण प्रधान है। अतः उपयोग और अनुयोगकी अपेक्षाका विचार कर आगम, नोआगमद्रव्यको साधा है। वस्तुकी वर्तमान पर्याय भाव है। आदिके तीन निक्षेप द्रव्यकी प्रधानतासे हैं। और अन्तका भावनिक्षेप तो पर्यायकी प्रधानतासे पुष्ट किया गया है। द्रव्य और पर्याय दोनोंका समुदाय वस्तु है। तत् शद्वकी सार्थकता दिखलायी गयी है। शद्वकी अपेक्षासे निक्षेप संख्यात हैं। समान जातिवाले विकल्पज्ञानकी अपेक्षासे असंख्यात हैं और अर्थकी अपेक्षासे निक्षेप अनन्त हैं। उन सब भेदोंका चारोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। न्यास और न्यस्यमान इनका कथञ्चित् भेद अभेद है। नाम निक्षेप और स्थापना आदि निक्षेपोंके विषयोंमें भी कथंचित् भेद है। चारों निक्षेपोंकी प्रवृत्ति एक स्थानपर पायी जा सकती है। इस प्रकरणमें विरोधका दृष्टान्त देकर भेद अभेदको सिद्ध किया है। सर्वथा भिन्न या अभिन्न पडा हुआ विरोध किसी कामका नहीं है। विरोध पदार्थकी अच्छी विवेचना की गयी है। भेदवादी बावदूक, नैयायिकोंके फटाटोपका निरास करते हुए विरोधियोंसे कथञ्चित् अभिन्न विरोधको सिद्ध कर दिया है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भावोंसे निक्षेपकी व्यवस्थाको माने विना प्रकृतकी सिद्धि और अप्रकृतका निराकरण नहीं हो सकता है। बडा भारी घुटाला मच जावेगा। नाम किये गये सिंहको मंगानेपर लानेवाला शिष्य मुख्य सिंहको ले आवेगा, अथवा सिंहके खिलौनेको भी लाकर कृतकृत्य बन जावेगा। इन सब झगडोंको मेटनेके लिये जैनसिद्धान्तमें निक्षेपकी व्यवस्था इष्ट की गयी है। नाम आदिक प्रत्येक निक्षेपसे अपने अपने योग्य न्यारी न्यारी अर्थक्रियाओंका होना सिद्ध है। अतः चारों ही वस्तुभूत हैं। एक एक निक्षेपको माननेवाले एकान्तवादियोंके मन्तव्य समुचित नहीं हैं। चारोंमेंसे एकको भी माने विना लोकव्यवहार नहीं सध सकता है। इस प्रकार जैनसिद्धान्तमें ज्ञापक साधनोंके प्रकरण होनेपर नाम, स्थापना द्रव्य भावोंसे पदार्थोंका न्यास करनारूप अत्युपयोगी सिद्धान्तका इस सूत्रद्वारा निरूपण कर दिया गया है।

सर्वार्थसंकलनवित्तिनिदानभूतनामादिन्यसितवस्तुविधानदक्षम् ।
शब्दार्थगोचरविवादविनाशकं द्राक्, तत्त्वार्थशास्त्रमनुगच्छत भो सुधीन्द्राः ॥ १ ॥

अब आगेके सूत्रका अवतरण करानेके लिये शंका उठाते हुए तर्कणा करते हैं—

ननु नामादिभिर्न्यस्तानामखिलपदार्थानामधिगमः केन कर्तव्यो यतस्तद्व्यवस्था अधिगमजसम्यग्दर्शनव्यवस्था च स्यात्, न चासाधना कस्यचिद्व्यवस्था सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वव्यवस्थानुषंगादिति वदन्तं प्रत्याह सूत्रकारः—

यहां शंका है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भावोंसे न्यस्त कर दिये गये सम्पूर्ण पदार्थोंका निर्णय किससे करना चाहिये ? बतलाइये । जिससे कि लोकप्रसिद्ध नाम आदिकों करके व्यवहृत उन पदार्थोंकी व्यवस्था हो सके तथा अन्यके उपदेश, या शास्त्रवाचनसे उत्पन्न हुए अधिगमजन्य सम्यग्दर्शनकी व्यवस्था बन सके । भावार्थ—चक्षुसे कुछ कुछ देखनेवाले पुरुषके लिये उपनेत्र (चश्मा) उपयोगी होता है । सर्वथा अन्धेको उपनेत्र या दूरवीक्षक (दूरबीन) सहायक नहीं होते हैं, तैसे ही आत्माके किसी स्वपर प्रकाशक परिणाम द्वारा पदार्थोंका निर्णय करचुकनेपर तो नाम आदिक सहकारी बन सकते हैं । ज्ञापक साधनके विना किसीकी व्यवस्था नहीं होती है । अन्यथा सर्वथा प्रमाणविरुद्ध बोलनेवाले सभी वादियोंके या मत्त, मूर्च्छित, और स्वप्नदर्शियोंके अपने अपने इष्टतत्त्वोंकी व्यवस्था होनेका प्रसंग हो जावेगा । इस प्रकार बोलनेवाले जिज्ञासुके प्रति तत्त्वार्थ सूत्रको रचनेवाले श्रीउमास्वामी महाराज उत्तर कहते हैं—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

वस्तुको सकलादेश द्वारा जाननेवाले स्वपरप्रकाशक प्रमाणोंसे और संज्ञीके उत्पन्न हुए वस्त्वंशको विकलादेश द्वारा जाननेवाले श्रुतज्ञानांशरूप नयोंसे सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि सम्पूर्ण पदार्थोंका निर्णय होता है ।

सर्वार्थानां मुमुक्षुभिः कर्तव्यो न पुनरसाधन एवाधिगम इति वाक्यार्थः । कथमसौ तैः कर्तव्यः इत्याहः—

इस सूत्रवाक्यका अन्य उपयोगी पदोंके उपस्कार लेनेपर यह अर्थ हुआ कि मोक्षको चाहने वाले पुरुषोंको सम्पूर्ण अर्थोंका प्रमाण और नयोंसे निर्णय कर लेना चाहिये । फिर तो विना ही ज्ञापक कारणके अधिगम नहीं किया जा सकता है । कोई भव्य कहता है कि वह अधिगम उन प्रमाण नयों करके कैसे करना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य उत्तर कहते हैं ।

सूत्रे नामादिनिक्षिप्ततत्त्वार्थाधिगमस्थितः ।
कात्स्न्र्यतो देशतो वापि स प्रमाणनयैरिह ॥ १ ॥

पूर्व सूत्रमें नाम आदिकके द्वारा निक्षिप्त किये तत्त्वार्थोंका सम्पूर्ण रूपसे अधिगम होना प्रमाणों करके और एक देशसे अधिगम होना भी नयों करके व्यवस्थित हो रहा है । वही इस सूत्रमें निर्णीत कर दिया गया है ।

तन्निसर्गादधिगमाद्वेत्यत्र सूत्रे नामादिनिक्षिप्तानां तत्त्वार्थानां योऽधिगमः सम्यग्दर्शनहेतुत्वेन स्थितः स इह शास्त्रे प्रस्तावे वा कार्त्स्न्यतः प्रमाणेन कर्तव्यो देशतो नयैरेवेति व्यवस्था ।

इस वार्त्तिकका विवरण यों है कि " तन्निसर्गादधिगमाद्वा " इस सूत्रमें नाम आदिकके द्वारा निक्षिप्त किये गये तात्त्विक पदार्थोंका जो अधिगम होना अधिगमजन्य सम्यग्दर्शनके हेतुपनेसे व्यवस्थित किया गया है । वह अधिगम इस शास्त्रमें या इस प्रकरणमें पूर्णरूपसे प्रमाण करके कर लेना चाहिये और एक अंशसे नयों करके ही कर लेना चाहिये । यह इस सूत्रने व्यवस्था दी है । भावार्थ—प्रमाण और नयोंसे पदार्थोंका अधिगम करके अधिगमज सम्यग्दर्शन किया जा सकता है।

नन्वेवं प्रमाणनयानामधिगमस्तथान्यैः प्रमाणनयैः कार्यस्तदधिगमोप्यपरैरित्यनवस्था, स्वतस्तेषामधिगमे सर्वार्थानां स्वतः सोऽस्त्विति न तेषामधिगमसाधनत्वम् । न वानधिगता एव प्रमाणनयाः पदार्थाधिगमोपाया ज्ञापकत्वादतिप्रसंगाच्चेत्यपरः ।

यहां शंका है कि जैसे जीव आदिकोंका अधिगम प्रमाण और नयोंसे किया जाता है इस प्रकार उन प्रमाण नयोंका अधिगम भी तिसी प्रकार अन्य प्रमाण नयों करके किया जावेगा । तथा उनका भी अधिगम तीसरे प्रमाण नयों करके किया जावेगा । ज्ञापकोंको अन्य ज्ञापकोंसे जाने विना उनके द्वारा ज्ञाप्य जाना नहीं जाता है । अतः चौथे, पांचवें, आदिकी जिज्ञासा होते हुए आकांक्षाके बढ जानेपर जैनोंके ऊपर यों अनवस्था दोष लगता है । यदि जैन जन अनवस्थाको दूर करनेके लिये उन प्रमाण नयोंका अपने आप ही अधिगम हो जाना स्वीकार कर लेंगे, तब तो सम्पूर्ण जीव आदि पदार्थोंका भी अपने आपसे वह अधिगम हो जाओ ! इस कारण उन प्रमाण नयोंको अधिगमका साधकपना नहीं सिद्ध होता है । दूसरोंसे या स्वयं नहीं जाने गये ही प्रमाण और नय तो पदार्थोंके जाननेके उपाय नहीं हैं, क्योंकि वे ज्ञापक हैं । दूसरेसे या अपनेसे जो ज्ञात नहीं हुआ है, वह पदार्थ तो ज्ञापक नहीं होता है । अन्धेरेमें पडा हुआ धुंधला पदार्थ परका प्रकाशक नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। यानी अज्ञात घट, पट, आदिक पदार्थ भी चाहे जिस वस्तुके ज्ञापक बन बैठेंगे, यह न्यारी आपत्ति हुई, इस प्रकार कोई दूसरा वादी कह रहा है । अब आचार्य कहते हैं कि—

सोऽप्यप्रस्तुतवादी । प्रमाणनयानामभ्यासानभ्यासावस्थयोः स्वतः परतश्चाधिगमस्य वक्ष्यमाणत्वात् । परतस्तेषामधिगमे क्वचिदभ्यासात्स्वतोऽधिगमसिद्धेरनवस्थापरिहरणात् ।

वह शङ्काकार भी प्रस्ताव किये गये विषयको नहीं समझ कर बोल रहा है। क्योंकि अभ्यास दशामें प्रमाण और नयोंका अपने आप अधिगम हो जाता है और अनभ्यास दशामें प्रमाण तथा नयोंकी दूसरे ज्ञापकोंसे ज्ञप्ति होती है, इस विषयको भविष्यमें स्पष्ट कहने वाले हैं। भावार्थ—ज्ञानमें प्रामाण्यकी उत्पत्ति तो निर्मलता, अविनाभावीपन, आदि अन्य कारणोंसे ही होती है, किन्तु प्रमाणपनेकी ज्ञप्ति अभ्यास दशामें स्वतः यानी ज्ञानके सामान्य कारणोंसे ही और अनभ्यास दशामें दूसरों यानी ज्ञानके सामान्य कारणोंसे अतिरिक्त निर्मलता आदि कारणोंसे होती हुई मानी गयी है। अपने परिचित घरमें अन्धकार होनेपर भी अभ्यासके वश अर्थोंको जाननेवाले ज्ञानके प्रमाणपनेकी स्वतः ज्ञप्ति कर लेते हैं। किन्तु अपरिचित गृहमें अन्य कारणोंसे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति होती है। यहां जिन ज्ञापक दूसरे कारणोंसे अधिगम होना माना है उनके प्रामाण्यको जाननेमें कहीं तो प्रथम कोटिमें ही अभ्यास होनेसे अपने आप अधिगम होना सिद्ध है। नहीं दूसरी, तीसरी, चौथी, कोटि पर तो अभ्यासदशाका प्रमाणपना मिल ही जाता है, अतः अनवस्थादोषका निवारण होगया। अर्थात् अपरिचित घरमें टिक टिक शब्द करनेसे घटयन्त्र (व्यवहार समय घन्टा, मिनट, बतलानेवाली घडी) का ज्ञान कर लेते हैं। यदि टिक टिक शब्दमें भी यों संशय हो जाय कि यह घडीका शब्द है या किसी कीडेका शब्द है ? तो दूसरा अभ्यास दशाका ज्ञान उठाकर टिकटिक शब्दके ज्ञानमें प्रामाण्य जान लिया जाता है। यदि किसीको यहां भी संशय हो जाय तो तीसरी, चौथी, कोटिपर अवश्य निर्णय हो जावेगा। ज्ञापक प्रकरणमें दूसरी, तीसरी, चौथी, श्रेणिपर कृतकृत्य हो जानेसे अनवस्था नहीं आती। व्यर्थमें संशय और जिज्ञासाओंको उठानेकी धुन रखना प्रशस्त नहीं है, ऐसा कौन ठलुआ बैठा है। जो कि अपने आप बारबार पांव धोनेके लिये अनेक बार कीचडको लगाता फिरे ? प्रामाण्यकी स्वतः ज्ञप्ति होनेपर उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें समयभेद नहीं है, यानी इन्द्रियोंकी निर्मलता आदि कारणोंसे एकदम प्रामाण्यात्मक ज्ञान पैदा होकर उसी समय जान लिया जाता है। हां ! अन्य ज्ञापकोंसे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति होनेपर उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें समयभेद है, अर्थात् प्रामाण्यके अन्य कारणोंसे ज्ञानमें प्रमाणपना तो प्रथम ही उत्पन्न हो चुका था, किन्तु अभ्यास न होनेके कारण उसको जाननेमें विलम्ब हुआ। विशेष बात यह है कि ज्ञान और प्रमाणकी उत्पत्तिमें भी समयभेद नहीं है। जो कोई ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रमाण या अप्रमाणरूप ही उत्पन्न होता है। समीचीन कारणोंसे एकदम प्रमाणज्ञान ही उत्पन्न होगा और दूषित कारणोंसे अप्रमाणरूप ज्ञान प्रथमसे ही उत्पन्न होगा। ऐसा नहीं है कि पहिले सामान्य ज्ञान उत्पन्न हो जाय और पीछेसे वह प्रमाण या अप्रमाणरूप बनाया जाय। यदि सामान्यज्ञान भी होता तो अपने ज्ञान शरीरको तो अवश्य ही जान लेता, किन्तु क्या किया जाय, विशेषके विना कोई सामान्य अकेला होता नहीं है कोई भी ज्ञान होगा वह प्रथमसे ही प्रमाण या अप्रमाणस्वरूप होगा " निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् "

स्वतोऽधिगमे सर्वार्थानामधिगमस्य तेषामचेतनत्वेनातिप्रसंगात् । चेतनार्थानां कथञ्चित्प्रमाणनयात्मकत्वेन स्वतोऽधिगमस्येष्टत्वाच्च श्रेयान् प्रमाणनयैरधिगमोऽर्थानां सर्वथा दोषाभावात् ।

शंकाकारने पूर्वमें कहा था कि " प्रमाण नयोंका अपने आप अधिगम होना मानोगे तो सम्पूर्णअर्थोंका भी अपने आप अधिगम हो जावेगा " इसपर हमारा यह कहना है कि सभी जड या चेतन अर्थोंकी अपने आप ज्ञप्ति होना माना जावेगा तो ज्ञप्तिका अतिप्रसंगदोष हो जावेगा । क्योंकि वे घट, पट, आदिक अर्थ अचेतन होनेके कारण स्वयं अपना ज्ञान नहीं कर सकते हैं। अचेतन पदार्थ यदि ज्ञान करने लगें तो वे चेतन हो जावेंगे । ज्ञानके समान कंकड, डेल, भी अपनेको जानकर इष्टानिष्ट पदार्थोंका ग्रहण या त्याग करने लग जावेंगे । हां ! एक बात यह है कि सम्पूर्ण अर्थोंमेंसे ज्ञान, आत्मा, इच्छा, सुख, दुःख आदि चेतन या चेतनके अंशरूप पदार्थोंको किसी अपेक्षासे प्रमाणनयस्वरूप होनेके कारण अपने आप अधिगम होना इष्ट किया है । अतः सभी प्रकार दोष न होनेसे प्रमाण और नयोंके द्वारा पदार्थोंका अधिगम होना श्रेष्ठ है ।

ननु च प्रमाणं नयाश्चेति द्वन्द्ववृत्तौ नयस्य पूर्वनिपातः स्यादल्पाच्तरत्वान्न प्रमाणस्य बह्वच्तरत्वादित्याक्षेपे प्राहः—

यहां दूसरी शंका है कि इस सूत्रमें प्रमाण और नय अथवा नय और प्रमाण इस प्रकार चाहे जैसे भी द्वन्द्व नामकी समासवृत्ति करनेपर नय शद्वका पहिले निपात (पहिले प्रयोग करना) हो जावेगा । क्योंकि " अल्पाच्तरं पूर्वम् " इस व्याकरणके सूत्रानुसार अनेक पदोंमेंसे थोडे स्वरवाले एक पदका पूर्वनिपात हो जाता है, जब कि विग्रह किये गये प्रमाण और नय पदमेंसे नय पदके अल्प स्वर हैं, यानी दो अच् हैं तथा प्रमाण पदके बहुत स्वर हैं, यानी तीन स्वर हैं, यों अपेक्षाकृत बहुत स्वर होनेसे प्रमाणका पूर्वमें वचनप्रयोग नहीं होना चाहिये । अतः नय शद्वको पहिले बोलना चाहिये । " नयप्रमाणैरधिगमः " ऐसा सूत्र कहो ! इस प्रकार कटाक्ष होनेपर आचार्य महाराज अच्छे ढंगसे उत्तर देते हैं;—

प्रमाणञ्च नयाश्चेति द्वन्द्वे पूर्वनिपातनम् ।
कृतं प्रमाणशद्वस्याभ्यर्हितत्वेन बह्वचः ॥ २ ॥

प्रमाण और नय भी इस प्रकार द्वन्द्व समास करनेपर बहुत स्वरवाले भी प्रमाण शद्वका पूज्य होनेके कारण पहिले निक्षेपण कर दिया है। अर्थात् अल्प स्वरवाला पहिले प्रयुक्त किया जाता है इस सामान्य नियमका " अभ्यर्हितं पूर्वम् " अतिपूज्यका पूर्वमें निपात होनारूप अपवाद-नियम बाधक है। अतः अंशी होनेके कारण पूज्यप्रमाण शद्वका पहिले प्रयोग किया है । लोकमें भी

प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित पुरुषोंके प्रकरण होनेपर प्रतिष्ठित पुरुषोंका नाम पहिले लिया जाता है। वहां अप्रतिष्ठितका पहिले नाम लेनेवाला पुरुष फुहरा समझा जाता है।

न ह्यल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति कस्यचिदप्रसिद्धं लक्षणहेतोरित्यत्र हेतुशब्दादल्पाच्तरादपि लक्षणपदस्य बहचोऽभ्यर्हितस्य पूर्वप्रयोगदर्शनात्।

प्रकृष्ट रूपसे अल्पस्वरवाले पदकी अपेक्षा अधिक पूज्यका वाचक पद पूर्वमें प्रयुक्त हो जाता है। यह नियम किसीके यहां भी अप्रसिद्ध नहीं है। यानी सभी शब्दशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध अष्टाध्यायी व्याकरणमें देखिये कि क्रियाके परिचय कराने वाले लक्षण और हेतु अर्थमें वर्तमान धातुसे हुए लट्के स्थानमें शतृ और शानच् हो जाते हैं। यहां "लक्षणहेत्वो" इस सूत्रमें लक्षण और हेतु या हेतु और लक्षण ऐसा इतरेतर द्वन्द्व करनेपर स्वन्त एवं अल्पस्वरवाले भी हेतु शब्दसे बहुत स्वरवाले किन्तु अधिकपूज्य लक्षणपदका पहिले प्रयोग होना देखा जाता है।

कथं पुनः प्रमाणमभ्यर्हितं नयादित्याहः—

तो फिर यह बताओ कि नयसे प्रमाण अधिक पूज्य कैसे है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं।

प्रमाणं सकलादेशि नयादभ्यर्हितं मतम्।
विकलादेशिनस्तस्य वाचकोऽपि तथोच्यते॥ ३॥

वस्तुके एक देशीय विकल अंशोंको कहने वाले नयज्ञानसे वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको कहने वाला प्रमाणज्ञान अधिक पूज्य माना गया है। अतः उस सम्यग्ज्ञानरूप अभिधेयको कहनेवाला प्रमाणपदरूप वाचक शब्द भी तिसी प्रकार पूज्य कहा जाता है। अर्थात् सिंह पदार्थके समान सिंहज्ञान और सिंहशब्द भी जैसे कुछ भयावह है, वैसे ही प्रमाणके समान प्रमाणशब्द भी पूज्य माना जाता है। वास्तवमें विचारा जाय तो सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणपदार्थ पूज्य है। वाच्यकी पूज्यता वाचकमें भी उपचारसे आ जाती है। व्याकरण शास्त्रके अनुसार पदार्थोंके वाचक शब्दोंमें ही प्रत्यय, पदकार्य, आदि हुआ करते हैं, अर्थ और शब्दका वाच्यवाचक सम्बन्ध हो जानेसे वाच्यके धर्मोंका वाचकोंमें अध्यारोप होजाता है।

कथमभ्यर्हितत्वानभ्यर्हितत्वाभ्यां सकलादेशित्वविकलादेशित्वे व्याप्तिसिद्धे यतः प्रमाणनययोस्ते सिद्ध्यत इति चेत्, प्रकृष्टाप्रकृष्टविशुद्धिलक्षणत्वादभ्यर्हितत्वानभ्यर्हितत्वयोस्तद्व्यापकत्वमिति ब्रूमः। न हि प्रकृष्टां विशुद्धिमन्तरेण प्रमाणमनेकधर्मधर्मिस्वभावं सकलमर्थमादिशति, नयस्यापि सकलादेशित्वप्रसंगात्। नापि विशुद्ध्यपकर्षमन्तरेण नयो धर्ममात्रं वा विकलमादिशति प्रमाणस्य विकलादेशित्वप्रसंगात्।

विनीत आक्षेपकार पूछता है कि पूज्यपन और अपूज्यपनके साथ सकलादेशीपन और विकलादेशीपनकी व्याप्ति कैसे सिद्ध करली है ? बताओ ! अर्थात् जो ज्ञान वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंका निरूपण करनेवाला है, वह अभ्यर्हित है और जो ज्ञान वस्तुके कुछ अंशका प्ररूपण करता है वह अपूज्य है। इस प्रकारकी व्याप्तियां आप जैनोंने किस प्रकार सिद्ध कर ली हैं ? बतलाइये। जिससे कि वे अपने अपने हेतुओंसे व्यापक हो रहे पूज्यपना और अपूज्यपना साध्यको प्रमाण और नयरूपी पक्षमें सिद्ध कर देवें। व्याप्तियोंको सिद्ध किये विना प्रमाण और नयमें पूज्यपना अथवा अपूज्यपना सिद्ध नहीं हो सकता है, ऐसा बोध करनेपर तो हम जिनाशासनके गौरवसे युक्त होकर यह स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि पूज्यपनेका प्रयोजक अतिशययुक्त श्रेष्ठ विशुद्धि होना है और न्यून विशुद्धि होना अपूज्यपनेका लक्षण है। अतः सकलादेशीयपनका व्यापक पूज्यपना है और विकलादेशीपनका व्यापक अपूज्यपना है। बढती हुई अधिक श्रेष्ठ विशुद्धिके विना प्रमाणज्ञान अनेक धर्म और धर्मीरूप स्वभावोंसे तादात्म्य रखनेवाले सम्पूर्ण अर्थका निरूपण नहीं कर सकता है। अन्यथा थोडी विशुद्धिसे युक्त नयको भी पूरे वस्तुके समझानेवालेपनका प्रसंग हो जावेगा। तथा विशुद्धिकी घटवारी (अल्पता) के विना नयज्ञान एक अंशरूप विकल अकेले धर्म या केवल धर्मीका कथन नहीं कर सकता है। अन्यथा प्रमाणको भी विकलादेशीपनका प्रसंग होगा। भावार्थ—जैसे विशिष्ट प्रकाश होनेके कारण सूर्य अनेक पदार्थोंका प्रकाश कर देता है और मन्द ज्योतिः होनेके कारण प्रदीप अल्प पदार्थोंका प्रकाशक है। तिसी प्रकार ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ प्रमाणज्ञान सकलादेशी होनेके कारण पूज्य है। और ज्ञानावरणके साधारण क्षयोपशमसे या विशिष्टजातिके छोटे क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ नयज्ञान विकलादेशी होनेसे अपूज्य है।

स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्।
स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥ ४ ॥

कोई कहते हैं कि सभी ज्ञान जब अपना और अर्थका निश्चय कराते हैं। प्रमाणके समान नय भी एक ज्ञान है, तब तो अपना और अर्थका निश्चय करानेवाला होनेके कारण नयज्ञान भी प्रमाण हो जावेगा। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि नयका लक्षण अपना और अर्थका एकदेशरूपसे निर्णय करना है, ऐसा पूर्व आचार्योंकी परिपाटीसे स्मरण होता चला आया है। अर्थात् पूर्णरूपसे अपनेको और अर्थको जानना प्रमाणका लक्षण है। तथा अपनेको और अर्थको एकदेशरूपसे जानना नयका लक्षण आर्ष आम्नाय अनुसार मानते आये हैं।

नयः प्रमाणमेव स्वार्थव्यवसायात्मकत्वादिष्टप्रमाणवद् विपर्ययो वा, ततो न प्रमाणनययोर्भेदोऽस्ति येनाभ्यर्हितेतरता चिन्त्या इति कश्चित् तदसत्। नयस्य स्वार्थैकदेशलक्षणत्वेन स्वार्थनिश्चायकत्वासिद्धेः।

यहां कोई कहता है कि नयज्ञान प्रमाणरूप ही है। क्योंकि वह नय स्वयं अपना और अर्थका निर्णय करानेवाला है, जैसे कि जैनोंसे इष्ट किया गया प्रमाण प्रमाण ही है। अथवा यदि अपने और अर्थको जाननेवाला ज्ञान भी प्रमाण न होकर नय मान लिया जावेगा तो इष्ट प्रमाणको भी नय मानलो ! इस प्रकार सिद्धान्तसे विपरीत नियम हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। तिस कारण प्रमाण और नयमें कोई भेद नहीं है जिससे कि प्रमाणको पूज्यपनेका और नयोंको अपूज्यपनेका विचार किया जाय। अर्थात् प्रमाणके समान नय भी पूज्य है। और अल्पस्वरवाला तो है ही, अतः सूत्रमें नय शब्दका पहिले प्रयोग करना होना चाहिये। इस प्रकार कोई अपनी पूर्व शंकाको दृढ करता हुआ कह रहा है। आचार्य बोलते हैं कि उसका वह कथन प्रशस्त नहीं है। क्योंकि अपना और अर्थका एकदेशसे निर्णय करना नयका लक्षण है। अतः पूर्णरूपसे अपना और अर्थका निश्चय करानेवाला हेतु असिद्ध है। यानी नयरूप पक्षमें हेतु नहीं रहता है। अतः किसीका उक्त हेतु असिद्धहेत्वाभास है।

स्वार्थांशस्यापि वस्तुत्वे तत्परिच्छेदे छेदलक्षणत्वात्प्रमाणस्य स न चेद्वस्तु तद्विषयो मिथ्याज्ञानमेव स्यात्तस्यावस्तुविषयत्वलक्षणत्वादिति चोद्यमसदेव। कुतः ?

अब पुनः किसीका कुतर्क है कि नयके द्वारा जाने गये स्वांश और अर्थांशको भी यदि वस्तुभूत माना जावेगा, तब तो उनको जान लेनेपर वस्तुका ग्रहण कर लेनेवाला हो जानेसे नय-ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा। प्रमाणका लक्षण वस्तुको जानना है। यदि नयसे जाने गये स्व और अर्थके अंशको वस्तु न माना जावेगा तब तो उस अवस्तुको विषय करनेवाला नयज्ञान मिथ्याज्ञान ही हो जावेगा। क्योंकि अवस्तुको विषय करना उस मिथ्याज्ञानका लक्षण है। विद्वान् ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार किसीका कटाक्ष करना बहुत ही बुरा है। क्योंकि—

नाऽयं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥ ५ ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्कास्तु समुद्रवित् ॥ ६ ॥

जिस कारणसे कि नयद्वारा विषय किया गया वस्तुका अंश न तो पूरा वस्तु है और वस्तुसे सर्वथा पृथक् अवस्तु भी नहीं कहा जाता है, किन्तु वस्तुका एक देश है। जैसे कि समुद्रका एक अंश (बङ्गालकी खाडी आदि) या खण्ड विचारा पूर्णसमुद्र नहीं है और घट या नदी, सरोवरके समान वह असमुद्र भी नहीं है, किन्तु वह समुद्रका एक अंश कहा जाता है। यदि समुद्रके केवल

उतने अंशको पूरा समुद्र मान लिया जावेगा तो शेष बचे हुए समुद्रके अंशोंको भी सरोवर [तालाब] आदिके समान समुद्ररहितपनेका प्रसंग हो जावेगा तो फिर अन्यत्र कहीं भी समुद्रपनेका व्यवहार न होगा। चालनी न्यायसे बंगालकी खाडी तो कालेसमुद्रकी अपेक्षा असमुद्र है और कालासागर बंगालकी खाडीकी अपेक्षासे असमुद्र हो जावेगा। अथवा दूसरा दोष यह है कि समुद्रके एक एक अंशको यदि पूरा समुद्रका कह दोगे तो एक एक टुकडोंके बहुतसे समुद्र हो जावेंगे, ऐसी दशामें तो बहुत लम्बे, चौडे एक अवयवी समुद्रका ज्ञान भला कहां क्या होगा ? इसको तो विचारो !

यथैव हि समुद्रांशस्य समुद्रत्वे शेषसमुद्रांशानामसमुद्रत्वप्रसंगात् समुद्रबहुत्वापत्तिर्वा तेषामपि प्रत्येकं समुद्रत्वात्। तस्यासमुद्रत्वे वा शेषसमुद्रांशानामप्यसमुद्रत्वात् क्वचिदपि समुद्रव्यवहारायोगात्। समुद्रांशः स एवोच्यते। तथा स्वार्थैकदेशो नयस्य न वस्तु स्वार्थैकदेशान्तराणामवस्तुत्वप्रसंगात्, वस्तुबहुत्वानुषक्तेर्वा। नाप्यवस्तु शेषांशानामप्यवस्तुत्वेन क्वचिदपि वस्तुव्यवस्थानुपपत्तेः। किं तर्हि ? वस्त्वंश एवासौ तादृक्प्रतीतेर्बाधकाभावात्।

जैसे ही समुद्रके अंशको पूर्णसमुद्र मान लेनेपर बचे हुए समुद्रके अंशोंको असमुद्रपनेका प्रसंग होता है। अथवा एक एक अंशको समुद्रपना हो जानेसे बहुतसे समुद्र हो जानेकी आपत्ति होवेगी। क्योंकि वे सम्पूर्ण एक एक अंश भी न्यारे न्यारे समुद्र बन जावेंगे। यदि उस समुद्रके अंशको समुद्रपना न माना जावेगा तो समुद्रके बचे हुए अंशोंको भी समुद्रपना न होगा। तब तो कहीं भी समुद्रपनेका व्यवहार न होने पावेगा। अतः परिशेषमें यही निर्णय करना पडेगा कि वह समुद्रका अंश न तो समुद्र है और न असमुद्र है, किन्तु वह समुद्रका एकदेश अंश ही कहा जाता है। तिसी प्रकार नयका गोचर स्व और अर्थका एक देश भी पूरा वस्तु नहीं है। अन्यथा स्वार्थके बचे हुए अन्य कतिपय एकदेशोंको अवस्तुपनेका प्रसंग हो जावेगा। अथवा वस्तुके एक एक अंशको यदि पूरा एक एक वस्तु मान लिया जावेगा तो एक वस्तुमें बहुतसी वस्तुएं हो जानेकी आपत्ति हो जावेगी। तथा नयसे जान लिया गया स्वार्थका अंश अवस्तु भी नहीं है, क्योंकि उस प्रकृत अंशके समान बचे हुए अन्य अंशोंको भी अवस्तुपना हो जानेसे कहीं भी वस्तुकी व्यवस्था सिद्ध न हो सकेगी। तब तो फिर नयके द्वारा जाना गया स्वार्थांश क्या है ? आप जैन ही बतलाइये। इसका उत्तर यह है कि वह वस्तुका अंश ही है, तैसी प्रतीति होनेका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अकेले हाथको हम शरीर भी नहीं कह सकते हैं और अशरीर भी नहीं कहते हैं। किन्तु हाथ शरीरका एक देश है। उक्त पंक्तियोंमें यथाका अन्वय दूरवर्ती तथाके साथ कर देना। अभीष्ट पदार्थमें त्रुटि आ जानेपर प्रसंगदोष दिया जाता है। और विवक्षित पदार्थसे बढ जानेपर आपत्ति दोष दिया जाता है। जैसे कि दस और दस मिलाकर उन्नीस कह देनेसे प्रसंगदोष कहा जावेगा और इक्कीस कह देनेसे आपत्ति हो जावेगी। वही यहां असमुद्रपना और बहुसमुद्रपनाके समान अवस्तुपना और अनेक वस्तुपनेमें लगा लेना चाहिये।

नांशेभ्योऽर्थान्तरं कश्चित्तत्त्वतोंशीत्ययुक्तिकम् ।
तस्यैकस्य स्थविष्ठस्य स्फुटं दृष्टेस्तदंशवत् ॥ ७ ॥

बौद्ध जन कहते हैं कि अंशोंसे भिन्न पदार्थ कोई भी वास्तविकरूपसे अंशी नहीं है। यानी अन्य अंशोंसे रहित केवल अंशरूप अवयव ही पदार्थ हैं। क्षणिक परमाणुएं ही वास्तविक हैं, अवयवी कोई वस्तु नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि उस एक अवयवीरूप अधिक स्थूल अंशी (अवयवी) का स्पष्टरूपसे प्रत्यक्षज्ञान द्वारा दर्शन हो रहा है। जैसे कि प्रत्यक्षज्ञानसे उसके अंश दीख रहे हैं। भावार्थ—कपाल, तन्तु, आदि छोटे छोटे अनेक अवयवोंसे कथञ्चित् भिन्न एक स्थूल घट, पट, आदिक अवयवीका प्रत्यक्ष हो रहा है।

नान्तर्बहिरंशेभ्यो भिन्नांशी कश्चित्तत्त्वतोस्ति यो हि प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं न समर्पयति प्रत्यक्षतां च स्वीकरोति। सोयममूल्यदानक्रयीत्ययुक्तिकमेव, स्थविष्ठस्यैकस्य स्फुटं साक्षात्करणात् तद्व्यतिरेकेणांशानामेवाप्रतिभासनात्। तथा इमे परमाणवो नात्मनः प्रत्यक्षबुद्धौ स्वरूपं समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमुत्सहन्त इत्यमूल्यदानक्रयिणः।

सौगतोंका मन्तव्य है कि ज्ञानपरमाणुरूप अन्तरंग और स्वलक्षण परमाणुरूप बहिरंग अंशोंसे भिन्न कोई अंशवान् स्थूल अवयवी पदार्थ वास्तविकरूपसे नहीं है जो कि अंशी प्रत्यक्षप्रमाणमें अपने स्वरूपको अर्पित नहीं करता है और अपने प्रत्यक्ष हो जानेको स्वीकार करना चाहता है। अतः जैन, नैयायिक, मीमांसक, आदिके द्वारा मान लिया गया वह यह अंशी मूल्य न देकर क्रय (खरीदना) करनेवाला है। अर्थात् हम बौद्धोंके यहां तो ज्ञान साकार है। वस्तुभूत पदार्थ अपना आकार ज्ञानके लिये अर्पण करते हैं और ज्ञान उनका प्रत्यक्ष कर लेता है। जैसे कि जो पदार्थ दर्पणके लिये अपना आकार दे देता है तो दर्पण उनका प्रतिबिम्ब करनारूप प्रतिफल दे देता है। जब कि आकाशका फूल कोई पदार्थ ही नहीं है तो दर्पणके लिये क्या दिया जाय और उससे क्या लिया जाय। ऐसी दशामें आकाशका फूल आकारको विना दिये ही अपना प्रतिबिम्ब चाहे तो यह अन्याय है। जब कि अवयवी कोई पदार्थ नहीं है तो वह अपने स्वरूपको प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये अर्पण नहीं कर सकता है। तभी तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। ग्रन्थकार समझाते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना अयुक्त ही है। क्योंकि अधिक मोटे एक अर्थका स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष किया जा रहा है। प्रत्युत उस अवयवीसे सर्वथा भिन्न माने गये अंशोंका ही दीखना नहीं हो रहा है। तिस प्रकारसे आप बौद्धोंके यहां मानी गयीं परमाणुयें ही प्रत्यक्ष ज्ञानमें अपने स्वरूपको भले प्रकार अर्पण नहीं करती हैं। किन्तु अपना प्रत्यक्ष हो जानेपनको स्वीकार करनेके लिये उत्साहित हो रही

हैं, इस प्रकार तुम्हारी अंतरंग, बहिरंग, परमाणुयें ही विना मूल्य देकर सौदा लेनेवाली हुयीं हमारा अवयवी नहीं। भावार्थ—घट, पुस्तक, आत्मा, हाथी, घोडा आदि अवयवियोंका स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है। ये विषयता (स्वनिष्ठविषयतानिरूपित विषयिता) सम्बन्धसे ज्ञानमें रह जाते हैं। दर्पणके समान ज्ञानमें पदार्थोंका आकार पडता है। इस बातका खंडन कर दिया गया है। यदि ज्ञानमें अर्थोंका आकार माना जावेगा तो सर्वज्ञको भूत, भविष्यत् पदार्थोंका ज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि जब वे वर्तमानकालमें हैं ही नहीं, तो वे ज्ञानमें अपना आकार कैसे डाल सकेंगे ? तथा संसारी जीवोंके नष्ट वस्तुका स्मरणज्ञान भी न हो सकेगा। अतः ज्ञान साकार है इसका अर्थ यह है कि आत्माके सम्पूर्ण गुणोंमें एक ज्ञान गुण ही विकल्पस्वरूप है। ज्ञान ही स्वयंको अनुभव करता है। दूसरेके प्रति समझाया जा सकता है इत्यादि प्रकारके उल्लेख ज्ञानमें ही होते हैं। सुख, इच्छा आदिमें ज्ञानसे अभिन्न होनेके कारण भले ही चैतन्यपनेकी स्वसंवित्ति हो जाय, किन्तु उक्त कार्योंमें ज्ञानको ही स्वतन्त्रता प्राप्त है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे स्थूल अवयवीका स्पष्टरूपसे दर्शन हो रहा है। बौद्धोंसे मानी गयी क्षणिक, निःस्वभाव, निरंश, परमाणुओंका ज्ञान संसारी जीवोंको आजतक कभी नहीं हुआ है। अतः मूल्य नहीं देकर विक्रेतासे क्रय कर लेनारूप दोष परमाणुओंमें है। अवयवीमें नहीं। ज्ञेयसे नहीं किन्तु स्वकारणवश अपने ज्ञानका आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमस्वरूप ही मानमूल्य प्राप्त हो जानेपर आत्मा उन वास्तविक अवयवी आदि पदार्थोंको जान लेता है। यही सालङ्कार वचन अच्छा है।

कल्पनारोपितोंशी चेत् स न स्यात् कल्पनान्तरे।
तस्य नार्थक्रियाशक्तिर्न स्पष्टज्ञानवेद्यता ॥ ८ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि अंशी वास्तविक पदार्थ नहीं है कल्पित है। जैसे कि छोटे छोटे अनेक धान्योंका समुदायरूप धान्यराशिए लम्बी चौडी मान ली गयी है, किन्तु वह राशि छोटे छोटे धान्योंसे अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। तिसी प्रकार छोटे छोटे परमाणुओंसे अतिरिक्त अवयवी कोई पदार्थ नहीं है, कोरी कल्पनाओंसे गढ लिया गया आरोप है। तमारा रोगवाला मनुष्य घाममेंसे आकर छाया या अन्धेरेमें बडे बडे चमकीले पिण्डोंको देखता है, किन्तु हाथ लगानेपर वे कुछ नहीं प्रतीत होते हैं। पूर्ववासनाओंसे केवल भ्रम हो जाता है। बौद्धोंके ऐसा कहनेपर तो हम जैन यह प्रतिवाद करते हैं कि यदि अवयवी पदार्थ कल्पित होता तो दूसरी कल्पनाओंके उत्पन्न हो जानेपर वह नहीं रहने पाता। किन्तु हृदयमें अनेक कल्पनाओंके उठते रहनेपर भी श्रीमान अवयवी वहीं बैठे रहते हैं, दूर नहीं भाग जाते हैं, ओझल भी नहीं होते हैं, कल्पना किये हुए पदार्थोंमें तो ऐसा नहीं होता है। अतः अवयवी कल्पित नहीं है किन्तु वस्तुभूत है। दूसरी बात यह है कि कल्पित किया गया वह अवयवी अर्थक्रियाओंको नहीं कर सकता है। झूंठ मूंठके